खण्ड- 9
महीप सिंह
रचनावली
संपादक
अनिल कुमार

लेखक को अपने परिवेश और उसकी समस्याओं के प्रति न केवल जागरूक होना चाहिए बल्कि उनके साथ गहरी संसक्ति और अन्तर्लिप्तता होनी चाहिए। उसे उनका मूक दर्शक मात्र ही नहीं होना चाहिए, किसी सीमा तक उनका सहभागी भी होना चाहिए। हर व्यक्ति बहुत व्यस्त और भीड़ से घिरा होने के बावजूद कहीं बहुत अकेला होता है। यह अकेलापन उसे उसके 'स्व' के सामने खड़ा करता है और उससे उसकी पहचान कराता है। लेखक के लिए 'स्व' को निरन्तर जानने और पहचानने की ज़रूरत रहती है। 'स्व' को पहचानने के दर्द को वे भी नहीं जान पाते जो आपके बहुत निकट या अंतरंग होने का दावा करते हैं। इस संदर्भ में मुझे गुरु नानक के जीवन का एक प्रेरक प्रसंग याद आता है। बहुत छोटी आयु में ही जब वे अपने 'स्व को पहचानने की प्रक्रिया से गुजर रहे थे उनके परिजनों की समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर नानक को कष्ट किस बात का है। उन्होंने वैद्य को बुलाकर उन्हें दिखाया। वैद्य बेचारा नब्ज देखकर शारीरिक बीमारी को ही ढूंढने का यत्न कर सकता है लेकिन गुरु नानक का असली दर्द तो कहीं ओर था। उन्हीं के शब्दों में-

बैद बुलाया बैदगी पकड़ि ढढ़ोले बांह
भोला बैद न जानई करक कलेजे मांह।

लेखक (या कोई भी संवेदनशील व्यक्ति) कलेजे की इस करक को पहचानने की कोशिश करता है। इसी में से उसके पात्र जन्म लेते हैं और रूपायित होते हैं।

महीप सिंह

ISBN 81-8129-132-8

मूल्य : 6000/-
(दस खण्डों में)

महीप सिंह रचनावली

(समाज/राजनीति)

खण्ड - 9

संपादक

अनिल कुमार

नमन प्रकाशन

नई दिल्ली -110002

समर्पण

दिवंगत अग्रज भजन सिंह की स्मृति में

क्या लिखूँ?

जीवन में बहुत कुछ लिखा। पीछे मुड़कर देखता हूं तो दूर मीलों तक हरे भरे खेत दिखाई देते हैं। लगता है कि उन्हीं में से निकलता हुआ यहां तक पहुँचा है। चारों ओर नजर दौड़ाकर देखता हूं तो लगता है कि अभी भी बहुत हरियाली है जिसमें मैं वर्षों तक विचर सकता हूं, किन्तु कितने वर्षों तक?

जो कुछ भी लिखा, उसके प्रति सार्थकता बोध से प्रेरित होकर लिखा। इसलिए लिखा कि उसके प्रति बड़ी अंतरंगता से यह अनुभव किया कि यह मुझे लिखना चाहिए। ऐसा कुछ नहीं लिखा जो मुझे नहीं लिखना चाहिए था। यह अवश्य है कि ऐसा बहुत कुछ है जो मुझे लिखना चाहिए था, किन्तु नहीं लिख सका। इसकी कसक वर्षों से अंदर ही अंदर मुझे चूहे की भांति कुतरती रही है और आज भी कुतर रही है। उपन्यास लेखन को ही लें। पहला उपन्यास वर्षों तक अंदर पलता रहा। 1974-75 में जापान के एक विश्वविद्यालय में एक रिसर्च प्रोजेक्ट 'समकालीन भारतीय साहित्य में सामाजिक परिवर्तन' पर कार्य कर रहा था। अपने शोध कार्य के साथ-साथ उपन्यास पूरा किया - 'यह भी नहीं'। फिर प्रारम्भ किया, 'अभी शेष है'। प्रारम्भ करने और पूरा करने के मध्य का अंतराल है बीस वर्ष। 'अभी शेष है' की त्रयी के लेखन का दूसरा चरण मंथरगति लिए हुए है।

यह सब कुछ बड़ी खीझ पैदा करता है। नए वर्ष का कैलेण्डर झटपट अपने पन्नों को पलटता हुआ कब दिसम्बर की तारीखों पर आ टिकता है, पता ही नहीं लगता। जीवनावधि का एक और वर्ष देखते देखते समुद्र तट की मुट्ठी भरी बालू की तरह हाथ की उंगलियों में से नीचे झर जाता है।

कहानियां तो ढेर सारी जीं किन्तु लिखीं बहुत कम। पचास वर्ष में सवा सौ के आसपास। वर्ष में तीन का औसत भी नहीं।

दूरदर्शन के लिए कुछ सीरियल लिखे- लोक-लोक की बात, रिश्ते, गदर की गूंज, 'सच तां पर जाणिए' (पंजाबी)। एक निर्माता ने महाराजा रणजीत सिंह पर एक मेगा

सीरियल की योजना सामने रखी। उसका विचार था कि इसे कम से कम 100 कड़ियों का बनाया जाए। ऐसे सीरियल में मेरी रुचि भी बहुत थी। मैंने प्रारम्भिक 10 एपीसोड लिख भी लिए, किन्तु निर्माता के सम्मुख कुछ आर्थिक संकट आ गए। योजना अधर में लटक गई। इसी प्रकार पंजाब सरकार द्वारा गठित आनन्दपुर साहिब फाउण्डेशन ने प्रसिद्ध फिल्मकार और महाभारत जैसे प्रख्यात सीरियल के निर्माता बी. आर. चोपड़ा से सम्पर्क करके सिख इतिहास पर एक धारावाहिक बनाने की योजना बनाई। उसकी पटकथा लिखने का दायित्व मुझे सौंपा गया। उस धारावाहिक की भी मैंने आठ कड़ियां लिख लीं। पंजाब की सरकार बदल गई (2002)। योजना ठप हो गई।

पत्र-पत्रिकाओं के लिए लेख लिखने का कार्य निरन्तर चलता रहा है। पंजाब में 1949-50 से भाषा विवाद उभरना प्रारम्भ हुआ। अविभाजित पंजाब की सरकारी भाषा उर्दू थी। विभाजन के पश्चात यह प्रश्न सामने आया कि उर्दू का स्थान किस भाषा को ग्रहण करना है। पंजाब में पंजाबी भाषा सदा उपेक्षित रही। वहां सभी लोग पंजाबी बोलते अवश्य थे, किन्तु कामकाज और व्यवहार में आते ही रास्ते अलग-अलग हो जाते थे। उन्नीसवीं शती के अंत में आर्य समाज के बढ़ते प्रभाव के कारण संभ्रांत हिन्दू परिवारों में हिन्दी का प्रचलन हुआ। पंजाबी से सिखों का धार्मिक लगाव था। गुरुओं के समय से ही गुरुवाणी गुरुमुखी लिपि में ही लिखी जाती रही है। उनका आग्रह यह था कि पंजाबी धरती की भाषा है और धार्मिक विभिन्नताओं के बावजूद यहां का जन-जन इसी भाषा में बातचीत करता है। इसकी समृद्ध साहित्यिक परम्परा है। सिख गुरुओं के प्रभामंडल के अतिरिक्त मुसलमान सूफी शायरों ने अपनी रचनाओं द्वारा इसमें महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसलिए स्वाभाविक रूप से उसे पंजाब की राजभाषा होने का गौरव मिलना चाहिए।

उस समय मैं कानपुर के डी. ए. वी. कालेज का छात्र था। पंजाब में उभरे भाषा विवाद और उस कारण हिन्दुओं-सिखों में निरन्तर बढ़ती हुई खाई के कारण मैं बहुत उद्विग्न महसूस करता था। मेरी मान्यता थी कि राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी इस सम्पूर्ण देश की भाषा है। यह बहुभाषी देश है और विभिन्न राज्यों की भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्र में वही स्थान प्राप्त होना चाहिए जो राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी के लिए अपेक्षित है। पंजाब में पंजाबी को उसका उचित स्थान प्राप्त हो, मैं इस बात का भी पूरा समर्थक था।

1950 में मैंने 'पांचजन्य' साप्ताहिक में पंजाब की भाषा समस्या पर एक लम्बा लेख लिखा जो पांच किस्तों में प्रकाशित हुआ। उसके बाद मैं इस विषय पर निरंतर लिखता रहा। पंजाब में यह मानसिकता बन गई थी कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है और पंजाबी सिखों की। मैंने अपने लेखों में सदा ही यह आशंका व्यक्त की थी कि पंजाब का भाषा विवाद दोनों समुदायों के मध्य ऐसी खाई उत्पन्न कर देगा, जिसे पाटना बहुत दूभर हो जाएगा। ऐसा ही हुआ। पंजाब में आंतक की ऐसी भयंकर लहर उठी कि उसने वहां के जनजीवन को पूरी तरह आच्छादित कर लिया। हत्याओं के उस दौर में गहरे पारिवारिक और सामाजिक संबंध दरकने लगे। कुछ वर्षों में प्रदेश जिस दौर से गुजरा उसमें पच्चीस हजार से अधिक लोगों ने अपने प्राण गंवा दिए।

इस दौर में मैंने निरन्तर लिखा– हिन्दी में भी और पंजाबी में भी। सरकार की नीतियों की भी आलोचना की और आतंकवादियों के अमानवीय कार्यों की भी। आंतकवादियों द्वारा संत हरचंद सिंह लोंगोवाल की हत्या के पश्चात, सरकार को मेरी सुरक्षा की चिंता अनुभव हुई। मुझे एक सिक्योरिटी गार्ड दिया गया और मेरे घर पर सिक्योरिटी गारद बिठा दी गई।

मेरा ऐसा लेखन कुछ दशकों में फैला हुआ है। यह मेरे सर्जनात्मक लेखन का भाग नहीं था। यूं कहूं कि यह सब कुछ मैंने अपने सर्जनात्मक लेखन के मूल्य पर लिखा। मुझे इसका अहसास है, किन्तु यह सोचता हूं कि यह लिखना भी मेरा दायित्व था। आन्तरिक रूप से मुझ पर इसका दबाव भी था- मैं न लिखता तो कौन लिखता?

गत कुछ वर्ष से मैं 'दैनिक जागरण' के लिए प्रति गुरुवार को एक स्तम्भ लिखता हूं। दलित समस्याओं पर, पाकिस्तान पर, इस्लामी आंतकवाद पर, धार्मिक कट्टरता और कठमुल्लावाद पर, अकाली और गुरुद्वारा राजनीति पर, असमानतामूलक समाज की विद्रूपताओं पर तथा अन्य अनेक विषयों पर। इन लेखों की संख्या भी 400 पहुंच गई है। ऐसे लेखों के कारण मुझे बहुत ख्याति मिली है और मुझे कथाकार की अपेक्षा पत्रकार के रूप में अधिक पहचाना जाने लगा है। यह करक भी कम चुभने वाली नहीं है।

संचेतना की चर्चा किए बिना बात अधूरी रह जाएगी। 1965 में 'आधार' का सचेतन कहानी विशेपांक प्रकाशित होने के पश्चात सचेतन कहानी की चर्चा प्रारम्भ हो चुकी थी। इस बात को अधिक पुष्ट करने और चर्चा को व्यापक मंच देने के लिए मित्रों में विचार-विमर्श हुआ कि एक त्रैमासिक पत्रिका प्रारम्भ की जाए। ऐसी पत्रिकाओं का आर्थिक पक्ष कभी साहित्यिक पत्रिकाओं की जड़ें गहरी नहीं होने देता। इस कारण सहयोगी लेखक मित्रों में सिर फुटव्वल भी हो जाती है।

मैंने अपने मित्रों से कहा कि संचेतना के लिए सहयोग सभी का, किन्तु इसके आर्थिक पक्ष को केवल मैं वहन करूंगा। दूसरे अंक के संपादकीय में मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस पत्रिका की जीवनविधि का हम कोई दावा नहीं कर रहे हैं। बिना किसी दावे के संचेतना अपने जीवन के चार दशक पूरे कर रही है।

मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि संचेतना ने इस अवधि में बड़ी सार्थक भूमिका निभाई है। हमने कभी इस मंच को छोटे दायरे में नहीं घेरा, किन्तु यह भी सच है कि मित्र लेखक/ लेखिकाओं को यह अपनी पत्रिका लगे, इससे हमने उन्हें कभी विरत भी नहीं किया। हमने यह प्रयास भी किया कि संचेतना साहित्यिक चिंताओं के साथ उन चिंताओं की ओर भी ध्यान दे जो साहित्य की परिधि में चाहे न आती हों किन्तु उनके सरोकार लेखक-मानस से जुड़े हुए हों।

संचेतना को लेकर एक एडवेंचर भी किया गया था। 1985 में इसे समसामयिक विपयों की मासिक पत्रिका बनाने का दुस्साहस कर डाला। पांच वर्ष तक मासिक बनाए रखकर हमने यह अनुभव कर लिया कि सचमुच बड़ा दुस्साहस था। तीन वर्ष तक स्थगित रखने के पश्चात डॉ. (सुश्री) कमलेश सचदेव और डॉ. गुरचरण सिंह के सहयोग से पुनः

इसका त्रैमासिक प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस बात को भी आज तेरह वर्ष होने को आए हैं।

और क्या लिखूँ?

चाहता हूं कि 'अभी शेष है' की त्रयी शीघ्र पूरी हो जाए। यह भी चाहता हूं कि अनेक अनुभवों, संघातों और मोड़ों से भरी अपनी आत्मकथा भी लिख लूं। दो-तीन उपन्यास और कुछ कहानियां भी लिखना चाहता हूं। किन्तु-

नर चाहत कछु अउर,
अउरै की अउरै भई,
चितवन रहिओ ठगउर,
नानक फासी गल परी।।

दस खण्डों में अपनी रचनावली देखकर लगता है करक, संतोष, आनन्द और आने वाले कुछ वर्ष जीवनकक्ष के चार कोनों में खड़े मुँह बिरा रहे हैं। इनमें से किसी को भी देखने का साहस मुझमें नहीं है।

रचनावली का काम कुछ वर्ष और लटका रहता, यदि प्रिय अनिल कुमार ने पीछे पड़कर मुझसे उसकी सामग्री इकट्ठी न करवा ली होती। इस आयोजन में उन्होंने जितना श्रम किया है, मैं उसका साक्षी हूँ।

नमन प्रकाशन के श्री नितिन गर्ग ने जिस गति से इस रचना के प्रकाशन को संभव बनाया है उसके सामने मेरी कृतज्ञता छोटी पड़ती है।

एच-108, शिवाजी पार्क,
नई दिल्ली-110026

महीप सिंह

सम्पादक की ओर से

1960 के बाद हिन्दी कहानी में एक नया आन्दोलन प्रारम्भ हुआ-सचेतन कहानी। इसके अगुआ थे डॉ. महीप सिंह। डॉ. महीप सिंह का मानना है कि "सचेतन कहानी सक्रिय भाषा बोध की कहानी है, वह जिन्दगी की स्वीकृति की कहानी है। पश्चिम की भौंडी नकल और ओढ़ी हुई मानसिकता से प्रेरित होकर जिन्दगी की व्यर्थता, नितान्त अकेलेपन और बनावटी घुटन का प्रदर्शन नहीं करती।" सचेतन कहानी आयातित शिल्प पद्धति पर आधारित होकर भी भारतीय कथा परिवेश में अपनी मौलिक पहचान बनाए हुए है। निराशा, अकेलेपन, विसंगति, ऊब, उदासी, कुण्ठा, शोषण, अन्याय आदि के खिलाफ चेतना का आन्दोलन है जो संघर्ष का मार्ग प्रदर्शित करती है और जीवन में आस्था जगाती है।

डॉ. महीप सिंह ने आधार पत्रिका के सचेतन कहानी विशेषांक में लिखा है कि सचेतनता एक दृष्टि है जिसमें जीवन जिया जाता है और जाना भी जाता है। इसमें भविष्य की सम्भावनाओं का स्वर है। आत्म सजगता और व्यक्ति के अपराजेय संघर्ष क्षमता में सचेतनता एक आस्था है। कहें कि इस कहानी में सृजन की सम्भावना, आशामय भविष्य की कल्पना, संघर्षशीलता और आत्मविश्वास का भाव व्यक्त हुआ है।

डॉ. महीप सिंह जब मैट्रिक (1948) में थे तब से ही लिखना शुरू कर दिया था। प्रारम्भ में इन्होंने छोटी-छोटी ऐतिहासिक कहानियां लिखनी शुरू कीं जो उस समय की पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं, पर लेख लिखने प्रारम्भ किये 1949-50 में, जब सच्चर फार्मूला नाम से पंजाब (उस समय उसे पूर्वी पंजाब कहा जाता था) में भाषा संबंधी नयी नीति लागू की गयी और पंजाब में आर्य समाज के नेतृत्व में उसका व्यापक विरोध शुरू हुआ। उन दिनों (1950 में) पंजाब की भाषा समस्या पर इन्होंने अनेक लेख लिखे। सही ढंग से कहानियां लिखना डॉ. महीप सिंह ने 1956 से शुरू किया।

प्रथम कहानी 'मैडम' (1956) से लेकर 'निगति' (2006) तक कहानीकार के रूप में अप्रतिम ख्याति प्राप्त किये डॉ. महीप सिंह को पचास वर्ष हो चुके हैं या कह सकते हैं कि महीप सिंह का कहानीकार 50 वर्ष का जीवन पूर्ण कर चुका है।

डॉ. महीप सिंह के माता-पिता देश के विभाजन से काफी पहले पश्चिमी पंजाव के जिला गुजरात के एक गांव सराय आलमगीर से उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले में आकर वस गये। उन्नाव में ही जन्म होने के कारण इनकी सम्पूर्ण शिक्षा कानपुर में हिन्दी माध्यम से हुई। मातृभाषा पंजाबी से प्रेम होने के कारण घर पर ही इन्होंने इसे पढ़ना-लिखना सीखा और पूरी तरह से इसका अध्ययन मनन किया ताकि सूक्ष्म भावों की कलात्मक अभिव्यक्ति सहज हो सके। इसी कारण महीप जी पंजाबी में भी उसी सहजता से लिखते हैं जिस सहजता से हिन्दी में। इनके परिवार में लेखन का कोई वातावरण नहीं था और इनके बच्चों में भी लेखन के प्रति कोई रुचि नहीं है, हां इनकी धर्मपत्नी का भरपूर सहयोग इन्हें मिलता रहा है।

डॉ. महीप सिंह के अब तक 'सुबह के फूल' (1959) 'उजाले के उल्लू' (1964), 'घिराव' (1968), 'कुछ और कितना' (1973), 'मेरी प्रिय कहानियां' (1974), 'भीड़ से घिरे चहरे (1977), 'कितने संबंध, (1979),' 'इक्यावन कहानियां, (1980),' 'महीप सिंह की चर्चित कहानियां, (1994), 'धूप की उंगलियों के निशान' (1993), 'सहमे हुए' (1998), महीप सिंह की समग्र कहानियां, (तीन खण्ड) (2000), 'दिल्ली कहां है' (2002), तथा ऐसा ही है, (2002) कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

डॉ. महीप सिंह के साहित्यक लेखन की शुरुआत सन् 1956 में जिन कहानियों से हुई थी, वे कहानियां 'मैडम' और 'उलझन' अच्छी और मुकम्मिल कहानियां हैं। 'मैडम' में अगर सबके द्वारा बुरी समझी जाने वाली और चौतरफा अफवाहों से घिरी एक औरत के भीतरी दर्द और उजाड़ को समझने की संवेदनशील और ईमानदार कोशिश है तो 'उलझन' दाम्पत्य सम्बन्ध के तनाव को लेकर लिखी गई कहानी है। ये दोनों ही कहानियां स्त्री मन के दर्द को सहानुभूति से समझने की कोशिश ही नहीं करतीं बल्कि उसकी उलझनों को भी खोलकर देखना चाहती हैं। यह चीज महीप जी की पूरी कथा यात्रा में स्थायी टेक की तरह है। अगर यह कहा जाए कि इनकी आधी से अधिक कहानियां या तो स्त्री पर लिखी गई हैं या स्त्री की उपस्थिति वहां प्रमुख रूप से नजर आती है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

डॉ. महीप सिंह की प्रारम्भिक दौर की कहानियों में 'शास्त्री जी', 'लिफ्ट' 'सुवह के फूल', 'एक हंसी की बात' और 'पड़ोसी' जैसी कुछ अच्छी और अलग तरह की कहानियां भी हैं जिनकी अधिक चर्चा नहीं हुई। 'शास्त्रीजी' रामलीला में परसुरामी करने वाले शास्त्री जी और नौटंकी की एक बाई के संबंधों की ऐसी निश्छल और उदात्त कहानी है जिसे भुला पाना कठिन है। ऐसे ही 'लिफ्ट' एक अपाहिज की यादगार कहानी है। एक पैर वाला यह अपाहिज चिलचिलाती धूप में अपनी साइकिल के कैरियर पर संभ्रान्त कथानायक को बिठाकर किस तरह उसको मंजिल तक पहुंचाता है, यह पाठक को संवेदना से भर देता है। इसी प्रकार 'सुवह के फूल', 'एक हंसी की बात' और 'पड़ोसी' ऐसी कहानियां हैं जो छोटे-छोटे और विरल किस्म के अनुभवों से युक्त होने के साथ ही पाठक को अलग और विलक्षण चरित्रों से मिलवाती हैं।

दूसरे दौर में महीप जी की सातवें-आठवें दशक की कहानियां शामिल की जा सकती हैं। इस दौर में उन्होंने 'पानी और पुल' और 'कील' जैसी सशक्त कहानियां रचीं, जिनके जोड़ की कहानियां ढूंढ़ पाना कठिन है और इन कहानियों ने इन्हें खासी प्रतिष्ठा दिलाई।

व्यक्ति जब अपने सीमित परिवेश से आगे बढ़ता या ऊपर उठता है तो उसको राजनीति और धर्म जैसे उन प्रभावशाली तत्वों से सामना करना पड़ता है जो उसके दैनिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग तो नहीं हैं किन्तु समय-समय पर इतने प्रभावशाली हो जाते हैं कि शेष समाज से संबंध कायम करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भारतवासियों के जीवन में भारत विभाजन अथवा स्वतन्त्रता प्राप्ति की वेला में इन तत्वों का प्रभाव शिद्दत के साथ उभरकर आया जब धर्म और राजनीति के घालमेल ने सामान्य जनों के दिलों के बंटवारे कर दिए। सदियों से साथ-साथ रहने वाले प्यार भरे दिलों को अलग-अलग कर दिया। भारत विभाजन की रेखा कागज पर खिंची, भूमि पर उतरी और लोगों के दिलों को चीरती हुई निकल गई। 'पानी और पुल' में लेखक ने इन भावनाओं को बहुत ही मार्मिक ढंग से चित्रित किया है। कहानी में एक सिख परिवार धार्मिक स्थानों की यात्रा के सिलसिले में भारत से पाकिस्तान गया है। गाड़ी उस गांव से गुजरती है जहां से उजड़कर यह परिवार भारत आया है। रेलवे स्टेशन पर गाड़ी आधी रात को रुकती है तो भी उस गांव के मुसलमान लोग अपने बिछुड़े हुए पड़ोसी के परिवार से अत्यन्त गर्मजोशी से मिलते हैं। उपहार देते हैं और वापिस उस गांव में आकर बसने का अनुरोध करते हैं। लेखक को लगता है पत्थर और लोहे के बने पुल के नीचे जेहलम नदी का स्वच्छ और निर्मल पानी है जो दिलों को मिलाता है। यह कहानी धर्म और राजनीति से ऊपर उठकर मानवीय सम्बन्धों की व्याख्या करती है। इसी प्रकार की दूसरी कहानी है 'सहमे हुए'। यह कहानी आजाद भारत के नागरिकों में पनप रही धार्मिक मानसिकता की कहानी है जिसके चलते परस्पर अविश्वास और आशंका का वातावरण इतना अधिक घनीभूत अंधकार उगल रहा है कि अक्सर साम्प्रदायिक दंगे हो जाते हैं। एक ही कार्यालय में कार्य कर रहे हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, हरिजन साथ-साथ रहकर भी दूर-दूर हैं क्योंकि राजनीति और धर्म उन्हें मिलने नहीं देते। साम्प्रदायिक झगड़ों के विषय में लेखक की अत्यन्त सटीक टिप्पणी है- झगड़ों के बीज हमारी पृष्ठभूमि में पता नहीं कब किसने क्यों बो दिए। उस बोई हुई फसल को हम कब से काट रहे हैं, काटते चले जा रहे हैं, काटते चले जाएंगे। मनुष्य अवश्य लड़ेगा। वह अकेले-अकेले लड़ता है तो लोग उसे झगड़ालू, गुंडा और बदमाश कहते हैं । वह झुण्ड बनाकर लड़ता है तो देशभक्त, धर्मवीर और गाजी कहलाता है। उसे सम्मानित किया जाता है। आखिर मनुष्य यह सम्मान क्यों न ले। यह पूरी स्थति का खुलासा है क्योंकि पांचों मित्र शिक्षित हैं इसलिए बिना किसी कड़वाहट के तर्क के आधार पर स्थितियों का विश्लेषण कर सकते हैं। इसीलिए साम्प्रदायिक दंगों के पीछे एक तर्क यह भी है कि सारी लड़ाई ताकत और दौलत की लड़ाई है।

आदमी सत्ता हथियाना चाहता है इससे उसका अहम् संतुष्ट होता है। सत्ता के पीछे-पीछे दौलत आती है। अब इस लड़ाई को चाहे देश के नाम पर लड़ो, चाहे धर्म के नाम पर, चाहे किसी चमकदार वाद के नाम पर। स्थिति निरपेक्ष होकर तर्क देने वाले चारों धर्मों के ये मित्र जब साम्प्रदायिक दंगों में फंसे एक शहर के प्लेटफार्म पर खड़ी रेलगाड़ी के कैबिन में घिर जाते हैं तो सहम जाते हैं। कैबिन चारों तरफ से बंद है फिर भी ऐसा लग रहा है जैसे बाहर बेहिसाब शोर फैला हुआ है। पसीने से तरबतर और सहमे हुए आठ हाथ आपस में

एक दूसरे को पलोसते जा रहे हैं। इस स्थिति की प्रतीकात्मकता को खोलें तो लगता है जैसे यह पूरा देश ही एक केबिन हो और देशवासी धर्म या वाद के नाम पर होने वाले राजनीतिक दंगों से सहमे हुए जीवन गुजार रहे हैं। उन्नीस सौ चौरासी के दंगे इसका ताजा उदाहरण हैं।

'कील' डॉ. महीप सिंह की विशिष्ट कहानियों में से है। यौन समस्या पर आधारित होने के बावजूद यह देह से नहीं जूझती, बल्कि एक गहरे मानसिक द्वंद्व को उभारती है। 'कील' की मोना सम्पन्न बाप की, छब्बीस वर्षीय अविवाहित है-आर्थिक कारण से नहीं, मनोवैज्ञानिक कारण से। बाप उस सुंदर बेटी के योग्य वर नहीं पा रहा है किन्तु सच्चाई यह है कि बाप मोना का साथ नहीं छोड़ना चाहता। उसके अंतर्मन में मोना के सान्निध्य की जो चाह है उसे वह योग्य वर की अनुपलब्धि का जामा पहनाता है। माँ सुरेश के साथ उसकी शादी करना चाहती है क्योंकि वह समझती है कि लड़की कितनी ही सुंदर क्यों न हो, वह डाल पर लगे फूल जैसी है, मुरझाने में देर नहीं लगती। मोना इसी द्वंद्व में पड़ी हुई बाप की सेवा करती है। रूप गुण में वह कितनी ही असामान्य क्यों न हो, पर है तो वह नारी ही, उसे एक पुरुष चाहिए लेकिन बाप की दृष्टि में वह गाडेस है जब तक कोई देवता न मिले शादी कैसे हो सकती है। वह बाप की प्रशंसाओं सद्भावनाओं और प्यार को ढोती-ढोती अनजाने ही रीत रही है। अपने रीतने को वह स्वयं नहीं समझ पाती है। मां उसे समझाती है और अंत में अपने पति को लिखती है कि मोना सुरेश से शादी को तैयार है। जब बाप पूछता है तो मोना न जाने क्यों उत्तर दे देती है- 'हाँ, वह तैयार है।' वह फिर आइने के सामने खड़ी होती है और चाहती है कि कुछ ऐसा देखे जो पहले दिखाई नहीं पड़ता रहा है और आज दाहिने गाल पर उसे एक कील दिखाई पड़ती है। वह कील पहले से थी किन्तु दृष्टि के बदल जाने से दिखाई पड़ रही है। उस कील को वह खुरच कर फेंक देती है, उसे अपने नारी सुलभ निर्णय के बीच उगे हुए व्यवधान को फेंकना ही है। 'कील' मोना की ही कहानी नहीं है, बल्कि बदले हुए वक्त में, बदली हुई मनःस्थिति वाली उन तमाम युवतियों की कहानी है जो अपनी जिन्दगी आप जीना चाहती हैं।

इसी दौर में लिखी हुई एक अलग तरह की कहानी है 'बेसुर'। इसमें एक मध्यवर्गीय दम्पती शुरू में इस बात पर चौंकता है कि उनका नौकर फिल्मी दुनिया में जाकर एक बड़ी हस्ती बन गया है। बाद में पति-पत्नी दोनों इस बात का रस ले लेकर वर्णन करते है और इस बात पर गौरवान्वित भी होते हैं कि उनका नौकर कितना बड़ा आदमी हो गया है। 'उजाले के उल्लू', 'शिफ्टों में घिरा राजकुमार', 'शोर', प्याले', 'सीधी रेखाओं का वृत्त', 'गंध', 'दुख', 'ब्लाटिंग पेपर', 'पत्नियां', 'ठग', कितने संबंध', 'जीना मरना' जैसी कई महानगरीय बोध की कहानियां हैं जिनमें संबंधों में आई टूटन, निरर्थकता आज भी जगह-जगह झांकती नजर आ सकती है।

सन् 1980 में लिखी 'सहमे हुए' से डॉ. महीप सिंह की कहानी यात्रा के तीसरे दौर की शुरुआत माननी चाहिए। यह वह दौर है जब सिखों को एक करुण त्रासदी से गुजरना पड़ा। इस करुण विडम्बना को लेखक ने 'एक मरता हुआ दिन', 'आओ हंसें', 'पहले जैसे

दिन', 'शहर ' जैसी कहानियों में कितनी ही तरह से कहा है। निःसंदेह ये ऐसी कहानियां हैं जो 1984 की क्रूर दहशत के खौफनाक चहरे को सामने लाती हैं। इनमें सबसे संजीदा कहानी 'शहर' है, जिसमें इस त्रासदी का सीधा वर्णन न हुआ हो लेकिन बड़े भाई के मन पर पड़े उसके अक्सों, उनकी डबडबाई आंखों और जीवन नैया की डगमगाहट के जरिए लेखक ने यह दिखा दिया है कि साम्प्रदायिक आतंकवाद के खूनी पंजे बिना दिखाए भी मानो आंख के आगे आ जाते हैं। इसी तरह 'सहमे हुए' साम्प्रदायिक तनावों से घिरे उन बुद्धिजीवियों की कहानी है जो सीधे-सीधे इसे स्वीकार नहीं करते, लेकिन चाहे अनचाहे झेलना उनको यही सब पड़ता है। 'धूप की उंगलियों के निशान', 'बूढ़े', 'कितनी परछाइयां', 'शोक', 'अवश' 'शराब', 'डर' 'काल - सन्ध्या', 'ताल', 'कल', 'दिन' तथा 'दोस्ती के पानीपत की चौथी लड़ाई' इस दौर की अद्वितीय कहानियां हैं।

सन् 2000 से लेकर अगस्त 2006 तक डॉ. महीप सिंह की बारह कहानियां और प्रकाशित हुई हैं। इनमें से अधिकांश कहानियां अलग पहचान बनाने में सक्षम हैं। इनमें दिशांतर, बेटी, कितने सैलाब, आधी सदी का वक्त, दंश और निगति अपनी छाप छोड़ने में सक्षम हैं। तमाम कहानियों पर दृष्टिपात करने के उपरान्त कह सकते हैं कि डॉ. महीप सिंह ने अपनी कहानियों में नारी पात्रों को गिराया नहीं है, न उन्हें पुरुष के लिए खिलौने के रूप में प्रस्तुत किया है, बल्कि वे व्यक्ति, परिवार और समाज के विकास में सहभागी हैं। उनमें अपनें विचार हैं अपना व्यक्तित्व है। उनमें निर्णय लेने की क्षमता है और वे अपना काम अपने ढंग से कर सकती हैं। वह आत्मनिर्भर होकर सम्मान से जीती हैं कहानीकार ने नारी पात्रों को विविध रूप में प्रस्तुत किया है जहां वे स्थितियों से पराजित नहीं होती हैं। इन कहानियों का दायरा केवल महानगरीय और मध्यवर्गीय जीवन तक ही सीमित नहीं है अपितु उसका विस्तार गांव, कस्बे, खोली और फुटपाथ पर रहने वाले व्यक्ति तक भी हुआ है और लेखक ने मानवीय संबंधों के बनते-बिगड़ते समीकरणों को बखूबी कहानियों में उभारा है। व्यक्ति और समाज के परस्पर टकराव और सहयोग का भी चित्रण किया है। कामेच्छा, विवाह संबंध, मित्रता, परिवार, धर्म, राजनीति आदि के आधार पर होने वाले रिश्तों के टकराव और उससे उत्पन्न विविध आयामों को भी इन कहानियों में देखा जा सकता है। अधिकांश कहानियों को देखकर अकसर लगता है ये इनकी अपनी जी हुई घटनाएं है और इनके बीच वे स्वयं उपस्थित हैं किन्तु अपनी उपस्थिति को इतना परोक्ष और सूक्ष्म रखा है कि कहानी किसी एक व्यक्ति की न होकर समाज के असंख्य व्यक्तियों की कहानी बन जाती है। कहानियों की यह विशेषता ही इन्हें समसामयिक कहानीकारों में विशिष्ट स्थान बनाने में सहायता करती है।

काफी समय तक कहानियां लिखने के उपरान्त डॉ. महीप सिंह का उपन्यास 'यह भी नहीं' 1976 में प्रकाशित हुआ। इसके विषय में उन्होंने स्वयं लिखा है कि यह उपन्यास मैंने अपने एक वर्ष के (1974-1975) जापान प्रवास के दौरान लिखा था, परन्तु इसकी कथावस्तु मेरे अन्दर अनेक वर्षो से पल रही थी। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कह सकते हैं कि इस उपन्यास का भ्रूण तो वर्षो से पल रहा था परन्तु इसके पूर्ण विकास का समय विदेश प्रवास के दौरान ही मिल सका और इसकी प्रसूति (प्रकाशन) 1976 में हुई। इस उपन्यास की

लोकप्रियता का सहज अहसास इसी से हो जाता कि अब तक सात भाषाओं अंग्रेजी, पंजाबी, मलयालम, मराठी, गुजराती, उड़िया और कन्नड़ में भी इसके अनुवाद छप चुके हैं। सन 2005 में हिन्दी में इसका चौथा संस्करण प्रकाशित हुआ।

महानगरीय जीवन की आधुनिकता से प्रभावित उलझे जटिल संबंधों के भीतर टूटती, पनाह खोजती बेपनाह जिंदगी का जितना यथार्थ अंकन इस उपन्यास में हुआ है वैसा कम ही उपन्यासों में हो पाता है।

'यह भी नहीं' में बम्बई के प्रमुखतः मध्यवर्गीय और प्रसंगतः उच्च और निम्नवर्गीय जीवन का चित्रण किया गया है। मध्यवर्ग का भी वह तवका जो देश के विभिन्न भागों से आकर धीरे-धीरे बम्वई का होने लगता है। ये अधिकतर आजीविका की तलाश में आते हैं और कभी-कभी अपनी यौन स्वच्छंदता को प्रश्नहीनता का वातावरण देते हैं। यह भाग बम्बई का बहुत बड़ा भाग है और इनकी समस्याओं का महीप सिंह ने सूक्ष्म और वैविध्य सम्पन्न चित्रण किया है। बम्बई में पहुंचने वाले युवक-युवतियों को बम्वई कुंठाएं देती है क्योंकि किसी की नजर होटल मैग्नेटों की ओर है किसी की सिनेमा के थैलीशाहों की ओर तो किसी की सेठों की ओर और वाकी की कमी बम्वई का मायाजाल पूरी कर देता है जिसके परिणामस्वरूप कुंठाएं उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस उपन्यास में लेखक ने सांकेतिक दृष्टि से बम्बई की जिंदगी का केन्द्रीय स्पंदन ध्वनित करने में सफलता प्राप्त की है।

'यह भी नहीं' में समस्याओं से मुंह चुराने की बजाय आगे बढ़कर उन सभी समस्याओं को लिया गया है जो समसामयिक यथार्थ के कटु अंग हैं। स्त्री-पुरुष की समस्याएं अनन्त हैं फिर भी उनके कुछ प्रमुख रूप उपन्यास में आ गए हैं जो मोटे तौर पर पुराने विश्वासों और नई मान्यताओं के बीच संघर्ष की समस्याएं हैं। तनावपूर्ण संबंधों वाले पति-पत्नी के बीच पुत्र के पालन और विकास की समस्या का सूक्ष्म चित्रण पाठक को झकझोर जाता है। शिक्षित कन्या के विवाह की समस्या भी बहुत गहरे रंगों में चित्रित हुई है। भ्रष्ट प्रवंधक और चापलूस तथा वेईमान प्रिंसिपल के बीच की साठ-गांठ से उत्पन्न होने वाली शिक्षा संस्थाओं में स्वतन्त्रता और योग्यता के हनन की समस्या भी चित्रित हुई है। भाषा की समस्या विद्यालय की पत्रिका से लेकर राजनीतिक वातावरण की समस्या के रूप में चित्रित हुई है। इसी प्रकार सेठों द्वारा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को कमजोर करने वाली टैक्स चोरी और उसे कानूनी सुरक्षा देने के लिए बिचौलियों द्वारा टैक्स अधिकारियों को घूस देने की समस्या रेलवे प्रशासन से लेकर आम प्रशासन तक भ्रष्टाचार की समस्या, अनेक प्रकार से उभर कर सामने आती है। प्रादेशिकता को राजनीतिक रंग देकर मुंबई आमची आहे का नारा लगाकर बंद का आयोजन और तत्संबंधी तोड़-फोड़ की समस्या बम्बई में मकानों की भीषण समस्या, बाजारू फिल्मों के निर्माण और उससे जनता को मूर्ख बनाने की समस्या, क्लबों और होटलों की कृत्रिम एवं भ्रष्ट जिंदगी की समस्या और पश्चिम की भोंडी नकल और अन्त में पिछले दो तीन दशकों में उत्पन्न बुद्धिजीवियों के लिए चुनौती स्वरूप उत्पन्न होने वाले भगवानों की समस्या उपन्यास की महत्वपूर्ण विवृतियाँ हैं।

घटनाओं की ही भांति भाषा के प्रयोगों में भी विशेषता है। शुद्ध कथा भाषा-सीधी

सहज, बिम्बों, प्रतीकों और अप्रस्तुतों की औपचारिकता एव रहित भावात्मकता की उलझनों से रहित, जीवन के इर्द गिर्द की स्तरीय व्यावहारिक भाषा को सहज साहित्यिक संस्कार प्रदान कर कृति में प्रयोग किया गया है। कथाकार भावुकता के साथ दार्शनिकता और कुण्ठा आदि की रहस्याच्छादित मनोवैज्ञानिक परतों के अंकन से भी बचता गया है।

'यह भी नहीं' में डॉ. महीप सिंह ने अधिकांश कहानी परम्परागत शिल्प का उपयोग करते हुए कही है। बीच-बीच में पूर्व दीप्ति, फैण्टेसी, स्वप्न आदि का भी उपयोग किया गया है। उपन्यास सुगठित न होकर बिखरावपूर्ण है। जिस लक्ष्य को लेकर उपन्यासकार चला है उसकी दृष्टि से यह दोष नहीं है। अगर पूरे बम्बई महानगर का चित्र खड़ा करना है तो उपन्यास में बिखराव आएगा ही। इस बिखराव के बावजूद उपन्यास बेहद पठनीय है।

लगभग 29 वर्ष के लम्बे अन्तराल के बाद डॉ. महीप सिंह जी का नया उपन्यास 'अभी शेष है' आया। इस उपन्यास का समय 1970 के आसपास का है और उपन्यास की सीमा देश में 1975 में की गयी आपातकाल की घोषणा तक है। आजादी तो 1947 में मिल गयी परन्तु देश की जनता ने इतिहास से कुछ भी सबक नहीं लिया। आज भी देश में जब चाहे दंगे भड़क उठते हैं। चाहे वह उग्रवाद के नाम पर हो, मन्दिर-मस्जिद के नाम पर या मजहबी जुनून के नाम पर गोधरा काण्ड। आज तक भारत में जितने भी फसाद हुए हैं उनमें 1947 में हुए दंगों की मिसाल पूरे विश्व में नहीं मिलती। कल तक जो एक साथ रहते थे, साथ उठते बैठते थे, एक दूसरे के सुख-दुख में शरीक होते थे अचानक ही एक दूसरे के खून के प्यासे हो गये। सबकी अक्ल पर परदे पड़ गये, सोचने समझने की शक्ति ही खत्म हो गयी। जो नफरत के बीज उस समय बोये गये थे वे आज भी यों ही बोये जा रहे हैं। जहाँ तक आम आदमी की बात है वह इन सब चीजों से आजिज आ चुका है। आम आदमी तो शान्ति के साथ जीना चाहता है। देश का बंटवारा हुआ तो बहुतों को भारत छोड़कर पाकिस्तान जाना पड़ा और बहुतों को पाकिस्तान छोड़कर भारत आना पड़ा। सबके दिल में अपनी जन्मभूमि को छोड़ने की कसक थी । कोई भी बेवतन नहीं होना चाहता था परन्तु देश के नेताओं के आगे किसी की नहीं चली। जिसका नतीजा था पाकिस्तान का जन्म।

अंग्रेजों ने जाते-जाते देश को दो टुकड़ों में बांट दिया पर दिलों को नहीं बांट पाये। लाखों लोगों को अपना घर छोड़कर शरणार्थी का जीवन व्यतीत करना पड़ा। भाइया जी भी उन्हीं में से एक थे जो भारत में आकर बस तो गए परन्तु दिल से कभी भी अपने मुल्क को नहीं भुला पाए। उनकी यादों में, बातचीत में हमेशा वहां का जिक्र होता। कोई भी बात हो उनके बचपन से ही शुरू होती और पाकिस्तान की गलियों में घूमती रहती। एक जगह भाइया जी कहते हैं, 'हुकूमतें बदलती रहती हैं। राज भाग कभी किसी के सिर पर, कभी किसी के सिर पर, पर आम लोग तो अपने घरों में ही बसते हैं। हुकूमतों का बनना और बिगड़ना फसलों की भांति है, बोई सींची और फिर काट ली। मन किया तो गेहूँ बो दिए, मन किया तो बाजरा या मकई बो दी। आम जनता तो धरती की भांति होती है वह अपनी जगह से नहीं हिलती।' सच ही है कि हुकूमतें तो बदलती रहती हैं, पर आम आदमी तो वही रहते हैं। आम जनता धरती की तरह ही होती है उसे ही सब कुछ सहना पड़ता है और 1947 से लेकर अब तक जितने भी दंगे हुए उसमें जो कुछ भी सहा वह आम आदमी ने ही सहा।

गांव से बिछुड़ने का दर्द भाइया जी को मरते दम तक सालता रहा और इनकी आखिरी इच्छा भी यही रही कि मरने के बाद इनकी अस्थियां जेहलम में ही प्रवाहित की जाएं। यह दर्द केवल भाइया जी का ही नहीं है उन सभी का है जिन्हें अपने वतन से बेवतन होना पड़ा। आदमी कहीं का कहीं क्यों न पहुंच जाए परन्तु उस जगह को कभी नहीं भूल सकता जहां उसने अपना बचपन गुजारा होता है। जिस मिट्टी में खेल-खेलकर बच्चा बड़ा होता है उसे भूला भी कैसे सकता है। भाइया जी पचहत्तर पार कर चुके हैं और घर परिवार में सभी अपने-अपने काम में व्यस्त हैं, किसी के पास इतना वक्त नहीं होता कि भाइया जी के पास फुरसत से बैठे। दूसरा यह कि भाइया जी जब भी बात करते हैं तो अपने बचपन के दिनों में पहुंच जाते हैं, जिसे सभी कई बार सुन चुके हैं और इनके किस्से को सुन सुनकर बोरियत महसूस करते हैं।

भाइया जी का सारा जीवन संघर्ष में ही गुजरा। शादी के तुरंत बाद ही भाइया जी को बड़े भाई लाभ सिंह ने अलग कर दिया। इनके हिस्से में कुछ बर्तन, कुछ कपड़े, टूटी फूटी हवेली का एक हिस्सा और कुछ रुपए ही आए। साइकिल की मरम्मत का काम शुरू कर जीवन की गाड़ी को आगे बढ़ाना शुरू किया। काम आगे बढ़ा परन्तु इन्हें अपना मुल्क पाकिस्तान छोड़कर भारत आना पड़ा। यहां आकर इन्होंने दिल्ली में अपना घर बसा लिया। बच्चे बड़े होने लगे और सभी का काम धंधा बढ़ने लगा। भाइया जी मन में बेटी की चाह लेकर जीते रहे परन्तु इनके अपनी कोई बेटी नहीं हुई। बेटी की चाह पूरी हुई तो बेटे बलवंत की बेटी मनजीत के रूप में। समय के साथ-साथ भाइया जी की उम्र ढलने लगी और ये 75 पार कर गए। बच्चे सयाने होने लगे। मनजीत कालेज जाने लगी और वहां उसकी एक लड़के से दोस्ती हो जाती है जो उसे मन ही मन चाहता है। मनजीत भी उसे चाहती है परन्तु रोजगार न होने के कारण दोनों का विवाह नहीं हो पाता।

'अभी शेष है' में कथानक केवल एक ही परिवार या एक ही समस्या के इर्द गिर्द नहीं घूमता। मनजीत और सुनंदा के माध्यम से नारी से जुड़ी समस्याओं को उठाया गया है। कालेज आते-जाते समय बस में मनजीत की कमलजीत से मुलाकात होती है और यह मुलाकात धीरे-धीरे प्रेम में परिणत हो जाती है। इनका प्रेम विवाह के बंधन में नहीं बंध पाता और मनजीत का विवाह लखनऊ के मनमोहन से तय होता है जो पढ़ा-लिखा और काबिल तो है परन्तु शक्ल-सूरत में मनजीत के लायक नहीं। मनमोहन नौकरी अमेरिका में करता है और मनजीत को भी विवाह के बाद अमेरिका में ही जाना पड़ता है मनमोहन कॉम्पलेक्स का शिकार हो जाता है। यहां तक कि उसे मनजीत का सजना-संवरना भी अच्छा नहीं लगता। इसी समय में अमेरिका का वियतनाम के साथ युद्ध छिड़ जाता है। वहां की राजनीति को लेकर वह अनजाने में अमेरिका के खिलाफ कुछ टिप्पणी कर बैठता है और उसके मन में डर बैठ जाता है जिसके चलते वह मानसिक रोग का शिकार हो जाता है। उसका कई जगह इलाज भी कराया जाता है परन्तु कोई परिणाम नहीं निकलता।

दूसरी तरफ सुनंदा है। उसके माता-पिता का एक दुर्घटना में देहांत हो जाता है। सुनंदा का भाई और पति अमेरिका में ही रहते हैं। शुरू में सुनंदा का पति उसके पत्रों का भी जवाब देता है परन्तु धीरे-धीरे उसकी उपेक्षा शुरू कर देता है। सुनंदा जब इसकी वजह खोजती है

तो उसके पैरों तले जमीन खिसक जाती है। उसके पति ने वहीं किसी दूसरी महिला से विवाह कर लिया, न तो उसे तलाक देना ही जरूरी समझा और न ही बताना कि उसके साथ यह सब क्यों किया जा रहा है। इस आघात को सुनंदा जैसे-तैसे झेल लेती है और खुद को व्यस्त रखने के लिए स्वतंत्र पत्रकार का व्यवसाय अपना लेती है। क्या व्यस्तता से ही किसी समस्या का समाधान किया जा सकता है? पति-पत्नी के संबंधों में कुछ वैयक्तीकरण और नितांत निजी संबंध भी होते हैं जिनकी पूर्ति वे आपस में बिना किसी औपचारिकता के करते रहते हैं परन्तु जब संबंध विच्छेद की नौबत आ जाती है तो नारी के सामने इस प्रकार की समस्या आती है कि वह इसकी पूर्ति कहाँ करें? ऐसे में ग्लैमर वीकली के सम्पादक आनंद से उसका परिचय होता है। लेखों के माध्यम से हुआ परिचय धीरे-धीरे बिस्तर तक पहुच जाता है। जब इन संबंधों का पता आनंद की पत्नी कोमल को चलता है तो वह भी काफी परेशान होती है। वह इस समस्या का समाधान सोच समझ कर निकालती है और सुनंदा को समझाती है जिसे सुनंदा मान भी लेती है।

नसरीन और अशरफ दोनों मुस्लिम समुदाय से हैं। दोनों ही एक दूसरे को चाहते हैं और पति-पत्नी के रूप में जीवन व्यतीत करना चाहते हैं परन्तु शिया सुन्नी की दीवार इनके बीच आ जाती है। इस कारण इनके माता-पिता इस रिश्ते के लिए तैयार नहीं होते। ऐसे में ये दोनों आनंद साहब की शरण में आकर अपनी समस्या से इन्हें अवगत कराते हैं और चाहते हैं कि कोर्ट मैरिज में आनंद साहब इनकी सहायता करें।

भाइया जी के बेटे बलवंत की टायर सोल की फैक्टरी है। एक मजदूर की वजह से एक दिन फैक्टरी में आग लग जाती है और उस मजदूर की मौत हो जाती है। ऐसे में यूनियन नेताओं को अपनी रोटी सेंकने का मौका मिल जाता है। यूनियन लीडर अपने स्वार्थों को साधते हैं। आनंद साहब समझौता करा देते हैं, मजदूर के परिवार को मिलता है थोड़ा सा मुआवजा और घर भरता है यूनियन लीडर चड़ती राम का।

कृति में सिख राजनीति और गुरुद्वारा कमेटियों पर कब्जा जमाने की होड़ और धांधलियों का भी खुलकर बखान किया गया है। 1971 के भारत-पाक युद्ध में पाक को पराजित करना और पाक युद्धबंदियों का रेडियो से अपने परिवारों को अपनी कुशलता का संदेश देना भाव-विह्वल करने के साथ ही 1971 के युद्ध की याद ताजा कर देता है।

1974 का छात्र आंदोलन, 1975 का आपातकाल पढ़कर ऐसा लगता है जैसे सभी पुरानी बातें एक-एक कर आंखों के सामने आ रही हैं। 1975 के आपातकाल में सरकार विरोधियों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। सरकार विरोधी बहुत दिनों तक तो अपने घर ही नहीं जा पाए थे। जहां भी उन्हें छिपने की जगह मिलती वहीं वे शरण लेते थे। पुलिस चुन-चुन कर इन्हें जेलों में भर रही थी। प्रेस को भी सेंसर कर दिया गया। बिना सरकारी अधिकारी को दिखाए कोई भी लेख या प्रतिक्रिया नहीं छप सकती थी और जो भी ऐसा कुछ छापने की कोशिश करता उसे रातोंरात उठाकर जेल में डाल दिया जाता था। आनंद के साथ भी ऐसा ही हुआ। पुलिस उसे जानती थी परन्तु ऊपर के आदेश के सामने विवश थी। आज अखबार छोटा हो या बड़ा, उसे सरकारी विज्ञापनों के लिए कई प्रकार के

हथकंडे अपनाने पड़ते हैं, सरकारी अधिकारियों की चापलूसी करनी पड़ती है तब जाकर कहीं अखबार चल पाता है। 'अभी शेष है' में लेखक ने मनजीत, सुनंदा, कोमल के माध्यम से नारी मन की व्यथा का गहराइयों से वर्णन किया है तो नसरीन-अशरफ के माध्यम से शिया-सुन्नी समस्या का, सतवंत के माध्यम से डेरे के संत की यौन पिपासा का, सोहन सिंह, संत निधान सिंह, संत बीर सिंह के माध्यम से डेरों और सिख राजनीति का स्पष्ट और बेबाक बखान है। उपन्यास की समाप्ति पर पाठकों के मन में जिज्ञासा रह जाती है कि आनंद का क्या हुआ। सुनंदा और कोमल जब साथ-साथ रहने लगीं तो उनका जीवन कैसा रहा। नसरीन अशरफ का जीवन कैसा चल रहा है। मनमोहन वापस मनजीत के पास आता है या नहीं आदि जहां पाठक के मस्तिष्क पर छाप छोड़ती हैं वहीं इन पात्रों के विषय में आगे की जानकारी चाहने की इच्छा भी।

हिन्दी साहित्य के गम्भीर अध्येता के रूप में डॉ. महीप सिंह ने यह महसूस किया कि न तो दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में और न ही साहित्य के क्षेत्र में सिख साहित्य का मूल्यांकन हो पाया है। ऐसे वर्णन तो पाये जाते हैं जिनमें गुरु नानक देव को सामान्य संत के रूप में देखा गया है और गुरु गोविन्द सिंह को महान योद्धा के रूप में चित्रित किया गया है परन्तु 'दशम ग्रंथ' में गुरु गोविन्द सिंह की रचनाओं के अध्ययन, सम्पादन और प्रकाशन आदि की ओर उपेक्षा का दृष्टिकोण ही अपनाया है। यह उपेक्षा मात्र दशम ग्रंथ तक ही सीमित नहीं थी, लगभग सम्पूर्ण सिख साहित्य और गुरु ग्रंथ साहब भी इसका शिकार रहा। डॉ. महीप सिंह ने 1954 में डी. ए. वी. कालेज कानपुर से हिन्दी साहित्य में एम. ए. करने के पश्चात गुरु गोबिन्द सिंह के काव्य को अपने शोध कार्य के लिए चुना और 1963 में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच. डी की डिग्री प्राप्त की। डॉ. महीप सिंह ने गुरु गोबिन्द सिंह के सम्पूर्ण काव्य के मंथन के पश्चात समकालीन वीर काव्य का गहन एवं विस्तृत अध्ययन एवं मूल्यांकन करने के बाद आश्चर्यजनक तथ्य विद्वानों के सामने प्रस्तुत किए।

डॉ. महीप सिंह ने गुरु ग्रंथ और दशम ग्रंथ के आधार पर यह सिद्ध किया कि अपने जीवन और साहित्य के बल पर भारतीय जनता की मनोवृत्ति को गुरु गोबिन्द सिंह ने बदला और यह बदलाव ऐसा आया कि कातरता, आत्मविश्वासहीनता की भावनाओं को त्याग कर 'सिंह' रूप में एक-एक व्यक्ति 'सवा लाख' से लड़ने मरने के लिए तैयार हो गया। गुरु गोविन्द सिंह ने युद्ध कौशल ही नहीं दिया, साथ ही साथ एक विशिष्ट युद्ध दर्शन भी पैदा किया। डॉ. महीप सिंह के शोध के बाद विद्वानों का ध्यान सिख साहित्य की ओर गया और खासतौर पर पिछले चालीस सालों में कई महत्वपूर्ण रचनाएं प्रकाश में आईं।

सिख जगत में बेशक डॉ. महीप सिंह को उनके शोध और समालोचना 'गुरु गोबिन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता' के साथ जोड़कर जाना जाता है, परन्तु इनकी एक अन्य कृति 'आदिग्रंथ में संगृहीत संत कवि' के. के. बिड़ला फाउंडेशन द्वारा प्राप्त शोध वृत्ति के लिए लिखी गई और भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुई। यह पुनः सिद्ध करती है कि डॉ. महीप सिंह कहानीकार, उपन्यासकार, अखबारों के स्तम्भकार, निबंधकार, धारावाहिकों के लेखक आदि होने के साथ-साथ गुरुवाणी के चिंतक, व्याख्याकार और गम्भीर पाठक भी हैं

जो अभी तक गुरुवाणी से सम्बन्धित अनसुलझे प्रश्नों का उत्तर खोजने में लगे हैं। इस विषय में महीप सिंह अपने विचार व्यक्त करते हुए बताते हैं कि मेरी दृष्टि में अध्यात्म अंतर की खोज है, स्वयं की पहचान है और लेखक होने के नाते इसमें मेरी गहरी जिज्ञासा है। गुरुवाणी से मेरा सम्बन्ध बचपन से है। उसका मैंने अध्ययन किया। उसने मुझे बहुत प्रभावित किया।

'आदि ग्रंथ में संगृहीत संत कवि' के उपरान्त डॉ. महीप सिंह की 'गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक' प्रकाशित हुई। यह पुस्तक भारत सरकार के प्रकाशन विभाग के आग्रह पर लिखी गई। इसमें गुरु ग्रंथ साहिब की वाणियों के आधार पर सिख जीवन दर्शन और गुरु गोबिन्द सिंह के युद्ध दर्शन पर प्रकाश डाला गया है। सिख धर्म का आन्दोलन मात्र भक्ति आन्दोलन नहीं था, वह सामाजिक-आर्थिक और वैचारिक क्रांति का आन्दोलन था। इससे तत्कालीन मुगल साम्राज्य भी चिंतित हुआ और उसका दखल भी दिनोंदिन बढ़ता गया। परिणामस्वरूप इस भक्तिपरक सामाजिक आंदोलन को शक्ति की आवश्यकता महसूस हुई। अतः सत्ता के साथ टकराव में इस अनोखे भक्ति आन्दोलन ने शक्ति को भी अपनी जीवन शैली में रूपांतरित कर लिया यानी 'मीरी और पीरी' की विचारध ारा के साथ जीने वाला 'संत सिपाही'।

सिख इतिहास की गुरु ग्रंथ साहिब के सम्पादन के बाद सबसे क्रांतिकारी घटना थी आनन्दपुर में 30 मार्च 1699 को गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा बुलाया गया सिखों का विशाल सम्मेलन और वैशाखी के दिन 'पाहुल संस्कार' द्वारा 'खालसा' पंथ की स्थापना और शस्त्रधारी पंज प्यारों का नया स्वरूप। इससे राजाओं, नवाबों और सूबेदारों से लेकर दिल्ली के तख्त तक को खतरे की घंटियां सुनाई देने लगीं। यह सिख विचारधारा की ऐतिहासिक परिणति थी। इससे युद्धों का और मुगल सल्तनत के लिए विनाश का इतिहास लिखा जाना था। सिख विचारधारा में युद्ध दर्शन और योद्धाओं के उत्थान का समय शुरू होना था। दलित जातियों में साहस शौर्य और आत्मसम्मान की सोच का विकास होना था। अंततः पूरा इतिहास ही करवट बदलने की तैयारी कर रहा था। इस काल खण्ड का पूरा ऐतिहासिक ब्योरा 'सिख विचारधारा गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक' में अंकित है।

डॉ. महीप सिंह कहानीकार के रूप में विख्यात हैं परन्तु उन्होंने समय-समय पर व्यंग्य भी लिखे हैं, जो 'एक नए भगवान का जन्म' तथा 'एक गुण्डे का समय बोध' संग्रहों में संकलित हैं। इनके व्यंग्य देश की राजनीति में व्याप्त विसंगतियों पर प्रहार करते हैं। सन् 1985-90 के दौरान देश की राजनीति में नैतिक मूल्यों का पतन, वंशवाद, गुंडागर्दी, भ्रष्टाचार, धार्मिक भावनाओं का राजनीतिक इस्तेमाल जैसे अनेक मुद्दे छाए हुए थे। लेखक ने इन सभी को अपने व्यंग्य का निशाना बनाया है। महीप जी ने समाज के अंतर्विरोधों और विसंगतियों को अत्यन्त धारदार भाषा में व्यक्त करते हुए व्यंग्य साहित्य में अपना विशिष्ट योगदान दिया है।

डॉ. महीप सिंह द्वारा समय-समय पर लिखे निबंध ''कुछ सोचा : कुछ समझा' में संकलित हैं। इनके अब तक प्राप्त निबंधों और लेखों की संख्या लगभग चार सौ है। इन

निबंधों को यहां राजनीति, साहित्य, धर्म, इतिहास, समाज आदि शीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत किया जा रहा है।

डॉ. महीप सिंह के आधी सदी से ज्यादा के लेखन को दस खण्डों में प्रस्तुत किया गया है।

खण्ड एक- कहानी

खण्ड दो - कहानी

खण्ड तीन -उपन्यास

खण्ड चार - साक्षात्कार, व्यंग्य और रूपक

खण्ड पांच - शोध

खण्ड छः -आदिग्रंथ में संगृहीत सन्त कवि, सिख विचारधाराः गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक तथा अन्य जीवनियां

खण्ड सात - साहित्यिक लेख

खण्ड आठ - धर्म और इतिहास से संबंधित लेख

खण्ड नौ - सामाजिक लेख

खण्ड दस - राजनीतिक लेख

महीप सिंह रचनावली की सामग्री खोजते समय अनेक ऐसे दुर्लभ लेख भी प्राप्त हुए जिनकी उम्मीद स्वयं लेखक को भी नहीं थी। साथ ही कुछ चीजें खोजने पर भी नहीं मिलीं। सामग्री की खोज में डॉ. साहिब ने पूरा सहयोग किया। अप्रत्यक्ष रूप से कई और मित्रों का भी सहयोग प्राप्त होता रहा, जिनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूं।

संपादक

अनिल कुमार

एच-3/72, विकास पुरी

नयी दिल्ली-110018

(मो. 09810226748)

अनुक्रम

विषय सूची

राजनीति

खुशामद में ही आमद है

श्रद्धा, भक्ति, पूजा और खुशामद या चाटुकारिता में कितना भेद है? किसी व्यक्ति के गुण, उसके संकल्प, त्याग और उपलब्धियों को देखकर आम लोगों में उसके लिए श्रद्धा और भक्ति का भाव उत्पन्न होता है। कभी-कभी यह श्रद्धाभाव व्यक्ति की लौकिक या अलौकिक शक्तियों के कारण उपजता है। सामान्य व्यक्ति किसी के प्रति श्रद्धा-भक्ति का भाव मुख्यतः दो कारणों से रखता है—''एक है डर (लोक का या परलोक का) दूसरा है लोभ और लालच। परमात्मा की पूजा भी सामान्य व्यक्ति धन, संतान, स्वास्थ्य, पद तथा अन्य सांसारिक सफलताओं के लिए ही करते हैं। निष्काम भाव तो शायद ही कहीं देखने को मिले। मुक्ति की मामना भी तो कामना ही है। गुरु नानक ने अपनी एक रचना में कहा है—धार्मिक व्यक्ति धर्म करते हुए यदि मोक्ष की (भी) कामना करता है तो वह अपना धर्म गवां देता है—

धरमी धरमु करहि गावावहि मंगहि मोख दुआर (आसा दी वार)

इसलिए यदि श्रद्धा-भक्ति और खुशामद-चाटुकारिता का अंतर स्तष्ट करना हो तो यह कहा जा सकता है कि श्रद्धा-भक्ति निष्काम होती है। उसके पीछे न भय होता है न लोभ और खुशामद-चाटुकारिता सकाम होती है। उसके पीछे कभी भय होता है, कभी लोभ, कभी दोनों।

खुशामद बड़ी व्यापक इंसानी फितरत है। इसे सारी दुनिया में व्याप्त देखा जा सकता है, किंतु अपने देश का व्यक्ति संभवतः इस प्रवृत्ति या आदत में बाकी सारी दुनिया के लोगों को मात देने में समर्थ है। यदि स्वीडन की नोबेल पुरस्कार प्रदान करने वाली समिति, एक पुरस्कार खुशामद के लिए भी देने का फैसला कर ले तो वह प्रतिवर्ष किसी भारतवासी को ही मिलेगा, इस संबंध में मेरे मन में कोई संदेह नहीं है।

खुशामद मूलतः सामंती समाज की देन है। राजे, महाराजे, बादशाह, नवाव और उनके छोटे-बड़े सामंत, जागीरदार अपने दरबारों में न केवल जी हजूरियों को पनाह देते थे, बल्कि उनकी खुशामद से खुश होकर उन्हें धन-दौलत और रुतवा भी देते थे। राजाओं महाराजाओं की प्रशंसा में कविता कर्म करने वाले चारण भाट कवियों की हमारे देश में लंबी परंपरा है।

संसार में से सामंती व्यवस्था को शक्तिहीन करने या समाप्त करने में लोकतंत्र के संकल्प और प्रचार ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। संसार के विभिन्न भागों से राजाओं-महाराजाओं के निशान मिटने लगे या धूमिल पड़ने लगे। बड़ी-बड़ी जागीरें और जमींदारियां भी समाप्त प्रायः हो गईं। इसका प्ररिणाम यह हुआ कि चाटुकारों की भीड़ भी काफी कम हो गई, किंतु मनुष्य स्वभाव तो इतनी जल्दी वदलता नहीं। पूंजीवादी समाज में जागीरदारों की जगह अमीरों ने ले ली। चाटुकार वर्ग अव अमीरों धनपतियों के इर्द-गिर्द घूमने लगा, किंतु इस क्षेत्र में उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। पूंजीपति वर्ग अंदर से बड़ा सयाना होता है। खुशामदियों को वह एक सीमा से अधिक प्रोत्साहन नहीं देता। वास्तव में सत्ता और चाटुकारिता का वड़ा पुराना और गहरा संवंध है। लोकतंत्र में इसकी महत्ता इसलिए भी है, क्योंकि यहां दोनों ही एक-दूसरे के लिए लाभकारी सिद्ध हो सकते हैं। किसी भी राजनेता को चाटुकारों (आज की भाषा में चमचों) की जरूरत इसलिए होती है कि वे उस राजनेता का प्रचार करते हैं, उसकी छवि उभारते हैं, उसकी तथाकथित उपलब्धियों का ढिंढोरा पीटते हैं। इन सभी का लाभ राजनेता को अपने चुनाव-अभियान में मिलता है।

इसके बदले में राजनेता अपने चाटुकारों को अनेक प्रकार से लाभ पहुंचाता है। कोटा, परमिट, सरकारी कमेटियों में नामजदगी, कमीशनों-कारपोरेशनों की सदस्यता या अध्यक्षता, सरकारी ठेके, आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति के लंवे-चौड़े आर्डर जैसी अनंत सुविधाएं वह अपने चाटुकारों को दे सकता है। वड़े नेताओं के चाटुकार जो राजनीति की दुनिया में आना चाहते हैं (क्योंकि आज सवसे अधिक धन, सम्मान, कीर्ति और सत्ता सुख इसी धंधे में है) वे यह आशा रखते हैं कि उन्हें अपनी अपनी सेवाओं का प्रतिदान आगामी चुनाव में—पंचायत से लेकर संसद की सदस्यता तक—पार्टी का टिकट दिलवाने में यह नेता सहायक हो सकता है।

आज अपने देश में चाटुकारों का डंका पिट रहा है। इस कार्य को करने अव कुछ लोगों को किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव नहीं होता। चाटुकार तो हर युग में रहे हैं, किंतु गत कुछ दशकों में जिस गति से इन देश की राजनीति में इनका वोलवाला और दवदबा बढ़ा है, इन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त हुई है और चाटुकारिता को सांसारिक सफलता का सबसे अधिक कारगर हथियार समझा जाने लगा है वह अपने आप में एक मिसाल है।

आजादी के बाद से ही इस देश की सत्ता-राजनीति में इस प्रवृत्ति की बढ़त को अनुभव किया जाने लगा था, किंतु मेरी मान्यता है कि इसे इस रूप में प्रोत्साहित और प्रस्थापित करने का एक मात्र श्रेय श्रीमती इंदिरा गांधी को दिया जा सकता है। इंदिरा गांधी की मानसिकता सामंतीय समाज वाली थी। यह मानसिकता उनके पिता जवाहर लाल नेहरू की थी, किंतु स्वतंत्रता संग्राम में प्राप्त सामान्य जन की निकटता, लोकतांत्रिक और समाजवादी विचारधारा के प्रति उनका भावुक झुकाव और महात्मा गांधी के व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव उनके सामंतीय स्वभाव पर कुछ बंदिश लगाए रखता था।

इंदिरा गांधी के व्यक्तित्व में इन बातों का प्रभाव नगण्य-सा था। उन्होंने शासन और सत्ता को ही विशेष रूप से देखा, जिया और भोगा था। इन्हीं से उनका मानस बना था। इन मानसिक परिसीमाओं के कारण स्वाभाविक रूप से उन्हें वफादारों, अंध-भक्तों, चाटुकारों की अधिक जरूरत थी। कुछ ही समय में एक जैसे बहुत से लोग उनके चारों ओर एकत्र हो गए। कांग्रेस में स्वाभिमान और स्वचिंतन रखने वाले लोगों के लिए सम्मान का स्थान नहीं रहा। वे दूर हट गए या हटा दिए गए।

संजय गांधी का आविर्भाव उस स्थिति की अनिवार्य परिणति थी। उनके चारों ओर चाटुकारों की जैसी भीड़ जमा हुई उसे देखकर तो इस कला को अधिक बुरा न समझने वाले लोग भी अचंभित रह गए। संजय गांधी के पास न कोई सरकारी पद था, न संवैधानिक अधिकार, न बौद्धिक योग्यता, न किसी प्रकार के त्याग, सेवा या कुर्बानी की पृष्ठभूमि। उनकी एक मात्र योग्यता, प्रधानमंत्री का पुत्र होना ही थी, किंतु उनके लिए प्रयुक्त विशेषणों के कारण शब्दकोश झूठे पड़ते दिखाई दिए। 'युवक हृदय सम्राट' से लेकर 'देश के अनन्य सुपुत्र' भविष्य निर्माता' और 'भारत भाग्य विधाता' तक के किसी भी प्रकार के विशेषण' का उपयोग करने से संकोच नहीं किया गया। वे जहां गए, हवाई अड्डे पर उनका स्वागत करने के लिए प्रदेशों के मुख्यमंत्री अपनी पूरी फौज लेकर हाजिर हुए। यदि किसी वाहन पर चढ़ते या उतरते हुए उनकी चप्पल कहीं पीछे रह जाती तो उसे उठाने के लिए बड़े-बड़े मंत्रियों और सरकारी अफसरों में होड़-सी लग जाती।

राजीव गांधी के शासनकाल में भी ऐसे खिदमतगारों का प्रभाव खूब चमका। इस समय की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि इससे पहले चाटुकारों, खुशामदियों का एक वर्ग होता था। राजीव गांधी के समय वह एक पूरा संप्रदाय बन गया। जैसे परमात्मा की खुशामद करने में भक्त को कोई संकोच नहीं होता बल्कि उसे गर्व होता है, वैसे ही राजीव के राज्य में यह वर्ग अपने कार्यकलापों पर गर्व और मान का अनुभव करने लगे। अब इस संप्रदाय का प्रसार बड़ी तेज़ी से सारे देश में होता दिखाई दे रहा है। ताजा उदाहरण तमिलनाडु का है।

दक्षिण भारत में वीर पूजा का भाव बहुत प्राचीन है और सर्व-साधारण पर आज

भी उसका गहरा प्रभाव है। इसका यह अर्थ नहीं कि यह प्रवृत्ति या रुझान देश के अन्य भागों में नहीं है, किंतु दक्षिण भारत, विशेषरूप से तमिलनाडु में इसका जो रूप है वह अद्वितीय है। भगवान तो सारे संसार में पूजे जाते हैं किंतु मानव-पूजा का जो प्रचलन इस क्षेत्र में है वह अद्भुत है। नेताओं के आदमकद पोस्टरों से तमिलनाडु के नगरों कस्बों की दीवारें भरी होती हैं। नगरों में ऐसे नेताओं के 60 से 80 फुट लंबी लकड़ी की मूर्तियाँ (कटआउट) लगाए जाने की होड़-सी लगी रहती है। अव दिल्ली जैसे नगरों में भी, चुनाव के समय ऐसे कटआउट लगाए जाने की प्रथा चल निकली है।

दक्षिण भारत के राज्यों की विशेष बात यह है कि यहां प्रसिद्ध फिल्मी सितारों का मान-सम्मान किसी देवता या देवी से कम नहीं होता। राजनीति के बड़े-बड़े खिलाड़ियों की चमक भी इनके सामने फीकी पड़ जाती है। एम.जी. रामचंद्रन, शिवाजी गणेशन और एन.टी. रामाराव जैसे फिल्मी सितारों की असीम लोकप्रियता इसी बात से आंकी जा सकती है कि उनके प्रशंसकों के बड़े-बड़े क्लब चारों ओर बने दिखाई देते हैं। तमिलनाडु में एम.जी. रामचंद्र और शिवाजी गणेशन के प्रशंसक वर्षों तक एक-दूसरे से उसी प्रकार झगड़ते रहे हैं जैसे इस देश में दो धर्ममतों या संप्रदायों के लोग अपने भगवान, अवतार, पैगंबर या गुरु के नाम लड़ते हैं।

इन क्षेत्रों में फिल्मों के साथ जुड़े जब कुछ व्यक्ति राजनीति में आए तो यहां भी सफलता ने आगे चढ़कर उनके चरण चूमे। करुणानिधि तमिल फिल्मों के लेखक के रूप में सम्मानित थे। वे द्रविड़ राजनीति में सी. एम. अन्नादुराई के निकटस्थ सहयोगी के रूप में उभरे। 1967 से तमिलनाडु में द्रविड़ लहर उपजी राजनीति ही शासनतंत्र संभाले हुए है। अन्नादुराई की मृत्यु के बाद यह लहर दो भागों में बंट गई। एक की बागडोर करुणानिधि के हाथ में (डी.एम.के.) और दूसरी की एम.जी. रामचंद्रन के हाथ में (ए. डी.एम.के.) इसमें भी कोई संदेह नहीं कि एम.जी.आर. का करिश्मा करुणानिधि अथवा अन्य किसी भी तमिलनाडु के नेता से बड़ा था। इसलिए जब तक वे जीवित रहे, उन्हें कोई चुनौती नहीं दे सका।

एम.जी. रामचंदन की उत्तराधिकारिणी सुश्री जयललिता स्वयं एक समय तमिल फिल्मों की प्रख्यात अभिनेत्री थीं और एम.जी.आर. की खासुलखास भी। एम.जी.आर. को वे अपना गुरु, पथ-प्रदर्शक, पीर, मुर्शिद—सभी कुछ मानती हैं। एम.जी.आर. ने उन्हें फिल्मों से राजनीति की ओर मोड़ा और अपने जीवनकाल में ही इसका संकेत दे दिया कि जयललिता उनकी उत्तराधिकारिणी है। उनकी मृत्यु के वाद कुछ समय तक उनकी पत्नी जानकी अम्मा ने अपना दावा अवश्य पेश किया, किंतु जयललिता का करिश्मा वह नहीं पा सकीं।

आज जयललिता तमिलनाडु की वहुत शक्तिशाली नेता हैं। वह युवा है, सुंदर है, प्रभावशाली है और तमिलों का नेता वनने के सवसे आवश्यक गुण, करिश्मा पैदा करने

में पूरी तरह समर्थ हैं। तमिलनाडु में उन्हें दुर्गा का अवतार मानकर प्रचारित किया जाता रहा है। चारों ओर उनकी जय-जयकार होती रही है।

कुछ वर्ष पूर्व जब वे तमिलनाडु की मुख्यमंत्री थीं, उनका 46वां जन्मदिन मनाया गया था। उस अवसर पर तमिलनाडु में जो कुछ हुआ, उसने चाटुकारिता के क्षेत्र में नए कीर्तिमान स्थापित कर दिए थे। उनके श्रद्धालुओं ने अनेक धर्म स्थानों में उनकी दीर्घ-आयु की मन्नतें तो मानी ही, अनेक लोगों ने एक मंदिर से दूसरी मंदिर तक की, कई-कई किलोमीटर की दूरी को धरती पर साष्टांग-दंडवत् लेट-लेटकर पूरा किया। उनके मंत्रियों ने रथों को, घोड़ों या बैलों के स्थान पर, स्वयं खींचा और मंदिरों में जाकर गोदान किया—सुश्री जयललिता की दीर्घायु और उत्तरोतर सफलता के लिए।

वर्षगांठ वाले दिन 46 स्थानों पर 46000 नए पौधे लगाए गए, 46000 बच्चों को मुफ्त स्कूली पुस्तकें दी गईं, खेतों में काम करने वाली 46000 स्त्रियों को खेती के औजार दिए गए। बहुत से कैदी जेलों से रिहा किए गए। उस दिन सारे तमिलनाडु में सार्वजनिक अवकाश घोषित किया गया। उनकी पार्टी के अनेक कार्यकताओं ने इसे पवित्र दिन मानकर, इस दिन अपना विवाह संपन्न किया। जयललिता मंत्रिमंडल की एक महिला मंत्री ने अपने सिर पर दूध से भरा पात्र लेकर, अपनी नेत्री की दीर्घायु और सफलता के लिए पूरे जुलूस के साथ 100 मंदिरों में जाकर पूजा-अर्जना की। पार्टी के सदस्यों में इस बात की होड़ लगी रही कि वह अपनी रहनुमा के प्रति अपनी वफादारी दिखाने के लिए नए-से-नए तरीके अपनाएं। सरकारी कर्मचारी और पूरा शासकीय तंत्र भी इस काम में किसी से पीछे नहीं रहा। उससे कुछ दिन पहले मद्रास के कलैवनार हॉल में एक वाद-विवाद का आयोजन किया गया था। विषय था—''जयललिता की लोकप्रियता का कारण उनका बुद्धिमती होना है अथवा उनकी कार्य कुशलता है। राज्य मंत्रिमंडल के सदस्यों की दो टीमें थीं। एक के अगुवा विधि मंत्री के.ए. कृष्णास्वामी और दूसरी के खाद्य मंत्री आर.एम. वीरप्पन। वित मंत्री वी.आर. नेदूचंरियन इसके संयोजक और मध्यस्थ थे।

मंत्रियों में इस बात की होड़ लगी थी कि वे अपनी नेता की प्रशंसा और स्तुति में एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर हों। कुछ इस बात पर आग्रह कर रहे थे कि वह अत्यंत बुद्धिमती हैं। यही गुण उसकी संचालक शक्ति है। कुछ कह रहे थे कि वह अत्यंत क्रियाशील हैं और हर कार्य को संपन्न करने की उसमें अद्‌भुत निर्णय शक्ति है।

निर्णायक नेदुचेरियन ने बुद्धिमता वाली टीम को विजयी घोषित करते हुए कहा कि महान क्रांतिकारी नेता जयललिता की लोकप्रियता का कारण उनके द्वारा लिए गए 'बोल्ड एक्शन' अवश्य है, किंतु यह सभी एक्शन उनकी गहरी सूझ-बूझ और बुद्धिमता के कारण ही संभव हुए।

इसमें क्या संदेह है कि उस हाल में उपस्थित, इस वाद-विवाद प्रतियोगिता का

आनंद लेने वाले सभी श्रोता मंत्रिमंडल के वरिष्ठ सदस्यों के तर्कों के पीछे छिपी भावना का परिचय पाकर अत्यंत पुलकित हुए होंगे।

चाटुकारिता की यह प्रवृति किसी एक पार्टी, एक वर्ग अथवा एक प्रदेश में ही नहीं है। इस कार्य में पढ़-लिखे, अनपढ़, व्यवसायी, ब्युरेक्रेट यहां तक कि लेखक-कलाकार भी किसी से पीछे नहीं हैं। एक बड़े प्रबुद्ध व्यक्ति एक सभा में अपने प्रिय नेता की प्रशन्सा करते हुए बोले-कुछ लोग आकाश के समान होते हैं। उनके आकाश की ऊँचाई तो होती है परन्तु समुद्र की गहराई नहीं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनमें समुद्र की गहराई तो होती है, किन्तु आकाश जैसी ऊँचाई नहीं होती। यह हमारा सौभाग्य है कि आज हमारे बीच एक ऐसी महान हस्ती उपस्थित है जिसमें आकाश की ऊँचाई भी है और समुद्र की गहराई भी।

सभा में उपस्थित सभी श्रोताओं को इस वात का अनुमान हो गया कि इस सज्जन को शीघ्र ही किसी बड़े पद की प्राप्ति होने वाली है। कुछ दिनों बाद लोगों का अनुमान पूरी तरह चरितार्थ हो गया।

कुछ नए पुराने लेखक किसी संपादक अथवा आलोचक की चाटुकारिता करते प्रायः देखे जा सकते हैं। लेखक उन्हें महान संपादक अथवा महान आलोचक घोषित करता है और संपादक या आलोचक पल भर में उसे महान लेखक कवि होने का पदक प्रदान कर देता है। प्रशंसाओं (और निंदाओं) का यह कार्य व्यवहार पहले भी, चलता था, आज भी खूब जोर-शोर से चल रहा है।

चाटुकारिता शायद मनुष्य के स्वभाव में है। हर व्यक्ति जीवन में कुछ प्राप्त करना चाहता है। अपनी प्रतिभा और योग्यता के बल पर कुछ प्राप्त कर लेना कुछ लोगों के हिस्से में ही आता है। अधिसंख्य व्यक्ति तो खुशामद का ही सहारा लेते हैं। चाटुकारिता के लिए भी तो योग्यता चाहिय। अच्छा, सफल चाटुकार बनने के लिए भी बड़ी मशक्कत करनी पड़ती है। वे यह भी जानते हैं कि जीवन में सफलता की मंजिलों का तय करने का यह सब से सुझाव और शार्ट कट उपाय है। वे इस काय में पूरी महारत हासिल करते हैं। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि सफलता भी उनके चरण चूमती दिखती है। शायद इसी लिए किसी शायर ने कहा होगा- खुशामद में ही आमद है उसी लिए सबसे वड़ी खुशामद है।

संपूर्ण इस समय देश में चाटुकारों, खुशामदियों, जीहजूरियों का भरपूर बोलबाला है। उन्हीं की चढ़त है, उन्हीं की बढ़त है। राजे-रजवाड़ों के समय खुशामद कराने वाले कम थे, खुशामद करने वाले ज्यादा थे। इस समय दोनों की ही संख्या खूब वढ़ रही है। हर वह व्यक्ति जो किसी का चाटुकार होता है, प्रयास करता हे कि उसके आस-पास उसकी चाटुकारिता करने वालों का कुछ जमावड़ा हो जाए, क्योंकि चाटुकारी करने और करवाने, दोनों में ही अद्‌भुत आनंद की प्राप्ति होती है।

इस समय मुझे किसी शायर की ये सतरें याद आ रही हैं–

मुझे कहना नहीं अहले वतन से
कोई नुक्ता फ़क़त इसके अलावा।
किसी इक शख़्स का शिकवा करें क्यो
कि है विगड़ा हुआ आवे का आवा।

(दैनिक जागरण, 1-6-2000)

दोष-दर्शन करें या मिलन भूमि की तलाश करें

आज मुझे बरबस स्वामी विवेकानंद की याद आ रही है। लगभग एक शती पहले (सन् 1897) उन्होंने पंजाब की यात्रा की थी। लाहौर में एक जनसभा में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था—"मैं पूर्वी प्रांत से अपने पश्चिमी भाइयों के पास इसलिए आया हूं कि उनसे मित्र की तरह वार्तालाप करके अपने अनुभव उन्हें बताऊं और उनके अनुभवों से स्वयं लाभ उठाऊं। मैं यहां यह देखने नहीं आया हूं कि हमारे और आपके बीच क्या-क्या मतभेद हैं, वरन् मैं यह खोजने आया हूं कि आपकी और हमारी मिलन भूमि कौन-सी है। मैं यहां यह जानने के लिए आया हूं कि वह कौन-सा आधार है जिसके ऊपर हम-आप सदा के लिए भाई का नाता बनाए रख सकते हैं, किस भित्ति पर प्रतिष्ठित होने से वह वाणी जो अनंत काल से हमें आशा का संदेश सुनाती आ रही है, उत्तरोत्तर अधिक प्रबल होती रहेगी। मैं आया हूं, आपके सामने विनाशक कार्यक्रम नहीं वरन् कुछ रचनात्मक कार्यक्रम रखने के लिए।"

स्वामी विवेकानंद बंगाल से पंजाब आए थे, मित्र की तरह वार्तालाप करने के लिए, एक संवाद उत्पन्न करने के लिए, मतभेदों की नहीं, समान मिलन-भूमि की तलाश करने के लिए।

समाज के विभिन्न वर्गों में मतभेद होना स्वाभाविक है। मतभेद जीवंत समाज की सबसे पहली पहचान है और आधुनिक जीवन-मूल्य 'जनतंत्र' की पहली शर्त है। हमारे देश में प्राचीन काल से मतभेदों को शास्त्रार्थ के द्वारा हल करने का प्रयास किया जाता था। तर्क-वितर्क प्रणाली द्वारा व्यक्ति यह प्रयास करता था कि वह अपने से विभिन्न मत रखने वाले को अपने तर्कों द्वारा पराजित करके उसे अपने विचार का बना ले।

शास्त्रार्थ में खंडन की, अपने मत के प्रतिपादन की, अपना मत बनवाने और प्रतिपक्षी को हराने की प्रवृत्ति होती है। कालांतर में यह अनुभव किया गया कि शास्त्रार्थ पद्धति मतभेद समाप्त करने की बजाए मतभेद बढ़ाती है, वह व्यक्ति को अनायास मताग्रही बनाती है जो दुराग्रह में परिवर्तित हो जाता है। इसलिए धीरे-धीरे यह सोच विकसित हुई कि दूसरे को गलत सिद्ध करने के स्थान पर दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास किया जाए। यह कार्य अपने विरोधी से मिलने, उससे वार्तालाप करने, उससे संवाद स्थापित करने से होता है।

इस संपूर्ण प्रक्रिया में यह मानकर चला जाता है कि मतभेद हैं, मतभेद रहेंगे और मतभेदों के रहने के बावजूद मिलन की समान भूमि बन सकती है। पांच सौ वर्ष पहले गुरु नानक ने संवाद-आधारित इस दृष्टि का समर्थन करते हुए कहा था–

जब लगि दुनिया रहिए नानक
किछु सुणिए किछु कहिए

(हे नानक, जब तक हम दुनिया में रहें, लोगों से कुछ सुनते रहें, उनसे कुछ कहते रहें।)

गत सदी में हुए महायुद्धों, सांप्रदायिक और जातीय झगड़ों, देशों के विभाजन और व्यापक नरसंहार से विश्वजन इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि विभिन्न विचारधाराओं, धार्मिक मतों, सामाजिक दृष्टियों और राजनीतिक पद्धतियों के रहते हुए सह-अस्तित्व की भावना ही विश्व शांति का एकमात्र उपाय है। संयुक्त राष्ट्र संघ तथा ऐसी ही अनेक संस्थाएं इसी सोच का परिणाम हैं।

बीसवीं सदी के मनुष्य की परिवर्तित सोच के अनेक उदाहरण सामने आए। अठाहरवीं-उन्नीसवीं सदी में यूरोप के अनेक देशों ने व्यापार को माध्यम बनाकर संसार के विभिन्न भागों के लोगों को साम, दाम, दंड, भेद की नीतियों का सहारा लेकर, अपना गुलाम बना लिया और अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए। अंग्रेज, डच, फ्रांसीसी, पुर्तगाली, स्पेनी उपनिवेश संसार के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक बिखरे हुए थे। किंतु बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ऐसी स्थितियां उत्पन्न हो गई कि सभी यूरोपीय शक्तियां एक के बाद दूसरे उपनिवेशों को खाली करती हुई, उन्हें आजादी देती हुई अपने-अपने देशों को वापस जाने लगीं। इन उपनिवेशों ने अपनी आजादी के लिए संघर्ष भी किए। लंबे समय तक उन्हें क्रूर शक्ति से दबाया भी गया किंतु द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात सभी उपनिवेशवादी शक्तियां अनुभव करने लगीं कि अब वे अपने साम्राज्यों का विस्तार पहले की तरह कायम नहीं रख सकेंगी। इसलिए विदेशी दासता के चंगुल में फंसे हुए देश धीरे-धीरे स्वतंत्र होने लग गए।

संवाद के माध्यम से विभिन्न धर्मों, जातियों, राष्ट्रों, वर्गों, संस्कृतियों के बीच के मतभेद और संघर्ष का मार्ग ढूंढना आज के संसार की मानवीय चिंता का मूल स्रोत बन गया है। प्रतिपक्ष से कितना भी वाद-विवाद करते रहो, लड़ते-झगड़ते रहो, खून की नदियां बहाते रहो समस्या का समाधान नहीं निकलता। समाधान तो आपसी बातचीत

और संवाद उत्पन्न करने और प्रतिपक्षी के दृष्टिकोण को सहानुभूतिपूर्वक समझने के प्रयास से ही निकलता है। 'मैं सही हूं—तुम गलत हो' वाला नज़रिया आधुनिक सोच और चिंतन का नज़रिया नहीं है।

दोष दर्शन की प्रवृत्ति हमारे देश में प्राचीन काल से ही बहुत व्यापक रूप से विद्यमान रही है और आज भी है। हमें अपना धर्म, अपना विश्वास, अपनी मान्यता, अपनी जाति, अपनी भाषा, अपना खान-पान, अपनी वेश-भूषा अच्छी और उत्कृष्ट लगती है। इसमें कोई बुराई नहीं है किंतु बुराई तब पैदा होती है जब दूसरे का धर्म, विश्वास, मान्यता, जाति, भाषा, खान-पान और वेश-भूषा में हम दोष ढूंढना शुरू कर देते हैं, इसलिए उसे छोटा बताकर हम अपने आपको बड़ा सिद्ध करने लगते हैं।

धर्मों, मतों, संप्रदायों के मध्य इस प्रकार के दोष-दर्शन की प्रवृत्ति अपने देश में बहुत प्राचीन है। वैदिकों और बौद्धों, जैनों के मध्य, ईश्वरवादी और अनीश्वरवादियों के मध्य, वैष्णवों और शैवों-शाक्तों के मध्य, निर्गुण संतों और सगुण भक्तों के मध्य, राम-भक्तों और कृष्ण-भक्तों के मध्य शास्त्रार्थ, वाद-विवाद, दोष-दर्शन शताब्दियों तक चलते रहे हैं। इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि ऐसे विवाद कई बार शांतिपूर्ण चर्चाओं से बाहर निकलकर अवांछित संघर्ष में भी बदल जाया करते थे।

इस्लाम के आगमन के साथ ही यह वाद-विवाद और दोष-दर्शन अधिक गहराया। इस्लाम के अनुयायियों ने शेष सभी को काफ़िर कहा और हिंदुओं ने उन्हें मलेच्छ कहा। काफ़िरों और मलेच्छों का यह आंतरिक मनमुटाव सदियों तक चलता रहा है। बाद में यही स्थिति ईसाइयों को लेकर उभरी। ईसाई पादरियों को हिंदू धर्म में सिर्फ दोष ही दोष दिखाई दिए और अपने साहित्य द्वारा उन्होंने इस बात का खूब प्रचार किया। आधुनिकता और वैज्ञानिक दृष्टि के उन्मेष के बावजूद आज भी दोष-दर्शन की यह प्रवृत्ति दूर नहीं हुई है। बीसवीं शताब्दी में हमारा समाज सनातनियों और आर्य समाजियों, आर्य समाजियों और सिखों, आर्य समाजियों और मुसलमानों तथा ऐसे ही अनेक निरर्थक वाद-विवादों के मध्य उलझा रहा है। ऐसे विवादों और दोष-दर्शनों के जो भयंकर परिणाम निकले हैं और संपूर्ण भारतीय समाज जिन व्यथा और यातनापूर्ण स्थितियों में से गुजरा है वह हमारे सम्मुख है। लाखों लोगों के रक्तपात और आबादी की अदला-बदली लेकर आया भारत-विभाजन भी इसी संवादहीनता और आपसी दोष-दर्शन का परिणाम था, इसमें मुझे कोई संदेह नहीं है।

क्या स्वतंत्रता के साढे पांच दशक व्यतीत हो जाने के बाद भी इस देश में इस प्रवृत्ति को कुछ बढ़ावा मिला है कि जिसका हम विरोध कर रहे हैं, जिसे झूठा सिद्ध कर रहे हैं, जिसके अंदर हम असंख्य दोष ढूंढकर उसे छोटा बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं, हम उसके साथ बैठकर उसका दृष्टिकोण समझने का भी प्रयास करें। हो सकता है कि हमारे सभी मतवादी आग्रहों के बावजूद उसकी बात सही हो। हो सकता है कि अपने सभी मतभेदों के बावजूद हम एक ऐसी मिलन भूमि की तलाश कर लें, जहां हम एक साथ बैठ सकें।

एक समय मानवीय समाज विविध प्रकार के आग्रहों में बंटा हुआ था। एक वर्ग मानता था कि धर्म और अधर्म एक साथ नहीं रह सकते। धर्म-अधर्म की परिभाषा भी वह अपनी मान्यता के अनुरूप करता था। कुछ मानते थे कि मोमिन और काफिर एक साथ नहीं रह सकते। पिछली सदी में साम्यवादी विचारधारा का जब बड़ी तेजी से प्रसार हुआ था तो कुछ समुत्साही खुली घोषणा करते थे कि साम्यवादी और पूंजीवादी व्यवस्थाएं संसार में एक साथ नहीं चल सकतीं। नक्सलवादी गुट सदैव यह मानते रहे कि समाज में वर्ग संघर्ष अनिवार्य और सर्वहारा वर्ग के शत्रुओं का विनाश किए बिना मनुष्य की मुक्ति संभव नहीं है। आज भारत में विभिन्न जातियों का एक साथ जीना बहुत दूभर होता जा रहा है। पाकिस्तान में सुन्नी और शिया एक दूसरे के खून के प्यासे हो रहे हैं।

पिछली सदी का यह भय चारों ओर व्याप्त होता जा रहा था कि शीघ्र ही विभिन्न प्रकार की विचारधाराएं एक-दूसरे से बुरी तरह टकराएंगी और विरोधी पक्ष को मिटाने के लिए कटिवद्ध होंगी। दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात यह स्पष्ट हो गया था कि यदि विभिन्न देशों में प्रचलित व्यवस्थाएं एक-दूसरे से टकराएंगी तो उनमें से कोई नहीं बचेगा, सारी मानवता नष्ट हो जाएगी। इस मानवीय चिंता में से एक शब्द उभरा 'सह अस्तित्व' जिसका अर्थ था संसार में सभी प्रकार के मतभेदों के बावजूद कोई वर्ग या देश दूसरे को मिटा देने का प्रयत्न नहीं करेगा बल्कि शांतिपूर्वक साथ-साथ जीने का मार्ग ढूंढा जाएगा।

सह अस्तित्व की अवधारणा दोष-दर्शन नहीं करती, मिलनभूमि की तलाश करती है। इस अवधारणा में अंतर्निहित मूल सत्य की आवश्यकता हमारे देश को और हमारे रूढ़िवादी समाज को कदाचित सबसे अधिक है।

मुझे स्वामी विवेकानंद का फिर से स्मरण हो रहा है। लाहौर के उस भाषण में उन्होंने यह भी कहा था—"बस करो, बस करो। निंदा पर्याप्त हो चुकी, दोष-दर्शन बहुत हो चुका। अब तो समय पुनर्निर्माण का, फिर से संगठन करने का आ गया है। अब समय आ गया है, अपनी समस्त बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करने का, उन सबको एक ही केंद्र में केंद्रित करने का और उस सम्मिलित शक्ति द्वारा देश को, प्रायः सदियों से रूठी हुई, उन्नति के मार्ग पर अग्रसित करने का। घर की सफाई हो चुकी है। अब आवश्यकता है उसे नए सिरे से आबाद करने की।"

शिकागो में हुए सर्वधर्म सम्मेलन में दिए गए भाषण में उनका सूत्र वाक्य था—'दूसरे को समझो और स्वीकार करो।'

आश्चर्य और खेद इस बात का है कि दोष-दर्शन की जिस प्रवृत्ति के विरुद्ध स्वामी विवेकानंद ने एक सदी पहले चेतावनी दी थी उसे आज भी कुछ लोग अपने कंधों पर लादे घूम रहे हैं।

(दैनिक जागरण, 6-7-2000)

सारे समाज को गंगा जल से धोना चाहिए

पिछले दिनों मैंने एक खबर पढ़ी उत्तर प्रदेश में एक मजिस्ट्रेट का किसी दूसरे स्थान पर तबादला हुआ। उसके स्थान पर जो नया मजिस्ट्रेट आया उसने सबसे पहला काम यह किया कि पूर्व मजिस्ट्रेट के बैठने की कुर्सी, मेज, कमरा, चेंबर आदि सब कुछ गंगा जल से धुलवाया, तब यहां आसन ग्रहण किया। कारण यह था कि स्थानान्तरित होने वाला मजिस्ट्रेट अनुसूचित जाति का था।

ऐसा ही एक और समाचार मैंने कुछ समय पहले पढ़ा था। दिल्ली के एक मेडिकल कॉलेज के छात्रावास में रहने वाले विद्यार्थियों के संबंध में। छात्रावास के मेस में ऊंची जाति के छात्र अनुसूचित जाति के छात्रों के साथ एक मेज पर बैठकर भोजन नहीं करते। अनुसूचित जाति के छात्रों की कुर्सियां-मेजें अनायास ही अलग हो गई हैं। वे जानते हैं कि उन्हें सवर्ण जाति के छात्रों के साथ नहीं बैठना चाहिए। ऐसे छात्रों के चेहरों पर उभरे हुए नापसंदगी के भाव को वे अच्छी तरह पहचानते हैं। इस भाव की तीखी वेदना को उन्होंने जन्म से ही झेला होता है। अब, जब वे पढ़-लिखकर जीवन में कुछ विशिष्ट उपलब्धियों के मार्ग पर चल रहे हैं, ऐसे भाव उन्हें बुरी तरह बांधते हैं।

अपने देश में छुआ-छूत की यह चर्चा हम इक्कीसवीं सदी में कर रहे हैं जब हम बहुत विकसित वैज्ञानिक समझ का दावा कर रहे हैं और बड़े गौरवान्वित होकर कहते हैं कि हमारा समाज समता,. बंधुता और भाईचारे के सिद्धांतों पर टिका हुआ है। किसी के प्रति घृणा, भेदभाव, दुराव अथवा हिंसा का भाव हमारी संस्कृति का अंग नहीं है।

जिन उदाहरणों का मैंने उल्लेख किया है वे सामान्य कम पढ़े-लिखे अथवा आधुनिक मूल्यों से अनजान व्यक्तियों वाला समाज नहीं है। किसी व्यक्ति का न्यायाधीश के पद पर पहुंचना अथवा मेडिकल कोर्स का विद्यार्थी होना उसकी विशिष्ट मानसिक और बौद्धिक जागरूकता का प्रमाण है। यदि वहां भी ऐसी भावना एक सी मानसिकता बनी हुई है तो हमें यह सोचना होगा कि क्या हमारा समाज स्वस्थ, वैज्ञानिक और आधुनिक मूल्यों को लेकर आगे बढ़ रहा है अथवा अभी भी उसी रूढ़िगत जकड़न का शिकार हैं, जिसने इस समाज को सहस्राब्दियों से पीड़ित और कुंठित किया है।

इस देश में जाति प्रथा और अस्पृश्यता को लेकर पिछली एक सदी में निरंतर गंभीर विचार और चिंतन हुआ है और कुछ अपवादों को छोड़कर सभी वर्गों के लोगों ने स्वीकार किया है कि छूत-छात हमारे समाज की सबसे घृणित व्यवस्था ही नहीं है, यह अमानवीय है और जितनी जल्दी इसका परित्याग कर दिया जाए उतना ही कल्याणकारी है। इस प्रयास में वे लोग भी आए जो सवर्ण जातियों के थे, किंतु यह मानते थे कि इस मानसिकता के अंत होना ही चाहिए। गांधीजी इस अभियान में सबसे आगे थे। इस प्रयास में बहुत बड़ा योगदान उभरा है जो स्वयं मुक्तयोगी थे। जिन्होंने इस पीड़ा को जन्म लेने से लेकर निरंतर भोगा था और अपने साथ लाखों व्यक्तियों को भोगते हुए देखा था। डॉ. अम्बेडकर का स्मरण यहां सबसे पहले किया जा सकता है।

इन सब प्रयासों के बावजूद यदि हमारे समाज के अंश अभी भी इस व्याधि से ग्रस्त है तो मानना चाहिए कि इस मानसिकता की जड़ें बहुत गहरी हैं।

17 अगस्त 1932 में हिंदुस्तान की चुनाव पद्धति के बारे में ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेमसे मैकडोनल्ड ने जो आदेश निकाले थे, उन्हें 'कम्युनल अवार्ड' के नाम से जाना जाता है। इस अवार्ड द्वारा देश के निर्वाचन क्षेत्र भौगोलिक सीमाओं पर निर्धारित न होकर धर्म और जाति-भेद के आधार पर बनाने का प्रस्ताव था। इसमें एक वर्ग जनरल था, जिसका अर्थ हिंदू था। अन्य वर्ग मुसलमान, ईसाई और सिख थे। इन्हीं के साथ अनुसूचित जातियों का भी अलग वर्ग था। इस व्यवस्था में हिंदू, हिंदुओं को वोट देते, मुसलमान मुसलमानों को, ईसाई ईसाइयों को, सिख सिखों को और दलित वर्ग के लोग केवल दलितों को ही अपना मत देते।

गांधीजी किसी भी प्रकार दलित वर्ग के लोगों को हिंदू समाज से अलग नहीं होने देना चाहते थे। उस समय उन्होंने कहा था—"इस नवीन व्यवस्था के बदले तो अच्छा होगा अगर हिंदू धर्म ही निर्मूल हो जाए। सदियों से छुआछूत की घृणित प्रथा चल रही है जो देश और समाज पर कलंक है। अब बीसवीं सदी की उन्नत राजनीति में इस कुरीति को स्थायी रूप देना भीषण भूल तो होगी ही, साथ ही महापाप भी होगा जिसका कोई प्रायश्चित नहीं होगा।"

इस अवार्ड के विरोध में गांधीजी ने 20 सितंबर 1932 से आमरण उपवास प्रारंभ

किया। इस बीच गांधीजी ने अस्पृश्यों के लिए भंगी जैसे शब्द के स्थान पर 'हरिजन' शब्द को प्रचारित किया, यह सोचकर कि दलित, पीड़ित और दीन-हीन ही हरि को सबसे अधिक प्रिय होते हैं। उपवास से एक दिन पूर्व गांधीजी ने कहा—"अपनी जान की बाजी लगाकर मैं अस्पृश्यता का कलंक धोना चाहता हूं। मैं कुछ और भी कर सकता तो वह भी कर डालता, लेकिन मेरे पास मेरी जान के सिवा और कुछ भी तो नहीं है।"

कम्युनल अवार्ड में संशोधन करने का निर्णय अंग्रेज सरकार ने डॉ. अम्बेडकर पर छोड़ दिया था। सर तेज बहादुर सपू और माधव राव जयकर के प्रयासों से एक समझौता हुआ जिसे पूना समझौता कहते हैं। इस समझौते के तहत कम्युनल अवार्ड के बदले हरिजनों के लिए आरक्षित सीटों का तरीका निकाला गया। इस फार्मूले को डॉ. अम्बेडकर और गांधीजी—दोनों ने स्वीकार कर लिया था और 6 दिन के उपवास के बाद गांधीजी ने अपना उपवास समाप्त कर दिया था।

यदि कम्युनल अवार्ड अपने मूलरूप से पारित हो जाता तो इस देश करोड़ों हरिजन आज से लगभग 70 वर्ष पहले ही कानूनी तौर पर हिंदू समाज से अलग हो गए होते। गांधीजी के प्रयासों से उस समय इस स्थिति बनने से रोक लिया गया था।

किंतु बलिहारी है इस रुग्ण समाज की। इस देश की सांस्कृतिक-साहित्यिक परंपरा में हरिजन शब्द अत्यंत श्रद्धा, आदर और सम्मान का सूचक शब्द रहा है। मध्ययुग के संतों हरि और हरिजन को अभेद रूप में स्वीकार किया था—

हरि हरिजन दोडु एक हैं बिव विचार कुछ नाहि।
जल से उपजे तरंग ज्यू जल ही माहि समाहि॥

इस शब्द, हरिजन जो भक्ति में हरि का प्रतीक है, को गांधीजी ने दलितों को दिया। कैसी विडंबना है। इस समाज ने हरिजन शब्द ग्रहण किए दलित को तो ऊपर नहीं उठाया, बल्कि स्वयं 'हरिजन' शब्द को नीचा कर दिया। आज हरिजन शब्द 'हरि के जन' का उत्कर्ष पूर्ण प्रतीक न होकर एक (तथाकथित) छोटी जाति के व्यक्त अपकर्ष पूर्ण प्रतीक बन गया है।

गांधीजी के प्रयास हों, ज्योति बा फूले और डॉ. अंबेडकर का क्रांतिदर्शी अभियान हो, इस समाज की मानसिकता में छूआ-छूत का जो कोढ़ है उसका उपचार नहीं हो पा रहा है। शायद यही कारण है कि आज दलित समाज के लोग, न अपने आपको हरिजन कहलवाना पसंद करते हैं, न गांधी अंबेडकर के मध्य हुए पूना समझौता के प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। वे समझते हैं कि 'हरिजन' शब्द लोगों को गुमराह करता है और पूना समझौता एक बड़ा धोखा था।

पूना समझौता के कुछ समय बाद ही स्वयं डॉ. अंबेडकर का उससे मोहभंग हो गया था। अपने बंबई के एक भाषण में उन्होंने आशा व्यक्त की थी कि गांधीजी के उपवास और पूना समझौते के पश्चात् देश में छुआ-छूत दूर हो जाएगा, दलितों के लिए

गांव के कुओं से पानी भरना। स्कूलों में सबके साथ बैठकर पढ़ना अब सुलभ हो जाएगा। मंदिरों के द्वार उनके लिए खुल जाएंगे।

किंतु उन्होंने देखा कि गांधीजी के उपवास के समय इस दृष्टि से एक लहर अवश्य आई थी। उस समय ऐसा लगा था कि देश का सोया हुआ विवेक जागृत हो उठा है। जगह-जगह पर हरिजनों के स्वागत समारोह होने लगे थे। कुछ मंदिरों ने उनके लिए अपने द्वार भी खोल दिए थे, किंतु इस उदारता भरे ज्वार को उतरने में एक वर्ष भी नहीं लगा।

डॉ. अम्बेडकर के पास समाचार आने लगे कि सवर्ण वर्ग के लोग दलितों को गांव के कुओं से पानी भरने नहीं देते। स्कूलों में ऐसे बच्चों को दूसरे बच्चों से अलग बैठाया जाता है। अधिसंख्य मंदिर में अभी भी उनका प्रवेश निषिद्ध है। समाज उसी ढर्रे पर चल रहा है जिस पर वह सदियों से चला आ रहा था। पूना समझौता तो हो गया, उस समझौते की भावना की मृत्यु दो वर्ष में ही हो गई थी।

डॉ. अम्बेडकर ने 'बहिष्कृत समाज' नामक पाक्षिक पत्रिका 25 नवंबर 1927 के अंक में लिखा था—''अस्पृश्यता के कारण राष्ट्र की हानि हुई है। अस्पृश्यता एक गुलामी है। गुलामी और धर्म एक साथ निभ ही नहीं सकते। अस्पृश्यता के कारण केवल अस्पृश्यों की ही हानि हुई है, ऐसी बात नहीं। उनके साथ स्पृश्यों का तथा देश की भी अपरिमित हानि हुई है। अस्पृश्यता के गर्त से निकलकर उनका निजी स्वातंत्र्य उन्हें प्राप्त होगा, तो वे केवल अपनी ही उन्नति करेंगे, ऐसी बात नहीं। बल्कि वे अपनी वीरता और बुद्धि से देश के अभ्युदय के लिए भी कारण भूत होंगे। हमने यह जो कार्य शुरू किया है, वह न केवल खुद के उद्धार के लिए है, बल्कि हिंदू धर्म के उद्धार के लिए भी है। यही सच है। यही राष्ट्र कार्य है।''

किंतु समाज ने न गांधीजी की बात सुनी, न डॉ. अंबेडकर की। वह अपनी दूषित मानसिकता लेकर निरंतर जीता चला जा रहा है।

हिंदी में एक प्रबुद्ध युवा लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा लिखी है—जूठन। दलितों के साथ यह समाज कितना क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता रहा है और पढ़े-लिखे लोगों की मानसिकता भी कितनी रूढ़िग्रस्त है, इसका पता इस आत्मकथा को पढ़कर लगता है। लेखक ने एक घटना का उल्लेख इसमें किया। उन्हीं के शब्दों में—''बात 1980 के आसपास की है। मैं और मेरी पत्नी चंदा राजस्थान—भ्रमण के बाद दिल्ली होकर चंद्रपुर (महाराष्ट्र) लौट रहे थे। जयपुर से पिंकसिटी एक्सप्रेस में सीट मिली थी। पास की सीट पर एक संभ्रांत परिवार—पति, पत्नी और दो छोटे बच्चे बैठे थे। बातचीत में पता चला कि पति किसी मंत्रालय में अधिकारी हैं।

अधिकारी की पत्नी ने मेरी पत्नी से पूछा—''बहन जी आप लोग बंगाली है?''

मेरी पत्नी ने सहजता से उत्तर दिया—''जी नहीं, उत्तर प्रदेश के हैं। मेरे पति आर्डनेंस

फैक्टरी चंद्रपुर में पोस्टेड हैं।''

"कौन जात हो?" अधिकारी की पत्नी ने दूसरा सवाल दागा।

प्रश्न सुनते ही मेरी पत्नी का चेहरा फक पड़ गया और वह मेरी ओर देखने लगी। सारा माहौल बिगड़ गया था। जैसे अचानक स्वादिष्ट व्यंजन में मक्खी गिर गई हो। जब तक मेरी पत्नी कुछ उत्तर देती, मैंने उत्तर दे दिया—"भंगी। भंगी शब्द सुनते ही सन्नाटा छा गया।

रास्ते भर दोनों परिवारों में कोई संवाद नहीं हुआ। एक ऐसी दीवार बीच में खड़ी हो गई थी, जैसे हमने किसी चोर दरवाजे से घुसकर उनकी हंसी-खुशी में खलल डाल दी थी।''

यह कैसा विचित्र समाज है? सारे सुखद सौहार्दपूर्ण और स्नेहसिक्त संबंध जाति की खिड़की खुलते ही तेज अन्धड़ का शिकार हो जाते हैं और सब कुछ तिनकों की तरह बिखरने लग जाता है। यह भी कैसी विद्रूपता हैं कि कुत्ता, बिल्ली, गाय, भैंस अथवा अन्य किसी जानवर के छूलेने से व्यक्ति, अस्पृश्य नहीं होता, उसे अपने आपको गंगा जल से पवित्र करने की जरूरत नहीं महसूस होती, किंतु अपने ही जैसे हाड़-मांस से बने व्यक्ति का स्पर्श करते ही वह भ्रष्ट हो जाता है, उसका भगवान भी भ्रष्ट हो जाता है, पतितों का उद्धार करने वाला स्वयं पतित हो जाता है।

इस व्याधि से भारतीय समाज कितनी ही सदियों से जूझ रहा है, किंतु इससे मुक्ति नहीं मिल पा रही है। बुद्ध से लेकर कबीर और नानक तक और फिर गांधी तक—ढाई हजार वर्षों में फैले हुए सभी प्रयासों को यह समाज पानी में घोलकर पी गया। अभी भी हम इस मानसिकता से असंख्य लोगों को मुक्त नहीं कर पाए हैं कि तथाकथित अछूत की शिराओं में भी वैसा ही लहू बहता है जैसा किसी अपने आप को कुलीन और विशिष्ट समझने वाले कथित उच्च वर्ण के व्यक्ति में। 600 वर्ष पूर्व संत कबीर ने जो प्रश्न इस समाज के सामने रखा था कि तुम ब्राह्मण कैसे हो? मैं शूद्र कैसे हूं? क्या मेरे शरीर में लहू बहता है और तुम्हारे शरीर में दूध बहता है—

तुम कत बामन हम कत सूद?
हम कत लोहू तुम कत दूध?

यह प्रश्न आज भी वायुमंडल में मंडरा रहा है।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 14 सभी व्यक्तियों को कानून के सामने समानता और कानून की समान सुरक्षा की गारंटी देता है। वह यह भी कहता है कि जाति के आधार पर दुकानों, रेस्त्राओं, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थलों पर प्रवेश या कुएं आदि के इस्तेमाल पर कोई रोक या शर्त नहीं लगाई जाएगी। मौलिक अधिकारों से संबंधित अनुच्छेद 17 अस्पृश्यता को खत्म कर किसी भी रूप में इसके व्यवहार पर

रोक लगाता है। इसमें यह भी प्रावधान हैं कि अस्पृश्यता के परिणामस्वरूप किसी अक्षमता पर अमल कानून के मुताबिक दंडनीय अपराध होगा।

भारत का संविधान अस्पृश्यता को पूरी तरह नकारता है। भारतीय कानून इसे दंडनीय अपराध मानता है। हमारे धार्मिक प्रवचनों में अस्पृश्यता की अब निंदा की जाती है। इस समाज के घोषित आदर्श 'विश्व बंधुत्व' का संदेश देते हैं। ये सभी बातें तो आरोपित हैं। समाज को संचालित तो उसके अंदर जड़ जमाए बैठी मानसिकता करती है। यह बात भी बहुचर्चित है कि वाराणसी में जब बाबू जग जीवन राम ने, जो उस समय केंद्रीय मंत्रिमंडल के सदस्य थे, श्री संपूर्णानंद की प्रतिमा का अनावरण किया था तो उस समारोह के बाद कुछ लोगों ने उस प्रतिमा को भी गंगा जल से पवित्र किया था।

सच बात तो यह है कि अस्पृश्यता के कोढ़ को अपने शरीर पर आज भी धारण किए हुए यह समाज ही दूषित और भ्रष्ट हो गया है। यदि गंगा जल में अपवित्र और भ्रष्ट चीजों को पवित्र करने की पात्रता और शक्ति है तो इस जल से इस सारे समाज की मानसिकता को धोकर पवित्र करना चाहिए।

(दैनिक जागरण, 17-8-2000)

हमारी संस्कृति का अंग बन गई हैं—
गालियां

क्या इस बात का विश्लेषण किया जा सकता है कि हमारे देश में लोग इतनी भद्दी-भद्दी गालियां क्यों बकते हैं। पश्चिमी जगत के मनोविज्ञानवेता कहते हैं कि गालियां बकने से व्यक्ति का आक्रोश निकलता है और इस तरह उसका मन कुछ शांत हो जाता है। आक्रोश अंदर बना रहे, उसे बाहर निकलने का अवसर न मिले तो वह अंदर घुमड़ता है और व्यक्ति को मानसिक दृष्टि से कुंठित और बीमार बना देता है। उनका यह भी मानना है कि कभी-कभी गाली देना स्वास्थ्य के लिए अच्छा होता है, उसी तरह जैसे कभी-कभी रोना भी अच्छा होता है।

कभी-कभी हमारा क्रोध अथवा आक्रोश अंदर ही अंदर घुटने के लिए मजबूर हो जाता है। कभी-कभी स्थिति ऐसी होती है कि व्यक्ति मन मसोसकर रह जाता है। वह क्रोध शारीरिक रूप से व्यक्त करना चाहता है, परंतु कर नहीं पाता। वह जोर-जोर से गालियां देकर इसे व्यक्त करता है। कई बार ऐसा करना भी संभव नहीं तो वह अपने प्रतिपक्षी को अंदर ही अंदर कोसकर और गालियां देकर अपने आक्रोश का शमन करता है।

जापान में इस दृष्टि से एक अनूठा प्रयोग किया गया है। वहां बड़े-बड़े उद्योगों, डिपार्टमेंटल स्टोरों तथा ऐसे ही अनेक व्यवसायों में असंख्य लोग काम करते हैं। जापान में लोग अपनी नौकरियां जल्दी-जल्दी नहीं बदलते। जो व्यक्ति किसी एक संस्थान में लग गया वह आम तौर पर सारा जीवन वहीं गुजार देता है। ऐसे स्थानों पर मन-मुटाव भी होते हैं, बास की फटकार भी सुननी पड़ती है। कर्मचारी को गुस्सा भी आता है जिसे वह अनेक बाध्यताओं के कारण निकाल नहीं पाता और अंदर ही अंदर घुटता

रहता है। संस्थानों को संचालित करने वाले इस समस्या को समझते हैं। इसलिए बड़े-बड़े दफ्तरों में एक कमरा 'डमी रूम' के रूप में बनाया जाता है। जिसमें घास-फूस का बना एक पुतला लटकता रहता है। आक्रोश से भरा कोई भी कर्मचारी उस कमरे में जाता है। वह उस पुतले में उस व्यक्ति को आरोपित करता है जिसके कारण वह इस स्थिति तक पहुंचा है। फिर वह पुतले पर घूसे चलाता है, उसे जी भरकर गालियां देता है। पांच-दस मिनट तक अपना गुस्सा निकालकर वह अपने काम पर वापस आ जाता है।

किंतु अपने देश में शायद ही ये बातें पूरी तरह लागू होती हों। यहां व्यक्ति केवल उसी समय गालियां नहीं देता है जब वह किसी के प्रति आक्रोश से भरा होता है या किसी कारण बहुत मजबूर होता है। यहां तो लोग हंसते-खेलते, उठते-बैठते, सोते-जागते, गप-शप करते इस तरह गालियों का प्रयोग करते हैं जैसे यह उनके व्यक्तित्व का अविछिन्न भाग हों। उनके लिए गाली बकते रहना इतना ही सहज और स्वाभाविक होता है जैसे सांस लेना या प्यास लगने पर पानी पी लेना।

अपनी एक रेल यात्रा का मुझे स्मरण होता है। सेकिंड क्लास की रिजर्व बर्थ से मैं अमृतसर से आ रहा था। सुबह वह गाड़ी पानीपत स्टेशन पर रुकी और बहुत से लोग हमारे डिब्बे में आ गए। सोने वाले यात्री भी उठ गए थे। मेरे सामने की बर्थ पर तीन सज्जन आकर बैठ गए, 30-35 की आयु के। वे दिल्ली के लिए रोजाना सफर करने वाले लोग लगते थे। तीनों ही पढ़े-लिखे मध्यम श्रेणी के व्यक्ति लगते थे। गाड़ी चलते ही वे आपस में बातें करने लगे। तीनों गालियां बकने में पूरे माहिर दिखाई देते थे। उनकी बातचीत में जिस व्यक्ति का उल्लेख होता था, उसके लिए मां, बहन, बेटी के लिए प्रयुक्त होने वाली गाली का भरपूर उपयोग होता था। उनके हर वाक्य के प्रारंभ, मध्य और अंत में गालियां जरूर होती थीं। यहां तक कि रेल, चाय, पकौड़े दफ्तर जैसी निर्जीव वस्तु से भी वे मां-बहन का रिश्ता जोड़े बगैर नहीं रहते थे।

सुबह-सुबह उनकी अनवरत गालियां मैं कुछ समय तक सुनता रहा। मुझे लग रहा था कि बहुत ऊंचे स्वर में उनके मुख से निकले हुए ये वचन, आस-पास के लोग भी सुन रहे होंगे, जिनमें अनेक महिलाएं भी थीं। अचानक उनमें से एक व्यक्ति मुझसे पूछ बैठा—"आप दिल्ली जा रहे हैं। मैंने हां में उत्तर दिया तो दूसरे ने पूछा—"आप क्या करते हैं?" मैंने उत्तर दिया—"पढ़ाता हूं।" मैंने पूछा—"आप क्या करते हैं?" उत्तर था—हम तीनों सरकारी दफ्तर में काम करते हैं।" मैंने कहा—"आप लोगों से मिलकर मुझे खास खुशी हुई।"

वे तीनों कुछ आश्चर्य से मेरी ओर देखने लगे—"क्यों?"

मैंने कहा—"इसलिए कि आप लोगों में अपनी मां, बहन, बेटी के लिए जितना सम्मान है, आदर है, श्रद्धा है, वैसा बहुत कम देखने में आता है।"

तीनों ही बहुत घूरकर मुझे देखने लगे। जैसे मेरी बात उनकी समझ में न आई हो।

मैंने कहा—"जब से आप इस डिब्बे में आए हैं, लगातार मैं आप तीनों के मुंह

से मां, बहनों, बेटियों की चर्चा सुन रहा हूं...शायद ही कोई ऐसी चीज होगी जिससे आप इनका रिश्ता न जोड़ते हों।''

उनके चेहरे पर कुछ गुस्सा भी था, झुंझलाहट भी थी और शर्मिंदगी का भाव भी।

उनमें से एक ने कहा, ''आपका मतलब हमारी समझ में आ रहा है...क्या करें आदत पड़ गई है...बहुत कोशिश करते हैं...पर (बहन की गाली देकर) छूटती ही नहीं।''

मैंने हंसते हुए कहा—''कमाल है...आप आदत के साथ भी बहन का रिश्ता जोड़ना नहीं भूलते।''

मेरी बात पर सभी हंसने लगे। मैं नहीं जानता कि उनकी आदत में कोई फर्क पड़ा होगा या नहीं किंतु फिर दिल्ली आने तक उन्होंने किसी की मां-बहन को याद नहीं किया।

मुझे यह लगता है कि 'गाली' हमारी संस्कृति का जैसे अभिन्न अंग वन गई हैं। मेरे ध्यान में नहीं आता कि हमारे प्राचीन अथवा मध्ययुगीन साहित्य में इनकी कितनी झलक मिलती है। दुष्ट, कायर, नीच, राक्षस जैसी गालियां तो मिलती हैं। कुछ जानवरों का उपयोग भी इसके लिए होता रहा है—कुत्ता, गधा, सुअर, बैल जैसे संवोधनों का प्रयोग तो वे लोग भी करते हैं जो मां-वहन वाली गालियों से परहेज करते हैं। रिश्तों में साला और साली का गाली के रूप में प्रयोग सवसे अधिक लोकप्रिय है और अव तो महिलाएं भी खुलकर इनका प्रयोग करती है (फिल्मी संवादों को धन्यवाद)। आम तौर पर इन्हें शाकाहारी गालियां माना जाता है और घर-परिवार में सभी के सम्मुख इनका प्रयोग करने में किसी को संकोच नहीं होता।

परंतु असली गालियां तो वे हैं जिन्हें लोग मांसाहारी कहते हैं। इस देश में कई अवसर आते हैं जिनमें ऐसी गालियों के प्रयोग को सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है। सबसे बड़ा उदाहरण होली है। होली के साथ रंग-अबीर की परंपरा तो बहुत प्राचीन है किंतु इसके साथ भयंकर फूहड़ता और अश्लीलता कैसे जुड़ गई यह अध्ययन का विपय है।

मेरा बचपन कानपुर में गुजरा। शिक्षा भी वहीं ग्रहण की। कितने वसंत गुजरे की तर्ज पर कह सकता हूं कि 25 होलियां तो कानपुर में ही निकलीं। कानपुर से अधिक फूहड़ और अश्लील होली और कहीं मनाई जाती होगी, मैं नहीं जानता। इन दिनों जैसा गालियों भरा प्रदर्शन मैंने वहां देखा था, वह आज भी मेरी स्मृति में है।

एक और विचित्र बात। होली के अवसर पर ढोल मजीरों से फाग गाया जाता है। कानपुर में ही मैंने ऐसे फाग सुने थे जिसमें अत्यंत फूहड़ शव्दों का प्रयोग होता था और अंत में 'कबिरा' कहकर संत कवीर के नाम के साथ जोड़ा जाता था, जैसे इनकी रचना कबीर ने की हो। कवीर जैसे महान संत के साथ यह अश्लीलता और भद्दापन कैसे जुड़ गया, यह भी अध्ययन का विषय है।

एक मान्यता यह भी है कि रक्षाबंधन व्राह्मणों का, विजयादशमी, क्षत्रियों का दिवाली

वैश्यों का और होली शूद्रों का त्योहार है। धन्य है हमारी सामाजिक संरचना जो दुनिया भर की फूहड़ता, गाली-गलौच और भद्देपन को शूद्रों की झोली में डाल देती है और कबीर जैसे संत को भी नहीं बख्शती है।

गाली संस्कृति का प्रभाव और पसार केवल अनपढ़ों, संस्कृति और सभ्यता से विहीन लोगों, गंवारों के बीच हो ऐसी बात नहीं है। इस संस्कृति को तो समाज के वे लोग भी बड़े प्यार से गले लगाते और पालते हैं जो अत्यंत सुसंस्कृत, पढ़े-लिखे, संपन्न और लोगों में सम्मान प्राप्त व्यक्ति हैं। अध्यापक वर्ग को लीजिए। मेरा संपूर्ण जीवन इन्हीं के मध्य गुजरा। कॉलेज के स्टाफ कामन रूम में बैठकर बहुत-से प्राध्यापकों को मैंने ऐसी मोटी-मोटी गालियां बकते सुना है, जिनके सामने होली के अवसर पर गालियां बकने वाले लोग भी शरमा जाएंगे। इन प्राध्यापकों ने कभी इस बात की चिंता भी नहीं की कि वहां कुछ प्राध्यापिकाएं भी होती हैं और प्राध्यापकों से मिलने के लिए विद्यार्थी भी वहां आते रहते हैं।

गाली संस्कृति की पैठ बहुत दूर तक है। कुछ परिवारों में मैंने पूरे पारिवारिक स्तर पर इसकी स्वीकृति देखी है। मेरे एक परिचित व्यक्ति हैं। आर्थिक दृष्टि से अच्छे संपन्न हैं और राजनीति में भी कुछ दखल रखते हैं। जब कभी मुझे उनका फोन आता है, वे अपने किसी-न-किसी राजनीतिक प्रतिद्वंद्वी की मुझसे चर्चा करते हैं और इन्हें डेढ़-डेढ़ किलो की वजनी गाली से याद करते हैं। मैं उनसे प्रायः कहता हूं—आप ये सारी बातें बिना ऐसी भाषा का उपयोग किए भी मुझे बता सकते हैं। इस पर वे गालियों को ही गाली देकर कहते हैं—क्या करें आदत पड़ गई है।

एक बार मैं उनके घर गया। उनके वृद्ध पिताजी से भेंट हुई। उनके पास मैं कुछ देर बैठा रहा। मेरी बड़ी आवभगत हुई। इसी आवभगत में मैंने देखा कि पिताजी को सभी प्रकार की गालियों में पूरी सिद्धता प्राप्त है। घर में महिलाएं भी थीं, किंतु वे बिना किसी संकोच के अपनी इस सिद्धता से मुझे परिचित करा रहे थे। उनके दो बेटे हैं। संयुक्त परिवार के सभी गुण उनमें हैं। वे भी अपने पिता के साथ मिलकर अपनी इस पारिवारिक विरासत का भरपूर इस्तेमाल करते हैं। इस संबंध में बाप-बेटों में रत्ती भी दुविधा या संकोच नहीं है।

किसी व्यक्ति ने मुझे एक लतीफा सुनाया। एक बेटी ने अपने पिता से शिकायत की—पिताजी, आप मेरे भाइयों को डांटते क्यों नहीं? ये आपस में लड़ते हैं और एक-दूसरे को बहन की गाली देते हैं, मेरे सामने। उसकी बात सुनकर पिता को बहुत गुस्सा आया—अच्छा ऐसी बात है। उन्होंने पूरा मुंह भरकर अपने बेटों को मां की गाली दी और कहा, अगर अब उन्होंने ऐसा किया तो मैं उन्हें घर से निकाल दूंगा।

गाली देना एक आदत है। प्रायः यह आदत संगति से प्राप्त होती है और फिर जीवन का हिस्सा बन जाती है। फिर व्यक्ति तकिया-कलाम की तरह इसका प्रयोग करता है। कभी उसका ध्यान इस ... अर्थव्यक्ति कितनी है, इससे किस प्रकार ... अर्थहीन

होती हैं और इसके माध्यम से हम उस अबोध पीढ़ी को क्या पढ़ाते हैं जिसने जीवन में बहुत महत्वपूर्ण और सार्थक पढ़ना होता है।

सुबह की सैर करते हुए मुझे प्रायः एक सज्जन मिलते हैं। देखने में साधु-पुरुष लगते हैं। वे अपनी सैर के दौरान गुरुवाणी का पाठ करते रहते हैं। यदि मैं सामने पड़ जाऊं तो बड़े प्यार से वे मुझे रोक लेते हैं। वे देश की राजनीति, राजनेताओं और उनके अधःपतन से बहुत दुःखी रहते हैं। मुझसे मिलते ही एक-दो प्रश्न वे आज की राजनीतिक दशा पर करते हैं और फिर बड़ी मोटी-मोटी गालियों की झड़ी लगा देते हैं। ऐसा कोई दल या नेता नहीं होता जो उनकी इस झड़ी से अछूता रह जाए। खूब गालियां देकर और अपनां गुस्सा निकालकर वे आगे बढ़ जाते हैं और छूटा पाठ फिर से शुरू कर देते हैं उन्हें गुरुवाणी के पाठ और गालियों के पाठ में कोई द्वैत नहीं दिखाई देता। दोनों को साथ-साथ चलाने में उन्हें कोई सुविधा नहीं होती।

मैं समझता हूं कि यह बीमारी जितनी मात्रा में हमारे देश में है, शायद ही संसार के किसी देश में हो। इस दृष्टि से हमारी भाषाएं भी बहुत समृद्ध हैं। हर भाषा में गाली-शब्दों का चुनींदा भंडार विद्यमान है।

मुझे लगता है इस आदत में हम अब सभी सीमाएं पार कर चुके हैं। स्कूल में पढ़ने वाले अबोध बच्चों से लेकर बड़े-बूढ़ों तक सामान्य जन से लेकर बड़े-बड़े राजनेताओं तक, झुग्गियों से लेकर महलों तक इसका पसार है। जैसे धूम्रपान की रोकथाम सबसे पहले अपने घर से और फिर स्कूल-स्तर से प्रारंभ होती है, वैसे ही गालियां जैसी महाबीमारी को भी इसी स्तर से रोके जाने का प्रयास होना चाहिए। हमारे संत-महात्मा अपने उपदेशों के लिए आजकल सभी प्रकार के प्रचार माध्यमों का सहारा ले रहे हैं। यदि वे भी अपने प्रवचनों में इस बुराई और व्याधि का उल्लेख करें तो कुछ लाभ हो सकता है।

संसार में शायद ही कोई व्यक्ति हो जिसे कभी-न-कभी गाली की सौगात न मिली हो। मुझे भी बहुत से शुभचिंतक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से यह भेंट देते रहते हैं। प्रायः मेरा एक ही उत्तर होता है—''आप जो अमूल्य भेंट मुझे दे रहे हैं, उसके लिए बहुत-बहुत धन्यवाद। किंतु इस भेंट को स्वीकार कर सकूं उतनी सामर्थ्य मुझमें नहीं है। इसलिए इसे मैं आपको लौटा रहा हूं। यह भेंट यदि आपको प्रिय है तो कृपया इसका उपयोग स्वयं कर लीजिए।

(दैनिक जागरण, 7-9-2000)

चर्खा एक संकल्प था

इस देश में कई हजार वर्षों के अंतराल में अगणित आक्रमणकारी आए। कुछ ऐसे थे जो प्रारंभ में लूट-पाटकर के वापस चले जाते थे। कुछ धीरे-धीरे यहीं बस जाते थे और लड़ते झगड़ते हुए यहीं के बनकर रह जाते थे। इन आक्रमणों के कारण यहां की आर्थिकता बुरी तरह प्रभावित होती थी। जो गांव कस्बे नगर आक्रमणकारियों के रास्ते में सीधे पड़ते थे वहाँ बर्बादी और असुरक्षा भावना बहुत बढ़ जाती थी। अठारहवीं सदी में अफगान आक्रांता अहमदशाह अब्दाली में थोड़े-थोड़े अंतराल के साथ आठ बार काबुल से पंजाब होता हुआ दिल्ली तक आया था। उसके नित्य के आक्रमणों से पंजाब की जनता इतनी असुरक्षित अनुभव करने लग गई कि उसे यह भरोसा भी नहीं रहा कि रात की बची हुई रोटी दूसरी सुबह उसे खाने को मिलेगी कि उसे भी अब्दाली लूट ले जाएगा। वहां एक लोकोक्ति प्रचलित हो गई–''खा लिआ सो लाहे दारहिंदा अहमदशाहे दा' (जो खा लिया वह तो अपना है। बचा हुआ तो अहमदशाह का है)।

किंतु इतने आक्रमणों, आपदाओं और लंबी गुलामी के बावजूद इस देश की ग्रामीण आर्थिकता नष्ट नहीं हुई। किसान अपने लिए अनाज भी पैदा करते रहे और जुलाहे कपड़ा भी बुनते रहे। देश में दो चीजें ग्रामीण मानसिकता के साथ लगातार जुड़ी रहीं–एक मथानी और दूसरी चर्खा। रोटी के साथ थोड़ा-सा मक्खन हो, पीने के लिए थोड़ी-सी छाछ हो और पहनने के लिए मोटा-झोटा कपड़ा हो तो मनुष्य किसी भी स्थिति में गुजारा कर लेता है।

ब्रिटिश शासन के लगभग डेढ़ सौ साल में इस देश की आर्थिकता के दो मुख्य स्तंभ बर्बादी की राह में चल पड़े। जितने भयंकर अकाल इस दौर में इस देश में पड़े उतने उससे पहले कभी नहीं पड़े। अंग्रेजों ने इस देश का कपड़ा बनाने का विकसित

उद्योग चौपट कर दिया। भयंकर गरीबी ने देश को जकड़ लिया। यह सब कुछ अनायास ही नहीं हो गया। इसके पीछे योजनाबद्ध सोच थी। ईस्ट इंडिया कंपनी और बाद में ब्रिटिश सरकार ने यह देख लिया था कि भारत जैसे विशाल देश को केवल सैनिक शक्ति से अपने अधिकार में नहीं रखा जा सकता। वे यहां की जनता का स्वावलंबन नष्ट करना चाहते थे जिससे वह दो वक्त की रोटी कमाने और अपना तन ढकने के प्रयासों में इतना उलझी रहे कि अपनी आजादी की बात सोच भी न सके। उन्होंने धीरे-धीरे इस देश के गृह उद्योगों को नष्ट करना प्रारंभ कर दिया। शताब्दियों से इस देश की मलमल, रेशम और किमखाब सारी दुनिया में सराही जाती थी। अंग्रेजों ने उसे नष्ट करके सारा व्यापार ब्रिटेन की मिलों की ओर मोड़ दिया और इस देश की आर्थिक स्वतंत्रता को समाप्त करने का पूरा प्रयास किया। करोड़ों हिंदुस्तानियों का करघे से बना कपड़ा छीनकर उन्होंने विलायती मिलों में बना कपड़ा उन पर लाद दिया।

बीसवीं शताब्दी के आगमन तक इस देश का भरपूर शोषण हो गया था। गांवों में किसान के रूप में केवल कंकाल बच रहे थे। गांधीजी ने 1909 में लिखी अपनी पुस्तक 'हिंदू स्वराज' में नैतिक और राजनीतिक समस्या का ही हल नहीं सोचा था, आर्थिक पक्ष पर भी गंभीरतापूर्वक विचार किया था। उन्हें विश्वास हो गया था कि स्वराज्य प्राप्ति का माध्यम वस्त्र स्वावलंबन बनेगा। कपड़े के कल-कारखानों के स्थान पर जब घर-घर में चरखा चलेगा, तब प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक स्वावलंबन के साथ-साथ गरिमा को भी प्राप्त कर पाएगा। इस प्रकार चर्खा स्वावलंबन का संकल्प बन गया। चर्खा कातना और उससे बनी खादी पहनना इस देश का महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्यक्रम बन गया।

1908 तक गांधीजी को चरखा या करघा क्या होता है, इस संबंध में विशेष जानकार नहीं थी। फिर किस प्रकार उन्हें यह महसूस हुआ कि चरखा स्वराज्य प्राप्ति के लिए एक अमोध अस्त्र है, इसकी लंबी कहानी है। 1920 में गांधीजी ने अखिल भारतीय चर्खा संघ की स्थापना की। धीरे-धीरे सारे देश में खादी उत्पादन और वितरण केंद्र स्थापित हो गए। 1924 में खादी प्रचार के लिए उन्होंने सारे देश का दौरा किया और सभी ओर खादी की लहर दौड़ गई।

इस देश का कोई भी रचनात्मक काम उस समय तक अपनी सार्थकता स्थापित नहीं कर पाता जब तक वह गरीब की झोपड़ी तक नहीं पहुंचता। गांधीजी ने चर्खा और खादी की बात उनके लिए सोची थी जो सिर्फ गरीब ही नहीं थे, अंदर से बुरी तरह टूटे हुए थे। दरिद्रता और घोर दरिद्रता ही उनकी नियति बन गई थी। इन घरों में चर्खा पहुंच गया। सूत बनने लग गया जो किसान वर्षा के बाद बेकार हो जाते थे वे अब चर्खा चलाने लगे। घर की स्त्रियां भी यही करने लगीं। इस छोटे से दिखने वाले कार्य का परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश सरकार डगमगाने लगी थी। लंकाशायर और मेनचेस्टर की मिलें निर्यात की कमी के कारण आर्थिक संकट में आ गईं। उनके मिल के बने

माल की खपत कम हो गई तो ब्रिटेन की समृद्धि को बड़ा धक्का पहुंचा।

खादी क्यों और कैसे देश के परम हित का साधन है इसके विषय में गांधीजी लगातार लिखते और बोलते रहते थे। वे जानते थे कि इस देश की जितनी बड़ी समस्या गरीबी है उससे बड़ी बेकारी है। 21 अगस्त 1924 के 'यंग इंडिया' में 'खादी क्यों' शीर्षक से लिखे लेख में उन्होंने इस बात पर जोर दिया था कि बेकार गरीब जो दो-चार रुपए कमाना चाहता है उसके लिए खादी श्रेष्ठ रोजगार है। चरखे द्वारा गांव का पैसा गांव के लिए बचाया जा सकता है।

आजादी के आने के बाद खादी के संबंध में लोगों का दृष्टिकोण बदलने लगा। कुछ लोग यह तर्क देने लगे कि अब खादी अपनी प्रासंगिकता खो चुकी है, किंतु खादी को सबसे अधिक नुकसान उन लोगों ने पहुंचाया जो गांधी और खादी को बड़ा सौम्य और सेवाभावी मुंह बनाकर बेचने लगे। कुकुरमुत्तों की तरह स्वयंसेवी संगठन उभर आए, जिन्होंने समाजसेवा के नाम पर वे सभी प्रपंच करने प्रारंभ कर दिए जो किसी भी भ्रष्ट समाज में होते हैं। केंद्रीय समाज कल्याण बोर्ड से जुड़ी 20,000 स्वयंसेवी संस्थाओं 3000 से अधिक को भ्रष्टाचार के आरोप में काली सूची में डाल दिया गया है। यदि ठीक से जांच कराई जाए तो कितनी और बोगस संस्थाएं सामने आ जाएंगी। गांधीजी की पौत्री सुमित्रा कुलकर्णी ने अपनी पुस्तक 'अनमोल विरासत' (भाग 2) में लिखा है—"सरकार खादी के उत्पादन के निकास के लिए कभी तीस कभी चालीस प्रतिशत छूट देती है और गांधीजी के नाम पर उतने रुपए दान करती है। इस छूट के नाम पर हिसाब में अनेक हेराफेरी होती है। मिल के सूत की खादी भी खड़ी हो जाती है। कहीं-कहीं तो खादी मात्र कागजों पर ही कितनी है और सरकार से छूट वसूल की जाती है। इस प्रकार खादी के नाम पर हर प्रकार के गलत धंधे चलते हैं। लोग सोचते हैं कि गांधीजी के नाम पर इस खादी की बहती गंगा में जो पैसा बटोरा जा सके वह मुनाफा है।"

इन स्थितियों के प्रति अपनी गहरी चिंता व्यक्त करते हुए उ.प्र. सर्वोच्च सम्मेलन ने कुछ समय पूर्व कहा था कि आजादी के बाद यह अपेक्षा थी कि स्वतंत्र भारत में खादी यानी विकेंद्रित, शोषण मुक्त, मानवीय अर्थ रचना को केंद्र बनाकर पूरे राष्ट्र के नव निर्माण की नीति बनेगी। गांधीजी ने ऐसा ही सपना देखा था, किंतु यह इतिहास की त्रासदी है कि आजादी के बाद ठीक इसके विपरीत राष्ट्रीय नीतियां बनाई गईं। यद्यपि खादी-ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन देने हेतु सरकार ने मदद के कार्यक्रम चलाए, संसद में कानून बनाकर 'खादी-ग्रामोद्योग आयोग' बनाया गया, किंतु राष्ट्रीय अर्थनीति में खादी व ग्रामोद्योगों की वांछित निर्णायक और दिशा निर्देशक भूमिका रहे, यह नहीं किया गया। फलतः देश की अर्थनीति पूंजी-आधारित केंद्रीयकरण की दिशा में बढ़ते-बढ़ते आज वैश्वीकरण के नाम पर बहुराष्ट्रीय निगमों के नियन्त्रण में पहुँच गई है। उसकी गाज

खादी पर भी गिरने वाली है। संसद ने कानून बनाकर खादी से जुड़े लोगों का आयोग बनाने को कहा था ताकि खादी का काम आगे बढ़ सके, किंतु उसी आयोग की दशा-दिशा तय करने, उसकी संरचना सुधारने के लिए सरकार ने अब एक विदेशी कंपनी—एंडरसन—को 45 लाख का ठेका दिया है। मैनचेस्टर और लंकाशायर की कपड़ा मिलों के खिलाफ स्वावलंबन, स्वदेशी की रणभेदी के साथ शुरू की गई खादी के साथ इससे बड़ा और क्रूर मजाक और क्या हो सकता है?

हमारे देश में सेवा के नाम पर किस प्रकार भ्रष्ट व्यक्ति आगे आकर सारी मूल परिकल्पना को भटका देते हैं, यह अपने आप में अद्भुत बात है। स्वयंसेवी संस्थाओं की चर्चा पहले की जा चुकी है। जब कभी ऐसी संस्थाओं की करतूतें सामने आती हैं तो लज्जा की ओट लेने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रहता। सैकड़ों संस्थाएं सिर्फ कागजों पर चलती हैं जिनका एकमात्र उद्देश्य सरकारी अनुदान को हड़पना होता है। ऐसी अनेक संस्थाएं हैं जो लाखों रुपयों का प्रोजेक्ट पास करा लेती हैं, लेकिन उनकी गतिविधियां दूर तक नहीं दिखाई देतीं। ऐसी अधिकांश संस्थाएं विद्यालयों की आड़ में चलती हैं अथवा खादी ग्रामोद्योग का ऋण लेकर डकार जाती हैं। केंद्रीय लघु उद्योग एवं ग्रामोद्योग राज्यमंत्री वसुंधरा राजे ने संसद में यह स्वीकार किया कि इस क्षेत्र में फैले हुए भ्रष्टाचार पर काबू पाने के लिए नियमित छापे मारे जा रहे हैं। इन छापों में खादी से जुड़ी अनेक बोगस इकाइयां पकड़ी गई हैं।

खादी की परिकल्पना भारतीय गांवों से जुड़ी हुई थी, जहां विदेशी सरकार की कूटनीति के कारण छोटे-छोटे उद्योग नष्ट हो चुके थे और चारों ओर गरीबी, भुखमरी और बेरोजगारी का साम्राज्य फैला हुआ था। खादी के माध्यम से गांधीजी हर गांव को आत्मनिर्भर इकाई बनाना चाहते थे। आजादी के बाद हमने राह पकड़ ली भारी-भरकम उद्योगों की। गांव के बेकार नवयुवक रोटी-रोजी की तलाश में शहरों की ओर भागने लगे। ऐसी मिलों और उद्योग में काम करने वाले हजारों-लाखों मजदूरों से गांवों की खुली हवा, पानी और प्राकृतिक वातावरण छूट गया और वे गंदी बस्तियों में नारकीय जीवन जीने के लिए मजबूर हो गए। खादी की परिकल्पना ही यही थी कि लोगों को गांवों में ही इतना काम मिल जाए कि वे रोटी की तलाश में शहरों की ओर न भागें।

आज़ादी के बाद आधुनिकता और विशाल औद्योगीकरण के मोह में यह संकल्प पीछे छूट गया, परिणाम यह हुआ कि खादी के नाम पर खादी की सिर्फ लकीर पीटी जा रही है।

इस विभाग की राज्यमंत्री वसुंधरा राजे ने हाल ही में कहा है कि वे खादी को निर्यात किए जाने वाली वस्तुओं की श्रेणी में लाकर उसका अंतर्राष्ट्रीय बाजार तैयार करना चाहती हैं। मैं समझता हूं कि ऐसा कोई भी प्रयास खादी के मूल संकल्प से दूर जाने जैसा होगा। खादी को आधुनिक देशी-विदेशी बाजार की ओर मोड़ना उसे ऐसा

व्यावसायिक रूप दे देगा जिसमें यह भी अमीरों की अहंतुष्टि का एक साधन मात्र बनकर रह जाएगी।

केंद्र सरकार की नीतियां भी इस दिशा में कभी स्पष्ट नहीं रही हैं। आज ऐसा लगता है कि सरकार व्यापारिक खादी को विशेष महत्व देना चाहती है, किंतु खादी की अंतरात्मा को समझने वाले समझते हैं कि खादी वस्त्र नहीं विचार है और इसे पश्चिमी ढंग की व्यापार प्रणाली के हवाले नहीं किया जा सकता। कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि पारंपरिक खादी 'सात्विक' है और व्यापारिक खादी असात्विक है। उनका कहना यह भी है कि यह सरकार खादी के मूल दर्शन को दफन करके उसका पूरी तरह व्यावसायीकरण कर देना चाहती है। पारंपरिक खादी ईमानदारी, शुद्धता, सादगी एवं सेवा की खादी है। इसके विपरीत व्यापारिक खादी पंचतारा संस्कृति, धन कमाने एवं आधुनिक तड़क-भड़क की खादी है। खादी यहां पहुंचकर अपना वह उद्देश्य खो देगी जिसे छह-सात दशक पहले विदेशी कपड़ों की होली जलाकर महात्मा गांधी ने खोजा था।

इस संपूर्ण विवाद में वह वर्ग निरंतर उपेक्षित होता जा रहा है जिसके लिए गांधीजी ने चरखे को पुनर्जीवित किया था। जिसका स्वप्न विश्व-व्यापार नहीं था। उसे दो वक्त का भोजन करने के लिए सिर पर कच्ची-सी छत और तन ढकने को साधारण वस्त्र चाहिए था। खादी उसकी भूमिका थी। आज भी इस एक अरब वाले देश की पचास प्रतिशत से अधिक की जनसंख्या इन्हीं बुनियादी जरूरतों की भूखी है।

(दैनिक जागरण, 12-10-2000)

सदाशयता पर विवाद

इन दिनों पंजाब में एक नया विवाद छिड़ गया है। आर. एस. एस. (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) अथवा उसके द्वारा प्रायोजित राष्ट्रीय सिख संगत ने यह घोषणा की है कि अब मंदिरों में भी गुरुग्रंथ साहब का पाठ होगा। वहां के अनेक सिख समुदायों में इस घोषणा की बड़ी प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई है। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के अध्यक्ष जगदेव सिंह तलवंडी ने इस घोषणा के विरुद्ध खासा आक्रामक वक्तव्य दे दिया है। बुजुर्ग अकाली नेता गुरुचरण सिंह टोहड़ा ने अपने चिरपरिचित अंदाज में इस मंतव्य की कड़ी आलोचना की है और तीसरे धड़े के अकाली नेता और सांसद सदस्य सिमरनजीत सिंह मान ने तो यह घोषणा कर दी है कि वे शक्ति प्रदर्शन द्वारा ऐसे कदम को रोकेंगे। कैसी विडंबना भरी स्थिति है। हिंदू मंदिरों में गुरु ग्रंथ साहब का पाठ हो, उसमें संग्रहीत भक्ति-भरे गुरुवाणी पदों का गायन-कीर्तन हो, सामान्यतया इसे सद्‌भावना से भरा हुआ एक स्वागतयोग्य प्रयास माना जाना चाहिए, किंतु पंजाब में इसे निंदनीय प्रयास माना जा रहा है। इसके पीछे किसी लंबे षड्यंत्र की आशंका व्यक्त की जा रही है और इस प्रयास के सफल न होने देने की घोषणाएं की जा रही हैं। आखिर ऐसा क्यों हो रहा है? इसे समझने के लिए पृष्ठभूमि में जाने की आवश्यकता है।

पिछली पूरी सदी में पंजाब में हिंदुओं और सिखों के मध्य निरंतर अलगाव और दुराव के बीज प्रस्फुटित हुए हैं। देश के विभाजन से पहले भी दोनों वर्गों के नेता एक-दूसरे पर बहुत आक्षेप करते थे और अपने-अपने समाचार पत्रों में एक-दूसरे को खूब कोसते थे, किंतु ये मतभेद विभाजन के बाद बहुत खुलकर सामने आ गए। संयुक्त पंजाब में राजनीतिक वर्चस्व में मुसलमान बहुमत होने के कारण सबसे आगे थे। विभाजन होते ही पूर्वी पंजाब में यह बात उभर आई कि अब प्रदेश की राजनीतिक प्रभुसत्ता किसके

हाथ में होगी। उस समय हरियाणा प्रदेश और वर्तमान हिमाचल प्रदेश का कुछ भाग पूर्वी पंजाब का भाग थे। इन क्षेत्रों की भाषा पंजाबी नहीं थी। पंजाबी भाषी जालंधर डिवीजन पर आर्य समाजी हिंदुओं का सभी क्षेत्रों पर प्रभुत्व था। शिक्षा, उद्योग, व्यवसाय, समाचार पत्रों का स्वामित्व सभी कुछ इनके हाथों में था। सिख जनता अधिकांशतः खेतिहर थी और गांवों में रहती थी। वह शहरों में बसने वाले अधिसंख्य हिंदुओं की अपेक्षा सभी क्षेत्रों में बहुत पिछड़ी हुई थी। पूरे पंजाब में सिखों का प्रतिशत केवल तैंतीस था, किंतु पंजाबी भाषी क्षेत्र में उनका बहुमत था। इस क्षेत्र का हिंदू (आर्य समाजी) नेतृत्व यह जानता था कि यदि भाषा के आधार पर पंजाब का पुनर्गठन हुआ तो पंजाबी भाषी पेप्सु (पटियाला एंड ईस्ट स्टेटस यूनियन) और जालंधर प्रभाग को मिलाकर जो राज्य बनेगा उसमें सिख बहुमत में जो जाएंगे और राजनीतिक वर्चस्व उनके हाथों में चला जाएगा। इसे रोकने का एक ही उपाय था कि पंजाब में हरियाणा का हिंदी प्रदेश शामिल रहे। सारा पूर्वी पंजाब हिंदी भाषी घोषित कर दिया जाए। कम से कम इतना तो हो कि सारा राज्य द्विभाषी मान लिया जाए।

इसी बिंदु से पंजाब में हिंदी पंजाबी का विवाद प्रारंभ हो गया। पंजाबी बोलने वाले हिंदुओं के मन में यह बात डाली गई कि यद्यपि आप पंजाबी बोलते हैं, किंतु आपकी मातृभाषा हिंदी है। आप अपने बच्चों को हिंदी के माध्यम से पढ़ाइए और जनगणना में अपनी भाषा हिंदी लिखवाइए। इस बिंदु पर पंजाबी भाषी दोनों वर्गों के लोग लगभग पूरी तरह बंट गए। एक ही परिवार के दो भाई सिख और दूसरा मोना अपनी मातृ भाषाओं को पंजाबी और हिंदी में बांटने लग गए।

हिंदू नेतृत्व के भयंकर विरोध के बावजूद पंजाबी भाषी राज्य का गठन हो गया। पंजाब का कुछ भाग हिमाचल प्रदेश में शामिल कर दिया गया और अम्बाला डिवीजन हरियाणा के रूप में एक नया राज्य बना दिया गया। 1951 और 1961 की जनगणना में पंजाबी भाषी हिंदुओं के बड़े वर्ग ने विशेष रूप से आर्य समाज के आह्वान पर अपनी मातृभाषा हिंदी घोषित की थी किंतु 1971 की जनमत गणना के समय स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन हो चुका था। पंजाब एक भाषी राज्य बन चुका था। पंजाबी को नवगठित राज्य की राजभाषा स्वीकार कर लिया गया था। संघ का काम देशव्यापी रहा है। संघ के सभी कार्यक्रम विभिन्न प्रदेशों में स्थानीय भाषाओं में ही होते रहे हैं। उसका यह दावा भी रहा है कि इस देश की सभी भाषाएं और लिपियां राष्ट्र जीवन में समान सम्मान की अधिकारिणी हैं। पंजाब में उसका पलड़ा पंजाबी और गुरमुखी के विरोध की ओर झुका हुआ था। इस संबंध में संघ के शीर्षस्थ (गैर पंजाबी) नेतृत्व से छठे दशक में मेरी बहुत बार बातचीत हुई थी। उस समय मैंने संघ द्वारा संचालित सभी समाचार पत्रों में यह बात बहुत आग्रहपूर्वक रखी थी कि पंजाब में पंजाबी भाषा और गुरुमुखी लिपि का विरोध पंजाब के दो विभिन्न वर्गों में ऐसी दरार डाल देगा, जिसकी बहुत बड़ी कीमत चुकानी

पड़ेगी। 1960 के आसपास संघ के सरसंघ चालक श्री गोलवलकर ने जालंधर में सार्वजनिक रूप से यह बात कही कि पंजाबी भाषा सभी पंजाबियों की मातृभाषा है और उन्हें इस तथ्य को स्वीकार करना चाहिए किंतु पंजाब के आर्य समाज और आर्य समाजी विचारधारा के सभी समाचार पत्रों ने श्री गोलवलकर की इस बात का कड़ा विरोध किया था।

यह भी एक सच्चाई है कि पंजाब के संघ पर आर्य समाज पूरी तरह छाया रहा है। वहां संघ के लगभग सभी बड़े नेता आर्य समाजी पृष्ठभूमि के थे और उसी स्वर में बोलते थे। पंजाब में संघ से जुड़े ऐसे सदाशयी कार्यकर्ता भी थे जो भाषा के संबंध में आर्य समाजी दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे किंतु उनकी संख्या नगण्य थी और उनका प्रभाव अत्यंत सीमित था। 1971 की जनगणना के समय पंजाबी हिंदुओं का बदला हुआ रुख भी दिखाई दिया था और बड़ी मात्रा में लोगों ने पंजाबी अपनी मातृभाषा घोषित की थी, किंतु अलगाव, संदेह और अविश्वास के बीज जो वर्षों पूर्व दिलों में बोए गए थे, अब बहुत प्रस्फुटित हो गए थे। 1980 के दशक में पंजाब में जो आतंकवाद आया, जिसने पूरे जन-जीवन को बुरी तरह आक्रांत कर दिया था, उसकी पृष्ठभूमि में वह सब काम कर रहा था जो पिछले कुछ दशकों में वहां घटा था। एक समय तो पंजाब में ऐसी स्थिति आ गई थी जब ऐसा लगने लगा था कि हिंदुओं-सिखों के बीच कहीं वह स्थिति न उत्पन्न हो जाए जैसी बहुत लंबे समय से हिंदुओं और मुसलमानों के बीच रही है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा प्रायोजित एवं प्रेरित ऐसी 35-40 संस्थाएं हैं, जो विभिन्न क्षेत्रों में काम करती हैं। अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद, भारतीय मजदूर संघ, भारतीय किसान संघ, भारत विकास परिषद, संस्कार भारती, बनवासी संघ ऐसी ही संस्थाएं हैं। संघ के नेताओं ने अनुभव किया कि सिख व्यापक हिंदू समाज से बहुत दूर चले गए हैं। उन्हें निकट लाने के लिए एक और संस्था निर्मित हुई राष्ट्रीय सिख संगत। संघ के एक सिख प्रचारक को इसको गठित करने का काम सौंपा गया। पंजाब में तो अधिक नहीं, किंतु पंजाब से बाहर रहने वाले सिखों का इसे ज्यादा समर्थन प्राप्त हुआ। राष्ट्रीय सिख संगत की ओर से स्थान-स्थान पर गुरुपर्व मनाए जाने लगे। संघ की प्रेरणा से उसमें गैर सिख भी बड़ी संख्या में भाग लेने लगे। यहां तक तो ठीक था। सिख भी चाहते थे कि व्यापक हिंदू समाज से उनका जो दुराव पैदा हो गया है, वह दूर हो। यहां तक भी ठीक था किंतु गड़बड़ तब उत्पन्न होने लगी जब संघ की ओर से इस बात पर विशेष बल दिया जाने लगा कि सिख तो हिंदू धर्म का ही एक अंग है, वह कोई पृथक धर्म नहीं है। सिख धर्म एक स्वतंत्र धर्म है, वह हिंदू धर्म का उस तरह एक अंग नहीं है, जैसे वैष्णव, शाक्य, शैव आदि हैं। यह बात गत सौ-सवा सौ वर्षों से विशेष रूप से कही जाने लगी है। गुरुनानक से लेकर गुरु गोबिंद सिंह तक और उनके पश्चात् महाराजा रणजीत सिंह तक यह प्रश्न कभी नहीं उभरा था। यह भी स्मरण

रखना चाहिए कि प्रारंभ में पंजाब में आर्य समाज आंदोलन को सिखों का सक्रिय सहयोग ही नहीं प्राप्त हुआ था, इसकी वहां स्थापना और प्रचार-प्रसार में भी अनेक सिखों की पूरी भागीदारी थी। किंतु सत्यार्थ प्रकाश में लिखी बातों का जब उन्हें ज्ञान हुआ तो वे आर्य समाज से दूर हटने लगे। उन्नीसवीं सदी के अंत में ही सिखों के अंदर एक सुधारवादी लहर शुरू हुई जिसे 'सिंह सभा लहर' कहा जाता है। इसकी प्रेरणा से सिखों में नई जागृति आई। सिख मानस में यह आशंका बहुत गहरी चली गई है कि एक हिंदू धर्म उनकी पहचान उनके अस्तित्व और उनकी विलक्षता को नष्ट करके उन्हें अपने अंदर विलीन कर जाएगा।

पिछली पूरी एक शती हिंदू-सिख संबंधों को लेकर जिस प्रकार से गुजरी है, गत दो दशकों में इन दोनों समुदायों में जितने तनाव और विरोधपूर्ण संबंध रहे हैं, छठे-सातवें दशक में भाषा-विवाद को लेकर जितना वैमनस्य उत्पन्न हुआ था, उसे देखते हुए पंजाब में हिंदू-सिख संबंध बड़ा संवेदनशील प्रश्न बन गया है। सितार के कसे हुए तारों की तरह जब कोई सायास अथवा अनायास इसे छू देता है तो इससे बड़ी तेजी से झंकार उत्पन्न होती है और सारा वातावरण उससे गूंजने लगता है। यही बात मंदिरों में गुरु ग्रंथ साहब के पाठ को लेकर हो रही है। संकट इस बात का नहीं है कि ऐसा क्यों किया जा रहा है। संकट इस बात का है कि इसे जिस ढंग से हड़बड़ी से किया जा रहा है वह इसके पीछे की संपूर्ण सदाशयता को शंकाओं के घेरे में घेरती जा रही है। इस ग्रंथ में 6 सिख गुरुओं के अतिरिक्त शेख फरीद, जयदेव, रामानंद नामदेव, कबीर, रविदास आदि कितने ही संतों-भक्तों की वाणियों का संग्रह है। गुरु ग्रंथ में मुसलमान सूफी संत भी हैं। ब्राह्मण भी हैं और जुलाहा, पीपा, जाट, चमार, नाई आदि अनेक भक्तों को भी स्थान प्राप्त है। इस प्रकार यह केवल सिखों अथवा हिंदुओं का ही ग्रंथ नहीं है, यह पूरी मानवता की थाती है। फिर पंजाब में इसे विवाद का मुद्दा क्यों बना दिया गया है? मुझे लगता है कि इस बात को बार-बार और बड़े आग्रह से कहना कि सिख हिंदू हैं पूरी तरह अर्थहीन और असंगत है। सिखों की एक पृथक धर्ममत के रूप में स्वीकृति संसार व्यापी है। भारत का संविधान भी उन्हें एक धार्मिक अल्पमत के रूप में मान्यता देता है। विविधताओं से भरे हुए इस देश में एक ऐसे समरस समाज को उभारने की आवश्यकता है जिसमें सभी समुदाय, सभी वर्ग, सभी धर्मों के लोग अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए सभी वर्गों का सम्मान करें और कोई भी ऐसा काम न करें जिससे किसी व्यक्ति या समूह की भावनाओं को ठेस पहुंचती है और उसके कारण कुशंकाओं को पनपने का अवसर मिलता है। पंजाब में समरस समाज को उभारने के सभी प्रयास होने चाहिए, बिना इस प्रश्न को उछाले के सिख हिंदू हैं या नहीं हैं।

(राष्ट्रीय सहारा, 10-1-2001)

मानव तस्करी : जब कबूतर उड़ जाते हैं

विदेशों में बसने का नशा संभवतः पंजाब में सबसे अधिक है। वहाँ एक मुहावरा आजकल वहुत लोकप्रिय है- कबुतर उड़ाना। कुछ प्रभावशाली लोग अपनी सामाजिक, एवं राजनीतिक स्थिति का लाभ उठाकर कुछ ऐसे लोगों को अपने साथ विदेशों में ले जाते हैं, जो वहां जाकर बसने को अपने जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं और उसके लिए कुछ भी करने को तैयार होते हैं। ऐसे लोग वहां पहुंचकर गायब हो जाते हैं। इन्हीं लोगों के लिए इस मुहावरे का प्रयोग किया जाता है।

पश्चिमी संसार, विशेष रूप से यूरोपीय और उत्तर अमेरिकी देश इस समय शेष संसार के लिए स्वर्ग के समान है। विकासशील देशों के लोगों में एक धारणा घर कर गई है कि वहां पौंड और डॉलर सड़कों पर बिखरे पड़े हैं, चलें और वहां पहुंचकर उन्हें लूट लें। संभवतः एशियाई देशों, विशेषरूप से भारत और पाकिस्तान और उनमें भी पंजाबियों के मन में विदेश जाने, वहां बसने की धुन पागलपन की हद तक है।

पश्चिमी देशों में भारतीय उपमहाद्वीप के लोगों में से पंजाबी, केरलवासी, गुजराती, सिंधी और बंगाली विशेषरूप से वहां गए हैं। इनमें से अधिसंख्य तो कानूनी तौर पर आप्रवासी बनकर वहां पहुंचे और वहां के समाज के सभी क्षेत्रों में इन्होंने अपना स्थान भी बनाया है। इनमें से कुछ ने आशातीत आर्थिक समृद्धि भी अर्जित की है। कुछ ने वहां की राजनीति में भी अच्छी पहचान बनाई है। कनाडा और ब्रिटेन में कुछ भारतीय संसद सदस्य भी हैं। स्वराजपाल जैसे लोग आर्थिक दृष्टि से तो बहुत संपन्न हैं ही, ब्रिटेन की हाउस ऑफ लार्डस' के सदस्य भी हैं। कनाडा की केन्द्रीय संसद में पंजाबी मूल

के पांच सदस्य हैं। उनमें से एक केंद्रीय मंत्री भी है। वहां के सबसे बड़े प्रांत ब्रिटिश कोलंबिया के कुछ समय पूर्व तक मुख्यमंत्री पंजाबी मूल के उज्ज्वल दोसांझ थे। हाल के चुनाव में उनकी पार्टी पराजित हो गई। जो पार्टी सत्ता में आई है उसमें भी सात सदस्य पंजाबी मूल के हैं। इनमें से दो को मंत्री पद भी दिया गया है।

इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि इन देशों में अवैध रूप से प्रवेश करने, फिर वहां छोटी-मोटी नौकरी करने, इधर-उधर छिपते रहने और लंबे समय बाद वहां रहने की अनुमति प्राप्त कर लेने वाले लोगों की भी कमी नहीं है। इस प्रवृत्ति को बढ़ावा देने में ट्रेवेल एजेंटों की बड़ी भूमिका रहती हैं भोले-भाले युवकों को ये विदेश के बड़े सुनहरे चित्र दिखाते हैं और उन्हें यह भरोसा दिलाते हैं कि वे उन्हें अमेरिका, कनाडा जैसे देश में किसी-न-किसी प्रकार भेज देंगे। उनके जाली पासपोर्ट बनवाए जाते हैं, बहुत वार उन पर जाली वीजा भी लगा दिया जाता है। इस काम के लिए ट्रेवेल एजेंट उनसे भारी रकम (दो लाख से दस लाख तक) वसूल करते हैं। विदेश जाने को आतुर ये उन्मादे युवक अपने माता-पिता पर दबाव डालकर उन्हें भविष्य के सुनहरे सपने दिखाकर घर की जमीन-जायदाद बेचने पर मजबूर कर देते हैं।

गैर कानूनी ढंग से भेजे गए नवयुवक विदेशों में जाकर कितनी यातना भरी स्थितियों से गुजरते हैं, ये कहानियां कम लोमहर्षक नहीं हैं। पंजाब के एक गांव कांगड़ के जयदीप सिंह ने एजेंट को 75 हजार मलेशिया भेजने के लिए दिए, किंतु एजेंट ने किसी तरह उसे बैंकॉक भेजकर किसी अन्य व्यक्ति के हवाले कर दिया। उस व्यक्ति ने तीन दिन के बाद उसका सारा सामान छीनकर समुद्र में धकेल दिया। बड़ी मुश्किल से वह समुद्र से निकला तो बैंकॉक पुलिस ने उसे पकड़कर जेल में डाल दिया। आठ महीने की कैद भुगतने के पश्चात वह किसी तरह मरता-खपता अपने गांव वापस आया।

पंजाब में ऐसी घटनाएं नित्य होती हैं। लगभग 5 वर्ष पूर्व माल्टा में हुई नाव दुर्घटना की याद आज भी लोगों के मन में बसी हुई है। मानव तस्करी की इस भयावह दुर्घटना में इन नकली ट्रेवेल एजेंटों ने लाखों रुपए लेकर पंजाब के कितने ही नवयुवकों को इटली भेजने की योजना बनाई। 170 नवयुवक एक किश्ती में बैठाए गए। यह किश्ती माल्टा के पास समुद्री भंवर में फंसकर डूब गई। नाव में सवार एक-दो यात्री तो किसी प्रकार बच गए शेष सभी समुद्र में डूब गए। इतना समय निकल जाने के बाद भी पंजाब में अनेक परिवार ऐसे हैं, जिन्हें आज भी यह भरोसा है कि उस नाव-दुर्घटना में उनका अपना संबंधी बच गया होगा और वह किसी दिन वापस आ जाएगा।

इन बनावटी ट्रेवेल एजेंटों द्वारा नकली पासपोर्ट बनवाने और उन पर नकली वीजा लगवाने का धंधा भी पूरी सरगरमी से किया जाता है। अपने काम में ये इतने कुशल होते हैं कि बिना कोई निशान छोड़े ये पासपोर्ट पर लगी तस्वीर को बदल लेते हैं। ऐसे वीजा लगे पासपोर्ट के लिए ये एजेंट ढाई लाख रुपए तक ले लेते हैं। अमेरिका

और कनाडा जैसे देशों में प्रवेश पाने के लिए लोग दस-पंद्रह लाख रुपए तक खर्च करने को तैयार हो जाते हैं।

मानव तस्करी का यह धंधा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर फैला हुआ है। एक पंजाबी समाचार-पत्र ने अपने एक प्रतिनिधि की एक रिपोर्ट प्रकाशित की है। जिसके अनुसार मानव तस्करी करने वालों का एक पूरा जाल फैला हुआ है। ये लोग किसी को भी किसी भी देश में भेजने की सामर्थ्य रखते हैं। इनके व्यक्ति संबंधित स्थानों पर नियुक्त रहते हैं और अपने केंद्र से पूरा संबंध बनाए रखते हैं। तस्करी के लिए ये उन मार्गों का प्रयोग करते हैं जिनका प्रयोग नशीले पदार्थों की तस्करी के लिए किया जाता है। दो वर्ष पूर्व नई दिल्ली के इंदिरा गांधी हवाई अड्डे से 26 व्यक्ति पकड़े गए। ये लोग ओमान जाना चाहते थे। इनके पास नाविक (सी मैन) होने के जाली दस्तावेज थे जो इन्हें पनामा से जारी हुए थे। इनकी सहायता से वे वहां से यूरोप जाने वाले समुद्री जहाज में बतौर मल्लाह सवार होने वाले थे। इस प्रकार कितने ही लोग यूरोप और अमेरिका जा चुके हैं। हवाई अड्डे पर पकड़े गए सभी युवक चंडीगढ़, लुधियाना, जालन्धर से संबंधित थे। इन्होंने अपने ट्रेवेल एजेंटों को तीन-तीन लाख रुपए दिए थे।

विदेशों में मानव तस्करी के लिए अपनाए जाने वाले आपराधिक या लंठ तरीके तो हैं ही, कुछ बड़े भद्र ओर सुसंस्कृत मार्ग भी हैं। सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक प्रतिनिधिमंडल, अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन, विभिन्न खेलों में भाग लेने के लिए खिलाड़ियों की टीमें, धार्मिक समारोहों में भाग लेने के लिए जाने वाले आदि अनेक माध्यमों से भी कुछ लोग विदेशों में जाते हैं और वहां जाकर कबूतरों की तरह उड़ जाते हैं। कुछ विश्व पंजाबी सम्मेलनों का मुझे अनुभव है। पंजाबी के लेखक या संस्कृतिकर्मी होने के नाम पर अनेक ऐसे लोग भी उन सम्मेलनों के लिए गए जिनका संस्कृति या साहित्य से दूर-दूर का भी वास्ता नहीं था। छठे विश्व हिंदी सम्मेलन (लंदन) में बहुत से ऐसे लोग भी गए थे जिनका हिंदी के साहित्य अथवा प्रंसार-प्रचार से कोई वास्ता नहीं था।

ऐसे लोगों का सामान्यतः उद्देश्य यह नहीं होता कि वे वहां जाकर कबूतरों की तरह उड़ जाएंगे। इनका उद्देश्य यह होता है कि सम्मेलन के प्रतिनिधि बनकर जाने से उस देश का वीजा इन्हें सरलता से मिल जाएगा, नहीं तो इसे मिलने में बड़ी कठिनाई होती है। एक तथ्य भी है कि यदि किसी के पासपोर्ट पर किसी देश के वीजे की मोहर एक बार लग जाए तो दुबारा वीजा लगने में अधिक कठिनाई नहीं होती। किसी सम्मेलन अथवा प्रतिनिधिमंडल का सदस्य बनकर जाने से वहां के संयोजकों द्वारा निःशुल्क अतिथि सत्कार भी मिल जाता है। ऐसे लोगों का मुख्य उद्देश्य विदेश-दर्शन और भ्रमण होता है।

किंतु इस क्षेत्र में भी लेन-देन की पूरी गुंजाइश होती है। बीच में ऐसे लोग भी होते हैं जो ऐसा कानूनी वीज़ा लगवाने के लिए अपनी पूरी फीस ले लेते हैं। अपने

पासपोर्ट पर अमेरिका या कनाडा का वीजा लगवाने के लिए लोग तीन लाख से पांच लाख रुपए देने को तैयार हो जाते हैं।

सांस्कृतिक, साहित्यिक और खेल जगत के मंडलों में भी तस्करी हो जाती है और कबूतर उड़ जाते हैं। पिछले दिनों पंजाब सरकार का एक मंत्री और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी का एक सदस्य वैंकुवर (कनाडा) में बैसाखी के अवसर पर आयोजित एक समारोह में भाग लेने के लिए गए। वे अपने साथ कुछ अन्य व्यक्तियों को भी ले गए। इनमें से कुछ व्यक्ति वहां पहुंचकर कबूतर बनकर उड़ गए। उनकी बड़ी खोज-खबर की गई, किंतु कबूतर पकड़ में नहीं आए। कनाडा के पंजाबी मूल के एक केंद्रीय मंत्री ने उनकी गारंटी दी थी। इस घटना से वे भी संकट में पड़ गए। मंत्री और गुरुद्वारा कमेटी के सदस्य तो वापस आ गए हैं किंतु कबूतर वहीं रह गए हैं।

कबूतर उड़ाने की इस घटना से कनाडा में बसने वाले प्रवासी पंजाबी अपने आपको अत्यंत लज्जाजनक स्थिति में पा रहे हैं। वहां के सामाजिक और राजनीतिक वातावरण में उनकी बड़ी सम्मानजनक स्थिति है। कनाडा के केंद्रीय मंत्री हरबंस सिंह धालीवाल जिनके पास मछली उद्योग और समुद्री मामलों का मंत्रालय था, को मंत्रिमंडल के पुनर्गठन के अवसर पर अधिक महत्वपूर्ण विभाग मिलने की पूरी आशा थी। इस घटना ने उनकी सभी आशाओं पर पानी फेर दिया है। वैंकुवर की अनेक प्रवासी पंजाबी संस्थाओं ने इस तस्करी के विरुद्ध सामूहिक रूप से आवाज़ उठाने का निश्चय किया है।

कनाडा और अमेरिका के अतिरिक्त ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, इंग्लैंड, जर्मनी और इटली जैसे देश भी विदेशों में बसने के लिए लालायित नवयुवकों की पसंद के देश हैं। इसका एक कारण यह भी है कि इन देशों में इनके बहुत से सगे-संबंधी पहले से ही रहते हैं और वहां पहुंचकर उनकी सहायता प्राप्त होना इन्हें सहज लगता है। अनेक देशों ने अपने देशों में प्रवासियों के लेने के विधिवत कोटे बनाए हुए हैं। कुछ वर्ष पूर्व के प्राप्त आंकड़ों के अनुसार ऑस्ट्रेलिया अस्सी हज़ार, अमेरिका अस्सी हज़ार, कनाडा दो लाख और न्यूजीलैंड 55000 प्रवासी प्रतिवर्ष लेते हैं, किंतु इन देशों का विधिवत प्रवजन प्राप्त करना आसान नहीं है। आवेदन-पत्र देने के बाद बहुत-सी औपचारिकताएं पूरी करनी पड़ती हैं। प्रत्येक देश की अपनी आवश्यकता होती है। किसी को डॉक्टर चाहिए तो किसी को नर्सें। किसी को सूचना टेक्नालोजी के विशेषज्ञ चाहिए तो किसी को स्कूलों के लिए अध्यापक। सभी देश इस दृष्टि से पूरी जांच-पड़ताल करते हैं। अनेक स्तरों पर उनके साक्षात्कार किए जाते हैं। तब कहीं जाकर बड़ी धीमी प्रक्रिया से उन्हें प्रवास की अनुमति प्राप्त होती है। इस प्रक्रिया में कई वर्ष लग जाते हैं।

किंतु तस्करी के माध्यम से जो लोग जाते हैं वे प्रायः बहुत कम पढ़े-लिखे होते हैं। मजदूरी करने के अतिरिक्त उनके पास कोई योग्यता नहीं होती। पकड़े जाने और सजा भुगतने की तलवार उनके सिर पर निरंतर लटकती रहती है। अपने देश में थोड़ा-सा

श्रम करके जितना सुखी और सम्मानपूर्ण जीवन ऐसे युवक जी सकते हैं, विदेश में जाकर वे दर-बदर की ठोकरें खाते हैं।

फिर भी विदेश जाने और वहां बसने का नशा पंजाबी ग्रामीण युवकों के सिर पर बुरी तरह चढ़ा हुआ है। इसके लिए वे कोई भी और कितना भी मूल्य चुकाने को तैयार रहते हैं। भ्रष्ट ट्रेवेल एजेंट, कबूतर उड़ाने की विद्या में माहिर संभ्रांत दिखने वाले कुछ लोभी और मानव तस्करी के धंधे में लगे पेशेवर लोग इन युवकों की कमजोर नस को अच्छी तरह पहचानते हैं और उसका लाभ उठाने का कोई अवसर नहीं चूकते हैं।

(दैनिक जागरण, 5-7-2001)

किसी भी स्तर पर स्त्रियों से भेदभाव उचित नहीं

सिंख पंथ में इस समय नानकशाही कलेंडर को लेकर विवाद चल रहा है। अकाल तख़्त के जत्थेदार ज्ञानी जोगिंदर सिंह वेदान्ती ने इस संबंध में एक समिति गठित की थी। उस समिति ने उक्त कलेंडर को लागू करने की सिफारिश कर दी है। जत्थेदार वेदान्ती इसे लागू करने के लिए वचनवद्ध दिखते हैं। दूसरी ओर संत समाज, जिसका सिख जन जीवन का गहरा प्रभाव है, इस कलेंडर को लागू करने के विरुद्ध है और चाहता है कि सदियों से चलते आ रहे विक्रमी संवत को ही लागू रखा जाए। यदि इस दृष्टि से मतैक्य नहीं होता है तो सिख समाज दो भागों में बुरी तरह बंट जाएगा।

अब चर्चा में एक दूसरा मुद्दा उभर आया है। इस समय तक हरिमंदिर साहब में सिख महिलाओं को कीर्तन नहीं करने दिया जाता। रात्रि में जब गुरु ग्रंथ साहब की बीड़ को सुखासन करने के लिए हरिमंदिर से अकाल तख़्त ले जाया जाता है और प्रातःकाल कड़ी श्रद्धापूर्वक उसे हरिमंदिर साहब में स्थापित किया जाता है, इस सेवा से भी महिलाओं को वंचित रखा जाता है।

संसार के अनेक धर्मों और सामाजिक व्यवस्थाओं में स्त्री को पुरुष के बराबर नहीं समझा जाता। इस देश की स्मृतियों में यह भेदभाव बहुत स्पष्ट है। मनुस्मृति में ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं जिनसे नारी की हीन स्थिति का बोध होता है। मध्य युग के संत भक्त कवियों ने भी नारी के प्रति उदार नीति नहीं अपनाई थी। कबीरदास ने नारी को नरक की खान कहा था तो तुलसीदास ने उसे ताड़ना के योग्य समझा था। पश्चिमी देशों में भी नारी को पुरुष के समकक्ष नहीं समझा जाता था। ब्रिटेन में जिसे

लोकतंत्र की जननी माना जाता है, 1920 तक स्त्रियों को चुनाव में अपना मत देने का अधिकार नहीं था।

उस घोर नारी निंदक युग में गुरुनानक का दृष्टिकोण बहुत अलग था। उन्होंने अपनी एक रचना में कहा था—हम सभी स्त्री से ही जन्म लेते हैं, स्त्री के उदर में ही प्राणी का कशरी निर्मित होता है। स्त्री से ही सगाई और विवाह होता है। उसी के माध्यम से सांसारिक मार्गों के द्वार खुलते हैं। जब एक स्त्री मर जाती है तो पुरुष दूसरी स्त्री ढूंढता है। ऐसी स्त्री को बुरा क्यों कहा जाए जो बड़े-बड़े राजाओं को जन्म देती है।

इसीलिए सिख परंपरा में नारी दासी नहीं, सहचरी समझी गई। गुरु नानक की पत्नी माता सुलक्खिनी हो, गुरु अंगद की पत्नी माता खीवी हों अथवा गुरु अमरदास की पुत्री और चौथे गुरु रामदास की पत्नी बीबी भानी हो सभी अपने दायित्वों का निर्वाह अपने पुरुषों के साथ समान भाव भूमि पर करती थीं। सती प्रथा और बाल विवाह का भी गुरुवाणी में पूरा विरोध किया गया था।

किसी भी धर्ममत में जिस सैद्धांतिक पक्ष को स्वीकार किया जाता है और अपने अनुयायियों को उसके पालन करने का आग्रह किया जाता है, आवश्यक नहीं है कि लोग उसे उसी भावना से अपना लें। सदियों से चले आ रहे विश्वासों को लोग एक झटके में ही नहीं उतार फेंकते। जैसे व्यक्ति अपनी आदतों को जल्दी नहीं बदल पाता, उसी प्रकार किसी समाज की लंबे समय से बनी हुई मान्यताएं भी बदलने में बहुत लंबा समय लेती हैं।

उदाहरण के लिए जाति प्रथा और ऊंच-नीच की भावना इस देश के लोगों की हड्डियों में बसी हुई हैं। सैद्धांतिक रूप से इस्लाम और ईसाईयत में न जाति प्रथा स्वीकार की जाती है न ऊंच-नीच की भावना ली। इस देश के अगणित लोगों ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। बहुत से लोग ईसाई बन गए, किंतु सभी उपदेशों के बावजूद न इनमें जाति प्रथम समाप्त हुई, न ऊंच-नीच की भावना। मुसलमानों में अपने आपको शेख, सैयद, मुगल या पठान समझने वाला कोई भी व्यक्ति अंसार, जुलाहे, कुंजड़े अथवा धानुक मुसलमान को अपने बराबर नहीं समझता। अपने आपको सीरियन क्रिश्चियन समझने वाले ईसाई धर्मांतरित हुए स्थानीय ईसाइयों से अपने आपको श्रेष्ठ मानते हैं।

सिख समाज तो लगभग पूरी तरह विशाल हिंदू समाज से निकला हुआ समाज है। इसलिए वहुत-सी प्राचीन हिंदू मान्यताएं, गुरुवाणी की सभी शिक्षाओं के वावजूद उसके साथ लगी हुई हैं। इनसे मुक्ति पाने के लिए उसे निरंतर प्रयत्न करना पड़ता है।

किसी भी समाज के पुरोहित वर्ग का सदा यह प्रयास रहता है कि उसके समाज के लोग अधिक-से-अधिक रूढ़िवादी हों, अन्धविश्वासी हों, प्राचीन मान्यताओं के प्रति शंका व्यक्त करने वाले न हों और समाज के सभी लोग उनके वचन, निर्देश और विधान के सम्मुख सिर झुकाने वाले हों। लंबे समय तक सिख समाज के प्रति भी यही हुआ।

गुरु युग समाप्त होने के पश्चात् अठारहवीं सदी में सिख अपने समय के आततायी शासकों से संघर्ष करने में बुरी तरह उलझ गए। यह उनके अस्तित्व की लड़ाई थी। ऐसे समय में अधिसंख्य गुरुद्वारों की देखभाल उन पुरोहितों और पुजारियों के हाथों में चली गई जिन्हें गुरुवाणी पढ़नी तो आती थी, उसके मर्म का कोई समय नहीं था। उन्होंने उन सभी पौराणिक मान्यताओं को गुरुद्वारों में स्थापित कर दिया, सिख गुरुओं ने जिनका खंडन किया था।

सिख मान्यताओं में ऊंच-नीच, छूत-अछूत का कोई स्थान नहीं है। गुरु नानक का जीवन भर का साथी भाई मरदाना एक मिरासी मरदाना था। अपनी यात्राओं में वे उन परिवारों के अतिथि बनते थे जिन्हें सामाजिक दृष्टि से हीन समझा जाता था। सभी प्राचीन परंपराओं को तोड़कर गुरु अर्जुन देव ने हरिमंदिर का पहला पुजारी बाबा बुड्ढा को बनाया था जो जाति से जाट थे।

किंतु जब गुरुद्वारों पर महंतों/पुजारियों का वर्चस्व स्थापित हो गया तो नीची समझी जाने वाली जातियों से सिख बने लोगों पर अनेक प्रतिबंध लगा दिए गए। उनका लाया हुआ प्रसाद हरिमंदिर या अकाल तख्त पर स्वीकार नहीं किया जाता था, न ही उनकी अरदास की जाती थी। पंजाब में अकाली आंदोलन के प्रारंभ तक यह स्थिति बनी हुई थी।

उन्नीसवीं सदी के अंत में प्रारंभ हुई सिंह सभा लहर के प्रभाव से सिखों में नई जागृति पैदा हो रही थी। इसका परिणाम यह हुआ कि गुरुद्वारों के महंतों और पुजारियों के कार्यों के विरोध में जनमत तैयार होने लगा। अक्टूबर 1920 में जलियां वाला बाग में एक सभा आयोजित हुई। इसमें नीची समझी जाने वाली जातियों के रामदासिए और मजहबी सिख बड़ी गिनती में शामिल हुए। इन्होंने घोषणा की कि जाति-पांति और छूत-अछूत की प्रथा सिख मान्यताओं के विरुद्ध है और गुरुद्वारों में जाने, वहां पूजा-पाठ करने, प्रसाद चढ़ाने का सभी को अधिकार है। ये सभी लोग जुलूस के रूप में हरिमंदिर साहब के दर्शन करने के लिए चल दिए। जब यह जत्था वहां पहुंचा तो पुजारियों ने इनके द्वारा लाया गया प्रसाद स्वीकार करने से इनकार कर दिया। कुछ देर तक वहां यह विवाद चलता रहा। अंत में इस बात पर सहमति हुई कि गुरु ग्रंथ साहब से इस संबंध में आदेश प्राप्त किया जाए। उस समय गुरु ग्रंथ साहब की सेवा (ताब्या) में जो पुजारी बैठा हुआ था, उसने 'वाक' (आदेश) लिया। जो आदेश निकला उसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार थीं–

निगुणिआ नो आपे बरवसि लए, भाई सतिगुरु सेवा लाइ॥
सतिगुरु की सेवा उतम हैं भाई राम नामि चितु लाइ॥
हरि जीउ आपे बखसि मिलाइ॥
गुण हीण हम अपराधी भाई पूरे सतिगुरु लए रलाइ॥

इस पूरे पद का अर्थ यही था कि सद्गुरु की सेवा
में जो भी आता है, चाहे वह कितना भी गुणहीन हो,
अपराधी हो, उसे वे अपने साथ मिला लेते हैं।
राम नाम को हृदय में बसाकर सद्गुरु की सेवा उत्तम कार्य है।

इस पद का संपूर्ण भाव जत्थे में आए सिखों के पक्ष में जाता था। लोगों में खुशी की लहर दौड़ गई। तमुल नाद करते हुए जयकारों के मध्य पुजारियों ने सभी का प्रसाद स्वीकार कर लिया और उसे पूरी संगत में वितरित किया गया। फिर सारी संगत अकाल तख्त की ओर चल पड़ी। रूढ़िग्रस्त कुछ पुजारी तो तख्त छोड़कर चले गए। जो बचे उन्होंने प्रसाद लेने से इनकार कर दिया। संगत ने स्वयं वहां का प्रबंध संभाल कर छूत-छात के भेद को समाप्त कर दिया।

महिलाओं के संबंध में भी जितने निषेध हैं, वे महंतों/पुजारियों की ओर से लगाए हुए हैं। गुरुवाणी में अथवा किसी भी रहतनामे में यह लिखा नहीं है कि वे हरिमंदिर साहब में कीर्तन नहीं कर सकती हैं अथवा रात्रि और प्रातः की सेवा में भाग नहीं ले सकती हैं। यह भी उसी मानसिकता का प्रभाव है जिसके कारण रामदासीए अथवा मजहबी सिखों को हरिमंदिर साहब में अपना प्रसाद ले जाने की अनुमति नहीं थी।

शिरोमणि गुरुद्वारा प्रवंधक कमेटी की स्थापना 1925 में हुई थी। इस बात को आज 78 वर्ष हो गए हैं। आश्चर्य इस बात का है कि अभी तक इस ओर ध्यान क्यों नहीं दिया गया। बीवी जागीर कौर पहली महिला थीं जिन्हें शिरोमणि कमेटी का अध्यक्ष चुना गया था। यह अपने आप में एक ऐतिहासिक घटना थी। उन्होंने इस संबंध में उनके वारे में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि स्त्रियों को हरिमंदिर साहब में कीर्तन करने की अनुमति न देना उनके साथ भेदभाव करना है और सिख-धर्म की मर्यादाओं के विपरीत कार्य हैं। अब शिरोमणि कमेटी की सदस्य और मास्टर तारा सिंह की पौत्री बीबी किरण कौर ने घोषणा की है कि वे शीघ्र ही गुरुवाणी कीर्तन में समर्थ महिलाओं का एक जत्था लेकर हरिमंदिर साहब जाएंगी और उनसे कीर्तन करवाएंगी।

लगता है शिरोमणि कमेटी के अध्यक्ष प्रो. कृपाल सिंह बंडूवार इस दृष्टि से व्यापक विचार-विमर्श के पश्चात् ही कोई कदम उठाना चाहते हैं। भाई रणजीत सिंह ने अपने कार्यकाल में कुछ ऐसे हुक्मनामे जारी कर दिए थे जो सर्वमान्य नहीं हुए और पंथ में विभाजन की स्थिति आ गई। अमेरिका और कनाडा में बहुत से गुरुद्वारों में लोग मेज-कुर्सियों पर बैठकर लंगर छकते हैं। वहां की जल वायु और रहन-सहन को देखते हुए वहां लंबे समय से यह चलन स्वीकृत है। भाई रणजीत सिंह ने यह आदेश दे दिया कि लंगर जमीन पर पंगत में बैठकर ही खाया जा सकता है। कनाडा के सिख इस प्रश्न पर दो फाड़ हो गए हैं। कुछ ने इस आदेश का पालन किया है किंतु अधिसंख्य ने

इसको अनुचित वताया है। आज अधिकतर गुरुद्वारों में उदार सिखों का अधिकार है और संगत मेज-कुर्सियों पर ही लंगर छकती है।

नानकशाही कलेंडर भी इसी प्रकार का एक अति संवेदनशील मुद्दा हैं किंतु सिख महिलाओं के कीर्तन और सेवा का अधिकार एक बुनियादी प्रश्न है और सिख आदर्शों से जुड़ा हुआ है। इसमें किसी प्रकार की असहमति की भी अधिक संभावना नहीं है। बीबी जागीर कौर और बीबी किरणजीत कौर जैसी क्रियाशील महिलाएं यदि इस दृष्टि से निरंतर सक्रिय रहेंगी तो शीघ्र ही उन्हें अपने मंतव्य में सफलता प्राप्त हो जाएगी।

(भास्कर, 30-7-01)

कितना अवमूल्यन हो गया है अध्यापन कार्य का

लगभग चार दशक तक अध्ययन करने के पश्चात इस दायित्व से मुक्त होकर कभी-कभी पीछे मुड़कर देखने का मन होता है। मैं जीवन भर विद्या के क्षेत्र में रहा, अगणित-विद्यार्थियों के संपर्क में आया। हर वर्ष नए चेहरे, नई भंगिमाएं और नए उत्साह से भरे हुए युवा चेहरे जब मिलते थे तो सदा ही ऐसा लगता था कि मैं उन्हीं में से एक हूं। संसार का ऐसा शायद ही कोई व्यवसाय हो जो व्यक्ति को इस तरह चिर-युवा होने का निरंतर अहसास देता हो।

यह बात भी कुछ कम तृप्ति नहीं देती कि अचानक आपके सम्मुख कभी सेना अधिकारी, कभी पुलिस अफसर अथवा कभी गले में स्टैथेस्कोप डाले, सफेद कोट पहने कोई डॉक्टर आ जाए और कहे...सर, आपने मुझे पहचाना नहीं...मैं अमुक सन् में... आपका विद्यार्थी था। ऐसी स्थिति में किसी भी अध्यापक को ऐसा लगेगा जैसे उसकी जीवन-भर की संचित पूंजी इस एक चेहरे में आकर इकट्ठा हो गई है।

आज जब सभी प्रकार के जीवन-मूल्यों का बुरी तरह क्षरण हो रहा है, जब सभी प्रकार के आदर्श और नैतिकताएं संदेहों के घेरे में आ गई हैं, मुझे महसूस होता है कि एक अध्यापक का सम्मान, उसका आदर संसार के सभी भागों में बना हुआ है। मुझे एक बात याद आती है। कुछ वर्ष पहले मैं अतिथि-अध्यापक के रूप में जापान के एक विश्वविद्यालय में नियुक्त हुआ था। बीच में मुझे एक दिन के लिए हांगकांग में रुकना था। वहां के हवाई अड्डे पर बाहर निकलने वाले सभी व्यक्तियों के सामान

की जांच-पड़ताल बड़ी सख्ती से हो रही थी। सबके सूटकेस खुलवाए जा रहे थे, जिसके अंदर की चीजों को चीनी कस्टम अधिकारी खूब उलट-पलट कर देख रहे थे।

जब मेरी बारी आई तो मैंने कस्टम-अधिकारी को अपना पासपोर्ट दिया और अपना सूटकेस खोलने लगा। तभी उस अधिकारी ने मुझे रोक दिया और पूछा—आप अध्यापक हैं? मैंने कहा—हां। उसने कहा—आपको अपना सामान चेक कराने की जरूरत नहीं है, आप जाइए।

मेरे पासपोर्ट पर व्यवसाय के सामने लिखा था—अध्यापन। उस अधिकारी ने सोचा होगा—अध्यापक से यह आशा तो नहीं की जानी चाहिए वह तस्करी करता होगा। इसलिए किसी अध्यापक का सूटकेस खुलवाने की क्या आवश्यकता है।

प्रायः मुझसे एक प्रश्न किया जाता है—मैंने अपने जीवन में व्यवसाय के रूप में अध्यापन कार्य को क्यों चुना? यह मेरा अपना चुनाव था या मेरी मजबूरी थी?

यह प्रश्न उभरते ही मैं पीछे की ओर देखता हूं। वर्षों पूर्व एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् मैं अनिर्णय के दौराहे पर खड़ा था। हमारे परिवार में पीढ़ियों से व्यापार ही होता आया था। व्यापारी बनने के लिए बड़ी-बड़ी डिग्रियों का विशेष महत्व नहीं होता इसलिए मैट्रिक की परीक्षा पास करते ही मुझसे यह अपेक्षा की जाने लगी थी कि जल्दी ही मैं अपने पारिवारिक व्यापार संगठन का एक अंग बन जाऊंगा। इसलिए जिस दिन अनिर्णय के दौराहे पर खड़े होकर एक निर्णय की दिशा की ओर टकटकी लगाए हुए मैंने घोषित किया कि मैं पारिवारिक व्यापार संस्थान का अंग नहीं बनूंगा—मैं अध्यापक बनूंगा, उस दिन मेरे परिवार के अधिकतर वरिष्ठ सदस्यों पर आश्चर्य, निराशा, क्षोभ और पता नहीं किन-किन भावों की मिली-जुली प्रतिक्रिया हुई थी।

इस प्रकार मैंने अध्यापन कार्य किसी मजबूरी में नहीं, बल्कि स्वेच्छा से चुना। यह चुनाव मैंने आर्थिक दृष्टि से कहीं अधिक भविष्य संपन्न व्यवसाय को छोड़कर किया था और आज अपने अध्यापन जीवन से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् मुझे उस समय लिए गए निर्णय के प्रति किसी प्रकार का असंतोष नहीं है।

परंतु यह भी सच है कि स्वेच्छा से अध्यापन कार्य में आने वाले व्यक्तियों की संख्या प्रतिदिन घटती जा रही है। हमारी सांस्कृतिक परंपरा में अध्यापक के साथ कुछ मूल्य विशेष रूप से जुड़े हुए हैं। अपेक्षा यह की जाती है कि शिक्षक आदर्शवादी, सादा जीवन और उच्च विचार के सिद्धांत का अनुयायी, अध्ययनशील तथा उदार हृदय आश्रमवासी संन्यासी की भांति हो जो विद्यार्थियों को अपनी संतान समझकर शिक्षा दे, परंतु मूल्यहीनता और मूल्य परिवर्तन के इस युग में ऐसे अध्यापक कहां मिलेंगे? जहां अधिसंख्य अध्यापक अन्य सभी पेशों से ठुकराए हुए तलछट हों और जीवन के अन्य क्षेत्रों में से निराशा और मायूसी के कारण निरुपाय होकर अंतिम सहारे के रूप में अध्यापन के पेशे में आए हों, वहां न तो उनसे परंपरागत आदर्शस्वरूप की अपेक्षा की जा सकती

है और न ही यह अपेक्षा की जा सकती है कि वे अपने संपर्क में आने वाले विद्यार्थियों को उस स्वावलंबन की ओर ले जा सकेंगे जो शिक्षा की सच्ची कसौटी है।

पिछले कुछ समय में अध्यापकीय पेशे का निरंतर अवमूल्यन हुआ है। हमारा देश आर्थिक विकास की उस संक्रमणशील स्थिति में है जहां हर चीज़ का बड़ी तेजी से व्यावसायीकरण हो रहा है। हर कार्य, हर उपजीविका, हर संबंध, यहां तक कि हर मूल्य को आर्थिक लाभ की कसौटी पर कसा जा रहा है। हम पूंजीवादी समाज की उस प्रारंभिक स्थिति में हैं जहां धन सर्वोच्च उपलब्धि बनकर स्वीकृत मूल्यों के सामाजिक और नैतिक प्रभाव को नगण्य और महत्वहीन बना देता है।

ऐसी स्थिति से हमारी शिक्षा और हमारे शिक्षक अप्रभावित कैसे करेंगे? जब सभी ओर बड़ी-बड़ी उद्घोषणाओं के साथ सभी प्रकार के नैतिक मूल्यों का उपहास किया जा रहा हो, जहां दिनों के अंतराल से ही धनाढ्य बन जाने की अफरा-तफरी मची हुई हो वहां इस कथ्य की कितनी संगति रह जाएगी कि शैक्षिक व्यवसाय को व्यापार न बनाया जाए, उसे मिशन के रूप में स्वीकार किया जाए।

अपने देश में समय-समय पर शिक्षाविदों और शिक्षा आयोगों ने अध्यापन के व्यवसाय-स्तर को ऊंचा उठाने की आवश्यकता पर बल दिया है। डॉ. राधाकृष्णन ने कहा था—"अध्यापक का समाज में महत्वपूर्ण स्थान है। वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी बौद्धिक परंपराओं का हस्तांतरण करता है, प्राविधिक कुशलता बनाए रखता है और सभ्यता के दीप को आलोकित करता है। वह केवल व्यक्ति को ही मार्ग नहीं दिखाता बल्कि सारे राष्ट्र का मार्ग निर्देशन करता है।" डॉ. राधाकृष्णन का यह मत अपने ऐतिहासिक संदर्भ में चाहे जितना सत्य हो, आज इस संपूर्ण कथन की प्रासंगिकता संदेहास्पद हो गई है। स्वतंत्र भारत में शिक्षा तथा शिक्षक की ओर जितना ध्यान दिया जाना चाहिए था, वह नहीं दिया गया और जैसा कि मैंने कहा, इस व्यवसाय की गरिमा प्रतिदिन कम होती चली गई और इस स्थिति पर आ गई कि शिक्षण कार्य स्वेच्छापूर्वक स्वीकारे हुए मिशन की अपेक्षा रोजी कमाने की एक मजबूरी या किसी अधिक आकर्षक नौकरी की प्राप्ति की पूर्व तैयारी में बीच का समय बनकर रह गया है।

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को समस्त युगों और समस्त राष्ट्रों के ज्ञान और अनुभव का उत्तराधिकारी बनाकर सभ्यता और संस्कृति को विकसित करना है। हम यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि लोकतंत्रीय जीवन-पद्धति में शिक्षा के अभाव में व्यक्ति एक उत्तरदायी नागरिक के रूप में अपनी प्रभावकारी और सृजनात्मक भूमिका का निर्वाह नहीं कर सकता। पिछले कुछ समय में हमारे देश का जो राजनीतिक चित्र बना है उसने हमारे लोकतंत्रीय ढांचे की व्यापक उपयोगिता पर एक प्रश्नचिह्न लगा दिया है। राजनीतिक नेताओं द्वारा सत्ता प्राप्ति की होड़ में जनता की भलाई के नाम पर नित नए सिद्धांत वाक्यों की रचना की जाती है और निज नई आकर्षक घोषणाएं की जाती हैं। ऐसे भ्रामक वातावरण में

सामान्य नागरिक अपने विवेक द्वारा सही और गलत का निर्णय कर सके, इसके लिए शिक्षा के प्रकाश को उन अंधेरी कुटियों और झोपड़ियों तक भी ले जाना आवश्यक है, जहां आज चुनाव-प्रचार की आवाज़ ही कभी-कभी पहुंचती है। स्वाभाविक है इस बृहत्तर दायित्व में शिक्षक की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। शिक्षा विचार के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया है जो कि बढ़ी हुई व्यक्तिगत कुशलता के माध्यम से इसे अधिक व्यापक सामाजिक मूल्य देती है।

परंतु क्या हमारा आज का सामाजिक परिवेश शिक्षक के इस दायित्व निर्वाह की उचित सुविधा और उचित वातावरण का निर्माण करता है? आज की दुनिया का यह अजीब विरोधाभास है कि एक ओर तो शिक्षा न केवल प्रगति की, बल्कि जीवित रखने की भी अनिवार्य शर्त बन गई है और दूसरी ओर वह समाज की सबसे अधिक उपेक्षित सेवा है।

यहीं मुझे फिर से बिलकुल प्रारंभ में कही गई अपनी बात याद हो आती है। अध्यापक बनना मेरा अपना चुनाव था या मजबूरी थी? मैंने स्वयं इस कार्य को चुना था, अधिक आकर्षक व्यावसायिक प्रलोभनों का मोह छोड़ते हुए, परंतु मेरे बेटे ने मुझसे बहुत पहले ही कह दिया था कि पापा मैं कुछ भी बनूंगा, अध्यापक नहीं बनूंगा। इस पेशे में न धन है, न अधिकार है, न स्पंदित करने वाली चुनौतियां हैं। यदि कुछ है तो केवल राष्ट्र के भावी कर्णधारों के निर्माण का झूठा संतोष है। मैं तो ऐसा काम करूंगा, जिससे बहुत-सा धन कमाया जा सके और जिससे अधिकार और सत्ता की भूख भी तृप्त हो सके।

वर्षों पहले मैंने, एक व्यापारी के पुत्र ने, अध्यापक बनना चाहा था। आज मेरा बेटा, एक अध्यापक का पुत्र, एक सफल व्यापारी बनने की राह पर चल पड़ा था।

(दैनिक जागरण, 30-7-2001)

फूलन देवी सचमुच नायिका बन गई थी

फूलन देवी के लिए जिस प्रकार के विशेषणों का प्रयोग हो रहा है वे इतिहास में अनोखे नहीं हैं। एक समय जिसे लुटेरा, डाकू, धाड़वी आदि शब्दों से याद किया जाता है, उसे इतिहास बाद में पराक्रमी, राजा, बादशाह, निर्धनों का हित रक्षक कहकर स्मरण करता है। वे अपने समय में ही 'मिथ' बन जाते हैं और मृत्यु के बाद उनकी अद्‌भुत कहानियां लोकगीतों का हिस्सा बन जाती है जिन्हें लोग बड़ी तन्मयता से गाते हैं और लोग बड़े चाव तथा एकाग्रता से सुनते हैं। मुझे अपने बचपन की याद है। उस समय बिजनौर के सुलताना डाकू की बड़ी चर्चा होती थी। उसके कारनामे गाकर सुनाए जाते थे और हम लोग इस प्रकार सुनते थे जैसे इतिहास के किसी महानायक की कथा सुन रहे हों।

हाल के इतिहास में ही पंजाब का एक डाकू बड़ी प्रसिद्धि पाकर लोकगीतों का नायक बन गया था। उसे जग्गा डाकू कहकर याद किया जाता है। जग्गा डाकू पर बने लोकगीत वर्षों तक लोगों की जबान पर रहे। कुछ दशक पहले चम्बल का डाकू मानसिंह भी ऐसी प्रसिद्धि प्राप्त कर गया था जैसी बड़े-बड़े नेताओं और अभिनेताओं को भी प्राप्त नहीं होती। फूलन देवी इस शृंखला की अति महत्वपूर्ण कड़ी इसलिए है, क्योंकि उसकी हत्या के बाद जैसी देशव्यापी हलचल हुई है, उसे राजनीतिक रंग मिला है, उसका प्रशस्ति गायन हुआ है वैसा शायद अन्य किसी दस्यु-नायक के हिस्से में नहीं आया।

फूलन के साथ मेरा एक व्यक्तिगत अनुभव भी जुड़ा हुआ है। मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र के कुछ नगरों में वार्षिकी व्याख्यानमालाओं की एक परंपरा है। ऐसी व्याख्यानमालाएं कई-कई दिन चलती हैं और प्रत्येक दिन किसी नए विषय पर किसी अधिकारी विद्वान का भाषण होता है। इन व्याख्यानमालाओं में श्रोताओं की संख्या सैकड़ों में होती है।

कई वर्ष पहले बुरहानपुर की एक संस्था ने मुझे वहां आयोजित व्याख्यानमाला

में बोलने के लिए आमंत्रित किया। व्याख्यान का विषय था भारतीय समाज का बहुलतावादी चरित्र। इंदौर तक की यात्रा हवाई मार्ग से हो गई। व्याख्यानमाला के प्रबंधकों ने इंदौर से बुरहानपुर तक की यात्रा सड़कमार्ग से करने की व्यवस्था कर रखी थी। यह यात्रा रात्रि को होनी थी, जिसके लिए एक वैन की व्यवस्था की गई थी। जब मैं यात्रा के लिए वैन के पास पहुंचा तो मुझे बताया गया कि इसी वाहन से फूलन देवी और उनके पति उमैद सिंह भी बुरहानपुर जा रहे हैं। व्याख्यानमाला के आयोजकों ने उन्हें भी आमंत्रित किया है।

उस समय मुझे थोड़ा आश्चर्य हुआ था। मेरे मन में आया था कि भला फूलन भारतीय समाज के बहुलतावादी चरित्र जैसे विषय पर क्या बोलेगी। उस समय तक फूलन इतना अधिक चर्चा में आ चुकी थी कि उसकी पृष्ठभूमि के विषय में अधिसंख्य लोग जानते थे। गरीब और दलित परिवार की जो लड़की बड़ी छोटी आयु से ही सामाजिक उत्पीड़न का शिकार हो गई हो उसकी शिक्षा-दीक्षा का तो प्रश्न ही नहीं उठता, उसे तो अक्षर ज्ञान भी नहीं मिला होगा।

लगभग पूरी रात्रि की यात्रा थी। मैं अगली सीट पर बैठा हुआ था। फूलन और उमैद सिंह पिछली सीट पर थे। बुरहानपुर से मुझे लेने आए सज्जन ने मेरा उनसे परिचय करवाया। मैं फूलन के नाम और उसके कारनामों से परिचित था और यह आशा नहीं करता था कि उसने मेरा नाम सुना होगा। रात भर की यात्रा में हमारी आपस में कोई बात नहीं हुई, सिवाए इसके कि बीच-बीच में फूलन अपने पति उमैद सिंह को जो झाड़ लगाती थी, उसके शब्द मेरे कानों में पड़ते थे।

किंतु बुरहानपुर का परिदृश्य मेरे लिए बहुत अप्रत्याशित था। इससे पहले मैं इंदौर, जालना आदि में आयोजित होने वाली अनेक व्याख्यानमालाओं में प्रमुख वक्ता के रूप में जा चुका था। हर स्थान पर मेरा अत्यंत विशिष्ट अतिथि के रूप में स्वागत होता रहा था। बुरहानपुर में भी ऐसा ही होगा, इसमें किसी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं थी। वहां वे व्याख्यान के लिए मेरा नाम ही प्रचारित किया गया था। निमंत्रण पत्रों पर भी मेरा नाम ही छापा गया था, किंतु वहां पहुंचकर मैंने देखा कि यह नगर तो पूरा 'फूलनमय' हो चुका है। जिस होटल में हम ठहराए गए वहां हजारों लोगों की भीड़ केवल फूलन की एक झलक पाने के लिए सड़क पर खड़ी थी। कोई नहीं जानता था कि इस होटल में महीप सिंह नाम का कोई लेखक/वक्ता भी ठहरा हुआ है। फूलन को सजने-संवरने में कुछ समय लग रहा था। सड़क पर भीड़ खूब शोर कर रही थी। पुलिस बार-बार आयोजकों से निवेदन कर रही थी कि जल्दी ही फूलनदेवी को होटल की बालकनी पर लाकर जनता को उसके 'दर्शन' कराए जाएं, नहीं तो भीड़ बेकाबू हो जाएगी।

आखिर सज-धजकर फूलन देवी बाहर आई। बालकनी से उसने उमड़े हुए जन समुदाय का हाथ हिलाकर अभिवादन स्वीकार किया। भीड़ शोर कर रही थी और तालियां बजा रही थीं। फूलन अपनी गर्वीली मुस्कुराहट सभी पर फेंक रही थी। कैमरामैन धड़ाधड़ उसके चित्र खींच रहे थे। भीड़ में से कुछ लोग उससे कुछ शब्द बोलने का आग्रह कर

रहे थे। शायद वह कुछ शब्द बोली भी थी। शायद उसने इतने भव्य स्वागत के लिए उनका धन्यवाद किया था। बहुत से पत्रकार होटल में आ गए थे जो उससे अनेक प्रश्न पूछ रहे थे, जिनका वह बड़ी शांति और संयम से उत्तर दे रही थी। वह किसी राजनेत्री अथवा अभिनेत्री से किसी प्रकार कम नहीं लग रही थी। लोग उसे एक वीरांगना के रूप में देख रहे थे। उस समय उसकी छवि दुर्गावती, लक्ष्मीबाई अथवा जॉन आफ आर्क से कम नहीं थी।

उस समय तक फूलन की न तो जीवनी प्रकाशित हुई थी, न उसके कारनामों पर बनी बहुचर्चित फिल्म 'बैंडिट क्वीन' अस्तित्व में आई थी, न अभी तक मुलायम सिंह यादव की कृपा दृष्टि उस पर पड़ी थी, न वह संसद सदस्य बनी थी। इस सबसे पहले ही वह नायिका ही नहीं महानायिका बन चुकी थी।

वर्षों पहले बुरहानपुर में जो कुछ हुआ था मैं उसका चश्मदीद गवाह हूं। शाम के व्याख्यान में उस दिन, आमतौर पर आने वाले श्रोताओं की अपेक्षा कहीं ज्यादा भीड़ थी। मंच पर मैं भी और फूलन भी। आयोजकों की स्थिति भी विचित्र हो गई थी। भीड़ फूलन को देखना और सुनना चाहती थी और घोषित विषय का मुख्य वक्ता मंच पर इस तरह बैठा हुआ था जैसे किसी महान नेता अथवा नेत्री का कोई पिछलगुवा है। मैं अपने विषय पर बोला तो जरूर किंतु उस भीड़ में मेरी बात को सुनने के इच्छुक कुछ चेहरे ही मुझे दिखाई दिए। आम लोगों के लिए यह आयोजन फूलन देवी के निमित्त रखा गया आयोजन था। 'भारतीय समाज का बहुलतावादी चरित्र' जैसा विषय और महीप सिंह जैसे वक्ता तो रोज आते-जाते रहते हैं, लेकिन फूलन जैसी देवियों के तो नित्य दर्शन नहीं होते।

एक बात तो मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं। उस स्थिति को देखकर मैं उस समयन व्यथित हुआ था न दुःखी हुआ था। यह मेरे जीवन का एक अनोखा अनुभव था। मैं इस अनुभव का भरपूर स्वाद ले रहा था। अंदर ही अंदर हंसता हुआ मैं सोच रहा था कि हमारे समाज का मानस कैसा है। पढ़ना, लिखना, लेखक होना, अच्छा वक्ता होना, जीवन के गंभीर प्रश्नों पर विचार कराना, ये सब अच्छी बातें हैं। कुछ लोग गर्दन हिलाते, मुस्कुराते और शुभाकांक्षी मुद्रा बनाते इन गुणों की कुछ प्रशंसा भी करेंगे। आम जनता का मन विद्वान नहीं, नायक आंदोलित करते हैं—वह नायक चाहे खलनायक ही क्यों न हो। हमारी फिल्मों का नायक अपनी शालीनता, कर्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी अथवा आदर्शवादिता के कारण बमुश्किल नायक बनता है, किंतु बीस-बीस सशस्त्र विरोधियों को जब हमारा निहत्था नायक पीट-पीटकर जब बेदम कर देता है और जमीन पर गिरे उनके शरीरों को रौंदता हुआ आगे बढ़ता है तो दर्शकों की तालियों से सिनेमा हॉल गूंज उठता है। ऐसा हीरो दर्शकों द्वारा सुपर हीरो बना दिया जाता है। यही वह मानसिकता है जिसने बेहमई में बीस निहत्थे लोगों को गोलियों से भून देने वाली फूलन को केवल फूलन देवी ही नहीं बनाया था, उसे महानायिका के रूप में देखने लगा था। उसे उसने उसकी जिंदगी में ही एक मिथ बना दिया था और जीवन से भी बड़ा उसका कद निर्मित कर दिया

था।

किंतु यह मध्ययुगीन सामंतवादी मूल्यों से ग्रसित मानसिकता है। यह मानसिकता राम और रावण में, कृष्ण और कंस में, अर्जुन और दुर्योधन में अधिक अंतर नहीं करती। साठ लाख यहूदियों को गैस चेंबरों में डालकर उनकी हत्या करवाने वाले हिटलर को भी महानायक मानने वालों की कमी नहीं है। एक सामंत डाकू का जितना सम्मान करता है, किसी साधु पुरुष का नहीं। शौर्य, पराक्रम, विजय, शत्रु विनाश आदि मनोभावों की अन्धी पूजा सामंतीय समाज के गुण हैं आधुनिक लोकतंत्रीय समाज के नहीं।

फूलन देवी की हत्या के बाद जिस ढंग से उसके व्यक्तित्व को उभारा जा रहा है। उसे देखकर चिंता होती है। पचास-पचपन वर्ष में इस देश की राजनीति में जितने अपराधी तत्व उभरे हैं उन्होंने इस देश में पनप रही लोकतांत्रिक परंपराओं के सम्मुख अनेक प्रश्न चिह्न खड़े कर दिए हैं। जेलों में बंद और अपने आपराधिक कार्यों के कारण सजा भुगत रहे लोग बड़े धड़ाके से चुनाव लड़ते हैं और उसमें सफलता प्राप्त करते हैं। उनमें जो अधिक धाकड़ हैं वे मंत्री पद भी प्राप्त कर लेते हैं। एक दिन मैंने दूरदर्शन पर विहार के एक नामी अपराधी को किसी पत्रकार से यह कहते सुना कि मुझ पर जितने आपराधिक मामले हैं मैं उनकी चिंता नहीं करता। जिस दिन चुनाव जीतकर मैं संसद अथवा विधानसभा का सदस्य बनूंगा, उसी दिन सभी ऐसे मामले किसी ठंडे बस्ते में चले जाएंगे।

एक दलित-पीड़ित महिला का अपने सम्मान और अधिकार के लिए लड़ना एक बात है, किंतु बदले की भावना से प्रेरित होकर बीस-बीस अबोध नागरिकों की हत्या कर देना, एकदम दूसरी वात है। ऐसे किसी भी अपराध को महिमा मंडित करना, उसे राजकीय गरिमा देना, उसे नायकत्व प्रदान करना किसी भी समाज में बड़ी अस्वस्थ परंपराओं को विकसित होने की दिशा में काम तो करेगा ही किसी भी देश में स्वस्थ लोकतांत्रिक पद्धतियों के विकास में गंभीर नकारात्मक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देना होगा। फूलन देवी के माध्यम से कहीं हम ऐसी अस्वस्थ प्रवृत्तियों को ही तो नहीं प्रोत्साहित कर रहे हैं?

(दैनिक जागरण, 2-8-2001)

यह प्रतिबंधित क्षेत्र है

वह पीढ़ी चली गई है या अब धीरे-धीरे जा रही है जिसने इस देश में अंग्रेजी राज के दिन देखे थे। उस समय हिंदुस्तानियों के लिए बहुत से क्षेत्र प्रतिबंधित होते थे। गोरे साहब काले हिंदुस्तानियों के साथ क्लब में बैठना और खाना-पीना तो दूर उनके साथ ट्रेन में सफर करना भी पसंद नहीं करते थे। कहीं-कहीं ऐसे बोर्ड भी मिल जाते थे, जहां लिखा होता था कि यहां कुत्तों और हिंदुस्तानियों का प्रवेश निषिद्ध है। दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधी को ऐसा अपमान कई बार झेलना पड़ा। ट्रेन में ऊंचे दर्जे में सफर करते समय कई बार गोरे साहबों ने उनका सामान उठाकर प्लेटफार्म पर फेंक दिया था। रेलवे प्लेटफार्मों पर रखी हुई कुछ बेंचों पर स्पष्ट लिखा रहता था—केवल श्वेत लोगों के लिए आरक्षित। ऐसी बेंचों पर काले या भूरे लोग नहीं बैठ सकते थे।

यह तो था रंगभेद। जातिभेद और धर्मभेद भी कम विषम नहीं है। ऐसी विषमता में तो हमारा समाज सिरमौर रहा है। मुझे अपने छात्र जीवन की कुछ बातें याद हैं। हमारे कॉलेज के बाहर खपरैल की छत वाली एक चाय की दुकान थी। मैं और मेरे मित्र वहां बैठकर चाय पीते थे। चायवाला हमें शीशे के गिलासों में चाय देता था। वहां जब कभी कोई ऐसा ग्राहक आ जाता, जिसे देखकर उसे लगता कि यह दलित वर्ग का है, तो उसे वह मिट्टी के हुंडे में चाय देता, इस बात की सावधानी रखते हुए कि कहीं उसका हाथ उसके हाथ से छू न जाए। उस समय स्थिति और विषम हो जाती जब वहां कोई मुसलमान सा दिखने वाला ग्राहक आ जाता था। दुकानदार का बड़ा कोरा उत्तर होता था—"आपको चाय देने के लिए मेरे पास कोई बर्तन नहीं है।"

इस बात को भी अभी लंबा समय नहीं बीता है जब हमारे रेलवे स्टेशन पर पानी पिलाने वाले कर्मचारी हाथों में बाल्टी लिए आवाज लगाते घूमते थे—हिंदू पानी...मुसलमान पानी, स्टेशनों पर पूरी-सब्जी बेचने वाले हिंदुओं के पास पीतल के बर्तन होते थे और

रोटी-सब्जी बेचने वाले मुसलमानों के पास सिल्वर के बर्तन होते थे। प्लेटफार्म पर हिंदू चायवाले की दुकान पर एक लंबी चोटी वाले हिंदू का चित्र बना होता था और मुसलमान चायवाले की दुकान पर तुर्की टोपी और बकरा, दाढ़ी वाले मुसलमान की तस्वीर बनी होती थी। आज़ादी के अनेक वर्षों बाद भी यह स्थिति बनी रही थी।

ऐसा भेदभाव, ऐसा छुआछूत हमारी मानसिकता का अंग है। यह मानसिकता इस बात पर आधारित है कि मैं, मेरा वर्ग, मेरी जाति, मेरा वंश किसी अन्य से श्रेष्ठ है, उच्च है, पवित्र है, सम्मानित है। ऐसी मानसिकता प्रायः रूढ़ि बन जाती है और हमारे प्रतिदिन के व्यवहार का एक अभिन्न अंग हो जाती है। हमारे घरों में सफाई करने वाली कोई स्त्री (या पुरुष) आती है। हम बड़े सद्भाव से, कृपापूर्वक उसे एक प्याला चाय पिलाते हैं, किंतु इस बात का ध्यान रखते हैं कि उसका टूटा-फूटा प्याला अलग रखा हो। अपने सुच्चे बर्तन से हम उसके तिरस्कृत प्याले में चाय उड़ेल देते हैं और गहरे संतोष की तृप्ति पाते हैं।

किंतु देखते-देखते समय बदल गया। पश्चिमी संसार से लोकतंत्र की ऐसी लहर आई कि उसने समुद्र में से केवल मोती ही नहीं निकाले उन सीपियों, मूंगों को भी बाहर निकाल कर समकक्ष खड़ा कर दिया, जिनका समाज ने कभी मूल्य नहीं आंका था। दक्षिणी अफ्रीका में जिन अश्वेतों को इसलिए बुरी तरह पीटा जाता था कि वे उन सड़कों पर चलने की धृष्टता करते थे जो केवल श्वेतों के प्रयोग के लिए बनाई गई थी, आज उसी देश का राष्ट्रपति एक अश्वेत है और सारी गोराशाही उसके नीचे काम करती है।

अपने देश में भी पिछली आधी सदी में कितने बड़े सामाजिक परिवर्तन के मील-पत्थर गाड़ दिए गए हैं। अब वर्ण, जाति, धर्म अथवा सामाजिक स्थिति के आधार पर भेदभाव करना दंडनीय अपराध हो गया है। अब कोई दुकानदार किसी ग्राहक को चाय देने से इसलिए मना नहीं कर सकता कि तुझे देने के लिए मेरे पास बर्तन नहीं है। अब न तो रेलवे स्टेशनों पर हिंदू और मुसलमान चाय वाली दुकानें दिखाई देती हैं, न हिंदू पानी और मुसलमान पानी की आवाजें सुनाई देती हैं।

किंतु कानून द्वारा लाया गया परिवर्तन हमारी मानसिकता में भी परिवर्तन ले आए ऐसा आवश्यक नहीं है। अभी भी ऐसी घटनाएं घटती हैं जब एक पढ़ा-लिखा संभ्रान्त अफसर उस कुर्सी को गंगाजल छिड़क कर पवित्र करता है जिस कुर्सी पर उसके आने से पहले कोई दलित वर्ग का अधिकारी बैठा रहा हो। अभी भी ऐसे छात्रावास हैं जिनमें दलित छात्र अलग मेजों पर बैठकर भोजन करते हैं और सवर्ण छात्र दूसरी मेजों पर। ऐसे घर तो असंख्य हैं जिनमें दलित वर्ग के सफाई कर्मचारी का चाय का प्याला अलग रखा होता है।

इस दृष्टि से सबसे अधिक चौंकाने वाली घटना अभी दिल्ली में हुई। इस नगर में पिछले वर्षों में कुछ बड़े संभ्रान्त केंद्र (एलीट सेंटर) उभर आए हैं—इंडिया इंटरनेशनल सेंटर, इंडिया हैबिटेट सेंटर, जीमखाना क्लब, चेम्सफोर्ड क्लब जैसी संस्थाओं की सदस्यता अब आकाश कुसुमवत हो गई है। वैसे दिल्ली में इस समय किसी भी बड़े क्लब की

सदस्यता पाने के लिए लोग लाखों रुपए खर्च करने को तैयार रहते हैं। इंडिया हैबिटेट सेंटर भी ऐसी ही एक जगह है जहां की सदस्यता इस समय असंभव नहीं तो बहुत-बहुत कठिन अवश्य है।

ये सभी सेंटर और क्लब संभ्रान्त लोगों के, संभ्रान्त लोगों द्वारा और संभ्रान्त लोगों के लिए होते हैं। सामान्य जन की समाई यहां नहीं होती।

कुछ दिन पूर्व इंडिया हैबिटेट सेंटर के जलपान गृह में एक परिवार (निश्चित ही) संभ्रान्त परिवार भोजन के लिए पहुंचा। किंतु जलपान गृह के प्रबंधकों ने उसे भोजन देने से इनकार कर दिया। परिवार का दोष यह था कि उसने अपने साथ, अपनी ही मेज पर, अपनी नौकरानी को भी बैठाया हुआ था। जलपान गृह के प्रबंधकों का कहना था–यह इंडिया हैबिटेट सेंटर जैसी दिल्ली की अत्यंत संभ्रान्त संस्था है। दिल्ली की उच्चकोटि की 'क्रीम' इसकी सदस्य है। इस जलपान गृह में केवल 'क्रीम' ही खाने-पीने के लिए आती है और केवल उसे ही खाना दिया जाता है। यहां 'क्रीम' के साथ 'छाछ' को बैठने की इजाज़त नहीं दी जा सकती।

जो परिवार वहां भोजन के लिए आया था वह निश्चित ही बहुत प्रगतिशील और उदार विचारों का परिवार होगा जो अपने साथ ही, अपनी मेज पर अपने घर की नौकरानी को बैठाए हुए था। सामान्यतः ऐसा होता नहीं। नौकरों, ड्राइवरों, सामान्य स्तर के कर्मचारियों को मालिक लोग, अपने से दूर दूसरी मेज पर बैठा देते हैं अथवा उन्हें कुछ पैसे देकर कह देते हैं कि जाओ, कहीं से कुछ खा-पी आओ।

उस परिवार के मुखिया ने आग्रह किया कि यह औरत हमारी नौकरानी अवश्य है, लेकिन यह हमारे साथ आई है, हमारे परिवार की सदस्य जैसी है। यह हमारे साथ बैठकर भोजन क्यों नहीं कर सकती? जब हमें कोई आपत्ति नहीं तो आपको क्यों है?

किंतु उस संभ्रान्त सेंटर के संभ्रान्त जलपान गृह के संभ्रान्त प्रबंधक टस से मस नहीं हुए। परिणाम यह हुआ कि वह परिवार विना कुछ खाए-पिए वहां से वापस आ गया।

क्या यह भेदभाव का एक घिनौना उदाहरण नहीं है? क्या यह एक कानूनी अपराध नहीं है? क्या उस जलपान गृह के प्रबंधक दंड के भागी नहीं हैं?

मैंने प्रारंभ में कहा है कि वात कानून की नहीं मानसिकता की है। हमारी मानसिकता कहीं छुआछूत की रूढ़िग्रस्तता से घिरी हुई है जो हमें अपने घरों में मेहतरानी के लिए अलग प्याला रखने को बाध्य करती है, तो कहीं हम गोरे साहबों की उस विरासत को अपने कंधों पर ढो रहे हैं जो किसी भी काले रंग के व्यक्ति को हीन मानती है और उसे अपने साथ बैठने के योग्य नहीं समझती।

लोकतंत्र मानता है कि संसार के सभी मनुष्य जन्म से ही समान होते हैं–उनका वर्ण, रंग, लिंग, नस्ल, जाति कुछ भी हो। रूढिग्रस्त सामंतीय और औपनिवेशिक दृष्टि कहती है कि जन्म से ही मनुष्य असमान होता है। यह असमानता प्रकृति-प्रदत्त है। इसे कोई मिटा नहीं सकता। इंडिया हैबिटेट सेंटर में उस परिवार के साथ कोई नौकरानी

अपने रंग-रूप और वेश-भूषा से उस परिवार के अन्य सदस्यों जैसी नहीं लगती होगी।

इस मानसिकता में व्यक्ति का पद, उसकी आर्थिक स्थिति, उसकी राजनीतिक महत्ता कितनी बड़ी भूमिका निभाती है, यह भी हमारे सामने है। मेरे एक मित्र आज भी बहुत छुआछूत मानते हैं और किसी दलित के साथ भोजन करने में बहुत गुरेज करते हैं। एक बार केंद्र सरकार के एक दलित मंत्री के निवास स्थान पर हम निमंत्रित थे। मंत्री महोदय ने अपनी कोठी पर खाने-पीने का बहुत अच्छा प्रबंध कर रखा था। मेरे मित्र बहुत धर्म-संकट में थे। वे पूड़ी नहीं, केवल मिठाई खा रहे थे। पानी नहीं, केवल कोल्ड ड्रिंक पी रहे थे और मन ही मन बहुत कोस रहे थे—अपने आपको या उन मंत्री महोदय को।

आज भी कुछ सार्वजनिक स्थानों पर लिखा होता है—'राईट ऑफ एडमीशन रिजवर्ड' (प्रवेश का अधिकार आरक्षित है) इसका अर्थ यह है कि इस स्थान पर हम जिसे चाहेंगे केवल वही आएगा। यह कथन भी भारतीय संविधान की मान्यताओं के बिल्कुल विपरीत है। अपने निजी घर में कोई यह अधिकार अपने पास सुरक्षित रखे, यह बात हो सकती है, किंतु किसी भी सार्वजनिक स्थान पर इस प्रकार का भेदभाव नहीं किया जा सकता।

कानून समाज की मानसिकता बदलने में अवश्य सहायता करता है किंतु सही बदलाव तब आता है जब समाज का जागरूक वर्ग उसके लिए बोलता है, लिखता है और निरंतर संघर्षशील रहता है।

इस समय सामाजिक भेदभाव तथा श्रेष्ठता एवं हीनता की अनेक नई स्थितियां उभर रही हैं। दिल्ली में तो इस बात का भी बहुत महत्व है कि आप नगर के किस भाग में रहते हैं। दक्षिण दिल्ली में रहने वाले लोग अपने आपको पूर्वी या पश्चिमी दिल्ली के रहने वालों से श्रेष्ठ मानते हैं। दक्षिणी दिल्ली में ही ग्रेटर कैलाश और वसंत विहार में रहने वाले महरौली और बदरपुर में रहने को निम्न स्तर का समझते हैं। ऐसे परिवार, जिनके बच्चे अंग्रेजी माध्यम वाले पब्लिक स्कूलों में पढ़ते हैं, उन परिवारों को नीची नज़र से देखते हैं जिनके बच्चे सरकारी स्कूलों में पढ़ते हैं। पहले वर्ण और जाति के आधार पर श्रेष्ठता स्थापित होती थी, अब उसका पैमाना आर्थिक संपन्नता और विपन्नता है।

ऐसी मानसिकता वाले समाज में इंडिया हैबीटेट सेंटर जैसी घटना अधिक आश्चर्य उत्पन्न नहीं करती है।

(दैनिक जागरण, 12-5-02)

इक्कीसवीं सदी की मानसिकता

नारी की स्थिति हमारी संपूर्ण परंपरा में अनेक विरोधाभासों से भरी रही है। एक ओर मनुस्मृति कहती है कि जहां नारी की पूजा होती है, वहां देवताओं का निवास रहता है। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।' वहीं यह स्मृति यह भी कह देती है कि पत्नी का कर्तव्य है कि पति की पूजा करे। यदि वह दुश्चरित्र और गुणहीन है, तब भी वह उसे देवता की तरह समझे। इसकी पुष्टि अन्य स्मृतियां भी करती हैं। इस देश में भी नहीं लगभग संपूर्ण संसार की विविध समाज-पद्धतियों में पुरुष का सदैव प्राधान्य रहा है। स्त्रियों की स्थिति तो सदैव पुरुषों द्वारा निर्धारित होती रही है। ब्रिटेन में भी जिसे आधुनिक लोकतंत्र का जन्मदाता माना जाता है, स्त्रियों को चुनाव में मत देने का अधिकार सन् 1920 के बाद ही प्राप्त हुआ। धर्म, कला, संस्कृति जैसे क्षेत्रों में भी उनकी प्रगति को कभी अधिक प्रोत्साहित नहीं किया गया। भारतीय समाज में यह स्थिति निरन्तर विषम होती गई और यहां तक हुआ कि स्त्री को सभी बुराइयों की जड़ मान लिया गया। कबीर जैसा विद्रोह और प्रगतिशील संत भी स्त्री के प्रति उदार भाव ग्रहण नहीं कर सका। संत कबीर ने भी स्त्री को सभी बुराइयों की जड़ और पाप की खान कहकर संबोधित किया है?

हमारे भक्ति साहित्य में ब्रह्म और माया की परिकल्पना में ब्रह्म अथवा ईश्वर की प्राप्ति में माया को सबसे बड़ी बाधा माना गया और हर संत-भक्त ने साधक को माया से सावधान रहने, उसके प्रपंच से बचने और उसके मोहपाश से मुक्त होने की बात कही है। इस स्थिति की सबसे बड़ी व्रिदुपता यह है कि इन भक्तों ने 'माया' और 'नारी' को एक ही सिक्के के दो पहलू मान लिया और माया की सारी बुराइयों को नारी में देखना शुरू कर दिया। इसलिए यह माया के समान ही निंदनीय हो गई। मध्य युग

के घोर नारी-निंदा परक वातावरण में गुरु नानक का स्वर बिल्कुल भिन्न होकर उभरा। उन्होंने अपनी एक रचना में कहा–"हम सभी स्त्री से ही जन्म लेते हैं।"

स्त्री के उदर में प्राणी का शरीर निर्मित होता है। स्त्री से ही सगाई और विवाह होता है। उसी के माध्यम से अन्य लोगों से हमारा संबंध बनता है। उसी के माध्यम से सांसारिक मार्गों के द्वार खुलते हैं। जब एक स्त्री मर जाती है तो पुरुष दूसरी स्त्री ढूंढता है। इसी से उसके सभी संबंध बनते हैं। ऐसी स्त्री को बुरा क्यों कहा जाए जो बड़े-बड़े राजाओं को जन्म देती है। संसार का कोई भी प्राणी स्त्री के बिना जन्म नहीं लेता। यह वस्तु स्थिति है। स्त्री के अभाव में सृष्टि के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। एक रूपक का हमारे भक्ति साहित्य से प्रचुर प्रयोग हुआ है। ईश्वर को पुरुष और जीव अथवा साधक को नारी के रूप में देखने का। इस रूपक में नारी समर्पित तो है, किंतु वह निंदनीय नहीं है। उसे हीन मानना, भोग्या मानना, एक वस्तु मात्र मानकर उसके मनचाहे प्रयोग की ध्वनि कहीं व्यक्त नहीं होती। सिख परंपरा में नारी दासी नहीं सहचरी समझी गई। गुरु नानक की पत्नी माता सुलक्खिनी हो, गुरु आनंद की पत्नी माता खीवी हो अथवा गुरु अमर दास की पुत्री और गुरु राम दास की पत्नी-बीबी भानी हो, सभी अपने दायित्वों का निर्वाह अपने पुरुषों के साथ समान भाव भूमि पर करती हैं। माता खीवी का गुरु के दर्शन करने और उनका उपदेश सुनने के लिए आने वाले श्रद्धालुओं के लिए भोजन की व्यवस्था पर इतना अधिक ध्यान रहता था कि लोग उसे 'माता खीवी जी का लंगर' कहकर पुकारते थे। गुरु ग्रंथ साहिब में सम्मिलित बलवंड और सत्ते की वार में माता खीवी की सेवा की चर्चा है।

सती प्रथा इस देश में कब और किन परिस्थितियों में प्रारंभ हुई, इस पर विद्वानों के विभिन्न मत हैं, किंतु इतना निश्चित है कि ऋग्वेद में इसका उल्लेख नहीं है। जब इस देश पर विदेशी आक्रमण आरंभ हुए तो धन-संपत्ति के साथ ही स्त्रियों की लूट भी होने लगी। नारी-हरण के अपमान और लज्जा से बचने के लिए कई प्रथाएं प्रचलित हो गईं। सती और बाल विवाह की प्रथाओं के सूत्र इस मानसिकता में ढूंढे जा सकते हैं। धीरे-धीरे इन प्रथाओं को धर्म की स्वीकृति भी मिलने लगी और सामान्य व्यक्ति इन्हें अपनी आस्था के साथ जोड़ने लगा।

इस देश में सती प्रथा पर प्रतिबंध लगाने का श्रेय उन्नीसवीं सदी में लार्ड विलियम बेंटिंक को दिया जाता है। राजा राम मोहन राय और ईश्वर चंद्र विद्यासागर जैसे समाज सुधारकों ने, विशेष रूप से बंगाल जैसे प्रदेश में इन कुप्रथाओं के विरोध में जनमत बनाने की दिशा में बहुत सार्थक आंदोलन चलाया था, जहां विधवाओं को पति की चिता में हाथ पांव बांधकर डाल दिया जाता था और उनका करुण-क्रन्दन ढोल की आवाज में डुबो दिया जाता था, किन्तु पंजाब में गुरु अमर दास ने सोलहवीं सदी में ही इस प्रथा का पूरी तरह निषेध करते हुए लिखा था–"सती उन्हें नहीं कहना चाहिए जो अपने पति के साथ चिता में बैठकर जल जाती हैं। वास्तविका सती तो वह है जो अपने पति

के वियोग की चोट सहती है।'' अपनी एक अन्य रचना में गुरु अमरदास ने कहा था–''जो स्त्रियां शील और संतोष के साथ जीवित रहती हैं, उन्हें ही अर्धवान सती मानना चाहिए।''

गुरु अर्जुन देव ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा–''जो स्त्रियां अपने पति की चिता पर चढ़कर जल मरती हैं उन्हें उनका पति प्राप्त नहीं होता। पति का साथ तो उतना ही मिलता है जितना प्रारब्ध में होता है। जो स्त्रियां अन्य स्त्रियों को सती होता देखकर स्वयं जल मरती हैं उन्हें पति का संग तो मिलता नहीं उल्टे इस कर्म के कारण विभिन्न योनियों में भटकना पड़ता है।''

जन्म लेते ही लड़कियों को मार डालने की कुप्रथा भी सदियों से इस देश में प्रचलित रही है। कुछ अंशों में आज भी यह प्रवृत्ति कुछ समाजों में है। इस देश में मध्य एशिया से अनेक जातियां आती रही हैं और कालांतर में विशाल भारतीय समाज का अंग बनती रहीं। कुशान, हूणा, शक, आभीर, जाट, गुर्जर आदि कितनी ही नस्लें इस भूमि पर आईं। उन्होंने इस देश में प्रचलित धर्म-विश्वासों और विचारों को अपना लिया। इन जातियों की कुछ अपनी आदिम प्रवृतियाँ भी थीं। कन्या की हत्या भी उनमें से एक थी, जिसका प्रचलन समाज के विभिन्न अंगों में भी होने लगा। लड़कियों को लेकर समाज में कुछ ऐसी धारणाएं विकसित होती चली गईं जिन्होंने उनकी स्थिति को निरंतर उपेक्षा के घेरे में रखा। लड़की बोझ होती है, पराया धन होती है, बड़े-बड़े राजाओं के सिरों को भी झुकने के लिए मजबूर कर देती है, उसके कारण वंश को कलंक लग जाने का भय सदा बना रहता है–ऐसी कितनी ही धारणाएं इस समाज में सदियों से व्याप्त हैं। परिणामस्वरूप उनका जन्म परिवार में खुशी का कारण न बनकर उदासी का माध्यम बन जाता है।

इन्हीं सब कारणों से कन्या के जन्म लेते ही उससे छुटकारा पाने के विविध उपाय समाज के अनेक वर्गों में अपनाए जाते रहे हैं। अब विज्ञान ने यह भी सुलभ कर दिया है कि जन्म से पूर्व ही गर्भस्थ शिशु के लिंग की जानकारी उपलब्ध हो जाती है। इसलिए कन्या के भ्रूण हत्या का प्रचलन खूब बढ़ गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि पुरुष और स्त्री की जनसंख्या का अनुपात सारे देश में ही बिगड़ता जा रहा है। गुरुओं ने कन्याओं की हत्या को पूरी तरह निषिद्ध घोषित किया। इस परंपरा में 'रहतनामो' का बहुत महत्व है।' 'रहतनामा' एक प्रकार की नियमावली अथवा संहिता है जो यह बताता है कि व्यक्ति को किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहिए। ये 'राहतनामे' गुरु गोबिंद सिंह के समय और उनके पश्चात् अठारहवीं सदी में श्रद्धालु सिखों द्वारा निरंतर लिखे जाते रहे। लगभग सभी राहतनामों में यह आदेश दिए गए कि 'कुड़ीमार' (कन्या का हत्यारा) और नड़ी मार' (हुक्का पीने वाला) से किसी प्रकार का संबंध न रखा जाए। इनसे संबंध रखना धर्म-विरोधी कार्य घोषित किया गया है और इसे वज्र बुराई (कुरहत) माना गया।

इकीसवीं सदी में भी, सभी प्रकार की वैज्ञानिक उपलब्धियों और आधुनिक दृष्टि के बावजूद हमारे समाज की मानसिकता में बहुत अंतर नहीं आया है। आज भी घर में लड़की के जन्म का स्वागत नहीं होता। आज भी लोगों को यह विश्वास है कि पुत्र ही अपने माता-पिता के लिए स्वर्ग के द्वार खोलता है।

आज भी लड़की को 'पराया धन' मानकर उसका 'दान' उस पुरुष को किया जाता है जो घोड़े पर चढ़कर, कृपाण लेकर, मुकुट लगाकर एक विजेता की तरह कन्या का वरण करने आता है। इस स्थिति की विडंबना यह है कि इस देश के कई भागों में 'दामाद' की स्थिति आज भी एक गर्वीले और उद्धत युवक की होती है जो किसी की कन्या से विवाह करके उसके माता-पिता को उपकृत करता है। उत्तर प्रदेश में (संभवतः कुछ अन्य प्रदेशों में भी) लड़की के मां-बाप और बड़े भाई जमाई राजा के चरण धोते हैं और पैर पूजते हैं। ऐसे स्थितियां जिस समाज में व्याप्त हों वहां लड़कियों की सारी शिक्षा, योग्यता और कर्मठता के बावजूद एक सामान्य गृहस्थ इन्हें बोझ मानने की मानसिकता से अपने को मुक्त नहीं कर पाता। इसी बात का परिणाम है कि इस देश में कन्याओं की भ्रूण हत्या की प्रवृत्ति सदा बनी रही है। अकाल तख्त के जत्थेदार जोगिन्दर सिंह वेदान्ती ने इस बढ़ते हुए रुझान की निंदा करते हुए इसके विरुद्ध जो हुक्मनामा जारी किया है उसका स्वागत सारे देश में हुआ है। यह हुक्मनामा गुरु नानक देव के इस कथन के अनुरूप ही है—'सो कियूं मंदा आखीए जित जम्मे राजान।'

(दैनिक जागरण, 27-6-2002)

यह कौन सा समाज है

उन्माद भरे सांप्रदायिक या जातीय दंगे होते हैं तो उसमें एक धर्म या जाति के लोग दूसरे धर्म या जाति के लोगों की बर्बर ढंग से हत्या करते हैं उनकी धन सम्पत्ति लूटते हैं, उनके घरों में आग लगाते हैं। यह सब कुछ सदियों से होता आ रहा है और कदाचित संसार का कोई भाग ऐसे दुष्कृत्यों से मुक्त हो! हमारे देश का चरित्र ऐसे दंगों की दृष्टि से बहुत विविध है और विचित्र भी। यहां धार्मिक आधार पर दंगे होते हैं, जातीय आधार पर होते हैं, एक ही धर्म को मानने वाले दो संप्रदायों के मध्य भी होते हैं। त्रिपुरा, असम और अनेक उत्तर-पूर्वी राज्यों में नस्ली और कबीलाई आधार पर होते हैं। इनमें कहीं धार्मिक या मजहबी जनून होता है, कहीं दूसरे प्रदेश में आकर बसने वालों के प्रति आक्रोश होता है, कहीं आर्थिक स्वार्थ टकराते हैं और कहीं राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति के लिए संघर्ष प्रारंभ हो जाता है। एक विचार के अनुसार हिंसा मनुष्य का स्वभाव है। उसके अंदर बसे हुए हिंसक पशु को धर्म, शान्ति, सद्भाव, मैत्री, सहिष्णुता आदि कितने ही संस्कारपूर्ण गुणों द्वारा हम अपना पालतू बनाने की कोशिश करते हैं। बीच-बीच में हमें लगता है कि यह पशु हमारे नियंत्रण में आ गया है, हमारे सामने एक पालतू पशु की तरह दुम हिलाने लग गया है, किंतु बीच-बीच में अपना मूल रूप दिखाकर यह खुली घोषणा कर देता है कि मेरे संबंध में गलतफहमी मत पालना। मैं तुम्हारे अंदर जीवित हूं...अपने पूरे खूंखारपने के साथ। हम, जो अपने आप को सभ्य और सुसंस्कृत मानते हैं, प्रायः इस खुशफहमी के शिकार हो जाते हैं कि हमने इस पशु के सभी कटीले दांत तेज नाखून तोड़कर इसे अपने अनुकूल बना लिया है, किंतु जब गुजरात जैसी कोई घटना हो जाती है तो हमें महसूस होता है कि यह पशु केवल जीवित ही नहीं है, पहले से अधिक खूंखार हो गया है और इसने अब ऐसी कुछ आदतें भी अपना ली हैं जो पहले

नहीं थीं।

व्यापक नरसंहार की कथाएं इतिहास में कम नहीं हैं। चंगेज खां, हलाकू खां, तैमूर लंग को इस संदर्भ में खूब याद किया जाता है। इन लोगों ने इकाइयों, दहाइयों या सैकड़ों में आम लोगों की हत्याएं अपने सैनिकों द्वारा नहीं करवाई थीं। उनकी संख्या हजारों और लाखों में थी। चौदहवीं सदी के अंतिम वर्षों में जब तैमूर ने इस देश पर आक्रमण किया था, उस समय यहां के पठान शासकों पराजिवत कर उसने एक लाख से अधिक लोगों को बंदी बना लिया था। एक दिन उसे सनक चढ़ी और उसने अपने सैनिकों को आज्ञा दी कि इन सभी कैदियों को कत्ल कर दिया जाए। देखते-देखते उसके सिपाहियों ने सभी को गाजर-मूलियों की तरह काटकर फेंक दिया। जर्मनी के तानाशाह की कहानी तो अभी बहुत पुरानी नहीं हुई है। कुल साठ-पैंसठ वर्ष पहले ही उसने साठ लाख से अधिक यहूदियों को गैस चैंबरों में डालकर उन्हें मौत की नींद सुला दिया। यह खूंखार पशु तो मनुष्य के अंदर है ही। जब मैं यह कहता हूं कि वह पहले से अधिक खूंखार हो गया है तो मेरा ध्यान स्त्रियों की ओर जाता है। स्त्रियों के प्रति भी हमारी मान्यतायें अनेक विडंबनाओं, विरोधाभासों ओर विचित्रताओं से भरी हुई हैं। भारतीय समाज में उसे मातृ-शक्ति कहा जाता है। यह भी कहा गया है कि जहां नारी की पूजा होती है वहीं देवताओं का वास होता है।

हमारे पुराणों में वर्णित देवियों की संख्या देवताओं से कहीं अधिक है। उसके साथ ही यह भी कहा जाता है कि नारी तो नरक की खान है। उसका साथ करने से मनुष्य की सुध-बुध भ्रष्ट हो जाती है। वह थोड़ी-सी भी स्वतंत्रता पाकर कुमार्गी बन जाती है। वह सतत् ताड़ना में रखे जाने योग्य है। ये सभी परिभाषाएं और धारणाएं पुरुष निर्मित हैं। वह अपनी इच्छा से अपने हित में जब चाहे उनमें परिवर्तन कर लेता है, किंतु इन चिकनी-चुपड़ी और निंदापरक बातों के बावजूद ऐसा लगता है कि पुरुष के लिए वह मात्र भोग्या है। अवसर मिलते ही वह अपनी धार्मिकता, शिक्षा और संस्कृति के सभी लबादे उतारकर भूखे भेड़ियों की तरह स्त्री पर झपट पड़ता है और उसकी बोटियां नोचना शुरू कर देता है।

भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' में एक प्रसंग आता है। दंगाई एक गांव पर हमला करके वहां के सभी विधर्मियों की हत्या कर देते हैं। उनकी पकड़ में एक लड़की आ जाती है और कुछ लोग बारी-बारी से उसके साथ बलात्कार करते हैं। उनमें से एक अनुभव सुनाता है—"मैंने देखा तो लड़की मरी हुई...मैं लाश से ही जना किए जा रहा था।" पहले तो आक्रमणकारी आते थे, वे यहां की धन-सम्पत्ति को लूट के साथ बहुत-सी स्त्रियों को पकड़कर अपने साथ ले जाते थे। मध्य एशिया के बाजारों मे उन्हें बेच दिया जाता था, किंतु ऐसे विवरणों को पढ़ने के बाद ऐसा नहीं लगता कि आक्रमणकारी सिपाही उन स्त्रियों के साथ मौका मिलते ही बलात्कार करना शुरू कर देते होंगे। गुजरात के दंगों में सबसे लज्जाजनक बात स्त्रियों के प्रति किए गए अत्यंत पाशविक व्यवहार की

है। यह बात तो समझ में आती है कि दंगाई स्टेशन पर खड़ी किसी गाड़ी में आग लगाकर बहुत से लोगों को जिंदा जला दें। यह बात भी समझ में आती है कि उसका बदला लेने के लिए दूसरे पक्ष के लोग बस्तियों गांवों पर आक्रमण करके उससे दस गुना लोगों की हत्या कर दें, किंतु यह बात बिल्कुल समझ में नहीं आती कि किसी गर्भवती स्त्री को पकड़कर उन्मादी भीड़ के लोग पहले उसके साथ सामूहिक बलात्कार करें, फिर उसका पेट चीर दें, उसमें से भ्रूण निकाल फेंक दें और उसकी हत्या कर दें।

इसीलिए मैं कहता हूं कि जैसे-जैसे मनुष्य अपने सभ्य और सुसंस्कृत होने का दावा करने में बड़बोला बनता जा रहा है, वैसे-वैसे उसके अंदर बैठा हिंस्र पशु कहीं अधिक खूंखार और नीच बनता जा रहा है। मुझे विभाजन के दिन याद आ रहे हैं। एक ओर मुसलमान हिंदुओं-सिखों की हत्याएं कर रहे थे, दूसरी ओर हिंदू-सिख मुसलमानों की हत्याओं में कोई कसर नहीं छोड़ रहे थे। उन्हीं दिनों एक अत्यंत घिनौनी बात शुरू हो गई।

बलवाइयों ने अपने क्षेत्र के विधर्मियों की हत्या तो की है उनकी स्त्रियों को पकड़कर पूरी तरह निर्वस्त्र किया और फिर उन नग्न स्त्रियों का जुलूस निकाला। वैसा ही काम दूसरी ओर भी हुआ वहां भी नग्न औरतों के जूलूस निकाले गए। पाकिस्तान बनना है अथवा नहीं बनना है यह एक राजनीतिक समस्या थी। उसके लिए सारे देश में उन्माद पैदा हो गया था अथवा पैदा कर दिया गया था। देश के अनेक भागों में दंगे भड़क उठे थे और कई लाख लोग उसकी भेंट चढ़ गए थे, किंतु इन सभी बातों में दोनों ही धर्मों की स्त्रियों ने पक्ष या विपक्ष में कोई सक्रिय भूमिका नहीं निभाई थी। पुरुषों के साथ भी उनकी नृशंस हत्या होती तो भी उसका तर्क समझ में आता, किंतु उसमें इनके स्त्रीत्व से ऐसा घिनौना खेल खेला क्यों गया? क्यों उनके स्त्रीत्व को सरे बाजार लांछित किया गया? वेद, कुरान और ग्रंथ की सभी शिक्षाएं, सभी उपदेश, सभी प्रवचन किसी धूल-मिट्टी में जाकर खाक हो गए? इस दृष्टि से सआदत हसन को एक कहानी 'खोल दो' अपने समय का क्रूर दस्तावेज बनकर सदा जीवित रहेगी।

1984 के सिख-विरोधी दंगों में भी, जहां सिखों का अनेक स्थानों पर व्यापक नरसंहार हुआ था, वहीं दंगाइयों ने उनकी बहुत-सी स्त्रियों के साथ सामूहिक बलात्कार भी किया था। गुजरात में भी यही हुआ है। एक रिपोर्ट के अनुसार राधिकापुर गांव की एक 19 वर्षीया लड़की बताती है कि उसके गांव के लोगों ने उसके समुदाय के लोगों पर आक्रमण करके उनकी हत्या की। दंगाइयों ने पहले उनकी बहनों और चाचियों के साथ सामूहिक बलात्कार किया और फिर निर्ममतापूर्वक उनकी हत्या कर दी। उसी गांव के तीन बड़े महत्वपूर्ण व्यक्तियों ने उसके साथ बलात्कार किया। फिर उसे छुरे मारे और यह सोचकर चले गए कि वह अवश्य मर गई होगी। घायल अवस्था में वह रात भर बेहोश पड़ी रही—बिल्कुल नग्न। सुबह होने पर वह गिरती-पड़ती किसी प्रकार मुख्य सड़क पर आई। वहां उसे पुलिस मिल गई जिसकी सहायता से वह राहत शिविर तक पहुंची। अब वह अपने गांव वापस जाने से बहुत डरती है। जिन लोगों ने उसके

साथ बलात्कार किया था, वह उन्हें पहचानती है।

यदि वह अपने गांव वापस जाती है तो वे लोग नित्य ही उसके सामने आएंगे और अपनी बर्बरता और घिनौनी हरकत का उसे स्मरण कराते रहेंगे। यह कैसा समाज हम सृजित कर रहे हैं? कितना गर्व है हमें अपनी संस्कृति पर, अपने धर्मग्रंथों पर? अपनी परंपराओं पर? हजारो वर्षों की तपस्या और साधना के पश्चात् हमने जो मनुष्य बनाया है, वह तो पशु कहलाने योग्य भी नहीं है, क्योंकि पशु जगत में ऐसे घिनौने कार्य नहीं होते। बिहार में जब एक जाति के लोग दूसरी जाति के लोगों पर आक्रमण करते हैं तो वे पुरुषों की हत्या तो करते ही हैं, उनकी स्त्रियों के साथ बलात्कार भी करते हैं। एक जातीय संघर्ष में ऐसे लोग बलात्कार करने के बाद स्त्रियों की हत्या भी कर गए और जाते-जाते उनके स्तन काटकर दीवारों पर चिपका गए, जिससे लोगों को उनकी 'सूरमताई' का संकेत प्राप्त हो जाए।

(दैनिक जागरण, 11-7-02)

कैसे मानवीय बनेंगी ये व्यवस्थाएं?

इस्लामी देशों में प्रचलित एक न्याय प्रणाली के अनुसार कुछ खास किस्म के अपराधियों को संगसार किया जाता है अर्थात् अपराधी को कमर तक जमीन में गाड़कर उस पर इतने पत्थर बरसाए जाते हैं कि उसके प्राण निकल जाएं। आमतौर पर यह सज़ा उस स्त्री को दी जाती है जिसका किसी पर पुरुष से अवैध संबंध हो जाए अथवा उसने हजरत मोहम्मद, कुर्रान शरीफ या इस्लाम की तौहीन की हो।

अभी पाकिस्तान में एक ऐसी ही घटनाए हुई जिसे जान कर संसार का आधुनिक सभ्य समाज स्तंभित रह गया। फैसलाबाद जिले के एक व्यक्ति जाहिद शाह के लिए एक स्थानीय इमाम ने फतवा जारी किया कि उसे सगंसार कर दिया जाए अर्थात् पत्थर, मार-मार कर उसे जान से मार दिया जाए। उस व्यक्ति पर धर्म निंदा का आरोप था। कहा गया था उसने कुर्रान और हज़रत मोहम्मद के लिए अपमानजनक शब्दों का प्रयोग किया था।

पाकिस्तान में धर्म निंदा को बहुत गंभीर अपराध माना जाता है। किसी भी व्यक्ति के यह शिकायत करने पर कि अमुक व्यक्ति ने इस्लाम विरोधी कोई बात कही है, उस व्यक्ति पर धर्म निंदा का मुकदमा दर्ज हो जाता है। ऐसे अपराध के लिए आम अदालती प्रक्रिया अधिक नहीं अपनाई जाती। अदालत उसका फैसला तुरंत कर देती है और अपराधी को मौत की सजा दे दी जाती है। कई बार तो ऐसा भी हुआ है कि लोग अपनी निजी रंजिश निकालने के लिए किसी निर्दोष व्यक्ति पर भी ऐसा झूठा आरोप लगा देते हैं और उसे गुनाहगार बना देते हैं। पाकिस्तान में बसे ईसाई अल्पसंख्यकों पर ऐसे आरोप अनेक बार लगे हैं और कुछ को मृत्युदंड भी दिया जाता है।

पाकिस्तान के मानवाधिकार संगठनों ने अपनी सरकार से निरंतर यह मांग की है कि इसमें कुछ संशोधन करके इसकी सख्ती को कुछ कम किया जाए और इसे पूरी व्यापक प्रक्रिया

में से गुजरने दिया जाए, किंतु वहां किसी भी सरकार ने आज तक यह जुर्रत नहीं की है कि इसमें कुछ संशोधन हो। पाकिस्तानी समाज पर कट्टर मुल्ला-मौलवियों का बहुत प्रभाव है और कोई भी सरकार उनकी नाराज़गी नहीं लेना चाहता। जनरल परवेज़ मुशर्रफ ने सत्ता संभालने के बाद इस कानून को थोड़ा नरम करने के लिए कुछ कदम उठाए थे, किंतु उन्हें कट्टरपंथियों का इतना विरोध सहना पड़ा था कि लाचार होकर उन्होंने अपने कदम वापस ले लिए थे।

इस कानून की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि पुलिस और अदालतों की परिधि से बाहर किसी स्थान का कोई इमाम भी अपनी ओर से एक फतवा जारी कर कथित अपराधी को मौत की सज़ा सुना देता है। ऐसे फतवे में किसी वकील, दलील या अदालत की ज़रूरत नहीं पड़ती। जाहिद शाह के मामले में यही हुआ। 1994 में इस व्यक्ति को पवित्र कुर्रान और पैगम्बर मोहम्मद के प्रति कुछ आपत्तिजनक शब्द कहने के कारण पुलिस द्वारा गिरफ्तार किया गया था। अपराधी को कुछ समय तक अदालत ने जमानत पर छोड़ देने का आदेश दे दिया था क्योंकि डॉक्टरों की राय में वह मानसिक दृष्टि से विक्षिप्त व्यक्ति था।

अपनी रिहाई के बाद जाहिद अपना गांव छोड़कर पास के गांव में अपने भाई के पास रहने लगा था। कुछ दिन पहले वह अपने गांव आया। वहां उसकी गांव के कुछ लोगों से तकरार हो गई। उन लोगों ने मस्जिद के इमाम मौलवी फकीर मोहम्मद से यह शिकायत कर दी कि जाहिद ने कुर्रान और पैगम्बर के लिए अपशब्दों का प्रयोग किया है। इमाम ने तुरंत गांव की पंचायत बुला ली। फिर उसने मस्जिद के लाउडस्पीकर से यह घोषणा की कि गांव के लोग इकट्ठा होकर जाहिद की हत्या कर दें।

पाकिस्तान के समाचार-पत्रों में छपे समाचारों के अनुसार गांव के लोग जाहिद के घर के सामने इकट्ठा हो गए। उसके बड़े भाई और पत्नी की बड़ी अरजोई के बावजूद उसे घर से घसीट कर बाहर निकाला गया और उस पर लोहे की छड़ों और हॉकी स्टिक की वर्षा होने लगी। मारते-मारते उसे गांव के बीच लाया गया। वहां मौलवी ने आज्ञा दी कि अब पत्थर मार-मारकर इसकी हत्या कर दी जाए। भड़की हुई भीड़ ने यही किया।

चार घंटे के बाद वहां पुलिस आई। उसने किसी हत्यारे के विरुद्ध कोई केस दर्ज नहीं किया। जाहिद की शव परीक्षा किए बिना उसे दफना दिया गया। जाहिद के घर के लोग इतने भयभीत थे कि उन्होंने किसी प्रकार की कारवाई दर्ज कराने से इनकार कर दिया। थानेदार ने अपनी रिपोर्ट में लिख दिया कि यह एक दुर्घटना मात्र थी।

धर्म के नाम पर ऐसी बर्बर घटनाएं केवल इस्लामी देशों में ही नहीं होतीं। संसार के अनेक देशों में ऐसा होता रहा है। आखिर ईसा मसीह को धर्म के नाम पर ही तत्कालीन शासकों ने सूली पर चढ़ा दिया था। फिर उन्हीं के अनुयायी ईसाइयों ने ईसा विरोधियों पर कम अत्याचार नहीं किए। मैंने अपने किसी पिछले लेख में मध्ययुग की ईसाई प्रथा 'इन्क्यूजीशन' का उल्लेख किया था। उस समय इस शब्द का प्रयोग ईसाई अदालतों के लिए किया जाता था। जो लोग

कट्टर ईसाई मान्यताओं से कुछ मतभेद रखते थे और स्थापित ईसाई विचारों का विरोध करते थे ऐसे लोगों को 'हेरेटिक' या धर्मद्रोही कहा जाता था। ऐसे लोगों को पकड़कर लाया जाता था। जो लोग अपनी भूल स्वीकार करके प्रायश्चित कर लेते थे उन्हें थोड़ा-सा दंड देकर छोड़ दिया जाता था। जो लोग ऐसा नहीं करते थे उन्हें जिंदा जला देने जैसी सजाएं दी जाती थीं। कई बार ऐसा भी होता था कि ऐसे धर्मद्रोहियों पर जब मुकदमा चल रहा होता था, धर्मान्ध ईसाइयों की भीड़ जेल तोड़कर उन्हें बाहर निकाल लाती थी और सभी को मौत के घाट उतार देती थी।

ऐसी घटनाएं अपने देश में भी कुछ कम नहीं हुईं। धर्मग्रंथों द्वारा निर्धारित चतुर्वणीय समाज व्यवस्था जब रूढ़ होना प्रारंभ हुई तो अस्पृश्य कहे जाने वाले वर्ग के प्रति जो अन्यायपूर्ण व्यवहार इस देश में हुआ उसकी ओर से आंख मूंदना सत्य की ओर से मुंह मोड़ना है। धर्म मानकर जिन स्मृतियों की यहां रचना हुई उनमें भी शूद्रों के लिए जिस कठोर दंड-विधान की व्यवस्था की गई वह किसी 'संगसार' तथा 'इन्क्यूजीशन' से कम नहीं है। मनुस्मृति कहती है कि यदि शूद्र ब्राह्मणादि तीनों वर्णों को कठोर वचनों द्वारा आक्षेप करे तो उस शूद्र की जीभ काट लेनी चाहिए। महर्षि अत्रि लिखते हैं कि राजा जय होमादि ब्राह्मणोचित कर्म करने वाले शूद्र का वध कर दे। महर्षि गौतम अपनी स्मृति में तो यहां तक लिखते हैं कि शूद्र यदि किसी वेद को सुन ले तो राजा शीशे और लाख उसके कानों को भर दे। यदि वह वेद-मंत्र का उच्चारण करे तो राजा उसकी जीभ कटवा दे। यदि वह वेद-मंत्र को याद कर ले तो राजा उसका शरीर भी कटवा दे।

आज भी ऐसी घटनाएं देखने को मिल जाती हैं, जब किसी शूद्र ने, गलती से भी किसी मंदिर में प्रवेश कर लिया है तो उसकी 'संगसार' जैसी ही दुर्दशा कर दी जाती है।

सभी धर्मों का मौलिक स्वरूप कुछ और होता है, किंतु जव उसे कठोर नियमों, करणीय और अकरणीय, विविधयों और निषेधों में बांधा जाता है तो एक विशिष्ट प्रकार की समाज-व्यवस्था विकसित हो जाती है। ऐसी कठोरताएं उस व्यवस्था में से जन्म लेती है और अनेक बार तो शासन तंत्र भी उनके सामने झुकने को बाध्य हो जाता है।

पाकिस्तान में इन दिनों एक और घटना हुई। इसके पीछे सीधे-सीधे धर्म-निंदा तो नहीं है, किंतु मज़हबी कानून और मान्यता की छाया में पनपे समाज की अपनी न्याय-व्यवस्था है। एक गांव की पंचायत के फैसले के अनुसार चार पुरुषों ने एक महिला के साथ सामूहिक बलात्कार किया। जब ये पुरुष उस महिला को घसीटते हुए एक कमरे की ओर ले जा रहे थे, वहां लोगों की भीड़ जमा थी, किंतु किसी ने उस कार्य में हस्तक्षेप करने की जुर्रत नहीं की। उस औरत ने, उसके पिता और चाचा ने रोते-चीखते हुए मदद की भीख मांगी किंतु स्वयं भू-जजों ने उनकी एक नहीं सुनी।

उस औरत का अपराध क्या था? उस पर आरोप यह था कि उसके भाई ने एक ऐसी स्त्री के साथ अपना यौन संबंध बनाया था जो उसके कहीं अधिक बड़े और संपन्न

कबीले की थी।

इस केस की पाकिस्तानी मीडिया में जब बहुत चर्चा हुई तो सरकार भी हरकत में आई। चार अपराधियों में से एक को गिरफ्तार कर लिया गया है। तीन अभी पकड़े नहीं गए हैं। पाकिस्तान सरकार ने उस पीड़ित औरत को 4 लाख रुपए का मुआवज़ा भी दिया है।

ऐसी घटनाएं हमारे देश में भी प्रचुर हैं। यहां भी स्त्रियों के साथ सामूहिक बलात्कार होते हैं। कई बार उन्हें पंचायत-बिरादरी अथवा गांव के किसी प्रभावशाली व्यक्ति की आज्ञा से नंगा करके सारे गांव में घुमाया जाता है।

संसार के अनेक देशों में स्त्रियों को सुन्नत करने की प्रथा भी प्रचलित है। महिलाओं की प्रगति के संबंध में अनेक प्रकार के दावों के बावजूद आज भी उनमें सुन्नत जैसी खतरनाक और बर्बर कुरीतियां बनी हुई हैं। संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोष की ओर से कुछ समय पूर्व जारी एक रिपोर्ट के अनुसार विश्व भर में प्रतिवर्ष कम-से-कम बीस लाख लड़कियों के सुन्नत के नाम पर अंग-भंग कर दिए जाते हैं। इस रिपोर्ट के अनुसार यह क्रूर प्रथा किसी न किसी रूप में अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्थित देशों, अरब प्रायद्वीप के दक्षिण भागों तथा फारस की खाड़ी के आसपास के देशों के अलावा यूरोप, आस्ट्रेलिया और उत्तरी अमेरिका के देशों के विभिन्न जातीय समुदायों में प्रचलित है।

इस प्रथा की शुरुआत के बारे में अनेक मत प्रचलित हैं। कहा जाता है कि यह प्रथा महिलाओं का कौमार्य सुरक्षित रखने तथा उनकी काम-वासना के दमन के लिए बनाई गई थी। आज इस अमानवीय प्रथा को समाप्त करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास हो रहे हैं। महिला संगठनों और चिकित्सकों के विभिन्न मंचों से प्रथा के विरुद्ध जनमत बनाया जा रहा है।

आज संपूर्ण संसार की वैचारिकता इस बात को स्वीकार करती है कि इस संसार में मनुष्य और उसकी गरिमा से बढ़कर कुछ भी नहीं है। जो धर्म, जो समाज, जो व्यवस्था मनुष्य को छोटा करके, उसका अपमान करके, उसे प्रताड़ित करके जीना चाहती है वह सभ्य समाज का अंग नहीं है। सदियों पहले बंगला कवि चंडीदास ने कहा था–

शुनो मानुष भाय
सबाय उपरे मानुस सत्य
तहार उपरे किछु नाय

ईश्वर की परिकल्पना, धर्म की अवधारणा, समाज के विधि-नियम सभी मनुष्य के लिए बने हैं। मनुष्य के बिना इनका कोई अस्तित्व नहीं है।

(दैनिक जागरण, 18-7-02)

समय के साथ बदलती मान्यताएं

देश के सर्वोच्च न्यायालय ने एक महत्वपूर्ण निर्णय दिया है कि किसी भी मंदिर के पुजारी के लिए ब्राह्मण होना अनिवार्य नहीं है। एक अब्राह्मण भी मंदिर का पुजारी हो सकता है यदि वह धार्मिक अनुष्ठान की सभी विधियों से पूरी तरह परिचित है। कुछ समय पहले केरल में त्रावनकोर देवस्वम बोर्ड की व्यवस्था में चल रहे एक प्राचीन मंदिर में एक गैर-मलयाली ब्राह्मण की पुजारी के रूप में नियुक्ति को लेकर एक विवाद उठा था। इस संबंध में केवल उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया था कि यह आवश्यक नहीं है कि किसी मंदिर में पुजारी के रूप में केवल ब्राह्मण की ही नियुक्ति हो सकती है। न्यायालय ने यह भी कहा था कि हिंदू धर्म ब्राह्मणवाद पर टिकी हुई अस्तिकता से कहीं अधिक बड़ा है। मनुष्य की पहचान उसके कर्मों से होनी चाहिए, उसका जन्म किस जाति में हुआ है, इस बात से नहीं। इससे पहले भी, बिना किसी न्यायालय के हस्तक्षेप के, हमारे देश में इस प्रकार के सफल प्रयास हुए हैं। चार सौ वर्ष पहले जब गुरु अर्जुन देव ने अमृतसर में हरिमंदिर को उसारा था, उसका पहला पुजारी भाई बुड्ढा जी को बनाया था जो एक जाट थे। उस समय अपने आपमें यह एक क्रांतिकारी कदम था। बाद में आर्य समाज आंदोलन ने भी पुजारी होने के लिए ब्राह्मण होने की अनिवार्यता को अस्वीकार कर दिया था, किंतु अभी प्राचीन मान्यताओं और रूढ़ियों की जकड़न बनी हुई है।

कुछ दिन पूर्व मैंने एक धर्माचार्य का एक प्रवचन पढ़ा। उन्होंने कहा था कि भगवान मनु रचित 'मनु स्मृति' संसार की प्राचीनता संहिता है। यह स्मृति ही मनुष्य का सही मार्ग-निर्देशन कर सकती है। आज का मनुष्य इसलिए भटक रहा है, क्योंकि वह इस स्मृति के बताए मार्ग को भुला बैठा है। समकालीन भारतीय समाज विचित्र सी दुविधाग्रस्त

स्थिति में जी रहा है। यहां ऐसे लोग भी हैं जो मानते हैं कि प्राचीन भारतीय धर्म और समाज व्यवस्था सर्वोत्तम थी। इस देश के पतन का कारण यह है कि हम उस व्यवस्था को तोड़ते चले जा रहे हैं। यदि हमें पूर्व गौरव प्राप्त करना है तो उन्हीं विश्वासों और व्यवस्थाओं को फिर से स्थापित करना होगा। ऐसे लोग भी हैं जिन्हें प्राचीनता से बुरी तरह चिढ़ है। उनकी मान्यता है कि आज के समय में वे मान्यताएं पूरी तरह निरर्थक और असंगत हो चुकी हैं। हम जितनी जल्दी उससे मुक्त हो सकें उतना ही अच्छा है। कुछ लोग इस दृष्टि से अधिक वस्तुपरक होकर सोचते हैं। प्राचीन विश्वासों और व्यवस्थाओं में कितना आज भी सार्थक और उपयोगी है, कितना निरर्थक और असंगत है और कितना हमें नया बनाना है, इस प्रश्न से वह निरंतर जूझते रहते हैं। सभी धर्मों की आस्थाओं और विश्वासों के दो बिंदु होते हैं। एक उस धर्म का धर्मग्रंथ और दूसरा उस धर्म के पालन के नियम। धर्मग्रंथ अनुयायियों के आध्यात्मिक स्रोत हैं। व्यक्ति किस प्रकार परम तत्व की अनुभूति प्राप्त कर सके, किस प्रकार वह उससे एकाकार होकर द्वैत की स्थिति से उबरकर, परम तत्व के साथ अभेदता स्थापित करके मोक्ष प्राप्त कर सके, एक साधक इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढता है।

दूसरा बिंदु है संहिता अथवा स्मृति जो विधि, नियम और कानून संकलन होता है, वे विषय धर्म के कर्मकांड के साथ ही अनुयायियों के वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक आदि अनेक पक्षों का दिशा निर्देश करते हैं और व्यक्ति तथा समाज को अनुशासन में बांधते हैं। हिंदुओं के लिए वेद, उपनिषद्, गीता आदि धर्मग्रंथ हैं। मनु, गौतम, याज्ञवल्क्य, आपस्तंभ जैसे ऋषियों द्वारा स्थापित नियमावलियां संहिताएं या स्मृतियां हैं। इस्लाम में कुरआन भी है और हदीस भी। सिखों में गुरु ग्रंथ साहब है और रहतनामे हैं। अन्य धर्मों में भी ऐसा है। किसी भी धर्म की आत्मा उसके धर्मग्रंथ (ग्रंथों) द्वारा अभिव्यक्ति पाती है। ये कालातीत समझे जाते हैं। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं माना है। अनुयायी इन्हें ब्रह्मवाक्य, ईश्वरीय वाणी, अल्लाह की आयतें मानकर स्वीकार करते हैं, किंतु संहिताएं नियमों की रचना करती हैं। संसार में मनुष्य का मार्ग-निर्धारण करने वाला कोई भी नियम अपरिवर्तनीय नहीं होता। समय, परिस्थितियों और सामाजिक आवश्यकता की मांग के अनुसार उसकी व्याख्या और स्वरूप में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। धर्मग्रंथ और स्मृति का यह मूलभूत अंतर है।

संकट वहां उत्पन्न होता है जहां संहिता को धर्मग्रंथ के समतुल्य मानकर उसमें दिए नियम, विधि-निषेध आदि को भी आप्तवचन मान लिया जाता है। मनु स्मृति का ही उदाहरण लें। इस संहिता की मान्यताएं सभी समय में सभी लोगों द्वारा कभी स्वीकार नहीं की गईं। मनु स्मृति शूद्रों को तपस्या करने का अधिकार नहीं देती। यदि रामायण काल में शम्बूक जैसा व्यक्ति तपस्या करता था तो नियम भंग करने के कारण दंड का भागी बनता था। स्मृतियों के माध्यम से जिस प्रकार की समाज रचना की व्यवस्था की

गई, वह धीरे-धीरे समाज के बहुसंख्यक वर्ग के लिए जंजीर बनती चली गई। उसने इस वर्ग की प्रगति तो एक ओर उसका जीवन अपमान, दुत्कार और घृणा से भर दिया। इसीलिए मध्ययुग के संतों ने शूद्रों के साथ हो रहे अन्याय के लिए स्मृतियों को दोषी ठहराया। उन्होंने स्मृतियों को पूरी तरह नकारा और उनकी निंदा की। संत कबीर ने अपने एक पद में कहा है—हे भाई, स्मृति, जो अपने आपको वेद की पुत्री मानती है, (वर्ण व्यवस्था और कर्मकांड की) सांकल और रस्सी लेकर आई है। उसने सबको जकड़ लिया है, मोहपाश में फंसाकर मृत्यु-भय का बाण उन पर साधे हुए है। यह ऐसी रस्सी है कि काटे से कटती नहीं, तोड़ने से टूटती नहीं। यह सर्पिणी बनकर संसार को खा रही है। हमारे देखते-देखते इसने सारे संसार को लूट लिया है। कबीर कहते हैं, मैं राम नाम कहकर इस रस्सी से छुटकारा पा गया हूं। स्मृतियों के प्रति संत कबीर का इतना आक्रोश क्यों था? शूद्रों के साथ अस्पृश्यता की धारणा स्पष्ट रूप से मनु स्मृति में विद्यमान है।

मनु स्मृति में कहा गया है कि शूकर आग को सूंघकर निष्फल कर देता है। वैसे ही कुत्ते को देखने से तथा शूद्र को छू देने से द्विज जातियों का कर्म निष्फल हो जाता है। अंग विकृत मनुष्य तथा शूद्र को श्राद्ध के स्थान से निकाल देना चाहिए। मनु स्मृति में यह भी विधान है कि शूद्र यदि ब्राह्मण को पीट दे तो उसे मृत्यु दंड दिया जाए। शूद्र यदि द्विज जनों को अपशब्द कहे तो उसकी जीभ काट लेनी चाहिए। ऐसा दंड-विधान द्विजों के लिए नहीं है। इस स्थिति की विडंबना यह है कि एक ओर तो वैचारिक स्तर पर माना गया कि विद्वान पुरुष सभी के प्रति समदर्शी होता है। क्रियात्मक स्तर पर उसी व्यवस्था के अंतर्गत समाज के एक बड़े वर्ग को केवल अस्पृश्य ही नहीं माना गया बल्कि उनके साथ पशुवत व्यवहार करने का भी उपदेश दिया गया है।

मनु स्मृति में कहा गया है कि शूद्रों को धर्म तथा व्रत का उपदेश देने वाला नरक में जाता है। मनु स्मृति की इन असमानतामूलक व्यवस्थाओं का इस देश में निरंतर विरोध होता रहा है उसके लिए नए-नए आंदोलन होते रहे। जैन एवं बौद्ध धर्म में शूद्रों को सामाजिक जीवन में सम्यक स्थान देने की चेष्टा की गई। इन्हें शिक्षा तथा विहारों में जाने की अनुमति प्राप्त हुई। दोनों धर्मों ने अपने अनुयायियों के मध्य उदारता का प्रसार किया, किंतु स्मृति की व्यवस्था शूद्रों के प्रति अत्यंत कठोरता से भरी रही। वह स्पष्ट रूप से कहती है कि ब्राह्मण अपने शूद्र दास की सम्पत्ति ले सकता है क्योंकि शूद्र को सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं है। मनु किसी भी दंड के विषय में अत्यंत कठोर है। वे किसी भी प्रकार से शूद्रों द्वारा न्याय व्यवस्था के संचालन के विरोधी हैं। मध्यकाल का भक्ति आंदोलन (विशेष रूप से निगुर्ण भक्ति मार्ग) इस अन्याय पोषक व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाता है। नामदेव, रविदास, कबीर, सैण, धन्ना, सधना जैसे संत शूद्र जातियों में ही पैदा हुए। उस युग में जन्मा सिख आंदोलन इस असमानता भरी

मानसिकता पर गहरी चोट करता है।

मैंने प्रारंभ में ही लिखा है कि धर्मग्रंथ को तो शाश्वत और अपरिवर्तनीय माना जा सकता है, किंतु सामाजिक जीवन का विधि-विधान निर्धारित करने वाली स्मृतियां अथवा संहिताएं शाश्वत नहीं हो सकतीं। युग के अनुकूल उन्हें अपनी मान्यताओं में संशोधन-परिवर्तन करना पड़ता है। सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले तक समुद्र यात्रा वर्जित थी। आज वह वर्जना अत्यंत हास्यास्पद लगती है। कट्टर से कट्टर धर्म-शास्त्री भी उस वर्जना को स्वीकार नहीं करता। परिवर्तित मानसिकता का सबसे बड़ा उदाहरण भारत का संविधान है, जिसने मनु स्मृति (तथा अन्य स्मृतियों) की मान्यताओं को पूरी तरह नकार दिया है। यह संविधान ब्राह्मण और चांडाल में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता। अस्पृश्यता को यह दंडनीय अपराध मानता है। यह संविधान देश के सभी नागरिकों को समान रूप से अधिकार देता है, जिसमें सबसे पहले समता का अधिकार है। संविधान स्पष्ट रूप से कहता है कि राज्य, किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, नस्ल, जाति, लिंग, जन्म-स्थल के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा। राज्य के अधीन किसी पद पर नियोजन या नियुक्ति से संबंधित विषयों में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समानता होगी। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि शूद्र परिवार में जन्म लेने वाला व्यक्ति भारत का राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री हो सकता है, सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश हो सकता है, किसी विश्वविद्यालय का कुलपति हो सकता है, भारत की सहस्त्र सेनाओं का प्रधान सेनापति भी हो सकता है। मनु स्मृति की कोई व्यवस्था उसके आड़े नहीं आती। इस दृष्टि से मनु स्मृति की व्यवस्थाएं और भारतीय संविधान की व्यवस्थाएं दोनों एक दूसरे से विपरीत दिशाओं में जाती हुई दिखाई देती हैं। दूसरे शब्दों में भारतीय संविधान मनु स्मृति को पूरी तरह नकार कर उस व्यवस्था की संरचना करता है, जिसका उस स्मृति में पूरी तरह निषेध है।

शूद्रों तथा अस्पृश्यों के संबंध में हमारा संविधान पूरी तरह स्पष्ट है। इसी के साथ ही वह नारी के संबंध में उन अनेक मान्यताओं को स्वीकार नहीं करता है जो मनु स्मृति का भाग हैं। मनु के अनुसार तीस वर्ष की आयु के पुरुष के लिए बारह वर्ष की कन्या उचित है। चौबीस वर्ष का युवक आठ वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है। मनु की समाज व्यवस्था में नारी का व्यक्तित्व पुरुष के व्यक्तित्व में पूर्णतया तिरोहित हो गया है। स्वयं उसका कोई अस्तित्व शेष नहीं रह जाता। आत्माभिव्यक्ति का उसे कोई अवसर नहीं मिलता और वह पूरी तरह एक कठपुतली के समान है। आज नारी के संबंध में धारणा पूरी तरह बदल गई है। अब वह पति की दासी नहीं, सहयोगिनी है। अब 8 वर्ष और 13 वर्ष की कन्या 24 और 30 वर्ष के पुरुष के साथ नहीं ब्याही जा सकती। हिंदू धर्म विधि के अनुसार अब वधू की आयु कम से कम 18 वर्ष की होनी चाहिए, अन्यथा उसे गैरकानूनी घोषित किया जा सकता है। आश्चर्य उस समय

होता है जब कुछ धर्माचार्य धर्म के नाम पर इन संहिताओं और उनके अनुमोदित कुछ व्यवस्थाओं और रीतियों को अभी भी उसी तरह मान्य घोषित करते हैं, जैसे वे कई शताब्दियों पहले थीं। इन संहितओं की अनेक मान्यताएं आज पूरी तरह निरर्थक रूढ़ियों का रूप धारण करके असंगत हो चुकी हैं। मनु स्मृति संसार की सबसे प्राचीन संहिता हो सकती है, किंतु उसकी प्राचीनता आज के समय में उसकी संगति और उपयोगिता सिद्ध नहीं करती।

क्या यह संभव नहीं कि हिंदू धर्माचार्य इस स्थिति पर आज के संदर्भ में गंभीर विचार करें? प्राचीन जीवन मूल्यों, आदर्शों, संस्कारों और आस्थाओं की रक्षा करना कुछ हद तक आवश्यक हो सकता है। उसके लिए चिंतित होना, प्रयत्नशील होना, आग्रही होना भी एक सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है, किंतु पूरी तरह असंगत हो चुकी रूढ़ियों को 'धर्म' बताकर उनके प्रति चिंता व्यक्त करना उनकी पुनर्प्रतिष्ठा की बात करना, उनमें छिपे अन्याय को न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयास करना अपने आपको केवल समय प्रवाह से अलग करना ही नहीं है, इस देश में सामाजिक विग्रह को बढ़ावा देना भी है। स्मृतियों और संहिताओं में जो कुछ समयोचित नहीं है, उसे छोड़ देना ही किसी समाज के चिंतन, मनन और व्यवहार की गतिशीलता का परिचायक है।

(दैनिक जागरण, 10-10-2002)

सब कुछ नष्ट नहीं हुआ है

इस देश में मूल्यों के निरंतर क्षरण को देखकर सभी संवेदनशील लोगों का मन बहुत क्षुब्ध होता है। राजनीति में यह स्थिति तो बहुत पहले से ही आनी प्रारंभ हो गई थी। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में भी जब इस मूल्यहीनता की छाया दिखाई देने लगती है तो क्षुब्धता के साथ गहरी चिंता भी जुड़ जाती है।

अंग्रेजों के साथ ही अंग्रेजी का एक मुहावरा भी हमारे देश में आया था—एवरी थिंग इज फेयर इन लव ऐंड वार (प्रेम और युद्ध में सभी कुछ जायज़ है)। इस सोच ने सारे संसार में मूल्यों और मर्यादाओं को गहरी चोट पहुंचाई है। हम इसके बुरी तरह शिकार हुए हैं। जीवन में प्रेम भी है और कदम-कदम पर संघर्ष और युद्ध भी है। यदि इनके मध्य से गुजरते और जूझते हुए सभी प्रकार के नैतिक-अनैतिक कार्य उचित मान लिए जाएं तो यह संसार मनुष्यों के रहने योग्य नहीं रह जाएगा।

किंतु इस विषम-सी दिखने वाली स्थिति में भी कभी-कभी ऐसा प्रकाश दिखाई देता है कि बरबस यह विश्वास हो जाता है कि सब कुछ नष्ट नहीं हो गया है। बहुत कुछ शेष है। यह शेष हमारी आस्थाओं के लिए बहुत संबल है।

पिछले कुछ समय में मैं तीन साहित्यिक-सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों के संपर्क में आया। लखनऊ में 'सावित्री फाउंडेशन' नाम का एक साहित्यिक संस्थान है। इनकी ओर से प्रतिवर्ष कुंवर चंद्र प्रकाश सिंह 'साहित्य शिरोमणि सम्मान' किसी साहित्य सेवी को दिया जाता है। (स्वर्गीय) डॉ. कुंवर चंद्रप्रकाश सिंह से मेरा बहुत पुराना परिचय रहा है। वे सचमुच साहित्य मनीषी थे। अनेक विधाओं में उन्होंने साहित्य सृजन किया था और अनेक विश्वविद्यालयों में रहकर वे जीवन पर्यंत साहित्य का अध्ययन करते रहे। वे भारतीय जीवन-मूल्यों के प्रति समर्पित निष्ठावान व्यक्ति थे।

ऐसा बहुत कम होता है कि किसी व्यक्ति के कारण साहित्य और संस्कृति का जो वातावरण किसी परिवार में उत्पन्न होता है, वह उसकी आने वाली पीढ़ियों में भी चेतनाशील रहता हो। कुंवर चंद्रप्रकाश सिंह के दोनों सुयोग्य पुत्रों—(डॉ. रवि प्रकाश सिंह और शशि प्रकाश सिंह) ने अपने पिता की विरासत को अपने परिवार की थाती बना लिया है, यह कम संतोष की बात नहीं है।

कुछ दिन पूर्व ही मैं इटावा हिंदी सेवानिधि के दशम शाश्वत समारोह में सम्मिलित हुआ। मेरे लिए यह अनूठा अवसर और अनुभव था। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में चार हजार से अधिक निर्णय हिंदी में देने वाले न्यायमूर्ति प्रेम शंकर गुप्त (अवकाश प्राप्त) को वर्ष 1992 में उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा 'हिंदी गौरव' का सम्मान में प्राप्त धनराशि में बीस हजार रुपए अपनी ओर से मिलाकर 'इटावा हिंदी सेवा निधि' की स्थापना कर दी। यह धनराशि अब बढ़ते-बढ़ते दस लाख से अधिक हो गई है, जिसमें साहित्यानुरागी व्यक्तियों और संस्थाओं का ही अधिक योगदान है। अपने इन्हीं साधनों से यह संस्थान पिछले दस वर्षों से प्रतिवर्ष एक भव्य समारोह करता है और विभिन्न क्षेत्रों में काम कर रहे साहित्य-कर्मियों को सम्मानित करता है।

इस देश में साहित्य का संवर्धन और साहित्यकारों का सम्मान करने वाली अनेक संस्थाएं हैं। कुछ समय तक ये सभी संस्थाएं लक्ष्य प्रेरित होकर काम करती हैं। फिर ये गुटबाजी या कुनबा परस्ती से ग्रस्त हो जाती हैं। मूल लक्ष्य आंखों के सामने से हट जाता है और किसी-न-किसी प्रकार जोड़-तोड़ करके अधिक-से-अधिक सरकारी अनुदान पाने और संस्था पर अपना वर्चस्व बनाए रखने की ओर सारी संक्रिया और सारा ध्यान केंद्रित हो जाता है। हिंदी को अनेक पुरानी और (एक सभा) बहुत प्रतिष्ठित संस्थाओं की इस समय जो दशा हो गई है, वह हमारे सामने है।

इटावा हिंदी सेवा निधि की जिस बात ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया, वह इस संस्था के लिए समर्पित लोगों की टीम ने। इस टीम के मुखिया प्रेम शंकर गुप्त अपनी बढ़ती आयु के बावजूद जिस प्रकार इसके साथ संलग्न हैं वह उनके सभी सहकर्मियों का बहुत बड़ा संबल है। उस समारोह में मुझे जब बोलने का अवसर मिला तो सबसे पहले मैंने यही कहा कि आज जब चारों ओर मूल्यों का विघटन हो रहा है, सेवा, समर्पण, आदर्श जैसे शब्द या तो अपना अर्थ बदल बैठे हैं या अपनी संगति खोते जा रहे हैं, यहां का वातावरण देखकर लगता है कि सब कुछ नष्ट नहीं हो गया है...बहुत कुछ बचा हुआ है।

इस समारोह में उपस्थित जन समुदाय को देखकर मेरी यह धारणा भी खंडित हुई कि अब साहित्यिक आयोजन में कोई नहीं आता। श्रोताओं की भीड़ केवल राजनेताओं को सुनने के लिए आती है। हम से यह बात भी छिपी नहीं है कि राजनेताओं के समर्थक ऐसी भीड़ जमा करने के लिए क्या-क्या प्रपंच करते हैं। दिल्ली जैसे नगर में किसी

साहित्यिक समारोह में यदि पचास की गिनती पूरी हो जाए तो उसे बहुत बड़ी सफलता माना जाता है।

इस समारोह में जिस प्रकार का धार्मिक/सांप्रदायिक सौहार्द देखने को मिला, वह भी कम सुखद नहीं था। हमारे देश में तो छोटी-छोटी-सी बात पर दंगे भड़क उठते हैं। धार्मिक दृष्टि से लोग इतने असहिष्णु और संवेदनाहीन होते जा रहे हैं (या प्रयासपूर्वक बनाएं जा रहे हैं) कि कोई भी व्यक्ति किसी मंदिर के सम्मुख गोमांस का एक टुकड़ा अथवा किसी मस्जिद के दरवाजे पर सुअर की चर्बी फेंककर भयंकर दंगा करवा सकता है। मुझे कानपुर में बिताए बचपन के दिन याद आते हैं। मूलगंज के चौराहे पर एक बड़ी मस्जिद है। शाम के समय जब वहां से रामलीला की शोभायात्रा बैंड-बाजों के साथ गुरजती थी (वह समय मस्जिद में नमाज अदा करने का होता था) प्रायः उस समय दंगा भड़क उठता था। मस्जिद की ओर से कुछ गुम्में शोभायात्रा पर गिरते थे और भगदड़ मच जाती थी। आज भी ऐसी ही छोटी-छोटी बातों से सांप्रदायिक तनाव बढ़ जाता है। असहिष्णुता और संवादहीनता के कारण यह स्थिति निरंतर उत्पन्न होती रहती है।

जिस दिन हिंदी सेवा का कार्यक्रम था, रमजान का महीना शुरू हो गया था। समारोह का आयोजन एच.एम.एस. इस्लामिया इंटर कॉलेज के प्रांगण में किया गया था। कार्यक्रम के बीच में ही रोज़ा इफ्तार का समय आ गया। पास की मस्जिद से उस समय की नमाज़ पढ़ी जाती थी। आयोजक ने घोषणा कर दी कि कुछ समय के लिए अंतराल किया जा रहा है। नमाज़ के बाद हमारे मुसलमान बंधु रोज़ा खोलेंगे। उसी समय वहां उपस्थित सभी को जलपान दिया जाएगा। लगभग 15 मिनट के लिए कार्यक्रम रोक दिया गया। श्रोताओं से भरे हुए प्रांगण से एक भी व्यक्ति बाहर नहीं गया। नमाज़ के बाद जो सबमें जलपान वितरित हुआ उसमें इफ्तार जैसी रंगत थी।

यह बहुत सद्‌भावनापूर्ण कार्य था। एक बात की ओर भी मेरा ध्यान गया। इस संस्था से जुड़े अधिसंख्यक लोग विधि क्षेत्र के लोग हैं। इस संस्था के अध्यक्ष न्यायमूर्ति प्रेम शंकर गुप्त हैं, उपाध्यक्ष न्यायमूर्ति गिरिधर मालवीय हैं, महासचिव प्रदीप कुमार एडवोकेट हैं। न्यायियों में अनेक अवकाश प्राप्त न्यायाधीश और एडवोकेट हैं। इस समारोह में कर्नाटक के राज्यपाल श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी और उत्तर प्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष श्री केशरी नाथ त्रिपाठी उपस्थित थे, किंतु उसकी अध्यक्षता सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री बृजेश कुमार ने की थी।

किसी भी भाषा के सम्यक और बहुमुखी विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसके साथ समाज के विभिन्न वर्गों के लोग जुड़े ही नहीं उसमें अपनी सक्रिय भागीदारी को भी दर्ज करें। हिंदी परिदृश्य पर प्रारंभ से ही प्राध्यापक वर्ग छाया रहा है। यह स्वाभाविक भी है। प्राध्यापकों का निरंतर संबंध पठन-पाठन से रहता है। हिंदी के लगभग सभी आलोचक प्राध्यापक थे, आज भी है। इसका परिणाम यह भी हुआ है कि हिंदी की

आलोचना प्रायः प्राध्यापकीय मुद्रा और विवेचन से ग्रसित रही है। प्राध्यापकों की आदत छात्रों को 'पास' और 'फेल' करने की होती है। हमारे ये प्राध्यापक आलोचक भी सृजनशील लेखकों को भी उन्हीं गजों से नापने लगते हैं और किसी को अच्छा, किसी को बुरा कहने के फतवे देने लगते हैं।

सृजनशील लेखकों का दायरा कुछ बड़ा है। उसमें प्राध्यापकों के अतिरिक्त पत्रकार बड़ी मात्रा में हैं! कुछ नौकरीपेशा भी हैं। कुछ भाषाओं, जैसे उड़िया में प्रशासनिक सेवा के बड़े अधिकारी बहुत अच्छे लेखक हैं। साहित्यिक गतिविधियों में विभिन्न वर्गों के लोगों के आने से न केवल उसका विस्तार होता है, उसकी एक रमता भी टूटती है। इटावा हिंदी निधि के साथ विधि क्षेत्र के लोगों की सक्रिय भागीदारी निश्चिय ही उसे विशिष्ट चरित्र प्रदान करती है।

मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि बड़े नगरों का साहित्यिक वातावरण उसी प्रकार प्रदूषित होता चला जा रहा है जैसे उनका पर्यावरण हो रहा है। यहां की व्यावसायिक होड़ और कैरियर परस्ती में मूल्यों और मर्यादाओं को तो बुरी तरह लताड़ा ही है, लेखकों के मध्य जिस प्रकार की उठा-पटक, अस्वस्थ स्पर्धा, माफियागीरी को बढ़ावा दिया है उससे स्वस्थ रचनात्मक साहित्य के सृजन के प्रति हताशा को जन्म दिया, किंतु अपेक्षाकृत छोटे नगरों में स्थिति इतनी खराब नहीं है। यहां अभी भी मूल्यों और मर्यादाओं का सम्मान है। सेवा और समर्पण की भावना पूरी तरह अलोप नहीं हुई है।

इसका सबसे ताजा उदाहरण मुझे दिल्ली के पास के नगर गुड़गांव (गुरुगांव) में मिला। कुछ वर्षों से यहां एक संस्था काम कर रही है—"सुरुचि साहित्य कला परिवार।" गत रविवार को इसकी ओर से एक संगोष्ठी आयोजित की गई—विषय था—"बदलते परिवेश में शिक्षा, शिक्षक और अपेक्षाएं।" इस संगोष्ठी की अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डॉ. एम.एच. कुरैशी ने की थी। मुझे भी इसमें भाग लेने का अवसर मिला।

मैं समझता हूं कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से ही इस देश में शिक्षा का क्षेत्र सभी स्तरों पर उपेक्षित क्षेत्र रहा है। 55 वर्ष की अवधि बीत जाने के बाद भी 40 प्रतिशत से अधिक लोग पूरी तरह निरक्षर हैं। ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में ज्ञान का प्रकाश बहुत धीरे-धीरे पहुंच रहा है।

किंतु जिस प्रकार से शिक्षा का प्रसार हो रहा है वह भी बहुत संतोषजनक नहीं है। शिक्षक और विद्यार्थी के संबंध इस प्रकार निवैयक्तिक होते जा रहे हैं कि दोनों के मध्य आदर और आत्मीयता का अभाव दिन प्रतिदिन बढ़ रहा है। शिक्षण कार्य में 'मंशन' कहीं दिखता नहीं। वह भी एक व्यवसाय हो गया है।

शिक्षा, शिक्षक और समाज की उनसे जुड़ी अपेक्षाओं को लेकर इस संगोष्ठी में, बहुत गंभीर चर्चा हुई। सबसे अच्छी बात यह थी कि वक्ताओं के साथ ही अनेक श्रोताओं

ने सारी चर्चा में पूरी भागीदारी की।

छोटे नगर की इस संस्था ने अपने सामने उद्देश्य रखा है–साहित्य एवं कला का संरक्षण और संवर्धन। इस दृष्टि से वे अनेक कार्यक्रमों का निरंतर आयोजन करते रहते हैं।

निराशा और हताशा से भरी अनेक स्थितियों का सामना हम नित्य करते हैं। भ्रष्टाचार और घोटाले की कोई न कोई घटना हमें नित्य घेर लेती है। सांप्रदायिक तनाव और आतंकवाद का हर समाचार हमारे स्नायु मंडल को बुरी तरह पीड़ित करता है। राजनेताओं के अमर्यादित व्यवहारों से हमारी अस्थाएं नित्य खंडित होती हैं। ऐसे समय में साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र से आती कुछ शीतल वायु के झोंके हमें यह विश्वास दिलाते हैं–सब कुछ नष्ट नहीं हुआ है...बहुत कुछ शेष है।

(दैनिक जागरण, 28-11-2002)

ऐसी क्रूर प्रथाएं समाप्त होनी चाहिए

अभी हाल में ही भारत में जन्मे और इस समय बर्तानवी नागरिक सलमान रुश्दी का एक लेख न्यूयार्क टाइम्स में प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने संसार भर के उदार मुसलमानों से यह अपील की है कि वे इस्लामी देशों में धर्म के नाम पर होने वाली बर्बरता को खामोश होकर देखते ही न रहें, उसके विरुद्ध आवाज़ उठाएं।

सलमान रुश्दी का जन्म मुंबई के एक मुस्लिम परिवार में हुआ था। वे यहां से इंग्लैंड चले गए और वहीं बस गए। एक उपन्यासकार के रूप में संसार भर में उनकी प्रसिद्धि है। लगभग दो दशक पहले उनका एक उपन्यास प्रकाशित हुआ—दि सैटनिक वर्सेज (शैतानी आयतें)। कहा गया कि इस रचना में कुरआन शरीफ और इस्लाम की निंदा है। इस्लामी संसार में उन्हें 'ईश द्वेषी' घोषित किया गया। ईरान के तत्कालीन शासक और धर्मगुरु—अयातुल्ला खुमैनी ने उनकी मौत का फतवा जारी कर दिया और यह ऐलान किया कि जो व्यक्ति सलमान रुश्दी की हत्या कर देगा उसे बीस लाख अमेरिकी डॉलर का इनाम दिया जाएगा। सलमान रुश्दी उसी समय से बड़ी सुरक्षा के मध्य लुका-छिपी का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इन दिनों, अमेरिका में विश्व व्यापार केंद्र पर हुए आतंकवादी आक्रमण के पश्चात् उन्होंने इस्लामी आतंकवाद पर कई लेख लिखे हैं। इनमें उन्होंने विश्व-स्तर पर फैले ऐसे आतंकवाद की तीखी आलोचना की है।

सलमान रुश्दी की बातें किसी भी कट्टरपंथी को अच्छी नहीं लगेगी; क्योंकि उनका नाम इस्लामी संसार में बड़ा घृणित नाम है। मैंने 'दि सैटनिक वसैज' उपन्यास नहीं पढ़ा है। एक-दो बार पढ़ने की कोशिश की किंतु उसकी अपठनीयता के कारण मैं उसे पढ़

नहीं सका। इसलिए मैं यह नहीं जानता कि इसमें इस्लाम विरोधी क्या है। मैं इस प्रश्न को दूसरे पहलू से देखता हूं। किसी रचना में किसी धर्म या धर्मग्रंथ के विरुद्ध यदि कुछ (जानबूझकर) लिखा गया है तो इसका निश्चित ही विरोध किया जाना चाहिए। अभिव्यक्ति की स्वाधीनता के नाम पर किसी धर्म, समुदाय अथवा व्यक्ति पर कीचड़ उछालना, उसे लांछित करना उचित नहीं है। विषय के विशेषज्ञों की राय लेकर सरकार उस पर यदि प्रतिबंध लगा देती है तो मुझे यह अनुचित नहीं लगता। किंतु कोई भी कट्टरपंथी धर्मनायक अपनी ओर से फैसला लेकर, बिना लेखक को सफाई का अवसर दिए, उसे मृत्युदंड देने की यदि घोषणा कर देता है, तो आज के लोकतांत्रिक युग में उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

संसार में आजकल मृत्युदंड को भी अधिक मानवीय बनाया जा रहा है। कुछ दिन पूर्व ही अमेरिका में एक पाकिस्तानी आतंकवादी को, जिसके ऊपर दो व्यक्तियों की हत्या का आरोप था, मृत्युदंड दिया गया। उसे एक कुर्सी पर बैठाकर एक इंजेक्शन दे दिया गया। बिना अधिक कष्ट भोगे उसकी मृत्यु हो गई।

बीते दिनों में दी गई मौत की सजाएं मुझे याद आ रही हैं। अपराधी को हाथी के पैरों तले कुचल देना, उसे किसी खूंखार शेर के पिंजड़े में छोड़ देना, गर्म सलाखों से उसकी आंखें निकाल देना—फिर उसके टुकड़े-टुकड़े कर देना, भरे बाज़ार उसका सिर काट देना आदि कितनी ही क्रूर सज़ाएं इतिहास के पन्नों में अंकित हैं। अपराधी के गले में रस्सी बांधकर पेड़ से लटका कर फांसी देने की घटनाएं आम हैं। फांसी के तख्ते पर लटकाया जाना तो आज की सर्व स्वीकृत प्रक्रिया है।

आज यह भी अनुभव किया जा रहा है कि मृत्युदंड जैसी क्रूर प्रथा को कैसे कष्टहीन बनाया जा सकता है। कुछ देशों में मृत्युदंड को ही समाप्त कर दिया गया। जहां है, वहां उसे अधिक संवेदनशील बनाया जा रहा है।

किंतु इस्लामी देशों में आज भी 'संगसार' जैसा दंड प्रचलित है। इसमें अपराधी को कमर तक, ज़मीन में गड्ढा खोदकर गाड़ दिया जाता है। फिर लोग उसे पत्थरों से उस समय तक मारते रहते हैं, जब तक वह मर नहीं जाता।

इस्लामी देशों में उन स्त्रियों को भी 'संगसार' कर दिया जाता है, जिन पर यह आरोप लगता है कि उन्होंने किसी पर पुरुष से संबंध जोड़ा है। कुछ दिन पूर्व ही नाईजीरिया की एक शरीयत अदालत ने वहां की एक मुसलमान स्त्री को इसी आरोप में संगसार किए जाने की सज़ा दी। संसार के अनेक देशों में इसका विरोध किया गया। अनेक महिला संगठनों ने ऐसी बर्बर दंड-व्यवस्था के प्रति अपना रोष प्रकट किया। वहां विश्व सुंदरी के चयन की प्रतियोगिता आयोजित की गई थी। प्रतियोगिता में भाग लेने वाली सुंदरियों ने वहां की सरकार को यह धमकी दी कि यदि उस महिला को ऐसा दंड दिया गया तो वे प्रतियोगिता में भाग नहीं लेंगी। इस धमकी और अंतर्राष्ट्रीय दबाव के कार-ा

इस दंड को अभी स्थगित कर दिया गया है। यह बात अलग है कि नाईजीरिया में मुसलमानों और इसाइयों में भड़के दंगों के कारण यह प्रतियोगिता लंदन में हुई।

नाईजीरिया एक अफ्रीकी देश है। 1960 तक अंग्रेज़ों का उपनिवेश रहा। अधिसंख्य लोग इस्लाम के अनुयायी हैं। ईसाई भी बड़ी मात्रा में हैं। मुसलमानों और इसाइयों के बीच प्रायः दंगे भड़कते रहते हैं। वहां के कुछ कट्टरपंथी विश्व सौंदर्य प्रतियोगिता का विरोध यह कहकर कर रहे थे कि ऐसी प्रतियोगिता इस्लामी मान्यताओं के विरुद्ध है। इस पर एक ईसाई पत्रकार 'इसीओमा डैनियल' ने अपने एक लेख में यह लिख दिया कि यदि पैग़म्बर मोहम्मद इस समय यहां होते तो शायद वे किसी एक सुंदरी से अपना विवाह रचा लेते।

हज़रत मोहम्मद के प्रति की कई यह एक अत्यंत भद्दी टिप्पणी थी। शायद वह पत्रकार भी नहीं जानता था कि उसकी इस टिप्पणी का ऐसा दुष्परिणाम निकलेगा। इन दंगों में तीन सौ से अधिक लोग मारे गए। कट्टरपंथियों द्वारा यह फतवा भी जारी हो गया है कि डैनियल की गर्दन उड़ा दी जाए।

रुश्दी ने अपने इस लेख में ईरान में मौत की सज़ा पाए, लंबे समय से जेल में वंद एक व्यक्ति हाशिम अग़ाजारी का उल्लेख किया है। उसका अपराध यह है कि उसने इस बात की आलोचना की थी कि यह देश राजनयिकों की बजाए मुल्लाओं द्वारा संचालित किया जा रहा है।

रुश्दी ने हॉलैंड की एक मुसलमान औरत अयान हिरसी अली की व्यथा-कथा को भी अपने लेख में उजागर किया है। वहां रहने वाले कट्टरपंथियों ने उसके खिलाफ मौत का फतवा जारी कर दिया है। उस औरतों का दोष यह है कि उसने कहीं यह कह दिया कि मुस्लिम मर्द मुस्लिम औरत पर बहुत जुल्म करते हैं। मौत के फतवे से भयभीत होकर वह औरत हॉलैंड से निकलकर और कहीं चली गई है।

ऐसे और भी अनेक उदाहरण हैं जिनकी रुश्दी के लेख में उल्लेख नहीं है। बंगलादेश की लेखिका तस्लीमा नसरीन का हाल भी वैसा ही है जैसा अन्य तथाकथित दोषियों का है।

संसार के अनेक देशों में ईशनिंदा एक अपराध है। हमारे संविधान के अनुसार भी किसी की धार्मिक भावना को चोट पहुंचाना, उसकी आस्थाओं की निंदा करना जुर्म है। ऐसे व्यक्ति को बंदी बनाया जा सकता है, उस पर अदालत में मुकदमा चल सकता है और दोप साबित होने पर दंड भी दिया जा सकता है। किंतु यहां किसी मठाधीश, धर्मगुरु या काज़ी को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी कथित दोषी के प्रति मौत का फरमान जारी कर दे।

यह समय मुस्लिम बुद्धिजीवियों के लिए आत्म विवेचन का है। बहुत-सी मान्यताएं किसी समय संगत होती हैं किंतु बदलते समय के साथ अपनी संगति खो बैठती हैं।

जो सजाएं मध्ययुग में प्रचलित थीं, आज वे बहुत बर्बर दिखाई देती हैं। सभ्यता और संस्कृति से सबसे बड़ी अपेक्षा यह की जाती है कि वह मनुष्य को अधिक मानवीय और संवेदनशील बनाती है। कोई भी मान्यता भय को अपना आधार बनाकर बहुत समय तक नहीं टिकती।

सलमान रुश्दी का नाम मुस्लिम समाज में पूरी तरह अस्वीकृत और तिरस्कृत नाम है, इसलिए मुस्लिम समाज पर उनकी सम्मति का कोई अनुकूल प्रभाव पड़ेगा, ऐसा नहीं दिखता। इस क्षेत्र में पहल कदमी तो उन्हें करनी पड़ेगी जो समाज के अंदर के लोग हैं। किंतु सबसे बड़ा संकट यह है कि समाज का सोचने-समझने वाला वर्ग कट्टरपंथियों के आक्रोश से डरता है, इसलिए चुप रहता है और मूक होकर वह सब स्वीकार करता रहता है, जिसे वह पसंद नहीं करता।

(दैनिक जागरण, 5-12-02)

भारतीय प्रवासन की यह दिशा भी देखिए

दिल्ली में प्रवासी भारतीयों के हुए सम्मेलन ने भारत मूल के विदेशों में बसे नागरिकों के प्रति पूरे देश में रुचि उत्पन्न की है, बल्कि ऐसे लोगों को अपनी मूल भूमि के प्रति भावात्मक और भौतिक दृष्टि से जोड़ा भी है। लगभग 2 करोड़ भारतवंशी संसार के अनेक भागों में बसे हुए हैं। इन्होंने उन देशों में अपनी राजनीतिक प्रभुता की छाप भी छोड़ी है, आर्थिक संपन्नता भी प्राप्त की है और प्रतिष्ठा भी अर्जित की है। कुछ देशों में इन्होंने प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री का पद संभाला है। कुछ में न्यायाधीश बने हैं। उद्योग और व्यापार में इनकी सफलता ने इन्हें संसार के कतिपय चुने हुए धनवानों की श्रेणी में स्थान दिलवाया है। इनकी सफलता की ऐसी रंगीन तस्वीरें जब भारत में पहुंचती हैं तो यहां के नवयुवकों की आंखों में ऐसे सुनहले स्वप्न तिरने लगते हैं कि उन्हें विदेशी भूमि पर चारों ओर धन बिखरा हुआ दिखाई देने लगता है। उन्हें लगता है कि एक बार विदेशी भूमि पर उनके पैर पड़े नहीं कि वर्षा में सड़क पर पड़े हुए ओलों की तरह चारों ओर डॉलर और पौंड बिखरे हुए मिलेंगे। बस उन्हें बटोरना और फिर सुख-समृद्धि का जीवन जीने के सभी मार्ग किसी राजमार्ग की भांति उन्हें खुले हुए दिखाई देंगे।

सुख-समृद्धि की ऐसी लुभावनी तस्वीरों ने हमारे नवयुवकों को बहुत भ्रमित किया है। वहां जाने पर वर्षों तक कभी-कभी जीवनभर, उन्हें कैसी नौकरियां मिलती हैं जिनसे उनका गुजारा मात्र होता है। ब्रिटेन में सैकड़ों भारतीय डाकखाने में काम करते हैं, बसों के ड्राइवर या कंडक्टर हैं, फैक्ट्रियों में मजदूरी करते हैं। उनकी पत्नियां और जवान लड़के-लड़कियां प्रातः होते ही घरों से निकल जाते हैं दुकानों, जलपान गृहों, सार्वजनिक

स्थानों पर सफाई का काम करते हैं। यदि आप लंदन के हवाई अड्डे हीथ्रो पर उतरें तो आपको बहुत-सी भारतीय महिलाएं हाथों में लंबी-लंबी झाड़ू लिए फर्शों की सफाई करते हुए नजर आ जाएंगी। अमेरिका और कनाडा जैसे देशों में बहुत से भारतवंशी जलपान गृहों में बर्तन साफ करते और टैक्सी चलाते हुए मिल जाएंगे।

विदेश जाने का आकर्षण फिल्मों जैसा है। एक विशेष आयु में कितने ही युवक और युवतियां फिल्मी हीरो-हीरोइनों की चमक-दमक, उनकी समृद्धि और प्रसिद्धि से चकाचौंध होकर स्वयं हीरो या हिरोइन बनने का स्वप्न पालने लगते हैं और मुंबई को किसी ऐसे महान तीर्थ की तरह समझने लगते हैं कि वहां पहुंचते ही भगवान के साक्षात् दर्शन हो जाएंगे। मुंबई के दोनों प्रमुख रेलवे स्टेशनों पर ऐसे फिल्म-आकांक्षियों की बड़ी गिनती रोज उतरती है, किंतु उनमें से चमकते सितारे कितने बन पाते हैं? दो-चार लोग उस भड़कीली दुनिया में अपना कुछ स्थान बना पाते हैं। शेष जीवनभर एक स्टूडियो से दूसरे स्टूडियो के चक्कर काटते रहते हैं।

विदेशों में जाकर धन अर्जित करने की आकांक्षा लेकर जाने वालों की स्थिति भी ऐसी ही है। मुंबई जाने वालों का जोखिम तो इतना ही है कि वहां काम न मिला तो वे घर वापस आ जाएंगे, किंतु न तो विदेश जाना सरल है और न ही वहां से वापस आना। विदेश जाने वालों में बहुत कम ऐसे लोग हैं जो विधिवत रूप से उस देश का वीजा लेते हैं या आप्रवासन की अनुमति प्राप्त करके उस देश में जाकर बसते हैं। अधिसंख्य लोग गैर कानूनी ढंग से विदेशों में जाते हैं। फिर लुकते-छिपते वर्षों तक जीवन व्यतीत? करते हैं और किस तरह ग्रीन कार्ड प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

इस समय अपने देश में मानव तस्करी का धंधा पूरे जोर पर है। तस्करी का यह जाल अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर फैला हुआ है। यह धंधा करने वाले लोग किसी को भी किसी भी देश में भेजने की व्यवस्था करने में माहिर होते हैं। विदेशों में जाकर बसने की ललक तो इस देश में प्रत्येक भाग में है किंतु, पागलपन की हद तक यह लालसा जितनी पंजाबी युवकों में है, शायद ही और कहीं हो। पंजाब में ट्रेवेल एजेंट का बोर्ड लगाकर ऐसे मानव तस्करों की लूट के अनेक कारनामें रोज अखबारों में प्रकाशित होते हैं किंतु, इस संबंध में भारतीय कानून की अगणित कमजोरियों और पुलिस की मिली भगत से ऐसी झूठी एजेंसियां चलाने वाले लोग धड़ल्ले से अपना काम करते रहते हैं।

ऐसे तस्कर भोले-भाले ग्रामीण युवकों के सामने विदेशों में भरपूर कमाई और ऐशो आराम की जिंदगी के बड़े लुभावने चित्र रखते हैं। युवकों के मां-बाप भी अपने बेटे के स्वर्णिम भविष्य की आशा में अपनी जमीन-जायदाद बेचकर ऐसे तस्करों को लाखों रुपए दे देते हैं। ये तस्कर उनके लिए जाली पासपोर्ट और वीजे का प्रबंध करते हैं। ऐसा भी देखने में आया है कि विदेश जाने वाले किसी समुद्री जहाज में ये ऐसे युवकों को किसी प्रकार घुसा देते हैं। एक बार ऐसा नवयुवक आंखों से दूर हुए कि इनकी

जिम्मेदारी समाप्त हो जाती है। इन्हें गैर कानूनी ढंग से किसी भी देश की सीमा में उतार दिया जाता है। कुछ भाग्यशाली तो उस देश में घुसकर गायब हो जाने में सफल हो जाते हैं। शेष इधर-उधर लुकते-छिपते रहते और फिर वहां की पुलिस की गिरफ्त में आ जाते है।

एक समाचार के अनुसार इस समय लगभग 12000 पंजाबी नवयुवक संसार के विभिन्न देशों के जेलखानों में पड़े हुए हैं। इनके मां-बाप को लंबे समय तक यह पता नहीं लग पाता कि उनके बेटे का क्या हाल है। वे समझते हैं कि वह जिस भी देश में है, वहां कोई अच्छा काम-धंधा कर रहा होगा और शीघ्र ही बहुत-सा धन हमारे लिए भेजेगा।

ऐसे युवकों की दुर्दशा के लोमहर्षक वर्णन समाचार पत्रों में प्रकाशित होते रहते हैं। कुछ वर्ष पूर्व माल्टा में हुई नाव दुर्घटना की याद आज भी संबंधित परिवारों के मनों में ताजा है। मानव तस्करी के उस भयावह हादसे में नकली ट्रेवेल एजेंटों ने लाखों रुपए लेकर पंजाब के कितने युवकों को इटली भेजने की योजना बनाई। 170 लोग एक नाव में बैठाए गए। यह नाव माल्टा के पास समुद्री भंवर में फंसकर डूब गई। नाव में सवार एक-दो यात्री तो किसी प्रकार बच गए शेष सभी समुद्र में डूब गए। अभी हाल ही में एक समाचार आया कि यूक्रेन के पास सीमा पार करते हुए दो भारतीय युवक बर्फीली सर्दी में इस प्रकार फंस गए कि दोनों की बर्फ बनी लाशें इधर-उधर छितरी हुई मिलीं।

इन नवयुवकों का विशेष आकर्षण एक ओर ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड जाने का है तो दूसरी ओर ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि यूरोपीय देशों के प्रति है। अमेरिका और कनाडा अभी भी बहुत चाहत भरे देश हैं। वहां बसे हुए बहुत से भारतीय ऐसा जीवन जी रहे हैं जिससे अच्छा जीवन उन्हें भारत में प्राप्त हो सकता है, बशर्ते यहां वे उतना ही श्रम करें, काम से आंखें न चुराएं, ली हुई जिम्मेदारी के प्रति प्रतिबद्ध हों और छोटी-छोटी-सी बात पर नियम तोड़ने और कानून का उपहास करने की शेखी न बघारें। विदेशों में बसे बहुत-से भारतीयों की सफलता का रहस्य भी यही है कि उन्होंने वहां पहुंचकर कार्य संस्कृति के प्रति उस रवैये को बदल दिया है, जिसे इस देश में बड़ा सहज माना जाता है। अपनाए हुए कार्य के प्रति निष्ठा, वह किसी भी स्तर का क्यों न हो और कड़ा अनुशासन पश्चिमी देशों की कार्य-संस्कृति का एक भाग है। वहां रहकर इसे स्वीकार करना पड़ता है। इसका कोई विकल्प नहीं है।

उन्नीसवीं शती में बहुत से भारतीयों को गोरी जातियां मजदूर बनाकर यहां से ले गई थीं। इन्होंने भी अनन्त कष्ट झेले थे। अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य से जब गोरी जातियों का प्रभुत्व हटा तो मॉरीशस, फिजी, गुयाना, सूरी नाम, त्रिनीडाड और दक्षिणी अफ्रीका जैसे देशों में बसे भारतीयों के दिन फिरे और वहां के राजनीतिक जीवन में उनका महत्वपूर्ण

स्थान बन गया। कुछ हद तक ऐसा ही कनाडा में भी हुआ। इस समय वहां की केंद्रीय संसद में भारतीय मूल के 5 व्यक्ति हैं। इनमें से दो वहां के केंद्रीय मंत्रिमंडल के सदस्य हैं। ब्रिटिश कोलंबिया कनाडा का सबसे बड़ा प्रांत है। गत वर्ष पंजाबी मूल के उज्ज्वल दुसांझ इस प्रांत के मुख्यमंत्री थे। आज भी इस प्रदेश की विधानसभा में अनेक सदस्य भारतीय मूल के हैं और वहां के मंत्रीमंडल में भी हैं।

प्रवासी भारतीयों का सम्मेलन आयोजित करके तथा कुछ देशों में बसे हुए नागरिकों को दोहरी नागरिकता देकर भारत सरकार ने कुछ बड़े सकारात्मक कदम उठाए हैं, किंतु मुझे सुसंपन्न, संतुष्ट और हर दृष्टि से सफल प्रवासी भारतीयों की अपेक्षा उन हजार भारतीय नवयुवकों की अधिक चिंता है जो अपने मन में प्रवासी बनने की ललक पाले हुए हैं। जो निरंतर अपने मां-बाप की गाढ़ी कमाई उन नकली ट्रेवेल एजेंटों की भेंट चढ़ा रहे हैं जिनका उद्‌देश्य इन भोले-भाले लोगों को क्रूरता की हद तक ठगना है। इनकी ठगी से ऐसे युवक तो धोखा खाते ही हैं, उनके वृद्ध मां-बाप जैसी यातना झेलते हैं उसकी कोई सीमा नहीं है।

डॉ. लक्ष्मीमल सिंधवी भारत सरकार की ओर से गठित भारतीय प्रवासन के उच्च स्तरीय आयोग के इस समय अध्यक्ष हैं। दिल्ली में हुआ प्रथम प्रवासी भारतीय सम्मेलन उन्हीं के सद्‌प्रयासों का परिणाम है। मैं समझता हूं कि इस आयोग को अब अपना पूरा ध्यान उन अभागे भारतीयों की ओर देना चाहिए जो प्रवासन के चक्कर में अपनी सुख-शांति की बाजी लगाते रहते हैं। इस आयोग के कार्य क्षेत्र में यह आना चाहिए कि इस देश की युवा पीढ़ी में विदेशों में जाकर बसने की इतनी ललक के पीछे क्या आर्थिक कारण ही है? विदेशों मे जाकर बसने की आकांक्षा तो उनमें भी है जो यहां ठीक-ठाक काम कर रहे हैं, जिनके सामने कोई आर्थिक संकट नहीं है। यह भी देखा जाना चाहिए कि जिन्होंने चिकित्सा, सूचना-प्राद्योगिकी, इंजीनियरिंग, प्रबंधन आदि क्षेत्रों में, विशेष योग्यता अर्जित की है और जिस पर इस देश की विशाल धनराशि व्यय हुई है, ऐसे प्रोफेशनल्स को देश से बाहर क्यों जाना चाहिए, जिनकी अधिक आवश्यकता और उपयोगिता स्वयं इस देश में है। क्या यह आयोग या कोई अन्य संस्था इस देश में तेजी से पनप रही मानवी तस्करी पर कुछ नियंत्रण स्थापित करने के उपाय सुझा सकता है? मानव तस्करी करने वाले लोग इस देश की जवानी को किस प्रकार भ्रमित करने पर तुले हुए हैं, इस ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

(दैनिक जागरण, 16-1-2003)

वर्ण-व्यवस्था कितनी प्रासंगिक है

इस देश में यह विवाद प्राचीन काल से ही रहा है कि वर्ण-व्यवस्था कर्मणा होनी चाहिए कि जन्मना। एक परंपरा इस व्यवस्था को गुण-कर्म के आधार पर मानने की पक्षधर रही है। किंतु जैसी व्यवस्था विकसित हुई और अनेक स्मृतियों-संहिताओं में उसे स्वीकृति प्राप्त हुई उससे जन्मना वर्ण-व्यवस्था ही सर्वमान्य रूप से प्रचलित रही। इस स्थिति में कोई शूद्र गुण-कर्म से कितना उत्तम क्यों न हो, वह उस ब्राह्मण की बराबरी का दावा नहीं कर सकता जो शील-गुण से पूरी तरह अछूता हो। तुलसी दास के शब्दों में—

पूजहि विप्र शील गुण हीना
तजिए शूद्र गुण-ज्ञान प्रवीना

इस तथ्य का परिणाम था कि शम्बूक जैसा शूद्र तपस्या का अधिकारी नहीं माना गया और एकलव्य जैसा भील कुरु राजकुमारों के सम्मुख धनुर्विद्या में निष्णात होने का अधूरा स्वप्न ही संजोए रहा। वर्णवादी व्यवस्था ने इनकी प्रतिभा को कभी स्वीकार नहीं किया।

इस व्यवस्था को निरंतर चुनौती मिलती रही। संभवतः इसे सबसे व्यापक चुनौती महात्मा बुद्ध से प्राप्त हुई। एक बार तो सारा भारत ही बौद्धमय हो गया था।

जब इस देश में भक्ति की लहर आई तो देश के सभी भागों में यह स्वर उभरा—

जात पात पूछै नहि कोई,
हरि को भजै सो हरि का होई,

दक्षिण भारत के आलवार भक्तों में अनेक शूद्र थे। महाराष्ट्र के नाम देव जैसे

भक्तों ने यह करुण वेदना अवश्य व्यक्त की कि हे भगवान, यदि मुझे निम्न जाति का होने के कारण भक्ति क्षेत्र में इस प्रकार अपमानित होना था तो मुझे तुमने उस जाति में जन्म ही क्यों दिया। पंढरपुर के मंदिर के पुजारियों ने उन्हें शूद्र होने के कारण मंदिर से निकाल दिया था, किंतु उन्होंने अपने भक्ति के अधिकार को नहीं छोड़ा था। व्यवस्था को चुनौती देते हुए उन्होंने देश के अनेक भागों में जाकर अपना संदेश प्रसारित किया। वाद में संतों-भक्तों ने अपनी रचनाओं में बड़ी श्रद्धा पूर्वक उनका उल्लेख किया।

इस दृष्टि से बड़ी तीखी चुनौती संत कबीर ने दी। वर्णवादी ब्राह्मण से उन्होंने एक सीधा प्रश्न किया कि ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण तुम ऊंचे किस प्रकार हो और शूद्र कुल में जन्म लेने के कारण मैं नीचा कैसे हूं। क्या तुम्हारी रगों में दूध वहता है और मेरी रगों में लहू?

तुम कत बाहन हम कत सूद,
हम कत लोहू तुम कत दूध।

मध्य युग में अगणित संतों ने अपनी साधना और भक्ति से जन्मना वर्ण-व्यवस्था को पूरी तरह खंडित कर दिया।

वर्ण-व्यवस्था का समर्थन करने वाली स्मृतियों को कबीर ने जंजीर और रस्सी कहा। अपने एक पद में उन्होंने कहा था—हे भाई, स्मृति, जो अपने आपको वेद की पुत्री मानती है (वर्ण-व्यवस्था और कर्मकांड की) सांकल और रस्सी लेकर आई है। उसने सबको जकड़ लिया है। इसने अपने मोहपाश में फंसाकर मृत्यु-भय का बाण उन पर साध लिया है। यह ऐसी रस्सी है कि काटे से नहीं कटती, तोड़ने से नहीं टूटती। यह सर्पिणी वनकर संसार को खा रही है। हमारे देखते-देखते इसने सारे संसार को लूट लिया है—

वेद की पुत्री सिंम्रित भाई/सांकल जेवरी लै है आई।
आपन नगर आप ते बाधिया। मोह कै फाधि काल सर सांधिया।।
कटी न कटे, तूटि नह जाई। जा सापनि, होई, जग कउ खाई।।
हम देखत जिनि सभ जग लूटिया। कहु कबीर मैं राम कहि छूटिया।।

हिंदी के पाठक गिरिधर कविराय की कुंडलियों से बहुत परिचित हैं। इनका समय 18वीं शती का है। इन्होंने अपनी एक कुंडली में लिखा है—

जो संग आश्रम बरन के ना जा तिनके कोल।।
जाए तो मत बैठ तंह, बैठे तो मत बोल।।
बैठे जो मत बोल, बोलै तो और विषेरो।।

वह पूछै कछु व्यवहार, थोर में करो निबेरो।।
कह गिरधर कविराय, कहै मत तिनके लग जो।।
ना जा तिनके कोल, बरन आश्रम के संग जो।।

किंतु यह व्यवस्था इतनी जटिल और रूढ़ है और इसकी जड़ें इतनी गहरी हैं कि आधुनिक समय में भी इसके लक्षण बिखरे हुए दिखाई देते हैं। इस विषय पर निरंतर वाद-विवाद भी होता है और लिखा भी जाता है। कुछ समय पूर्व ही मैंने इस विषय पर एक महत्वपूर्ण पुस्तक पढ़ी।

डॉ. विष्णुदत्त राकेश ने अपनी काव्य-रचना 'नभग' द्वारा प्राचीन आख्यान के माध्यम से इस प्रश्न को पुनर्जीवित किया है और भारतीय मनीषा के सम्मुख कुछ चुनौतियां उभार दी हैं।

यह प्रश्न भी विवाद का केंद्र रहा है कि क्या प्राचीन व्यवस्था में वर्णान्तर संभव था? किसी वैश्य या शूद्र के वर्णान्तर का कोई विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता। किसी क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणत्व पाने की चेष्टा में विश्वामित्र की सर्वाधिक चर्चा होती है। विश्वामित्र जन्मना क्षत्रिय थे। अपनी तपस्या के बल पर वे राजर्षि तो बन गए किंतु ब्रह्मर्षि बनने के लिए उन्हें निरंतर अथक प्रयास करना पड़ा। वशिष्ठ जैसे ऋषिओं ने उन्हें कभी ब्रह्मर्षि स्वीकार नहीं किया।

डॉ. राकेश ने अपने काव्य का प्रारंभ ही इस प्रश्न से किया है। मनुपुत्र नभग जन्म से क्षत्रिय हैं किंतु वेदाध्ययन तथा अध्यापन में रुचि होने के कारण वे ब्राह्मणत्व की ओर अग्रसर होते हैं–

यही सोच कर इस नृपसुत ने,
त्याग दिया सत्ता का मोह।
उसके विप्रोचित अन्तस में,
उमड़े प्रेम, दया, अद्रोह।।

किंतु नभग के ज्येष्ठ भ्राता इक्ष्वाकु आदि परंपरा के अंध समर्थक हैं। वे यह स्वीकार नहीं करते कि वर्णान्तर हो सकता है। इक्ष्वाकु का जैसा चित्रण कवि ने किया है, वह इस विरोध को अक्षम्य मानते हुए विपरीत विचार रखने वाले अपने वाले अपने ही भाई की भर्त्सना करता दीखता है–

वर्णधर्म भंजक विद्रोही
देता तुम्हें प्राण का दंड।
पर मंत्रज्ञ समझकर तुम पर,

मैंने की है दया अखंड।।
प्रतिहारी इस विद्रोही को,
कर दो निष्कासित तत्काल।।
नहीं हमारी खडग लता का,
होगा अट्टहास विकराल।।

इक्ष्वाकु नभग को इसलिए दंडित नहीं करता कि वह उसका सगा भाई होने के अतिरिक्त 'मंत्रज्ञ' भी है। फिर भी उस पर खडग प्रहार करने और प्राण दंड देने की चेतावनी तो वह देता ही है। इस स्थिति को शंबूक की नियति के समकक्ष रखकर देखा जाए तो शंबूक का अपराध कहीं अधिक गंभीर दिखाई देता है। शंबूक क्षत्रिय नहीं, शूद्र था। वह ब्राह्मणत्व का दावा न करते हुए कुएं में उल्टा लटककर घोर तपस्या कर रहा था जो कहीं अधिक संगीन वर्णभंजक विद्रोह था। इसलिए इक्ष्वाकु के वंशज राम ने यद्रि उसे प्राणदंड दिया होता यह उस रूढ़ परंपरा के अनुकूल ही था।

डॉ. राकेश ने अपनी इस रचना में वे सभी प्रश्न उठाए हैं जो स्वामी दयानंद सरस्वती की सोच के अनुरूप हैं। वर्ण-व्यवस्था जन्म से नहीं गुण-कर्म के आधार पर हो, वेदाध्ययन तथा शिक्षा का अधिकार लिंग, जाति, धर्म, रंग, भाषा, देशकाल तथा छोटे-बड़े के भेद से रहित मनुष्य मात्र के लिए सुलभ हो, शिक्षण संस्थाएं राजकीय प्रभाव से मुक्त हों, इन संस्थाओं का आचार्य पर द्विजेतर सक्षम व्यक्ति के लिए भी संभव हो तथा नारी को वेदाध्ययन सहित जीवन के सभी क्षेत्रों में वे सभी अधिकार प्राप्त हों जिन पर पुरुष छाए हुए हैं।

किंतु यह व्यवस्था तो भारतीय समाज में कभी नहीं आई। नभग जैसे व्यक्ति ने इस दृष्टि से जो भी प्रयास किया होगा उसके संकेत नहीं उपलब्ध होते। गौतम बुद्ध से लेकर संत कबीर और गुरु नानक और फिर स्वामी दयानंद के सभी प्रयास बहुत आंशिक सफलता प्राप्त कर छोटी-छोटी धाराओं में सीमित होकर रह गए। यह समाज सहस्राब्दियों से जो मान्यता लेकर चल रहा था लगभग वैसे ही चला जा रहा है। आधुनिक चिंतन, पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव और उससे उभरे नवीन जीवन-मूल्य, वैज्ञानिक सोच की ओर निरंतर बढ़ता रुझान तथा आर्य समाज, ब्रह्मसमाज, देव समाज, राम-कृष्ण मिशन आदि आंदोलनों का कुछ असर—इन सब बातों ने मिलकर बहुत-सी सीमाएं तोड़ दी हैं। इसमें बहुत बड़ा योगदान हमारे संविधान का है जो किसी भी स्तर पर मनुष्य और मनुष्य में अंतर नहीं करता और सभी को समान अधिकार देता है।

किंतु इस समाज का धार्मिक परिवेश न केवल उसी पुरानी रूढ़िग्रस्त मानसिकता से जकड़ा हुआ है, बल्कि उसकी निरंतर पुष्टि करता रहता है। आज भी सभी शंकराचार्य वर्ण-व्यवस्था को जन्मना ही मानते हैं, स्त्रियों के वेदाध्ययन का अधिकार स्वीकार नहीं

करते, छूत-छात को शास्त्रानुकूल मानते हैं और इस व्यवस्था में किसी भी प्रकार के परिवर्तन को धर्म-विरोधी घोषित करते रहते हैं।

डॉ. विष्णुदत्त राकेश की यह रचना एक चिंतनशील रचना है और पौराणिक आख्यान के माध्यम से नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापना का बड़ा सार्थक दिशा संकेत करता है। नभग जैसा काव्य यदि हमारे पाठ्यक्रम का भाग बने तो इसमें निहित संदेश युवा पीढ़ी के बीच व्यापक रूप से पहुंच सकता है। किंतु खेद इसी बात का है कि इस समाज की यह जड़ व्यवस्था ऐसे किसी भी प्रयास को सफल नहीं होने देती जो इसमें कुछ परिवर्तन चाहता है।

इस देश में परिवर्तन का पहिया कभी तेज़ी से नहीं घूमा। हर नया आंदोलन प्रारंभ में अपनी बड़ी तेज़ चमक दिखाता है, वैसे ही जैसे बहती हुई नदी के प्रवाह में कुछ घड़े दूध डालने से कुछ क्षण के लिए दुधिया रंग उभरता है। कुछ समय बाद हर आंदोलन अपनी सीमाओं में घिर जाता है और अपनी प्रारंभिक चमक खो देता है।

(दैनिक जागरण, 13-03-03)

कितना उपयोगी कार्य करती हैं ऐसी व्याख्यानमालाएं

मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में एक ऐसी परंपरा है जिसका उत्तर और पूर्व के राज्यों में मुझे कोई अस्तित्व दिखाई नहीं देता। दक्षिण के राज्यों में ऐसा कोई कार्य होता हो इसका मुझे ज्ञान नहीं है। मैं इन राज्यों के कुछ नगरों में आयोजित की जाने वाली नियमित व्याख्यान मालाओं की चर्चा कर रहा हूं। ऐसी किसी व्याख्यानमाला से मेरा प्रथम परिचय लगभग डेढ़ दश्क पहले, इंदौर में आयोजित 'अभ्यास मंडल' की व्याख्यान माला से हुआ था। इंदौर में यह आयोजन पिछले चार दशक से बिना किसी व्यवधान के हो रहा है। अभ्यास मंडल की ओर से लगभग 10 दिनों तक इसका आयोजन होता है। राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय जीवन के विविध ज्वलंत प्रश्नों पर देश के विभिन्न भागों से अधिकारी विद्वान आमंत्रित किए जाते हैं। ये विद्वान अपने निर्धारित विषय पर सायंकाल लगभग एक घंटे का भाषण एकत्र जन समुदाय के सम्मुख देते हैं। भाषण के उपरांत श्रोताओं के प्रश्नों का समाधान करते हैं।

अभ्यास मंडल की व्याख्यान माला में मुझे दो-तीन बार जाने और बोलने का अवसर मिला है। इसी प्रकार एक बार मैं जालना (महाराष्ट्र) की व्याख्यान माला में भाग ले चुका हूं। एक बार मैं बुरहानपुर में आयोजित होने वाली व्याख्यान माला में भी भाग लेने के लिये वहां गया था।

भोपाल में गत दस वर्ष से श्री कैलाशचंद्र पंत के प्रयास से मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की ओर से पावस व्याख्यान माला का आयोजन होता है। दो दिनों का

यह आयोजन मुख्यतः भाषा और साहित्य से संबंधित होता है। इस वर्ष 16-17 अगस्त को इसका आयोजन हुआ था। प्रथम दिवस का केंद्रीय विषय था—"विश्व भाषा हिंदी के विकास में हिंदी संस्थाओं की भूमिका" एवं दूसरे दिन का केंद्रीय विषय था—"हमारा समय और साहित्य का हस्तक्षेप।" दूसरे दिन के आयोजन में मेरी भी सहभागिता थी। पावस व्याख्यान माला में देश के 350 से अधिक लेखक भाग ले चुके हैं।

इस वर्ष उज्जैन के कुछ कर्मठ, उद्यमशील और संस्कृतिकर्मी व्यक्तियों ने मिलकर सद्भावना व्याख्यान माला का 15 दिनों का आयोजन किया—प्रत्येक दिन एक नया विषय और नया वक्ता। यह व्याख्यान माला उज्जैन को अपनी कर्मभूमि बनाने वाले डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' की स्मृति में प्रारंभ हुई है।

निश्चित ही इस आयोजन की प्रेरणा पास ही के नगर इंदौर में लंबे समय से चल रही अभ्यास मंडल की व्याख्यान माला से प्राप्त हुई। उस व्याख्यान माला से प्रारंभ से जुड़े श्री संतोष व्यास उज्जैन के आयोजन को दिशा-निर्देश और अपने अनुभवों का लाभ देने के लिए लगभग एक माह तक स्वयं उज्जैन आकर रहे। उनका संबंध देश भर में फैले हुए विभिन्न विषयों के विद्वानों से था ही। उज्जैन की व्याख्यान माला के लिए उन्होंने अनेक लोगों से संपर्क किया और उन्हें उसके लिए आमंत्रित किया।

सद्भावना व्याख्यान माला के लिए विषयों का चयन बहुविध था—आज की राजनीति और समाज, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद : एक विश्लेषण, महिला सशक्तिकरण, धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा, आध्यात्मिक जागरण क्यों और कैसे?, भारतीय संस्कृति की चुनौतियां, नागरिक धर्म और सद्भाव, सद्भावना और व्यवस्था, लोकतंत्र एवं सद्भावना जैसे 15 विषय चर्चा के लिए रखे गए थे। वक्ताओं में श्री महेश श्रीवास्तव (भोपाल), रघु ठाकुर (दिल्ली), डॉ. सविता इनामदार (भोपाल), डॉ. तपेश्वर नाथ जुत्शी (श्री नगर, कश्मीर), एस.एन. सुब्बाराव (दिल्ली), स्वामी अग्निवेश (दिल्ली), सुश्री निर्मला देशपांडे (दिल्ली), प्रो. इम्तियाज अहमद (दिल्ली), चंद्रशेखर धर्माधिकारी (मुंबई) जैसे लोग थे। मुझे 'धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा' विषय पर बोलने के लिए आमंत्रित किया गया था।

हमारा संकट यह है कि हमारी बहुत-सी मान्यताएं, विश्वास और प्रतिबद्धताएं किसी प्रकार के वैचारिक चिंतन और मंथन से नहीं बनती हैं। बचपन में हमारी धारणाओं को बनाने का सर्वाधिक दायित्व हमारे माता-पिता का होता है। उनके विश्वास, उनकी आस्थाएं, उनके विश्वास-अंधविश्वास हमें विरासत में मिलते हैं। फिर हम अपने शिक्षण-जगत और परिवेश से कुछ ग्रहण करना शुरू कर देते हैं। विभिन्न समुदायों और विभिन्न मतवादों के संबंध में ही हमारे विचार वैसे ही बन जाते हैं, जैसे हमारे घर-परिवार, छोटे से सामाजिक/धार्मिक दायरे और सीमित परिवेश से हमें प्राप्त होते हैं। समाज के विभिन्न वर्गों और विभिन्न मत रखने वाले लोगों से बहुत कम लोगों का वास्ता पड़ता है। जब

कभी हम ऐसे लोगों के बीच जाते भी हैं तो अपनी बद्धमूल धारणाओं को लेकर जाते हैं। वहां हम अपने विचार की पुष्टि के लिए बहस तो करते हैं। उनसे ऐसा संवाद बहुत कम करते हैं जिससे हमारे मानसिक क्षितिज का कुछ विस्तार हो सके और हमारी सोच में कुछ नयापन आ सके।

मैंने सदैव यह महसूस किया है कि हमारे समाज में विभिन्न वर्गों के मध्य जीवंत संवाद की बहुत आवश्यकता है। यही क्रिया बहुत दूर-दूर दिखने वाले वर्गों को उनके सीमित दायरों से निकालकर एक-दूसरे के प्रति बेहतर समझ और सद्‌भाव उत्पन्न कर सकती है ऐसी व्याख्यान मालाएं बड़ी सफलता पूर्वक यह कार्य करती हैं।

इस दृष्टि से मेरा अपना निजी अनुभव है। डेढ़-दो दशक पूर्व इस देश में सिख अलगाववाद और आतंकवाद की एक लहर चली। उससे पहले अकाली दल की ओर से राज्यों को अधिक अधिकार दिलाने के लिए एक प्रस्ताव पारित हुआ था, जिसे 'आनन्दपुर साहब प्रस्ताव' कहा गया। इस प्रस्ताव को लेकर देश भर में अनेक भ्रांतियां उत्पन्न हुईं। दिसंबर 1984 के लोकसभा में कांग्रेस पार्टी ने इस प्रस्ताव को खूब भुनाया था। उसने सारे देश में यह प्रचारित किया था कि यह प्रस्ताव खालिस्तान की मांग का प्रस्ताव है, जिससे देश के खंडित हो जाने का खतरा पैदा हो गया है। उन्हीं दिनों पंजाब में हत्याओं का ऐसा दौर शुरू हो गया कि सारे देश में सिख समुदाय की छवि बिगड़ने लग गई। जून 1984 में अमृतसर के हरिमंदिर और पंजाब के अनेक गुरुद्वारों में 'ऑप्रेशन ब्लू स्टार' की कार्रवाई हुई, अक्टूबर के अंत में प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की हत्या हुई और नवंबर के प्रारंभ में देश के अनेक भागों में सिखों की सामूहिक हत्याएं की गईं।

उन दिनों में ले.ज. जगजीत सिंह अरोड़ा, श्री इंद्रकुमार गुजराल, श्री कुलदीप नैयर के साथ मैंने देश के अनेक प्रमुख नगरों की यात्रा की और जनसभाओं तथा पत्रकार सम्मेलनों के माध्यम से पंजाब की समस्या को लोगों के सामने रखा और पंजाब तथा सिखों के संबंध में फैली हुई भ्रांतियों को दूर करने का प्रयास किया।

उन दिनों जितनी व्याख्यान मालाओं में मुझे आमंत्रित किया जाता था, उनमें आयोजक मुझसे यही आग्रह करते थे कि मैं पंजाब समस्या के मूल कारणों का विश्लेषण करूं और श्रोताओं को वास्तविक तथ्यों से परिचित कराऊं। उस समय मैंने यह अनुभव किया था कि ऐसी परिचर्चाएं और व्याख्यान मालाएं अनेक भ्रांतियों और गलतफहमियों को दूर करने में कितनी सहायक हो सकती हैं, इनकी भूमिका कितनी सहायक हो सकती है।

गत 9 अक्टूबर को उज्जैन की सद्‌भावना व्याख्यान माला में मुझे 'धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा' विषय पर बोलना था। इस देश में धर्मनिरपेक्षता शब्द की जितनी चर्चा, छीछालेदर और भ्रांतिपूर्ण व्याख्या हुई है और निरंतर हो रही है उतनी शायद ही अन्य किसी शब्द की हुई हो। इस शब्द की मूल भावना को बिना समझे इसके अधिसंख्य

समर्थक और विरोधी इसे निरर्थक विवाद के घेरे में घसीटने का प्रयास करते रहते हैं। इस शब्द के समर्थक इसे भारतीय जनता पार्टी के विरुद्ध सबसे शक्तिशाली शस्त्र समझते हैं। इसके विरोधी इसे 'मुस्लिम तुष्टिकरण' के रूप में देखते हैं, इसे भारतीय राजनीति का कैंसर कहते हैं और इसे एक नकारात्मक मूल्य मानते हैं।

मेरी दृष्टि से यह नकारात्मक मूल्य नहीं है। यह एक अत्यंत सकारात्मक अवधारणा है और इसकी आवश्यकता हमारे देश में सर्वाधिक है। जितनी विविधताओं से भरा हुआ यह देश है, वैसा संसार में संभवतः अन्य कोई देश नहीं। विविधता में एकता को हम अपना श्रेष्ठ सांस्कृतिक मूल्य मानते हैं। हम यह भी जानते हैं कि यह विविधता ही इस देश का विशिष्ट गौरव है। इसे नष्ट करने का अर्थ है अपनी संस्कृति की बहुमूल्य थाती को नष्ट करना।

किंतु संकट तब उत्पन्न होता है जब हम यह मानने लगते हैं कि एकता और एकरूपता का अर्थ समान है, दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। हम जैसा सोचते हैं, करते हैं, जीवन जीते हैं, खाते-पीते हैं, वस्त्र धारण करते हैं, भाषा बोलते हैं, वही सर्वमान्य होना चाहिए, सारे देश को उसे ही अपनाना चाहिए, जो संभवतः हम अपनी एकता पर सबसे बड़ा कुठाराघात करते हैं। हमें यह तथ्य आत्मसात करना चाहिए कि एकता और एकरूपता अलग-अलग जीवन-मूल्य हैं।

पाकिस्तान का उदाहरण लें। जब इस देश में एक पृथक मुस्लिम राष्ट्र बनाने की बात चल रही थी उस समय मोहम्मद अली जिन्ना और मुस्लिम लीग का सबसे बड़ा तर्क यही था कि मुसलमानों और हिंदुओं में कुछ भी समान नहीं है और वे आपस में मिलकर एक राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते। उस समय कांग्रेस नेतृत्व का आग्रह था कि स्वतंत्र भारत एक धर्मनिरपेक्ष (सेक्युलर) राज्य होगा, जिसमें सभी धर्मों और वर्गों की समान साझेदारी रहेगी। किंतु अनेक मुस्लिम धार्मिक नेता 'सेक्युलर' शब्द को इस्लाम विरोधी मानते थे और इसे नास्तिकता का पर्याय मानते थे। उनकी मान्यता थी कि सारे संसार में मुस्लिम समाज अपनी मान्यताओं में एक रूप और सुगठित समाज है। हमें सेक्युलर होने की आवश्यकता नहीं है।

किंतु पाकिस्तान बनने के बाद क्या हुआ? गैर मुसलमान उस देश में दूसरे-तीसरे दर्जे के नागरिक बन गए। इतना ही होता तो कदाचित मुस्लिम एकरूपता का भ्रम बना रहता। पाकिस्तान बनने के तीन-चार वर्ष बाद ही अपने आपको पूरी तरह इस्लाम का अनुयायी मानने वाला अहमदिया समुदाय कट्टर मुल्लावाद का शिकार बन गया। सारे मुल्क में अहमदियों के खिलाफ दंगे भड़क उठे। पाकिस्तान सरकार ने अहमदी समुदाय को गैर मुस्लिम घोषित कर दिया। आज उस देश में ये लोग सभी अधिकारों से वंचित होकर और कट्टरपंथियों के सम्मुख घृणा के पात्र बनकर जी रहे हैं।

इस्लाम एकता के आधार बने पाकिस्तान में अस्सी प्रतिशत से अधिक सुन्नी

मुसलमान हैं। ये अब शिया मुसलमानों को भी बर्दाश्त करने को तैयार नहीं है। इस समय पाकिस्तान में सुन्नियों और शियाओं के मध्य जंग छिड़ी हुई है। दोनों एक-दूसरे की मस्जिदों में घुसकर नमाज अदा करते हुए लोगों पर गोलियां बरसा रहे हैं। दोनों ओर के धार्मिक नेता भी विरोधी कट्टरपंथी उग्रवादियों द्वारा मारे जा रहे हैं। सुन्नियों ने शियाओं को भी 'काफिर' घोषित कर दिया है। मेरी मान्यता है कि धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा व्यक्ति को धार्मिक दृष्टि से उदार और सहनशील बनाती है।

उज्जैन की व्याख्यान माला में मेरी आधारभूत मान्यता यही थी। अपने आपको निरंतर संकुचित और संकीर्ण बनाता हुआ धर्ममत दूसरों से लड़ता है, फिर अपनों से लड़ना प्रारंभ कर देता है। सांप्रदायिकता एक ऐसी राक्षसी है जो पहले दूसरों का खून पीती है और फिर अपनों को ही पीड़ित करने लगती है।

जैसी व्याख्यान मालाएं मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र जैसे प्रदेशों में नियमित रूप से चलती हैं, वैसी ही यदि देश के अन्य भागों में भी चलें तो जन-सामान्य में बौद्धिक चिंतन और विचार-मंथन की बड़ी सार्थक प्रक्रिया प्रारंभ हो सकती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि आज के संकीर्ण और तनावग्रस्त भारतीय समाज में ऐसे चिंतन और मंथन की कितनी आवश्यकता है।

(दैनिक जागरण, 16-10-03)

उत्सव साझा संस्कृति का

भारतीय साहित्य में वसंत की अनंत चर्चा है। प्रकृति के उल्लास के अतिरिक्त इसे कामदेव के साथ जोड़े बिना इस उत्सव की सार्थकता अधूरी रह जाती है। शीतकालीन ऐसा कौन सा कवि है जिसने वसंत की महिमा का वर्णन न किया हो, किंतु धीरे-धीरे वसंत के आगमन का उत्साह इस देश में कम होता चला जा रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों में फूली हुई सरसों से वसंत का अहसास होता है। नगरों में तो उसके आगमन का पता नहीं लगता। इस दिन पीले वस्त्र पहनने की प्रथा भी समाप्त होती जा रही है। अब तो वसंत का पता केवल कलेंडर से चलता है, किंतु लाहौर का वसंतोत्सव आज भी अपने उत्साह और उमंग को पूरी तरह बरकरार रखे हुए है। इस शहर की अपनी एक संस्कृति है। विभाजन से पहले लाहौर को पूर्व का पेरिस कहा जाता था। पंजाबी में यह कहावत तो सदा दोहराई जाती है कि जिसने लाहौर नहीं देखा वह पैदा ही नहीं हुआ। पंजाबी चरित्र अतिरेक में जीने वाला चरित्र है चाहे वह भारतीय पंजाब हो अथवा पाकिस्तानी पंजाब। वह भरपूर प्यार करता है, किंतु जब मरने-मारने पर उतर आए तो लाशों का ढेर लगाते भी उसे देर नहीं लगती।

देश में विभाजन से पूर्व ही हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक दंगे भड़क गए थे। उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, महाराष्ट्र आदि कितने ही प्रदेशों में बुरी तरह नरसंहार हो रहा था। उस समय पंजाब शांत था। वहां तनाव रिस तो रहा था, परंतु विस्फोट की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई थी। मार्च 1947 में जब वहां दंगे भड़के तो उन्होंने सभी सीमाएं तोड़ दीं। देखते-देखते मुस्लिम बहुल पश्चिमी पंजाब से लगभग सभी हिंदू-सिखों का सफाया हो गया। वे या तो मारे गए या अपना घर-बार और धरती छोड़कर इस ओर आ गए। यही हाल पूर्वी पंजाब का हुआ था। यहां से मुसलमानों का लगभग सफाया हो गया। वे या तो

मारे गए या सीमा पार चले गए। लाहौर तथा पंजाब के कुछ अन्य भागों में वसंतोत्सव मनाने का विशेष प्रचलन महाराजा रणजीत सिंह ने लगभग 200 वर्ष पूर्व किया था। उस दिन लाहौर के शालीमार बाग के निकट सूफी फकीर माधो लाल हुसैन की मजार पर एक विशाल मेला था। उनके दरबारी, सामंत आदि सभी लोग वसंतोत्सव के लिए पीले परिधान सिलवाते और पहनते थे। लाहौर के सभी स्त्री-पुरुष पीले रंग के कपड़ों से अपने आपको सजाते थे। सारे नगर में गिद्धा और भंगड़ा नृत्यों की धूम मची रहती थी। खूब पतंगे उड़ाई जाती थीं। खाने-पीने के बाजार विशेष रूप से सजाए जाते थे। महाराजा रणजीत सिंह की मृत्यु (1839) के बाद भी लाहौर में वसंतोत्सव में कमी नहीं हुई। यह उत्सव सभी नगरवासियों के लिए अपने नगर में विशिष्ट उत्सव का रूप ले चुका था।

1947 के विभाजन के बाद ऐसा लगने लगा था कि अब लाहौर के लोग शायद इस उत्सव के प्रति वैसा उत्साह नहीं दिखाएंगे, क्योंकि नगर हिंदुओं-सिखों से पूरी तरह खाली हो चुका था। इस्लामी कट्टरपंथियों ने कहना शुरू कर दिया था कि वसंत तो हिंदू त्योहार है। मुसलमानों का इससे कुछ लेना देना नहीं है, किंतु लाहौर के मुसलमानों ने इस तर्क को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि जैसे लोहड़ी और बैसाखी त्योहार ऋतु परिवर्तन और कृषि से जुड़े हैं उसी प्रकार वसंत भी मौसम में आई बहार का त्योहार है। विभिन्न धर्मों के लोगों ने अपनी-अपनी कुछ धार्मिक मान्यताएं इसके साथ जोड़ लीं, किंतु यह इन सभी मान्यताओं से ऊपर जनमानस का त्योहार है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि लाहौर के निवासियों ने इसे विशेष रूप से अपने नगर के आनंद और उल्लास का प्रतीक मान लिया है। इसमें मजहब कहां आड़े आता है?

गत वर्षों में कट्टरवादी यह भरसक कोशिश करते रहे हैं कि लाहौर में वसंतोत्सव को गैर-इस्लामी करार देते हुए इस पर प्रतिबंध लगा दिया जाए। सैनिक शासन के दौरान अनेक फौजी तानाशाहों ने कट्टरपंथियों के दबाव में आकर इस पर प्रतिबंध लगाने का प्रयास किया, किंतु लाहौर निवासियों ने उनके प्रयोगों को सफल नहीं होने दिया। लाखों की संख्या में सड़कों पर निकलकर इसे और अधिक उत्साह से मनाने का निश्चय कर लिया। उनका ऐसा उत्साह देखकर किसी सरकार की इतनी हिम्मत नहीं हुई कि वह अपने निश्चय को लोगों पर बलात लाद सके। कट्टरवादियों ने हताश होकर लाहौर उच्च न्यायालय में एक पिटीशेन दायर की। इसमें कहा गया कि अदालत इस त्योहार पर कानूनी प्रतिबंध लगा दे, क्योंकि यह कार्य इस्लामी मान्यताओं के अनुरूप नहीं है। यह तो हिंदुओं-सिखों का त्योहार है जो लाहौर छोड़कर जा चुके हैं। यहां भी कट्टरपंथियों की हार हुई।

लाहौर उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि यह पूरी तरह प्रकृति से जुड़ा त्योहार है जिसे लाहौर निवासी लंबे समय से बड़े उत्साह और उमंग से मानते आ रहे हैं। इस पर प्रतिबंध लगाना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। लाहौर में वसंत के दिन सार्वजनिक पार्कों और मकानों की छतों पर शाम होते ही हजारों स्त्री-पुरुष जमा हो जाते हैं और

पतंगबाजी का दौर शुरू हो जाता है। यह पतंगबाजी सारी रात चलती है। एक दूसरे की पतंग काटने के लिए लोग बड़ी-बड़ी बैटरियों से रोशनी फेंकते हैं और अंधेरे में प्रतिपक्षी की पतंग को खोजते और काटते हैं। इस दिन होटल और खाने-पीने की दुकानें सारी रात खुली रहती हैं। पीले वस्त्रों से सजी हुई लड़कियां अपने गिद्धा नृत्य से त्योहार की रौनक बढ़ा देती है। पाकिस्तान के वर्जनाशील समाज में लड़कियां बहुत खुलकर त्योहारों में भाग नहीं ले पाती हैं, किंतु इस दिन वे किसी की नहीं सुनतीं।

लाहौर में वसंत त्योहार कई दिन तक मनाया जाता है। इस अवसर पर यहां सैलानियों की बड़ी भीड़ आती है। इन दिनों विशेष रेलगाड़ियां चलाई जाती हैं और हवाई यात्रा के विशेष प्रबंध किए जाते हैं। इनमें घोड़ों तथा अन्य पशुओं की बिक्री की मंडी लगती है। अनेक प्रकार की व्यावसायिक गतिविधियां इस अवसर पर उत्पन्न हो जाती हैं। अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियां इस समारोह में भाग लेती हैं। गायन-वादन की चारों ओर धूम मची रहती है। भारत और पाकिस्तान आज राजनीतिक दृष्टि से दो स्वतंत्र देश हैं और रहेंगे। ये दोनों देश निरंतर तनाव और अविश्वास की स्थिति में जीत रहे हैं। सभी मतभेदों के बावजूद दोनों देशों में अनेक समानताएं हैं जिनका आधार समान सांस्कृतिक पृष्ठभूमि है। पाकिस्तान के किसी नगर में घूमते समय आपको एक क्षण के लिए भी ऐसा नहीं लगता कि आप किसी पराए देश में हैं। वही भाषा, वही वेशभूषा, वही आचार-व्यवहार और वही गहरी आत्मीय भावना सभी ओर दिखाई देती है। 'हीर-रांझा' की प्रेमकथा लिखने वाले सूफी कवि सैयद वारिसशाह दोनों ओर के पंजाब के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि हैं।

इस समय भारत और पाकिस्तान के संबंधों ने नया और सकारात्मक मोड़ लिया है। इस स्थिति ने पाकिस्तान के निवासियों को उस तनाव से थोड़ी मुक्ति दी है जो दोनों देशों की तनी हुई मुट्ठियों से जन्म लेता रहा है। लाहौर के वसंतोत्सव के प्रति पाकिस्तान सरकार का रवैया इस समय बहुत अनुकूल दिखाई दे रहा है। कुछ समय पूर्व इस अवसर पर पतंग उड़ाने पर प्रतिबंध लगा दिया था। संगीत तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन को भी सरकार पसंद नहीं कर रही थी। हाल में ही हुई सरकारी घोषणा के अनुसार अब पतंग उड़ाने से प्रतिबंध हटा लिया गया है और सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजनों की छूट दे दी गई है। इस बात की भी संभावना है कि इस अवसर पर कुछ भारतीय कलाकार भी पाकिस्तान जा कर ऐसे कार्यक्रमों में भाग लें। यह भी खबर है कि वहां 5 से 15 फरवरी तक 'जश्ने बहारां' मनाया जाएगा जिसमें भारतीय पर्यटकों को भी भाग लेने की अनुमति दी जाएगी। प्रकृति और लोक जीवन से जुड़े कुछ त्यौहार समान सांस्कृतिक भूमि का निर्माण करने में बहुत सहायक हो सकते हैं। कितना अच्छा हो कि दोनों ओर के लोग वसंत के पीले रंग से एक दूसरे को सराबोर करें।

(दैनिक जागरण, 22-1-04)

पुरस्कार के साथ प्रतिबंध

वर्ष 2004 के पद्म सम्मानों की घोषणा हो गई। इस वर्ष 3 पद्मविभूषण, 19 पद्मभूषण और 74 पद्मश्री सम्मान दिए गए। भारत सरकार की ओर से गणतंत्र दिवस और स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर प्रतिवर्ष सेना और पुलिस कर्मचारियों को उनके उल्लेखनीय योगदान के लिए पुरस्कृत किया जाता है। अनेक सरकारी, अर्द्ध सरकारी तथा निजी संस्थाएं साहित्य, कला, वैज्ञानिक शोध, खेल, नई तकनीक के विकास आदि के लिए भी अनेक व्यक्तियों को पुरस्कृत या सम्मानित करती है, किंतु इन सभी में पद्म सम्मानों को विशिष्ट माना जाता है। फरवरी 1954 में भारत सरकार ने दो नागरिक पुरस्कारों की स्थापना की भारत रत्न और पद्मविभूषण। पद्मविभूषण की तीन श्रेणियां थीं—पहला वर्ग, दूसरा वर्ग और तीसरा वर्ग। जनवरी 1955 में इन नामों में संशोधन किया गया और चार पुरस्कारों की घोषणा की गई भारत रत्न, पद्म विभूषण पद्म भूषण और पद्म श्री।

'भारत रत्न' देश का सबसे बड़ा नागरिक सम्मान है जो कला, साहित्य, विज्ञान तथा लोक सेवा के क्षेत्र में दिए गए अतिविशिष्ट योगदान के लिए दिया जाता है। पद्म विभूषण, पद्म भूषण और पद्म श्री सम्मान किसी भी क्षेत्र में किए गए महत्वपूर्ण कार्य के लिए दिए जाने वाले नागरिक सम्मान हैं। ये सम्मान किसी भी नागरिक को धर्म, वर्ग, जाति, लिंग का भेदभाव किए राष्ट्रपति द्वारा दिए जाते हैं। सबसे पहले इन सम्मानों की घोषणा 15 अगस्त में की गई थी। बाद में यह निर्णय लिया गया कि ये सम्मान प्रति वर्ष 26 जनवरी को गणतंत्र दिवस पर घोषित किए जाएंगे। 1977 में जब केंद्र में जनता पार्टी की सरकार आई तो उसने इन पुरस्कारों को बंद कर दिया, इसलिए 1978 और 1979 में ये सम्मान किसी को नहीं दिए गए। जनवरी 1980 से इन्हें फिर से प्रारंभ किया गया। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, सर्वपल्ली डा. राधाकृष्णन और चंद्रशेखर वेंकटरमण को सर्वप्रथम भारत रत्न से सम्मानित किया गया। आज तक कुल 40 व्यक्तियों

को यह सम्मान मिल चुका है। गत दो वर्ष से किसी को यह सम्मान नहीं मिला है। आज तक जिन व्यक्तियों को अन्य तीन पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है उनकी संख्या तीन हजार से कुछ कम है। 1992 में केरल और मध्य प्रदेश के उच्च न्यायालयों में इन पुरस्कारों की वैधता को लेकर दो जनहित याचिकाएं दाखिल हुईं थीं। जनवरी 1993 में केंद्र ने निश्चय किया कि जब तक अदालतों द्वारा पुरस्कारों की वैधानिक स्थिति पर निर्णय नहीं दे दिया जाता, इनकी घोषणा नहीं की जाएगी। परिणामस्वरूप 1993 से 1997 तक ये पुरस्कार नहीं दिए गए।

15 दिसंबर 1995 में सर्वोच्च न्यायालय ने इन पुरस्कारों की वैधानिकता को मान्यता दे दी। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बहुमत से लिए गए इस निर्णय के अनुसार देश के उपराष्ट्रपति की अध्यक्षता में एक उच्चस्तरीय समीक्षा समिति की स्थापना की गई कि वह पद्म सम्मानों के लिए उचित दिशा निर्देश दे। इस कमेटी की सिफारिशों में कहा गया है कि इस सम्मान को प्राप्त करने के लिए किसी क्षेत्र में उत्तमता प्राप्त करना ही पर्याप्त नहीं हैं, उसमें जन सेवा का तत्व भी आवश्यक है। उदाहरण के लिए चिकित्सा अथवा शिक्षा के क्षेत्र में सेवा तथा जीवन भर की उपलब्धियों को भी मापदंड बनाया जाना चाहिए। इस संबंध में दूसरी सिफारिश यह की गई है कि ऐसे पुरस्कारों की कुल संख्या एक वर्ष में अधिकतम 60 होनी चाहिए। अब इसे एक सौ कर दिया गया है। पहले की भांति ये पुरस्कार गणतंत्र दिवस पर घोषित किए जाने चाहिए।

एक महत्वपूर्ण बात यह कही गई कि भारतरत्न को छोड़कर अन्य तीनों सम्मान, इस कार्य के लिए विशेष रूप से गठित सम्मान की सिफारिश पर ही दिए जाने चाहिए। यह सिफारिश पर ही दिए जाने चाहिए। यह सिफारिश भी की गई है कि नियमानुसार ये सम्मान (भारत रत्न को छोड़कर) किसी व्यक्ति को मरणोपरांत नहीं दिया जा सकता। हां यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु एक वर्ष के अंदर हुई हो तो उसे यह सम्मान दिया जा सकता है, किंतु यह बात अत्यंत सक्षम व्यक्ति के साथ, विरल स्थितियों में विशेष उल्लेखनीय बात यह भी थी कि ये सम्मान उपाधि खिताब अथवा पदवी नहीं है। इसलिए इन्हें अपने नाम से पहले या बाद में नहीं जोड़ा जा सकता। सम्मान प्राप्त कोई भी व्यक्ति 'पद्मश्री अमुक अथवा अमुक पद्मभूषण' जैसा नहीं लिख सकता। इस बात का उल्लंघन करने वाले से उनका यह सम्मान वापस लिया जा सकता है। हां, वह यह लिखा सकता है कि अमुक सम्मान प्राप्त।

इस संबंध में दो राय नहीं कि पद्म सम्मान इस देश में बहुत प्रतिष्ठित गरिमापूर्ण नागरिक सम्मान है और इनकी प्रतिष्ठा और गरिमा की रक्षा की जानी चाहिए, किंतु आखिर इन सम्मानों को अपने नाम के साथ जोड़ने पर इतने बंधन क्यों हैं? बहुत से लोग अपने नाम से पहले 'पद्मश्री' आदि लिखते हैं। मुझे पता नहीं कि उन्हें इस प्रतिबंध की जानकारी है भी या नहीं। आज तक इस कारण किसी से उसका सम्मान वापस लिया गया हो, मेरी जानकारी में नहीं है। सम्मान प्राप्त लोग पुरस्कार का अपने नाम के साथ जोड़ने पर इतने बंधन क्यों हैं? बहुत से लोग अपने नाम से पहले 'पद्मश्री'

उल्लेख करते रहें और नियम तोड़ने के अपराध भाव से पीड़ित रहें यह कोई अच्छी बात नहीं है। इससे तो स्वयं ऐसे सम्मान का निरादर होता है।

सेना में उच्च अधिकारियों को 'परमविशिष्ट सेवा मेडल' या 'अतिविशिष्ट सेवा मेडल' का सम्मान दिया जाता है। ऐसा सम्मान प्राप्त हर सेनाधिकारी अपने नाम के अंत में 'पी. वी. एस. एम.' या 'ए. वी. एस. एम.' लिखता है। देश के अनेक प्रतिष्ठित सम्मानों के साथ कुछ सुविधाएं भी जुड़ी होती हैं। साहित्य अकादमी के पुरस्कार के साथ धन भी जुड़ा है और सम्मान भी। कुछ पुरस्कारों के साथ हवाई अथवा रेल यात्रा की सुविधाएं जुड़ी होती हैं। संसद के सदस्यों को, सांसद न रहने के बाद भी बहुत सी आर्थिक सहायता और सुविधाएं मिलती रहती हैं। पद्‍म सम्मान प्राप्त करने वालों को क्या मिलता है? उसे यह आत्मिक संतोष तो मिलता है कि उसे यह सम्मान प्राप्त हुआ, समाज में उसकी कुछ प्रतिष्ठा भी बढ़ती है, किंतु रेल का टिकट खरीदने के लिए उसे सामान्यजन की ही तरह पंक्ति में खड़ा होना पड़ता है। किसी मसिजीवी लेखक अथवा समाज सेवी को, अपने आपको और अपने परिवार को जीवित रखने के लिए कितने ही पापड़ बेलने पड़ते हैं। यदि उसे उसके साहित्य अथवा समाज सेवा के लिए यह सम्मान मिल भी जाए तो उसकी भौतिक स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ता। इस वर्ष हिंदी के वरिष्ठ, बहुप्रतिष्ठित लेखक श्री विष्णु प्रभाकर को पद्‍म भूषण से सम्मानित किया गया है। इस समय उनकी आयु नब्बे वर्ष से अधिक है। लेखन से उनकी जो भी आय रही उसी से उनका गुजारा होता रहा है।

यह सभी जानते हैं कि केवल लिखकर कोई भी लेखक इतना नहीं कमा सकता कि वह न्यूनतम सुविधाओं के साथ जी सके। क्या पद्‍म सम्मानों के संदर्भ में भारत सरकार को अपनी नीति पर पुनर्विचार नहीं करना चाहिए? ऐसे पुरस्कारों की आत्मिक तृप्ति तो बहुत बड़ी है उसके साथ थोड़ी बहुत भौतिक तृप्ति भी प्राप्त हो तो सम्मान का संतोष बहुत बढ़ जाएगा। बहुत कम लोगों को पता है कि इस सम्मान के लिए गणयमान्य नागरिकों का चयन किस प्रकार किया जाता है? इस सम्मान में रुचि रखने वाले लोग स्वयं ही किसी व्यक्ति से अपने नाम का अनुमोदन करवाकर अपनी पत्रता का पत्र गृहमंत्रालय को भेज देते हैं। अनेक लोग जो सचमुच इस सम्मान के योग्य हैं, प्रकिया की अनभिज्ञता के कारण इससे दूर हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कई बार कम पात्रता के लोगों को सम्मान प्राप्त हो जाता है और योग्यता वरिष्ठता और बेहतर उपलब्धियों से सम्पन्न लोग इससे वंचित रह जाते हैं।

(दैनिक जागरण, 29-1-04)

सीमा पार एक नया समाज

जब कभी मुझे पाकिस्तान जाने का अवसर मिला, मुझे महसूस हुआ है कि वहां एक नया समाज उभर रहा है। आमतौर पर यह माना जाता है कि पाकिस्तानी समाज एक एकलतावादी समाज है। वहां केवल इस्लाम धर्म के अनुयायी रहते हैं। वह बहुत वर्जन शील समाज है। वहां महिलाओं की आजादी पर बहुत प्रतिबंध हैं। वे पर्दे में रहती हैं और बिना बुर्का पहने घर से बाहर नहीं निकलतीं। वहां मुल्लाओं, मौलवियों का बहुत प्रभाव है। कानून पूरी तरह 'शरीयत' की जंजीरों में कसा हुआ है। वहां जो भी थोड़े से गैर मुसलमान रहते हैं वे नागरिक अधिकारों से पूरी तरह वंचित और उन्हें गुलामों जैसा जीवन जीना पड़ता है। जनवरी मास की अंतिम तिथियों में लाहौर में आयोजित विश्व पंजाबी सम्मेलन के सिलसिले में मैं पाकिस्तान में था। इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए दिल्ली और पंजाब से सौ से अधिक प्रतिनिधि गए थे। विदेशों से भी कुछ लोग आए थे और पाकिस्तान के प्रत्येक क्षेत्र का वहां प्रतिनिधित्व था।

पांच दिन के लाहौर प्रवास में मैंने अनुभव किया कि पाकिस्तानी समाज अव वह नहीं है जो हमारी धारणाओं में बसा हुआ है। वह बदल रहा है और संसार के किसी भी समाज की भांति आधुनिक और प्रगतिशील दिखाई देता है। उदाहरण के लिए वहां अब पर्दानशीन औरतें बहुत कम दिखाई देती हैं। सड़कों, बाजारों, यहां तक कि घरों में मुस्लिम महिलाओं में न तो पर्दा दिखाई दिया, न बुरका। इस यात्रा में मेरे साथ मेरे मित्र डॉ. नरेंद्र मोहन भी थे। उनका जन्म लाहौर में हुआ था और विभाजन के बाद पहली बार वे पाकिस्तान गए थे। लाहौर का धर्मपुरा नामक मुहल्ला उनका जन्म स्थान है और स्कूल जीवन के कुछ वर्ष उन्होंने वहां व्यतीत किए थे। वह लाहौर के अपने

पुराने घर और मुहल्ले को देखने को आतुर थे। एक दिन शाम को हम समय निकाल कर धर्मपुरा गए। उन्हें याद था कि वहां बच्चा साहब नाम से एक गुरुद्वारा था और उदासी महंतों का किले जैसा एक डेरा था। धर्मपुरा का बाहरी हिस्सा तो बदल गया है, किंतु पुरानी गलियां वैसी ही दिखाई दीं। हम ढूंढते-ढूंढते उस स्थान पर पहुंच गए जहां पहले डेरा और गुरुद्वारा था। उस घर में अब झांसी से गया हुआ एक मुसलमान परिवार रहता है। उस घर के दो-तीन युवा लड़के हमें उस घर में ले गए।

लाहौर में आम घरों में पंजाबी बोली जाती है, पर इस घर में सभी उर्दूभाषी लोग थे। उस घर में हमें चाय पिलाई गई, गरमागरम गुलगुले खिलाए गए। परिवार के सदस्यों के साथ हमारी तस्वीरें खीचीं गईं। परदे का कोई निशान नहीं था। इसी प्रकार एक दिन हमारा दोपहर का भोजन एक समृद्ध और प्रतिष्ठित एडवोकेट के घर पर था। उस परिवार की मुस्लिम बहुओं-लड़कियों ने जींस पहनी हुई थी। वे अपने अतिथियों के साथ वैसा ही उन्मुक्त व्यवहार कर रही थीं, जैसा किसी भी भारतीय परिवार में होता है। इस यात्रा में हम लाहौर के पास शेखपुरा जिले में स्थित, गुरुनानक के जन्म स्थान ननकाना साहब भी गए। ननकाना साहब में लगभग 50 सिख परिवार रहते हैं। ये लोग वहां छोटा-मोटा व्यापार करते हैं। मैंने दो-तीन युवाओं से, जिनका जन्म विभाजन के बाद हुआ होगा, पूछा कि इस इस्लामी राज्य में रहने और जीने में उन्हें कैसा लगता है? वे लोग मुझे पूरी तरह संतुष्ट और सहज दिखाई दिए। उन्होंने कहा, हम पाकिस्तानी सिख हैं और पूरी आजादी से यहां जीते हैं। अपना धर्म पालन करने में भी हमें कोई कठिनाई नहीं होती। उनसे मुझे यह भी पता लगा कि पेशावर में लगभग चार सौ सिख परिवार रहते हैं। यहां के एक ऐतिहासिक स्थान गुरुद्वारा भाई जोगा सिंह के दर्शन करने के लिए विदेशों से बहुत से श्रद्धालु आते हैं।

संसार के लगभग सभी देश और समाज अब बहुलतावादी होते जा रहे हैं जिन्हें अंग्रेजी में 'प्लूरिस्टिक सोसायटी' कहते हैं। इसका अर्थ यही कि अब ऐसे समाज बनते जा रहे हैं जिनमें अनेक धर्मों, नस्लों, भाषाओं और विचारों के लोग बिना किसी भेदभाव के एक साथ जीते हैं और पूरी नागरिक स्वतंत्रता का उपभोग करते हैं। हम अपने देश में यह बात बड़े गौरव के साथ कहते हैं कि भारतीय समाज एक बहुलतावादी समाज है और भारतीय संविधान हमारे इस चरित्र का पूरी तरह संरक्षण करता है। एक दिन मैंने लाहौर के एक दैनिक समाचार पत्र में पाकिस्तान सरकार का एक विज्ञापन देखा। उसमें पाकिस्तान के विविध क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करता हुआ एक-एक चेहरा था। एक चेहरा बलोची था, एक पख्तूनी, एक पंजाबी, एक सिंधी। इनमें एक चेहरा एक सिख का भी था। कुछ और चेहरे भी थे। उनमें किसी हिंदू और ईसाई का चेहरा भी हो सकता है, किंतु सिख का चेहरा तो अलग से पहचाना जा सकता है।

पाकिस्तान सरकार ने बड़े गौरव से यह दावा किया था कि ये सभी पाकिस्तान

के नागरिक हैं। लाहौर में ही मुझे एक अधेड़ आयु के सिख सज्जन मिले। वे उस सम्मेलन में भाग लेने के लिए फैसलाबाद (पहले लायलपुर) से आए हुए थे। अपना परिचय देते हुए उन्होंने अपना नाम, सरनाम सिंह बताया। एक समय लायलपुर जिले में बड़े-बड़े सिख किसान थे जिन्होंने अपनी मेहनत से उस क्षेत्र को बहुत उपजाऊ बना दिया था। 57 वर्ष पूर्व विभाजन के समय हुए भयंकर रक्तपात में लगभग पूरी हिंदू-सिख आबादी का सफाया हो गया था। उन्हें देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने सरनाम सिंह से पूछा, क्या आपके नगर में कुछ सिख परिवार हैं। उसने बताया कि फैसलाबाद में कुल तीन ऐसे परिवार हैं जो विभाजन के समय सुरक्षित बच गए थे। ये परिवार सुखी और संपन्न हैं। पंजाबी सम्मेलन में मुझे इस बार अपने पुराने जिले (गुजरात) के कई लोग मिले।

जब मैंने अपने पूर्वजों के गांव, सराय आलमगीर के विषय में उन्हें बताया तो उनकी खुशी का ठिकाना नहीं रहा। उनमें से कुछ उसी गांव के रहने वाले थे। उन्होंने मुझे इस तरह घेर लिया जैसे बरसों से बिछुड़ा कोई भाई मिल गया हो। उन्होंने बहुत आग्रह किया कि सम्मेलन की समाप्ति के बाद मैं उनके साथ सराय आलमगीर चलूं जो इस समय बहुत विकसित हो गया है और अनाज की बहुत बड़ी मंडी बन गया है। मैं चाहते हुए भी उनके साथ नहीं जा सकता था, क्योंकि मेरे पास पाकिस्तान का केवल सात दिन का वीजा था। इन वर्षों में भारत और पाकिस्तान आपस में कई बार युद्ध कर चुके हैं। पाकिस्तान में इस समय कहीं कोई युद्धोन्माद नहीं दिखाई देता। वहां यह भावना बड़ी प्रबल होती जा रही है कि अमरीका की गुलामी करने की अपेक्षा भारत से मित्रता करना कहीं अधिक अच्छी बात है। आज जेहादियों और कट्टरपंथी मौलवी मुल्लाओं को वहां अच्छी नजर से नहीं देखा जाता। आम लोग मानते हैं कि धार्मिक आवेश में आकर भारत से संबंध बिगाड़ना और युद्ध के तनाव में निरंतर जीना कोई सार्थक नीति नहीं है, जिसमें हम गत छह दशकों से जीते आ रहे हैं।

वहां के अनारकली और चाचरी बाजार जैसे भीड़-भाड़ वाले बाजारों में घूमते समय ऐसा लगता था जैसे हम करोल बाग या चांदनी चौक में घूम रहे हैं। वही भाषा, वही चेहरे, वही मोलभाव। अंतर केवल यह था कि कुछ खरीदारी करने के लिए जब हम किसी दुकान के अंदर जाते थे तो दुकानदार हमें चाय या कोई ठंडा पेय पिलाए बिना निकलने नहीं देता था। आज पाकिस्तानी समाज में रूढ़ियों, वर्जनाओं और धार्मिक कट्टरताओं से मुक्त होकर एक खुला और प्रगतिशील समाज बनाने की तड़प दिखाई देती है। इस कार्य में वाघा सीमा के इस पार और उस पार बसा हुआ पंजाबी समाज बहुत आतुर दिखाई देता है। लोग बार-बार यही कहते थे कि भारत और पाकिस्तान में जब भी युद्ध होता है तो दोनों पंजाबों में बेहिसाब तबाही होती है। भारत की राजनीति में भारतीय पंजाब की भूमिका बहुत अहम नहीं है, किंतु पाकिस्तान की राजनीति में वहां का पंजाब बड़ी निर्णायक भूमिका निभाता है। पंजाब में पाकिस्तान की 60 प्रतिशत जनता

रहती है और शासन की नीतियों के लगभग सभी सूत्र इन्हीं के हाथों में होते हैं। यदि वहां के पंजाबी समाज में यह भाव घर कर जाए कि उसे भारत से सौहार्द्रपूर्ण संबंध रखने हैं और तनावपूर्ण वातावरण नहीं उत्पन्न होने देना है तो दोनों देशों में शांति की स्थिति बहुत अनुकूल बन सकती है।

(दैनिक जागरण, 26-2-2004)

कनाडा में भी एक पंजाब दिखता है

इन दिनों मैं कुछ समय के लिए कनाडा में आया हुआ हूं। वैंकुवर (ब्रिटिश कोलंबिया) की कुछ संस्थाएं गुरु ग्रंथ साहब के संपादन की चतुर्थ शताब्दी मना रही हैं। इसी के साथ द्वितीय गुरु–गुरु अंगद देव के जन्म की पंचशती भी इसी वर्ष पड़ती है। इसी वर्ष दिसंबर मास के अंतिम दिनों में गुरु गोबिंद सिंह के चारों पुत्र–अजीत सिंह, जुझार सिंह, जोरावर सिंह, और फतेह सिंह ने एक महान उद्देश्य के लिए अपने प्राणों को न्योछावर किया था। दो बड़े पुत्र–अजीत सिंह (18 वर्ष) और जुझार सिंह (14 वर्ष) चमकौर के मुगल सेनाओं से युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए थे, दो छोटे पुत्र–जोरावर सिंह (9 वर्ष) और फतेह सिंह (7 वर्ष) को सरहिंद के नवाब ने जिंदा दीवार में चुनवा दिया था। इन बलिदानों की इसी वर्ष तीसरी शताब्दी मनाई जा रही है।

स्वाभाविक है कि यह वर्ष संपूर्ण सिख संसार के लिए बहुत प्रेरक और महत्वपूर्ण है और इन अवसरों को मनाने के लिए संसार भर में आयोजन किए जा रहे हैं। इन्हीं संस्थाओं के निमंत्रण पर मैं इस देश में हूं।

कनाडा में भारतीय मूल के लोगों की बड़ी संख्या है। वैंकुवर में 22 प्रतिशत से अधिक व्यक्ति पंजाबी मूल के हैं। अभी हाल में हुए चुनावों में कनाडा की संसद के लिए चुने गए 8 सदस्य पंजाबी हैं। पंजाबी मूल के उज्जल दोसा, जो कनाडा के सबसे बड़े प्रांत ब्रिटिश कोलंबिया के मुख्यमंत्री भी रह चुके हैं, इस देश की केंद्रीय सरकार में स्वास्थ्य मंत्री नियुक्त हुए हैं।

आधिकारिक रूप से कनाडा की दो सरकारी भाषाएं हैं–अंग्रेजी और फ्रांसीसी।

किंतु पंजाबी का भी यहां बहुत बोलबाला है। वैंकुवर की सड़कों पर दिशा-निर्देश के लिए लगे हुए सरकारी बोर्डों पर अंग्रेजी के साथ ही पंजाबी (गुरुमुखी) में भी लिखा होता है। कनाडा सरकार पंजाबी सहित अनेक भारतीय भाषाओं को पढ़ाने के लिए अनेक सुविधाएं देती है।

मैंने नई दिल्ली से 'एयर कनाडा' से टोरांटो तक की यात्रा की। 16 घंटे की यह बिना रुके (नॉन स्टाप) यात्रा है। जहाज में प्रवेश करते ही भारतीय मूल की परिचारिका (एयर होस्टेस) हाथ जोड़कर सतश्री अकाल कहकर आपका स्वागत करती है। एक अन्य कर्मचारी पंजाबी में बोलता हुआ आपको आपकी सीट तक ले जाता है। उड़ान संबंधी सभी उद्घोषणाएं अंग्रेजी, फ्रांसीसी हिंदी और पंजाबी में भी जाती हैं। कनाडा में बसे हुए लोगों में पंजाबियों के अतिरिक्त गुजराती, हिंदी भाषी, दक्षिण भारतीय मूल के लोग भी अच्छी संख्या में हैं। व्यापार के क्षेत्र में गुजरात के लोगों का अच्छा-खासा प्रभाव है, किंतु मैंने देखा कि यात्रियों में 70 प्रतिशत पंजाबी थे।

यह बात भी बहुत विचित्र लगती है कि विदेशों में जाकर बसने और आर्थिक दृष्टि से अधिक संपन्नता प्राप्त करने की प्रवृत्ति पंजाबियों में पागलपन की सीमा तक है। नई दिल्ली में कनाडा का वीज़ा प्राप्त करने के लिए कनाडा उच्चायोग के सामने लोगों की लाइनें सुबह से ही लग जाती हैं। कुछ लोग तो रात में वहां आकर सो जाते हैं, जिससे सुबह वीजा के लिए खुलती हुई खिड़कियों पर उनका नंबर जल्दी आ जाए। यह देखकर भी बहुत खेद होता है कि वीजा लेने के लिए आए हुए सैकड़ों व्यक्तियों के लिए साधारण-सी मानवीय सुविधाओं का वहां पूरी तरह अभाव होता है। जो लोग लोहे के पाइपों से बने गलियारों में लाइन लगाकर कई-कई घंटे तक खड़े रहते हैं, उनके सिर पर तो कुछ छाया रहती है। लाइनों में खड़े होने की प्रतीक्षा में खुले आसमान के नीचे खड़े व्यक्तियों के लिए न पीने के पानी की कोई व्यवस्था होती है, न वर्षा अथवा कड़कती धूप से बचने का कोई उपाय होता है। विदेश जाने की ललक में लोग सभी प्रकार के कष्ट झेलते हैं।

पंद्रहवी शती के यूरोप की गोरी जातियों ने संसार के अनेक भागों की खोज करने और कुछ देशों से अपने व्यापारिक संबंध स्थापित करने की यात्राएं प्रारंभ की थीं। स्पेन का कोलंबस भारत की खोज करता हुआ अमेरिका की धरती पर पहुंच गया था। बाद में इस कार्य को पुर्तगाली वास्कोडिगामा ने पूरा किया और पश्चिमी तट पर गोवा में अपने पैर जमा लिए। इस अभियान में अंग्रेज, फ्रांसीसी, डच (हॉलैंड निवासी) भी किसी से पीछे नहीं थे। देखते-देखते संसार के विशाल भू-भाग पर इन गोरी जातियों का प्रभुत्व आ गया। वहां इन्होंने अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए।

उन्नीसवीं शती के अंतिम वर्षों से भारतीय मूल के लोगों ने विदेशों की इन नई कॉलोनियों में जाना प्रारंभ किया। जिन गोरी जातियों ने ये उपनिवेश बसाए थे, वहां

उन्हें जंगल काटने, सड़कें बनाने, खेती करने के लिए मजदूरों की जरूरत थी। अफ्रीकी और एशियाई देशों से मजदूरों के रूप में ऐसे बहुत से लोग इन उपनिवेशों में ले जाए गए। पंजाब से बहुत से लोग बेहतर जीवन की आशा लेकर अमेरिका और कनाडा जैसे देशों में जाने लगे। उन्नीसवीं शती के अंत और बीसवीं शती के प्रारंभ में पंजाबी मूल के बहुत से लोग यहां आ गए थे। 1910 में कनाडा के एब्सफोर्ड नगर में पहला गुरुद्वारा स्थपित हो गया था। हाल में ही कनाडा सरकार ने इस गुरुद्वारे को 'हेरिटेज' का स्तर प्रदान किया है।

वैंकुवर और उसके आसपास के अनेक नगरों—सरी, डेल्टा, रिचमंड, कलगेरी आदि में सिखों की बड़ी संख्या रहती है। इन नगरों में बहुत भव्य गुरुद्वारे बने हुए हैं। इनमें सरी का गुरुद्वारा सबसे बड़ा है।

25 जुलाई (रविवार) को इस गुरुद्वारे में गुरु हरिगोबिंद की स्मृति में 'मीरी पीरी' दिवस मनाया गया। मैं इस समारोह में उपस्थित था। मेरा अनुमान है कि इस समारोह में भाग लेने के लिए पचास हजार से अधिक पुरुष, स्त्री और बच्चे आए हुए थे। लगभग पूरे दिन यह आयोजन चलता रहा। सभी के लिए लंगर की व्यापक व्यवस्था थी। मुख्य गुरुद्वारा भवन के साथ बहुत लंबा-चौड़ा भू-भाग जुड़ा हुआ है, जिस पर गुरुद्वारे की प्रबंध समिति ने दो विशाल भवन वनाए हैं, जिनमें से बाहर आने वाले रागी, ग्रंथी, प्रचारक आकर ठहरते हैं।

इस समारोह की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसे जनहित के अनेक सेवाकार्यों से जोड़ा गया था। लंबे भू-भाग के रक्तचाप जांचने, मधुमेह का स्तर नापने, आंखों की परीक्षा करने, ई.सी.जी. द्वारा हृदय रोग की पहचान करने, श्वास रोगों की परीक्षा करने जैसी अनेक चिकित्सा संबंधी सुविधाएं सभी आगंतुकों के लिए मुफ्त उपलब्ध थीं। सभी के अपने-अपने शिविर लगे हुए थे। सभी शिविरों में प्रशिक्षित डॉक्टर सारा दिन उपलब्ध रहकर अपनी सेवाएं दे रहे थे।

यह मेरे लिए नया अनुभव था। हमारे देश में धार्मिक समारोहों को जनहित के कार्यों से जोड़ने की कोई प्रथा नहीं दिखाई देती। गुरुद्वारों में यह कार्य लंगर की व्यवस्था तक ही रहता है। अनेक धर्मप्राण व्यक्ति मंदिरों और दरगाहों के बाहर भूखों को भोजन कराने और खैरात करने में अपने सेवाकार्य की इतिश्री मान लेते हैं। मनुष्य की अन्य कितनी पीड़ाएं और समस्याएं हैं, इनकी ओर ध्यान देना, इनका उपचार करना, मनुष्य की मानसिक और शारीरिक शांति और स्वास्थ्य के लिए प्रयास करना भी धर्म का महत्वपूर्ण अंग है, इसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता।

मेरी मान्यता है कि जनहित के व्यापक संदर्भ से जुड़कर ही धर्म के सही स्वरूप की पहचान की जा सकती है। इसके अभाव में धर्म व्यक्ति की निजी कामनाओं की पूर्ति का साधन मात्र बनकर रह जाता है। 'मीरी-पीरी' दिवस के अवसर पर सरी गुरुद्वारा

कमेटी के प्रबंधकों ने जनहित के लिए जिस प्रकार के कार्य आयोजित किए थे, उसके लिए मैंने उन्हें बहुत साधुवाद दिया।

एक अन्य कार्य के लिए भी मैंने गुरुद्वारे के प्रबंधों की प्रशंसा की और उन्हें बधाई दी। यहां प्रतिवर्ष गुरुपर्व के अवसर पर नगर-कीर्तन (जुलूस) निकालने की प्रथा थी। इसके लिए उन्हें नगर की सरकार को हजारों डॉलर देने पड़ते थे। कुछ घंटों के लिए यातायात रुक जाता था अथवा उसका मार्ग बदल दिया जाता था। इससे सामान्य जनता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। इस वर्ष प्रबंधकों ने नगर-कीर्तन को शहर की सड़कों पर न ले जाने का फैसला किया। नगर-कीर्तन निकला, किंतु वह गुरुद्वारे के भूखंड तक ही सीमित रहा। इससे न केवल नगर की सरकार को दी जाने वाली धनराशि बच गई, सामान्य नागरिकों को अनेक असह्य कठिनाइयों का भी सामना नहीं करना पड़ा।

हमारे देश में ऐसे नगर-कीर्तनों, जुलूसो शोभा-यात्राओं की धूम मची रहती है। ऐसे आयोजनों से कई-कई घंटों तक नगरों की सारी यातायात व्यवस्था बुरी तरह बाधित हो जाती है। यातायात के रुक जाने के कारण बहुत से लोग सही समय पर रेलवे स्टेशन अथवा हवाई अड्डे पर नहीं पहुंच पाते। बसों से यात्रा करने वाली विशाल जनसंख्या इधर-उधर भटकती फिरती है।

मेरी दृष्टि में इस प्रकार के नगर-कीर्तन, जुलूस और शोभायात्राएं आज के समय में अपनी संगति पूरी तरह खो चुकी हैं। इनसे जितनी जल्दी मुक्ति पाई जाए उतना ही अच्छा है। लेकिन इन्हें रोकना तो दूर रहा, इनका चलन तेजी से बढ़ता जा रहा है। अब तो चुनाव लड़ने वाला उम्मीदवार जब संबंधित अधिकारी के कार्यालय में जाकर अपनी नामज़दगी का पर्चा दाखिल करता है तो बड़ा, लंबा-चौड़ा जुलूस लेकर वहां तक पहुंचता है। सभी क्षेत्रों में प्रदर्शन और दिखावा हमारी जीवन-पद्धति का अंग बन गया है—चाहे वह धर्म हो, राजनीति हो, कोई सामाजिक उपलब्धि हो अथवा नितांत निजी सफलता हो।

इस स्थिति में सरी गुरुद्वारे के प्रबंधकों ने अपने जुलूस को नगर की सड़कों पर न ले जाने का निर्णय लेकर एक आदर्श उपस्थित कर दिया है।

(दैनिक जागरण, 27-07-04)

वृद्धावस्था की मुसीबतें

पश्चिमी देशों में वृद्ध स्त्री-पुरुषों को संभालना और उनकी उचित देखभाल करना बहुत बड़ी समस्या है। रहन-सहन में सुधार, स्वास्थवर्द्धक भोजन, चिकित्सा सुविधाओं ने मनुष्य की आयु बढ़ा दी है। पश्चिमी देशों और जापान में व्यक्ति की औसत आयु 75 और 80 वर्ष तक पहुंच गई है। यह स्थिति भारत में में भी आ रही है। यहां भी औसत आयु 60 का आंकड़ा पार कर गई है। हमारे देश में साठ पार किए व्यक्ति को वरिष्ठ नागरिक (सीनियर सिटीजन) मान लिया जाता है। इस दृष्टि से उन्हें कुछ सुविधाएं भी मिलने लगी हैं। सामान्यतः 60 वर्ष की आयु तक के व्यक्ति की सक्रिय आयु मानी जाती है। नौकरी में सेवारत ऐसे व्यक्ति इस आयु के आसपास सेवानिवृत्त हो जाते हैं।

सेवानिवृत्ति तक उनका जीवन बहुत सक्रिय रहता है, किंतु उसके बाद दस-बीस वर्ष जीना आज आम बात हो गई है। ये वर्ष या तो व्यक्ति के सबसे सुखद वर्ष होते हैं अथवा सबसे दुःखद वर्ष होते हैं। जो लोग इन वर्षो को कोई सार्थक दिशा दे लेते हैं वे अपनी बढ़ी हुई आयु के बावजूद सक्रिय जीवन जीते रहते हैं। जिन्हें इस प्रकार की कोई दिशा नहीं मिलती उनमें सेवानिवृत्ति के बाद बुढ़ापा तेजी से दिखने लगता है और प्रायः मृत्यु की घंटी भी जल्दी बजने लगती है। विदेशों में बसे हुए भारतीय परिवारों के वृद्धजनों की समस्याओं के आयाम कुछ अलग हैं। कनाडा में बसे भारतीय यदि अपने माता-पिता को अपने पास बुलाते हैं तो दस वर्ष तक उन्हें वहां की सरकार की ओर से बुढ़ापा-पेंशन नहीं मिलती। उन्हें पूरी तरह अपनी संतान पर आश्रित रहना पड़ता है। आर्थिक दृष्टि से यहां जिस प्रकार का संघर्ष है, उसमें पति-पत्नी दोनों ही कोई न कोई काम करते हैं। यहां घरों में नौकर रखने अथवा घरेलू काम करने के लिए या

अल्पसमय की काम करने वाली महिलाओं को लगा लेने की न कोई सुविधा है न रिवाज है। घर का सभी प्रकार का काम स्वयं ही करना पड़ता है। काम पर जाने वाले पति-पत्नी, उनकी युवा संतानें भी काम पर चली जाती हैं। बच्चे स्कूल चले जाते हैं, घर में सिर्फ बूढ़े मां-बाप रह जाते हैं, जो बड़ी कठिनाई से अपना दिन काटते हैं। वैंकुवर और सरी के गुरुद्वारों में मैंने ऐसे वृद्ध स्त्री-पुरुषों के लिए बहुत अच्छी व्यवस्था देखी। यहां गुरुद्वारा भवन के साथ ही ऐसे भवन भी बने हुए हैं जहां वृद्धजनों की देखभाल, मनोरंजन, अध्ययन, पाठ का पूरा प्रबंध रहता है।

वृद्धजन गुरुद्वारा पहुंचकर पहले ऊपरी मंजिल में कथा-कीर्तन सुनते हैं। फिर नीचे आकर लंगर के प्रबंध में लग जाते हैं। लंगर हाल के एक ओर बहुत से स्त्री-पुरुष, सब्जी, सलाद और फ्रूट काटने में लगे रहते हैं। कितने ही लोग जूठे बर्तन धोने और फर्श तथा हाल में बिछी कुर्सियों-मेजों की सफाई करते दिखाई देते हैं। कुछ वर्ष पहले वहां बड़ी तेजी से यह विवाद उत्पन्न हो गया था कि क्या कुर्सियां मेजों पर बैठकर लंगर खाया जा सकता है? भारत में व्यापक रूप से दरी-चादर बिछाकर पंगत में लंगर खाने की परंपरा है। कनाडा में सिख आज से सौ वर्ष पहले आकर बसने लगे थे। वे अपने साथ अनेक धार्मिक क्रियाएं और सामाजिक परंपराएं भी ले आए थे। उसी समय से यहां गुरुद्वारे भी बनने लगे, किंतु यहां की असहनीय शीत में गर्म ऊनी कपड़े, ओवरकोट पहनकर धरती पर बैठकर लंगर खाना उनके लिए बहुत कठिन था। इस कारण यहां मेज-कुर्सी पर बैठकर लंगर खाने की प्रथा प्रारंभ हो गई। कभी किसी ने कोई आपत्ति नहीं उठाई। कुछ वर्ष पहले जब भाई रणजीत सिंह अकाल तख्त के जत्थेदार थे। उन्होंने एक हुक्मनामा जारी कर दिया था कि मेज-कुर्सियों पर लंगर खाना सिख-मर्यादा के प्रतिकूल है। उनके इस आदेश से कनाडा में बसे सिखों में गहरा मतभेद उत्पन्न हो गया। उदार विचारों वाले लोगों का मत था कि यहां लगभग एक सौ वर्ष से मेज-कुर्सी पर बैठकर लंगर खाने की प्रथा है। इस दौरान बड़े-बड़े सिख नेता और धार्मिक प्रचारक और उपदेशक यहां आते रहते हैं। कभी किसी ने यह नहीं कहा कि यह प्रथा सिख मर्यादा के विरुद्ध है, किन्तु कट्टरपंथी विचारों के लोगों का कहना था कि यह हुक्मनामा अकाल तख्त के जत्थेदार द्वारा जारी किया गया है। इसका पालन किया जाना चाहिए और लंगर हाल से कुर्सियां-मेजें हटा दी जानी चाहिए।

विवाद इतना बढ़ा कि उदार और कट्टरपंथी गुट आपस में टकराने लगे। कुछ हिंसक घटनाएं भी हुईं और स्थानीय पुलिस को हस्तक्षेप भी करना पड़ा। उस समय मैंने इस बात पर आग्रह किया था कि लंगर की मूल भावना को समझना चाहिए। गुरु नानक देव तथा परवर्ती गुरुओं ने जब लंगर का चलन प्रारंभ किया जब समाज ऊंच-नीच, जात-पात, छुआ-छूत में बुरी तरह बंटा हुआ था। साथ-साथ बैठकर भोजन करना तो दूर लोग एक दूसरे का छुआ हुआ पानी भी नहीं पीते थे। गुरु नानक देव ने सामाजिक

समता का भाव उत्पन्न करने के लिए सामूहिक भोजन या लंगर की प्रथा को प्रोत्साहित किया। लंगर कोई धार्मिक अनुष्ठान नहीं है। वह सामाजिक समता उत्पन्न करने का एक शक्तिशाली माध्यम है। लंगर कहां और किस प्रकार बैठकर खाया जाता है, यह महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण यह है कि लंगर की मूल भावना को खंडित तो नहीं किया जा रहा है। ऐसा तो नहीं हो रहा है कि तथाकथित उच्च जातियों और नीची समझी जाने वाली जातियों के लोगों के लिए लंगर अलग-अलग तो नहीं पकाया जा रहा है? कनाडा में आज भी उदारपंथियों और कट्टरपंथियों में यह विवाद बना हुआ है। दोनों वर्गों के गुरुद्वारे अलग-अलग हो गए हैं। उदारपंथियों द्वारा नियंत्रित गुरुद्वारों में लंगर मेज-कुर्सियों पर खाया जाता है और कट्टपंथियों द्वारा नियंत्रित गुरुद्वारों में धरती पर बैठकर ही लंगर खाया जाता है। यहां के सिखों में व्यापक स्वीकृति उदार लोगों के साथ है। पिछले वर्षों में चुनावों में उन्हीं की जीत हुई है और सभी प्रमुख गुरुद्वारों पर उन्हीं का नियंत्रण है। सरी का गुरुनानक सिख गुरुद्वारा ऐसा ही एक स्थान है। इस गुरुद्वारे में चार पांच सौ वृद्ध स्त्री-पुरुष मुझे सदैव दिखाई दिए। प्रातः जलपान से लेकर रात्रि भोजन तक लंगर की सेवा अनवरत चलती रहती है। रविवार के दिन विशेष आयोजन होता है। अन्य दिनों में अपनी अनेक समस्याएं लेकर युवा पीढ़ी के स्त्री-पुरुष आते रहते हैं। सभी लंगर की सेवा करते हैं और लंगर छकते भी हैं।

मैंने प्रारंभ में ही यह बात कही कि वृद्धजनों की सबस बड़ी समस्या यह है कि जीवन के शेष बचे हुए वर्षों को वे किस प्रकार सार्थकता प्रदान करें? अर्थशून्य जीवन जीना अनेक रोगों को आमंत्रित करता है। यह शून्यता और अर्थहीनता उन्हें मनोरोगी भी बना देती है। प्रायः वे अपने पुत्रों-बहुओं के लिए बोझ बन जाते हैं। ऐसे वृद्धों की कितनी कहानियां हमारे सामने नित्य आती रहती हैं। यहां आकर मैंने अनुभव किया कि इस प्रकार के धर्म-स्थान समाज में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। जीवन में सेवा से बढ़कर कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। वृद्धावस्था में जब व्यक्तियों को इस प्रकार की सुविधाएं प्राप्त हो जाती हैं तो उन्हें अपना जीवन अर्थपूर्ण तो लगता ही है, उनमें लोगों के साथ मिल-जुलकर कार्य करने का सामाजिक भाव भी विकसित होता है।

(दैनिक जागरण, 12-8-04)

किस प्रकार विलुप्त होती हैं संस्कृतियां

कनाडा की राजधानी ओटवा के मुख्य भाग (डाउन टाउन) से गुजर रहा था, मुझे सड़क के किनारे एक फुटपाथ पर तीन-चार लोग बैठे हुए दिखाई दिए। उनके कपड़े गंदे थे, चेहरे पर बेतरतीब ढंग से उगी हुई छोटी दाढ़ी थी, आंखें कुछ नशीली-सी दिखाई दे रही थीं। उनमें से एक व्यक्ति वायलिन बजा रहा था। उनकी चमड़ी का रंग मटमैला सांवला था। मैंने यह भी देखा कि उनके पास से गुजरते हुए कुछ लोग उनके पास कुछ सिक्के रखकर आगे बढ़ जाते थे।

मेरे साथ मेरा बड़ा पुत्र और पुत्रवधू थे, जो पिछले एक वर्ष से कनाडा के इस नगर में आए हुए हैं। मैंने पूछा—"क्या ये लोग भिखमंगे हैं?" पुत्र ने कहा—"नहीं, ये यहां के आदिवासी हैं, जिन्हें इंडियन कहा जाता है।"

फिर उसी ने बताया—"जो लोग हमें दिखाई दिए वे मादक पदार्थों के आदी हैं। नशीली दवाएं पीना और सड़कों के किनारे खड़े होकर, वायलिन बजाकर, कुछ पैसे जमा करना इनका पेशा है।"

मैंने पूछा—"क्या सरकार इनके लिए कुछ नहीं करती?"

"सरकार इनके लिए बहुत कुछ करती है।" उसने बताया—"इन्हें बेकारी भत्ता मिलता है। अस्पतालों में इनका मुफ्त इलाज होता है लेकिन इनमें से कुछ लोगों के जीवन की यह पद्धति बन गई है।"

पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी में जब यूरोप की अनेक साहसी जातियों ने संसार के नए-नए भागों की तलाश शुरू की, उनमें स्पेनी, पुर्तगाली, डच, अंग्रेज और फ्रांसीसी प्रमुख थे। ये लोग वहां की सरकार की सहायता से संसार के अन्य भागों से व्यापार करने और

वहां अपने उपनिवेश स्थापित करने के उद्देश्य से अपने छोटे-बड़े समुद्री जहाजों से फैलना शुरू हुए। जहां ये जातियां गईं वहां की अपनी संस्कृति थी, राज्य-व्यवस्थापी, रहने-सहने का ढंग था। इनमें भारत जैसा विकसित देश भी था और अमेरिका और अफ्रीका जैसे महाद्वीप भी थे मनुष्य की प्राग-ऐतिहासिक जीवन शैली की प्रमुखता थी।

भारत जैसे देश में ये जातियां अपने उपनिवेश स्थापित करने में अवश्य सफल हुईं। अंग्रेजों ने लगभग पूरे देश पर अपना शासन भी स्थापित कर लिया। किंतु वे यहां की संस्कृति और जीवन-पद्धति पर गहरा निशान छोड़ने में अधिक सफल नहीं हुए। किंतु उत्तर और दक्षिण अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड जैसे क्षेत्रों पर जब गोरी जातियों ने अपना अधिकार जमा लिया तो वहां के मूल निवासियों, उनकी संस्कृति, भाषा, जीवन पद्धति को नष्ट करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। या तो उन्हें जंगलों और दूरस्थ भागों में खदेड़ दिया गया अथवा उन्हें दूसरे दर्जे का नागरिक बनाकर रखा गया और उनके साथ गुलामों जैसा व्यवहार किया गया। कुछ सीमा तक यह स्थिति आज भी हैं।

शुक्रवार, 3 अगस्त 1492 की प्रातः तीन छोटे जहाज जिनमें सबसे बड़ा कुल 60 फुट लंबा था, स्पेन के पालोस बंदरगाह से चले। इस अभियान का नेता क्रिस्टोफर कोलम्बस था। यह मानवीय इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण यात्रा थी, जिसके माध्यम से आज संसार के सबसे समृद्ध देश अमेरिका की खोज हुई। दो महीने से अधिक की अनवरत और कष्टदायी यात्रा के पश्चात् उसे प्रकाश दिखाई दिया और अगली प्रातः कोलम्बस वेस्ट इंडीज के एक द्वीप, जिसे आज सान सलवेडर कहते हैं, अपने साथियों के साथ पहुंचा। इस प्रकार अमेरिका की खोज ही गई।

अमेरिका, कनाडा आदि के आदिवासियों को रेड इंडियन या इंडियन कहा जाता है। इन्हें यह नाम क्यों और कैसे मिला मेरे लिए यह रहस्य है। मैंने यह पढ़ा था कि कोलम्बस स्पेन से भारत की खोज करने चला था, किन्तु यह अमेरिका पहुंच गया। उसने सोचा कि वह इंडिया पहुंच गया है, इसलिए उसने यहां के मूल निवासियों को इंडियन कहना प्रारंभ कर दिया जिन्हें बाद में रेड इंडियन कहा जाने लगा।

यहां आकर मैंने कुछ पुस्तकें पढ़ीं। इनमें कहीं मुझे इस बात का उल्लेख नहीं मिला।

यहां के इतिहासकारों का मत है ये इंडियन एशिया से यहां आकर बसे। जब कोलम्बस यहां आया, उससे कई शताब्दियां पहले ये लोग यहां आ गए थे। यहां उन्होंने विविध प्रकार की जीवन शैलियाँ ओर जीवन पद्धतियां विकसित कीं। उत्तर अमेरिका में इनके द्वारा तीन सौ से अधिक भाषाएं बोली जाती थीं। उस समय शिकार करना और मछली पकड़ना ही इनका मुख्य कार्य था। यही इनका भोजन था। उनके कबीलों में भैंसों का शिकार करना प्रचलित था।

सोलहवीं सदी के प्रारंभ में स्पेनी लोग यहां घोड़े ले आए। इससे पहले यह जीव

यहां नहीं था। और आदिवासी सारा काम पैदल ही करते थे। स्पेनी घोड़े पहले **मैक्सिको** में लाए गए फिर उत्तर की ओर उनका प्रसार होने लगा। घोड़ों के आ जाने से **इंडियन** लोगों के जीवन में बड़ा परिवर्तन आ गया। अब वे घोड़ों पर चढ़कर जानवरों का शिकार करने लगे।

यूरोप की गोरी जातियों के आगमन से इनकी परंपरागत जीवन शैली में नई चीज़ आ गई। गोरे लोग अपने साथ अनेक धातुएं उनसे बने हुए बर्तन, कंबल, ऊनी वस्त्र और हथियार ले आए। इसकी हिंसात्मक प्रतिक्रिया भी हुइ। दोनों में लड़ाइयां भी होने लगीं। उस समय तक यूरोप में बारूद का प्रयोग प्रारंभ हो गया था और बंदूक जैसे आग्नेय अस्त्रों का निर्माण होने लगे था। यहां के आदिवासियों पर गोरी जातियों ने इन अस्त्रों का प्रयोग करना प्रारंभ कर दिया। जिनके सामने इंडियन लोगों का टिकना बहुत कठिन हो गया।

इस नए संसार में अपनी बस्तियां स्थापित करने में स्पेनी और पुर्तगाली लोगों की पहल थी। सोलहवीं सदी के अंतिम वर्षों में ब्रितानी और फ्रांसीसी लोगों ने उन्हें चुनौती देनी प्रारंभ कर दी। सन् 1603 और 1630 के बीच अंग्रेज, फ्रांसीसी और हालैंड निवासियों (डच) ने अमेरिका में अपनी पक्की बस्तियां स्थापित कर लीं।

कनाडा में अपने पैर जमाने का कार्य सबसे पहले फ्रांसीसियों ने किया। 1603 में कुछ फ्रांसीसियों व्यापारियों ने फ्रांस के राजा से अनुमति लेकर एक कंपनी स्थापित की। इस प्रयास का मुखिया सैमुएल डे चंपलेन था। उसी के प्रयासों से क्यूबेक में फ्रांसीसी बस्ती स्थापित हुई। क्यूबेक आज कनाडा राज्य का फ्रांसीसी बोलनेवाला एक प्रान्त है और सभी दृष्टियों से बहुत विकसित है।

इस बीच अमेरिका के बड़े भाग पर अंग्रेजों को प्रभुता स्थापित हो गई थी। उन्होंने उत्तर की ओर पैर पसारने शुरू किए और कनाडा के बड़े भू-भाग को अपने अधिकार में ले लिया। अपनी प्रभुता के लिए अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में लंबे समय तक संघर्ष चलता रहा। इस संघर्ष में फ्रांसीसी धीरे-धीरे पराजित होते गए और सारा क्षेत्र अंग्रेजों की छत्र छाया में आ गया। आज संयुक्त राज्य अमेरिका एक स्वतंत्र गणराज्य है, किंतु कनाडा लंबे समय तक ब्रिटिश साम्राज्य का भाग बना रहा।

1914 में कनाडा को 'डोमीनियन स्टेटस' प्राप्त हुआ। उस समय से वह ब्रिटिश साम्राज्य का उस अर्थ में एक भाग नहीं रहा, जैसा पहले था। कनाडा पूरी तरह स्वायत्त और स्वतंत्र राष्ट्र बन गया। वह ब्रिटिश राष्ट्र मंडल (कामनवेल्थ) का सदस्य बना रहा और औपचारिक रूप से ब्रिटेन के सम्राट या साम्राज्ञी के प्रति अपने वफादारी से जुड़ा रहा। 15 अगस्त 1947 से 26 जनवरी 1950 तक, जब तक गणराज्य की घोषणा नहीं की गई थी, भारत की भी यही स्थिति थी। संवैधानिक रूप से ब्रिटेन की महारानी आज भी इस देश की मुखिया है और कनाडा सरकार की सिफारिश पर वही इस देश के गवर्नर

जनरल की नियुक्ति करती है। कनाडा के करेंसी नोटों पर आज भी ब्रिटेन की महारानी की तस्वीर छपी होती है।

इस प्रकार वर्तमान कनाडा की रचना में तीन जातियों की मूल भूमिका है—यहां के आदिवासी इंडियन, फ्रांसीसी और अंग्रेज।

पिछले सौ वर्ष में संसार के अनेक भागों से बड़ी संख्या में आप्रवासी भी इस देश में आकर बसे हैं। उन्होंने आर्थिक समृद्धि भी प्राप्त की है और देश की शासन व्यवस्था में अपनी सक्रिय भागीदारी स्थापित कर ली है। आप्रवासियों में चीनी सबसे अधिक हैं। उसके बाद भारतीय मूल के लोग हैं। श्रीलंका, पाकिस्तान, बंगला देश, फिलीपींस, जापान, लेबनान, अफ्रीकी देशों से आए लोगों की गिनती निरन्तर बढ़ती जा रही है। इस समय इस देश की गवर्नर जनरल चीनी मूल की एक महिला है और केंद्र सरकार का कैबिनेट स्तर का स्वास्थ्य मंत्री पंजाबी है।

किंतु इंडियन कहे जाने वाले लोगों का क्या हाल है? अनुमानतः बीस प्रतिशत लोग इस वर्ग के हैं। इतनी बड़ी संख्या के बावजूद यहां के राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन में इनका कोई विशेष स्थान नहीं है। यदि कुछ हैं भी तो वह बहुत सकारात्मक नहीं हैं।

क्षेत्रफल की दृष्टि से कनाडा बहुत बड़ा देश है (भारत से पांच गुना बड़ा) किंतु आबादी की दृष्टि से वह भारत का पच्चीसवां भाग भी नहीं है। इस देश का विशाल उत्तरी भाग बर्फीला है जिसमें कहीं-कहीं यहां के आदिवासी अपने सदियों पुराने ढंग से रहते हैं, अन्यथा यह प्रदेश पूरी तरह निर्जन हैं।

अभी पिछले दिनों कुछ लोगों द्वारा यह प्रस्ताव लाया गया कि इस देश के सर्वोच्च न्यायालय के नौ जजों में से एक जज इन आदिवासियों में से होना चाहिए। यहां की बार एसोसिएशन की वार्षिक बैठक में यह प्रस्ताव लाया जाना था किंतु अंतिम क्षणों में इसे स्थापित कर दिया गया। इस पर वकीलों में ही वहुत विवाद होने लगा। कुछ ने आपत्ति की कि यदि इस मांग को स्वीकार कर लिया गया तो अन्य अल्पसंख्यक समुदाय भी ऐसी ही मांग करेंगे।

इस समय संपूर्ण कनाडा में 20 आदिवासी जज हैं किंतु इनमें से कोई भी 'आंटारियों कोर्ट ऑफ अपील' में नहीं बैठता। यहां की परंपरा यही है कि इस कचहरी में बैठने वाला जज ही सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनता है।

कनाडा की धरती पर आकर यह पता लगता है कि संस्कृतियां किस प्रकार मिटती हैं, किस प्रकार अपना रूप-रंग बदलती हैं, किस प्रकार वे वाहर से लाई गई संस्कृति में रंग कर अपना मूलरूप गवां बैठती हैं। आज उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के देशों पर यूरोपीय संस्कृति भाषा, वेशभूषा, खान-पान और जीवन के आदर्श पूरी तरह छाए हुए हैं। संसार के विभिन्न भागों से गए हुए आप्रवासी अपनी सांस्कृतिक पहचान को

बचाए रखने का कुछ प्रयास करते रहते हैं। उनके सामने भी सदैव यह प्रश्न झूलता रहता है कि क्या उनकी आने वाली पीढ़ियां अपनी पहचान बनाए रख सकेंगी।

मैं नहीं जानता कि इस देश के आदिवासियों का बुद्धिजीवी वर्ग इस संबंध में क्या सोचता है? लगता यही है कि आने वाले वर्षों में ये लोग भी यूरोपीय संस्कृति के रंग में रंग जाएंगे। इनकी पहचान केवल इनकी चमड़ी के रंग से ही हो सकेगी।

(दैनिक जागरण, 26-8-2004)

संचार माध्यमों ने संसार को बहुत छोटा कर दिया है

एक समय था जब घर का कोई व्यक्ति विदेश जाता था तो यह मान लिया जाता था कि वह सात समुंदर पार विलायत जा रहा है, पता नहीं उससे कब भेंट होगी, होगी या नहीं? उससे संपर्क के सभी सूत्र टूट से जाते थे। आज की स्थिति यह है कि मुझे कनाडा आए एक महीने से अधिक हो गया है, किंतु मुझे यह महसूस नहीं होता कि मैं भारत से दूर हूं। दिल्ली में अपने परिवार से मैं लगभग प्रतिदिन टेलीफोन से बात कर लेता हूं।

इस देश में हिंदी, पंजाबी आदि भाषाओं में रेडियो और टेलीविजन के कार्यक्रमों का बहुत अच्छा नेटवर्क है। उन्हें देखकर ऐसा नहीं लगता है कि आप अपनी धरती से बहुत दूर बैठे हुए हैं। बैंकुवर (ब्रिटिश कोलम्बिया) में एक पंजाबी महिला, सुश्री सुषमा, अपना रेडियो और टी. वी. स्टेशन पिछले अनेक वर्षों से बड़ी सफलतापूर्वक चला रही हैं। पांच वर्ष पहले भी मैं यहां आया था। उस समय भी उन्होंने अपनी संस्था रिमझिम द्वारा दोनों ही माध्यमों से मुझसे लंबी बातचीत की थी। इस बार भी उनके रेडियो और टी. वी. कार्यक्रमों में मैंने भाग लिया।

रिमझिम द्वारा प्रसारित कार्यक्रम भारत की अनेक भाषाओं में दिन के 24 घंटे और सप्ताह में सातों दिन चलते रहते हैं। इस बार मुझे सॅरी नगर के रेडियो इंडिया ब्रांडकास्टिंग पर भी बुलाया गया। यह रेडियो स्टेशन भी पूरे सप्ताह 24 घंटे चलने वाला स्टेशन है। इस स्टेशन पर 'टाक.शो' नाम का एक रोचक कार्यक्रम होता है। इस कार्यक्रम

में जिस व्यक्ति से साक्षात्कार किया जाता है, उससे श्रोताओं की सीधी बातचीत कराई जाती है। श्रोता स्टूडियों में लगी टेलीफोन लाइनों के माध्यम से आए मेहमान से प्रश्न पूछते हैं। आगंतुक उनके प्रश्नों के उत्तर देता है।

इस टॉक शो में एक दिन श्रोता मुझसे दो घंटे तक बातचीत करते रहे। भारत की वर्तमान राजनीति आर्थिक नीति, सांस्कृतिक और साहित्यिक गतिविधियों के संबंध में श्रोताओं की जिज्ञासा देखकर मुझे सुखद आश्चर्य हुआ। भारत से हजारों किलोमीटर दूर होते हुए भी यहां के लोग अपनी मूल भूमि से गहरा सरोकार महसूस करते हैं और यहां की समस्याओं से पूरी तरह अवगत होना चाहते हैं।

इस देश में अपना रेडियो या टेलीवीजन चैनल स्थापित कर लेना कोई कठिन समस्या नहीं है। आज भारत में भी यह कोई समस्या नहीं है। यहां कुछ उत्साही लोग किसी स्थापित रेडियो चैनल से कुछ समय किराए पर ले लेते हैं और उस समय में अपने कार्यक्रम प्रसारित करते हैं। ओटावा क्षेत्र में 'चिन रेडियो' बहुत लोकप्रिय है। इससे चीनी और जापानी सहित संसार की 22 भाषाओं में कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं। इसी रेडियो नेटवर्क से संतोष और उनकी पत्नी स्वप्ना शैल ने संध्या आठ बजे से दस बजे तक का समय किराए पर ले रखा है और आरोही नाम से हिंदी कार्यक्रम चलाते हैं। पति-पत्नी दोनों को ही प्रसारण क्षेत्र का अच्छा अनुभव है। इसी आरोही कार्यक्रम में पिछले लगभग एक वर्ष से यहां बसा हुआ मेरा बेटा, जयदीप कुछ महीनों से प्रत्येक बुधवार को एक घंटे का एक कार्यक्रम प्रस्तुत करता है।

ओटावा से लगभग 400 किलोमीटर दूर टोरांटो महानगर है। इस नगर को कनाडा की आर्थिक राजधानी माना जाता है। टोरांटो तथा इसके आसपास बसे नगरों में भारत, पाकिस्तान, बांगलादेश, श्रीलंका आदि दक्षिणी एशिया में आकर बसे लोगों की जनसंख्या तीस लाख से अधिक है। इसे क्षेत्र (आंटॅरियो) में प्रसारित अधिसंख्य कार्यक्रमों का केंद्र टोरान्टो है।

यहां 'सुर सागर टेलीवीजन' पूरी तरह भारतीय स्वामित्व में चलने वाला एक बहुत लोकप्रिय टेलीवीजन नेटवर्क है जो 24 घंटे अपने कार्यक्रम प्रसारित करता रहता है। इन कार्यक्रमों में हिंदी, पंजाबी, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं में समाचार प्रसारित होते हैं। इनका संबंध भारत तथा पाकिस्तान के चैनलों से भी है। इसलिए इसके माध्यम से भारत तथा पाकिस्तान से प्रसारित समाचार तथा अन्य कार्यक्रम भी देखे जा सकते हैं।

टेलीवीजन पर ए. डी. एन. (एशिया टेलीवीजन नेटवर्क) के कार्यक्रम भी 24 घंटे देखे जा सकते हैं। ए. टी. एन. के अपने कार्यक्रम भी हैं तथा भारतीय दूरदर्शन तथा अन्य अनेक निजी क्षेत्रों में चलने वाले टी. वी. चैनलों के कार्यक्रम भी इस संस्था द्वारा प्रसारित होते हैं। भारत के सभी समाचार दूरदर्शन समाचार तथा जी न्यूज द्वारा प्रसारित

होते हैं।

हिंदी फिल्में तथा हिंदी फिल्मों के गीत संसार के उन देशों में भी बहुत लोकप्रिय हैं, जहां लोग हिंदी नहीं जानते हैं। कनाडा में बसे मध्य और दक्षिणी एशिया के निवासी भी इन फिल्मों और गीतों में बहुत दिलचस्पी लेते हैं। सुरसागर टेलीवजिन और ए. टी. एन. द्वारा शनिवार तथा रविवार की हिंदी और पंजाबी फिल्में दिखाई जाती हैं। भारतीय चैनलों पर प्रसारित होने वाले अनेक लोकप्रिय सीरियल भी यहां प्रसारित होते रहते हैं।

क्यूबेक कनाडा का फ्रांसीसी भाषी एक राज्य है। देश की राजधानी ओटवा के साथ बहती हुई ओटावा नदी है। पुल से उसे पार करते ही क्यूबेक राज्य प्रारंभ हो जाता है। इस राज्य का बड़ा नगर है। इस नगर में भी बहुत से भारतीय विशेष रूप से पंजाबी बसे हुए हैं। यहां से एक रेडियो चैनल 'पंजाब हम सफर' भी 24 घंटे अपने कार्यक्रम प्रसारित करता है और क्यूबेक क्षेत्र में बहुत लोकप्रिय है। 4 सितंबर से इस नेटवर्क ने ओटावा क्षेत्र में भी अपने कार्यक्रम प्रसारित करने प्रारंभ कर दिए हैं।

रेडियो और टेलीवीजन से प्रसारित होने वाले इन कार्यक्रमों को आमतौर पर लोग अपनी कार चलाते समय सुनते हैं। घर की महिलाएं और वृद्धजन इन्हें घर में सुनते हैं और देखते हैं। अपनी धरती से दूर लोगों को अपने प्रियजनों की याद बुरी तरह सताती है। उन्हें अपनी भाषा, अपने गीत, अपनी परंपराएं, अपना वातावरण भूलता नहीं है। रेडियो और टेलीवीजन के माध्यम से उनकी उदासी और घर की याद का कुछ सीमा तक शमन होता है। नई उभरती पीढ़ी को भी भारतीय जीवन और परंपराओं का कुछ ज्ञान होता है।

संचार के इन माध्यमों की आय का बड़ा साधन इन नए प्रसारित होने वाले विज्ञापन हैं। भारतीय व्यापारी यहां सभी प्रकार के व्यवसाय में लगे हुए हैं। भवन निर्माण के क्षेत्र में वे किसी से पीछे नहीं है। इस समय कनाडा की कुल जनसंख्या तीन करोड़ से कुछ अधिक है। सड़कें बहुत अच्छी और चौड़ी है, किंतु इन सड़कों का प्रयोग करने वालों की संख्या बहुत थोड़ी है। कहीं भीड़-भाड़ नहीं दिखाई देती जैसी भारत में दिखाई देती है। सड़कों पर मोटर गाड़ियों के अतिरिक्त कभी-कभी एक आध मोटर साईकिल दिखाई देती है। कभी-कभी कुछ लोग साईकिल चलाते इसलिए दिखाई देते हैं कि वे कुछ व्यायाम कर सकें। साईकिल चलाने को अच्छा व्यायाम माना जाता है।

इसलिए इस देश में आप्रवासियों के आने और बसने की बहुत गुंजाइश है। इस विशाल देश का बहुत बड़ा भाग पूरी तरह निर्जन है। कनाडा में यदि पांच-दस करोड़ लोग और आकर बस जाएं तो वह इस की आर्थिकता में बहुत सहायक सिद्ध हो सकते हैं। किंतु कनाडा की गोरी सरकार इस दृष्टि से बहुत सतर्क है और कभी-कभी तो वाहर से आने वालों के प्रति कठोर हो जाती है।

फिर भी संसार के अनेक देशों से आने वाले आप्रवासी यहां निरंतर आते और

बसते रहते हैं। उनके लिए मकानों की जरूरत पड़ती है। भारतीय भवन निर्माता बड़ी सीमा तक इस आवश्यकता की पूर्ति करते हैं।

रेडियो-टेलीवीजन पर सभी प्रकार की चीजों का भरपूर विज्ञापन होता है। कपड़ों, खाने-पीने की चीजों, आभूषणों जमीन-जायदाद को खरीदने-बेचने, घरेलू जरूरत की चीजें, बीमा कराने, भारत के पैसा भेजने के और किसी भी प्रकार की कानूनी सहायता प्राप्त करने, वेहिसाब विज्ञापन इन संचार माध्यमों से किए जाते हैं।

सबसे रोचक विज्ञापन ज्योतिषियों, तांत्रिकों, हस्तरेखा विशेषज्ञों, भविष्य वक्ताओं, काला इल्म के महिरों द्वारा किए जाते हैं। ये पंडित, ज्योतिषी और बाबा टेलीवीजन पर आकर इस प्रकार का दावा करते हैं कि यदि आपको किसी प्रकार का कष्ट हो, व्यापार में वरकत न हो, घर में कलह हो, संतान का सुख न हो, मुकदमेबाजी से आय परेशानहो, किसी भूत या जिन्न ने आपको जकड़ लिया हो तो इनकी शरण में आइए। ये अपनी तांत्रिक शक्ति से गैबी इल्म से आपकी सभी तकलीफें दूर कर देंगे। यहां से प्रकाशित होने वाले कुछ पंजाबी साप्ताहिक पत्रों में ऐसे विज्ञापनों की भरमार रहती है। ऐसे अंधविश्वासों की यहां कमी नहीं है।

मेरा मत है कि इन संचार माध्यमों के कार्यक्रमों को कही अधिक नियोजित और सार्थक बनाया जा सकता है। भारत के सूचना प्रसारण मंत्रालय को इस दृष्टि से अधिक जागरूक होना चाहिए। आकाशवाणी के विदेश सेवा प्रसारण से विदेशो के लिए अनेक भाषाओं के कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं। क्या इस देश में भी वे कार्यक्रम सुने जाते हैं, मुझे इनकी जानकारी नहीं है। इस संबंध में किसी ने मुझसे चर्चा भी नहीं की।

अमेरिका और कनाडा में ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जहां भारत मूल के लोगों की बहुत बड़ी संख्या रहती है। हमारे देश की आकाशवाणी सेवा के निर्देश सेवा प्रसारण को इन देशों के लिए अपने कार्यक्रमों का विशेष विस्तार करना चाहिए। जहां तक मेरी जानकारी है दूरदर्शन की कोई विदेश प्रसारण सेवा नहीं है। दूरदर्शन से प्रसारित होने वाले हिंदी समाचार यहां मैंने अनेक बार सुने हैं। दूरदर्शन के अन्य कार्यक्रमों के लिए भी यदि ए. टी. एन या सुरसागर टेलीविजन की सेवाएं प्राप्त की जाएं तो बहुत अच्छा है।

यहां एक बात मुझे निरंतर खलती रही है, वह है अपने समाचार पत्रों का अभाव। कनाडा से प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी के अखबारों में भारत के समाचार ना के बराबर होते हैं। इंटरनेट से मैंने दो-चार बार हिंदुस्तान टाइम्स और दैनिक जागरण को पढ़ने का प्रयास किया किंतु उससे मेरी तनिक भी तृप्ति नहीं हुई।

मैंने सुना था कि दिल्ली से प्रकाशित होने वाले कुछ अंग्रेजी समाचार पत्रों के अंतर्राष्ट्रीय संस्करण भी न्यूयार्क जैसे किसी नगर से प्रकाशित होने प्रारंभ हुए हैं। कनाडा में मुझे ये संस्करण कहीं नहीं दिखाई दिए। कितना अच्छा हो कि उत्तरी अमेरिका के किसी स्थान से किसी भारतीय समाचार पत्र का पूरा और नियंत्रित प्रकाशन प्रारंभ हो।

सूचना और संचार माध्यमों का जिस गति से प्रसार हो रहा है, वह सारे संसार उसकी भाषाओं, निवाासियों और संस्कृतियों को भी बहुत निकट ले आएंगे, इसकी अपार संभावनाएं हमारे सामने खड़ी हैं।

(दैनिक जागरण, 3-9-04)

कायम हैं छुआछूत की जड़ें

सुनामी ने जो कहर बरपाया उससे सारा संसार दहल गया है। ऐसे संकट के समय सामान्यतः व्यक्ति या समूहों को अपना बैरभाव भूल जाता है और संकट का सामना मिलकर करने की भावना भी पैदा हो जाती है। कविवर बिहारी ने कई सदी पहले एक दोहा लिखा जिसका अर्थ है, "भयंकर गर्मी के कारण वृक्ष की शीतल छाया में एक-दूसरे को अपना शत्रु समझने वाले सांप और मोर तथा हिरण और बाघ अपनी शत्रुता भूलकर एक साथ आ खड़े हुए हैं। इस संकट ने तो इस संसार को तपोवन बना दिया है, जहां कोई किसी से बैर नहीं करता।" कितना विचित्र है कि समान आपदा के समय पशु जगत के प्राणी तो कुछ समय के लिए अपनी शत्रुता भूल जाते हैं, किंतु मनुष्य ऐसा नहीं कर पाता। कुछ वर्ष पहले गुजरात में भयंकर भूकंप आया था, जिसमें सैकड़ों घर धराशाही हो गए थे और हजारों परिवार बेघर होकर राहत शिविरों में आ गए थे। उस समय अनेक स्वयंसेवी संस्थाओं ने भूकंप पीड़ितों के लिए लंगर लगाकर उनके भोजन की व्यवस्था की थी। संकट की उस घड़ी में भी छूत-अछूत, जाति-पांति और सांप्रदायिक भेदभाव बहुत से लोगों में बना रहा था।

समुद्री भूकंप बड़े-बड़े पक्के घरों को तोड़ने में सफल हो गया, लेकिन वह मनुष्य और मनुष्य के बीच की दीवारों को तोड़ने में कामयाब नहीं हुआ। सामूहिक भोजन के समय ऊंची जाति के लोगों ने दलित जातियों के साथ बैठकर भोजन ग्रहण करने से इनकार कर दिया था और अपने लिए अलग व्यवस्था करने का आग्रह किया था। अब सुनामी से पीड़ित तमिलनाडू में भी यही हो रहा है। प्रकृति की यह मार सर्वाधिक नागपट्टनम क्षेत्र में दिखाई दी। यहां से जो समाचार आए हैं उनके अनुसार दलितों के पास राहत सामग्री पहुंचाने में उसी प्रकार का भेदभाव बरता जा रहा है, जो इस समाज की मानसिकता

में गहरे तक जड़ें जमाए बैठा है। भारतीय समाज में ऊंच-नीच की भावना केवल चार वर्जों तक ही सीमित नहीं है। यहां हर जातीय समुदाय अनेक उपजातियों में बंटा हुआ है और इनमें भी ऊंच-नीच व्याप्त है। मीनावर मछुआरे दलितों से अपने आपको ऊंचा समझते हैं। इनके कारण राहत सामग्री प्राप्त करने के लिए आए दलितों को कतारों से निकाल दिया जाता है। उन्हें शौचालयों का प्रयोग नहीं करने दिया जाता। भारत का संविधान छुआछूत को एक दंडनीय अपराध मानता है, किंतु मात्र कानून बना देने से समस्या का समाधान नहीं निकलता। यह भावना तो लोगों की मानसिकता का अंग बन चुकी है। देश के अनेक भाग ऐसे हैं जिनमें दलित वर्ग के लोगों को अपनी मृत देहों को सार्वजनिक शमशान घरों अथवा जमीनों पर दाह संस्कार नहीं करने दिया जाता। आज भी ऐसे गांव हैं जहां दलितों को कुएं पर पानी नहीं भरने दिया जाता। विशेषकर राजस्थान में कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें दलित स्त्रियां किनारीदार धोती नहीं पहन सकतीं, पैरों में चप्पल नहीं पहन सकतीं।

ऐसी बात नहीं कि इस व्याधि से केवल ग्रामीण अथवा अनपढ़ समाज ही ग्रसित हो। उस समय बहुत आश्चर्य और खेद होता है जब पढ़े-लिखे और आधुनिक समझे जाने वाले समाज के लोग भी ऐसा व्यवहार करते हैं। कुछ समय पहले दिल्ली में एक मेडिकल कॉलेज के छात्रावास में हुई एक घटना प्रकाश में आई थी। छात्रावास में सवर्ण जातियों से आए विद्यार्थी भी थे और अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षित कोटे से चुने गए दलित वर्ग के विद्यार्थी भी। मेडिकल जैसे उन्नत पाठ्यक्रम के छात्र होने के बावजूद बहुत से छात्र अपनी रूढ़िगत मानसिकता से मुक्ति नहीं पा सके। इसलिए छात्रावास के मेस में बिछी कुर्सियों-मेजों का भी बंटवारा हो गया। एक वर्ग के छात्र अलग कुर्सियों-मेजों पर बैठते थे और दूसरे वर्ग के छात्र दूसरी कुर्सियों-मेजों पर। समाचार पत्रों में प्रकाशित इस समाचार ने बहुत लोगों को अचंभित किया था। एक प्रकरण और है।

एक मजिस्ट्रेट की किसी अन्य नगर में बदली हो गई। अपनी कुर्सी पर बैठने से पूर्व उसने अपनी कुर्सी-मेज को गंगा जल छिड़ककर 'पवित्र' किया, क्योंकि वह जिस अधिकारी के स्थान पर स्थानांतरित होकर आए थे उनका संबंध दलित जाति से था। क्या कारण है कि छुआछूत और जाति-पाति को लेकर लोगों की मानसिकता में परिवर्तन नहीं आ रहा है? यदि आ भी रहा है तो उसकी गति बहुत मंथर है। 1932 की राउंड टेबल कांफ्रेंस के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत की बहुत उलझी हुई धर्म और जाति समस्या को ध्यान में रख जिस 'कम्युनल अवार्ड' की घोषणा की थी उसमें हिंदुओं, मुसलमानों, सिखों, ईसाइयों के साथ ही दलितों को भी एक अलग वर्ग माना गया था।

गांधी जी ने इस अवार्ड का विरोध करते हुए कहा था कि इससे तो इस वर्ग के लोग सदा-सदा के लिए हिंदू समाज से अलग हो जाएंगे। गांधी जी उस समय महाराष्ट्र की यखदा जेल में थे। उन्होंने ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तावित अवार्ड के विरोध में वहां

आमरण व्रत रख लिया। डॉ. अंबेडकर बड़ी दुविधा में पड़ गए थे। दलितों को मिलने वाली पृथक निर्वाचन प्रणाली (कम्युनल अवार्ड) से उन्हें हिंदू समाज से अलग अस्तित्व की स्थिति प्राप्त होती थी, जो वे चाहते थे। दूसरी ओर गांधी जी की जीवन-रक्षा का प्रश्न था। देश में सभी ओर से उन पर जोर पड़ रहा था कि वह गांधी जी से मिलकर समस्या का कोई समाधान निकालें। वह 22 सितंबर 1932 को जेल में ही गांधी जी से मिले। देश के अनेक गणयमान्य नेता भी वहाँ उपस्थित थे। इस बैठक में एक समझौता हुआ था। डॉ. अंबेडकर ने दलितों के लिए अलग निर्वाचन प्रणाली की मांग छोड़ दी। गांधी जी तथा अन्य नेताओं ने यह स्वीकार कर लिया कि दलितों को हिंदुओं के कोटे से उचित आरक्षण दिया जाएगा। इससे अधिक महत्वपूर्ण यह आश्वासान था कि दलितों के प्रति किए जाने वाले भेदभाव को पूरी तरह समाप्त करने का अभियान चलाया जाएगा। उस समय देश के अनेक भागों में बने मंदिर दलितों के लिए खोल दिए गए थे और गांवों में सार्वजनिक कुंओं से पानी भरने की उन्हें सुविधा मिल गई थी। बात अधिक समय तक नहीं चली।

हजारों वर्षों से छुआछूत की भावना से ग्रसित समाज की मानसिकता में विशेष अंतर नहीं आया। उनके साथ होने वाला भेदभाव भी उसी तरह चलता रहा। दो-तीन वर्ष के अंदर ही डॉ. अंबेडकर का मोह भंग हो गया। 30 अक्टूबर 1935 को येउला (महाराष्ट्र) में उन्होंने एक विशाल सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में उन्होंने कहा कि दलितों के प्रति सवर्ण जातियों के व्यवहार में कोई अंतर नहीं आया है। उनकी ओर से दलितों पर अंतहीन अत्याचार किए जा रहे हैं। उन्हें यह अपमान इस कारण झेलना पड़ रहा है कि संयोग से उनका जन्म हिंदू घर में हुआ। इस सम्मेलन में वह यह प्रश्न लोगों के सम्मुख रख रहे थे कि क्यों न वे (दलित) कोई अन्य धर्म स्वीकार कर लें? इस विचार का उन्होंने 21 वर्ष बाद 14 अक्टूबर 1956 में कार्यान्वित किया और अपने तमाम समर्थकों के साथ नागपुर में बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। इस बात को हुए भी अब लगभग आधी सदी हो गई। इस देश में अनेक क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति की है। दलित समाज के लोग शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़े हैं। राजनीति में उनका दबदबा इतना बढ़ा है कि कोई भी राजनीतिक दल उनकी उपेक्षा करने की स्थिति में नहीं है, किंतु सर्व साधारण की मानसिकता में कितना परिवर्तन आया है?

मिदनापुर, पश्चिमी बंगाल का एक उदाहरण सामने आया है। स्कूली छात्रों को दोपहर का भोजन देने की सरकारी योजना इस कारण संकट में पड़ गई कि सवर्ण जातियों के छात्र दलित छात्रों के साथ बैठकर भोजन करने को तैयार नहीं हैं। इतने छोटे बच्चों के मन में यह भावना कैसे आ गई? स्वाभाविक है कि उनके माता-पिता और उनका परिवेश भी इस मानसिकता से ग्रसित होगा। समाचार में यह बात भी है कि छात्रों का भोजन अनुसूचित जनजातियों की महिलाएं करती हैं। सवर्ण जाति के माता-पिता को इस

बात पर भी बहुत आपत्ति है कि भोजन बनाने का कार्य आदिवासी महिलाएं करें। मुझे संत नामदेव की बात का स्मरण होता है। तेरहवीं शती के इस संत को पंढर पुर के बीठल (विष्णु) के मंदिर से पुरोहितों ने इसलिए अपमानित करके निकाल दिया था कि वे छोटी जाति के थे। संत नामदेव ने अपनी पदों में इस पीड़ा का बड़ी करुण भाषा में स्मरण किया है। अपने एक पद में उन्होंने लिखा था "प्रभु ये पंडे मुझे नीच कहकर अपमानित करते हैं। मैं तो तुम्हारा भक्त हूं। मेरा अपमान तो तुम्हारा अपमान है।"

(दैनिक जागरण, 02-1-05)

कैसे बनता है जागरूक समाज

भारतीय जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पुरुषार्थ कहा गया है। स्वाभाविक है कि ये चारों पदार्थ मनुष्य जीवन में सार्थक भूमिका निभाते हैं इसलिए पूरी तरह स्वीकार किए जाने योग्य हैं, त्याज्य तो किसी भी अर्थ में नहीं हैं। हमारे भक्ति साहित्य में पंच विकारों काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार की बड़ी चर्चा है। सभी सिद्ध पुरुष कहते हैं कि इनसे ऊपर उठना चाहिए इन्हें नियंत्रित करना चाहिए।

किंतु यह बात वे भी जानते थे कि इन विकारों को नियंत्रित तो किया जा सकता है, इनका पूरी तरह दमन नहीं किया जा सकता क्योंकि ये सभी बातें मनुष्य के सहज संवेगों से उत्पन्न होती हैं इसलिए उसकी मानसिकता का अटूट अंग है।

इन सभी में काम की शक्ति को तो अदम्य स्वीकार किया जाता है। भारत में प्राचीन काल से इस विषय पर निरंतर विचार हुआ है। नाट्य शास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने कहा है—संसार में जो कुछ भी शुभ, पवित्र, उज्ज्वल और दर्शनीय है, वह शृंगार रस से प्रेरित है। शृंगार रस वह मानसिक सुख है जो रति (काम-भाव) विषयक काव्य को पढ़ने, सुनने तथा देखने में उत्पन्न होता है।

काम भाव को दमित करने और ब्रह्मचर्य का पालन करने पर भी इस देश में बहुत आग्रह किया गया है। जो साधु-संत इसका पालन करते हैं, समाज उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखता है।

किंतु आधुनिक युग का चिंतक सिग्मंड फ्रायड मानता है कि काम भाव के दमन से अनेक विकार हो जाते हैं। मनुष्य में आए अनेक मनोविकारों का कारण कुछ दबी हुई काम संबंधी इच्छाएं होती हैं। इस कारण फ्रायड जैसे मनोविश्लेषणवादी यह मानते

हैं कि किसी भी कारण इस भाव का दमन प्रकृति के नियमों के विरुद्ध है।

इन दिनों जूनागढ़ और वडताल के स्वामी नारायण मंदिरों में वहां के कुछ साधुओं द्वारा मंदिरों में आने वाली कतिपय महिलाओं के साथ की जाने वाली काम-क्रीड़ा पर गुप्त रूप से बनी सीडी का प्रदर्शन दूरदर्शन के कुछ चैनलों पर दिखाया गया है। इसे देखकर लोग अचंभित हुए हैं और उनकी श्रद्धा भावना को भी बहुत चोट पहुंची है। आम व्यक्ति संतों साधुओं तथा धर्म से जुड़े व्यक्तियों के संबंध में जो छवि अपने मन में संजोए रखता है, ये बातें उसके बहुत विपरीत लगती हैं।

गांधी नगर का स्वामी नारायण मंदिर उस समय बहुत चर्चा में आया जब कुछ समय पूर्व कुछ आतंकवादियों ने उसमें घुसकर खून-खराबा किया था। स्वामी नारायण संप्रदाय गुजरात में बहुत लोकप्रिय है और संसार के अनेक भागों में बसे हुए गुजराती समाज के लोग इससे जुड़े हुए हैं। गुजरात में इनके 500 से अधिक मंदिर हैं। लंदन में बना हुआ स्वामीनारायण मंदिर अपनी सुंदरता और भव्यता के लिए बहुत प्रसिद्ध है। धनाढ्य गुजरातियों से इन मंदिरों को जो अनुकूल धन प्राप्त होता है, उससे इनकी भौतिक समृद्धि भी बहुत बढ़ गई है। इस संप्रदाय के अनुयायियों की संख्या पचास लाख से अधिक बताई जाती है।

इस संप्रदाय के संस्थापक स्वामी नारायण का जन्म उत्तर प्रदेश में अयोध्या के पास एक गांव में अठाहरवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में हुआ था। 18 वर्ष की आयु में वे गुजरात में आ गए थे। यहीं उनकी प्रसिद्धि होने लगी और लोग उनके अनुयायी बनने लगे।

दो सौ वर्ष प्राचीन इस संप्रदाय में स्वामी नारायण की स्थिति भगवान जैसी है। मंदिरों में उनकी मूर्तियां स्थापित हैं और विधिवत उनकी पूजा होती है।

इस संप्रदाय के साधकों के लिए अत्यंत कठोर नियम हैं। इन्हें अनेक विकारों का पालन करना चाहिए—1. निष्काम—पूरी आयु कामना रहित होकर ब्रह्मचारी रहना। 2. निलौम—सभी प्रकार के लोभ से मुक्त होना, 3. निष्नेह—सभी संबंधों, परिवार, गृहस्थ के मोह से मुक्त होना, 4. निस्स्वाद—भोजन में सभी प्रकार के पसंद-नापसंद स्वाद को त्याग देना, 5. निर्माण अहंकार रहित और क्रोध रहित जीवन यापन करना। दुःख देने वाले व्यक्ति को अशीर्वाद और शुभकामनाएं देना।

इस संप्रदाय के अनुगामियों से यह प्रण कराया जानता है कि वे चोरी नहीं करेंगे, मांस-मछली का सेवन नहीं करेंगे, किसी प्रकार की नशीली वस्तु का सेवन नहीं करेंगे परनारी या पुरुष से शारीरिक संबंध नहीं बनाएंगे, जीवन में कोई अपवित्र काम नहीं करेंगे।

स्वामी नारायण संप्रदाय में जो विधि निषेध हैं वैसे ही इस देश के अनेक धर्मों, मतों और संप्रदायों में है। यह भी एक कटु सच्चाई है कि जहां जितने अधिक निषेध

होते हैं, वहां समय पाकर उतनी ही अधिक विकृतियां उभर आती हैं। निषेधों भरा जीवन कुछ लोग ही कुछ अवधि तक जी पाते हैं। जब व्यापक समुदाय से यह आशा की जाने लगती है कि वे सभी इसका पालन करें तो इनका उल्लंघन प्रारंभ हो जाता है।

स्वामी नारायण मंदिरों में बड़ी संख्या में साधू रहते हैं। सभी से यह आशा की जाती है कि वे उन निषेधों का पालन करेंगे और अपने जीवन को उन्हीं के अनुसार ढालेंगे किंतु ऐसा होता नहीं है। इन मंदिरों में जिस प्रकार की काम-क्रीड़ाओं की सूचनाएं प्रसारित हुई हैं उनसे लगता है कि मानवीय वासनाओं का एक सीमा से अधिक दमन नहीं किया जा सकता।

ऋषियों, साधुओं, तपस्वियों की यौन विकृतियों से हमारा पौराणिक इतिहास भरा पड़ा है। विश्वामित्र और मेनका की कहानी से कौन परिचित नहीं है। इंद्र और अहिल्या का प्रसंग कौन नहीं जानता। मध्य युग में यौन विकृतियों से ग्रसित शाक्तों की इतनी कथाएं प्रचलित हुई कि वैष्णव भक्तों के लिए वे बहिष्कृत हो गए थे। संत कबीर की वाणी में 'साकत' शब्द का अनेक बार प्रयोग बुरे व्यक्ति के लिए हुआ है। साकत शाक्त का ही अपभ्रंश है।

वैष्णव संत इसीलिए गृहस्थ जीवन को मान्यता देते थे। गृहस्थ जीवन काम भावना को सहज दिशा देता है और उसे विकृत होने से बचाता है। संत कहते हैं कि गृहस्थ जीवन जीते हुए मनुष्य उसी प्रकार सांसागरिकता से मुक्त हो सकता है जैसे कमल जल में रहता हुआ उससे अलिप्त रहता है।

इस देश में ब्रह्मचर्य भी एक बड़ी मिथ है। ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ है ब्रह्म की प्राप्ति का आचरण। इसका रूढ़ प्रयोग विद्यार्थी जीवन के अर्थ में होता रहा है। चार आश्रमों में प्रथम ब्रह्मचर्य है जो विद्यार्थी जीवन की अवस्था का द्योतक है। फिर इसका सामान्य अर्थ विकसित हो गया—स्त्री संसर्ग, दर्शन, स्पर्श आदि का सर्वथा त्याग। क्या जीवन में स्त्री का सर्वथा त्याग संभव है? संपूर्ण सृष्टि की रचना नर और मादा के मिलने से होती है। क्या इस नैसर्गिक प्रक्रिया को प्रतिबंधित किया जा सकता है?

अध्यापक पूर्ण सिंह का एक निबंध है—पवित्रता लगभग एक सौ वर्ष पहले उन्होंने ब्रह्मचर्य के संबंध में अपने निबंध में बड़ी सटीक टिप्पणी की थी। उन्हीं के शब्दों में—''ब्रह्मचर्य का उपदेश इसी देश में प्राचीन काल से चला आ रहा है और आजकल कोई भी समाज हो, मंदिर हो, सत्संग हो जहां ब्रह्मचर्य के पालन के ऊपर उत्तम व्याख्यान या उपदेश न होते हों, परंतु अपने दैनिक जीवन को देखो। अफ्रीका के बहशी जिनको ब्रह्मचर्य का आदर्श कभी स्वप्न में भी न आया, वे हमसे लंबे, हमसे चौड़े और हम से अधिक पराक्रमी हैं। इंग्लैंड में, जहां इस पर कभी भी इतना जोर नहीं दिया गया, वहां के आजकल के लड़के भी हमसे अधिक लंबे, चौड़े, बलवान, तेजवान, ज्ञानवान, विद्वान, सम्पत्तिवान. बुद्धिमान हैं। हमारी कन्याएं दुर्बल, पीले रंग की जवानी में बुड्ढी

के समान और उस देश की माताएं और कन्याएं 6-6 फुट ऊंची, सुर्ख और बल और तेज की हंसी लिए हुए अकेली सारे जगत को प्रातःकाल चलकर, घूमघाम कर शाम को घर पहुंच जाएं। कौन सी प्रलय आ गई कि हमारे देश में ब्रह्मचर्य का आदर्श असली तौर पर बिल्कुल नष्ट-भ्रष्ट हो गया। बस महाराज ब्रह्मचर्य के इस विचित्र उपदेश को बंद करो, जिसमें तुमने सारी जाति का तिरस्कार किया है।

स्वामी नारायण के मंदिरों में जो कुछ हुआ उसे केवल कुछ साधुओं की विकृति मानकर छोड़ नहीं देना चाहिए। जिस प्रकार की सूचनाएं प्राप्त हो रही हैं उनसे लगता है कि ऐसा कार्य वहां पिछले लंबे समय से चल रहा था और इसमें कितने ही लोग संलग्न थे। यह भी कहा जा रहा है कि मंदिरों पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए वहां के आचार्यों के दो गुट बन गए थे जो एक-दूसरे को नीचा दिखाने, उन्हें लांछित करने, उनकी छवि खराब करने के लिए प्रत्यनशील रहते थे। उन्हीं में से एक पक्ष ने गुप्त रूप से कैमरे लगाकर इस प्रकार की सीडी तैयार की।

इस बात की बहुत चर्चा होती है राजनीति का व्यावसायीकरण और अपराधीकरण हो गया है, किंतु हमारे धार्मिक परिवेश धर्म से जुड़े मठों और डेरों को भी कुछ कम व्यावसायीकरण और अपराधीकरण नहीं हुआ है। भक्तों और श्रद्धालुओं से जितना धन इन्हें प्राप्त होता है उसके सम्मुख बड़े-बड़े व्यवसायी घरानों की चमक भी मंदी पड़ जाती है। इनकी गद्दियों पर अधिकार जमाने के लिए अदालतों में कितने ही मुकदमें लंबित हैं। कभी-कभी इस कार्य के लिए बाहुबलियों का भी प्रयोग किया जाता है। इस कार्य के लिए कैसे निकृष्ट साधन अपनाएं जाते हैं, स्वामी नारायण मंदिरों में हुए कृत्य इसके उदाहरण हैं।

धर्म क्षेत्र में फैले हुए अनाचार का सबसे बड़ा कारण अंधविश्वास है। मठों और डेरों के महंतों के संबंध में बड़े नियोजित ढंग से यह प्रचारित किया जाता है कि वे अनेक अलौकिक शक्तियों के स्वामी हैं। वे बड़ी से बड़ी बीमारी से छुटकारा दिला सकते हैं, धन-संपत्ति की प्राप्ति करा सकते हैं और संतान की कामना करने वाली स्त्रियों को संतान दिला सकते हैं। संतान की लालसा में कितनी ही अबोध महिलाएं ऐसे मठाधीशों और साधुओं के चक्कर में पड़कर उनकी वासना का शिकार बन जाती हैं।

स्वामी नारायण मंदिर में जो कुछ हुआ है, वह आघात पहुंचाने वाला तो है किंतु न आश्चर्य में डालने वाला है और न अनहोना है। यह तो पानी में डूबी हुई उस बर्फ कि शिला के समान है जिसका केवल कोना ही दिखाई देता है। न्यूनाधिक रूप से अंध विश्वास सभी धर्मों में व्याप्त दिखाई देता है। कोई भी मत या संप्रदाय अपने पूज्य पुरुषों की कथित चामत्कारिक शक्तियों से अछूता नहीं है।

उपाय क्या है? राजनीति में जब भ्रष्ट तत्वों की चर्चा होती है तो आम जनता यह सोचती है कि आगामी चुनाव में वह इन्हें अपना समर्थन नहीं देगी। संसद और

विधान सभाओं में इस संबंध में खूब शोर-शराबा भी होता है और कुछ स्थितियों में न्यायालय भी इसमें हस्तक्षेप करते हैं। किंतु धर्म क्षेत्र में आई भ्रष्टता के विरुद्ध बहुत कम आवाजें उठती हैं। सामान्यतः इसे आस्था का प्रश्न मानकर इससे मुंह फेर लिया जाता है अथवा आंखें बंद कर ली जाती हैं।

लोगों में वैज्ञानिक समझ उत्पन्न करना, अंधविश्वासों के प्रति उनमें जागरूकता उत्पन्न करना, चमत्कारों और करामातों की निरर्थकता के प्रति सचेत करना और किसी भी बात को स्वीकार करने के पूर्व उसे तर्क की कसौटी पर कसना कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे आज का समाज सही अर्थों में आधुनिक समाज बनता है। हमें ऐसा समाज बनाने की बहुत आवश्यकता है।

(दैनिक जागरण, 3-3-05)

लोगन राम खिलौना जाना

धार्मिक वृत्ति के बहुसंख्यक लोग भगवान के प्रति दो कारणों से आकर्षित होते हैं। उनकी अनेक इच्छाएं होती हैं और अनेक संकट तथा व्याधियां भी। इच्छाओं की पूर्ति अथवा संकटों से छुटकारा पाने के लिए वे उसको प्रलोभित करने का प्रयास करते हैं, उसी प्रकार जैसे उन सांसारिक व्यक्तियों को लालच दिए जाते हैं, जिनसे अपने काम निकलवाने होते हैं। अंग्रेजों के समय जिस अफसर से कुछ काम करवाना होता था, उसे डॉली भेजी जाती थी। एक बड़े टोकरे में फल, मेवे, मिठाइयाँ और कुछ कीमती चीजों के उपहार भेंट किए जाते थे। आज जमाना बहुत आगे निकल गया है। अब करंसी नोटों से भरे हुए सूटकेस भेजे जाते हैं।

इस बदले हुए समय का प्रभाव भगवान पर भी हुआ दिखता है। पहले उसके चरणों में कुछ फूल-मालाएं चढ़ाकर काम चल जाता था। यह विश्वास भी था कि पांच-दस रुपए के लड्डुओं (या कढ़ाह प्रसाद) का प्रसाद चढ़ाकर भगवान को प्रसन्न किया जा सकता है।

यह मान्यता नई नहीं है कि सोना बहुमूल्य वस्तु है और किसी को भी प्रसन्न करने के लिए यदि उसका सहारा लिया जाए तो उसका अनुकूल प्रभाव तुरंत दिखाई देता है। प्राचीनकाल में भेंट स्वरूप स्वर्ण मुद्राएं देने का चलन था। राजा-महाराजा तो स्वर्ण-आभूषण पहनते ही थे। किसी स्त्री को प्रसन्न करने के लिए सोने के गहने आज भी सबसे अधिक कारगर साबित होते हैं। धीरे-धीरे यह बात भी स्वीकृत हो गई कि यदि भगवान को प्रसन्न करना हो उसके प्रति अधिक श्रद्धा दिखानी हो तो उसे सोना अर्पित करना चाहिए।

लगभग 500 वर्ष पहले पांचवें गुरु, गुरु अर्जुन देव ने अपने पिता द्वारा बसाए नगर—'गुरु का चक्क' (आज का अमृतसर) में ईंट-गारे का एक मंदिर बनवाया और उसे हरिमंदिर नाम दिया। कुछ सदियों तक यह मंदिर जन जुझारू जत्थों का प्रेरणा स्रोत बना रहा जो मुगल और अफगान आतताइयों के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे। उनके संघर्ष और बलिदानों के फलस्वरूप अठारहवीं सदी के अंतिम वर्षों में महाराजा रणजीत सिंह ने लाहौर पर अधिकार करके नए राज्य की नींव डाल दी।

अमृतसर के हरिमंदिर के प्रति रणजीत सिंह की बहुत श्रद्धा थी। अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए महाराजा इसके अतिरिक्त और क्या कर सकता था कि वह उस स्थान को स्वर्ण-मंडित कर दे। उसने हरिमंदिर पर सोना चढ़वा दिया और मुख्यद्वार पर यह शब्द उकरवा दिए कि गुरु महाराज ने मुझे अपना सेवक जानकर मुझसे यह सेवा करवाई है। ऐसी ही सेवा भावना से प्रेरित होकर रणजीत सिंह ने काशी के विश्वनाथ मंदिर के कलश भी स्वर्ण मंडित करवा दिए। गुरु अर्जुन देव ने 'हरिमंदिर' बनवाया था, रणजीत सिंह की 'सेवा' के फलस्वरूप वह 'स्वर्ण मंदिर' नाम से जाना जाने लगा।

सोने की महिमा अपरम्पार है। किसी को भी प्रलोभित करने का यह सबसे अच्छा उपाय है। सोना देकर भगवान को भी प्रसन्न किया जा सकता है—या यूं कहें कि उसे भी फुसलाया जा सकता है। ऐसा लगता है कि यह भाव पहले से अधिक पुष्ट हुआ है। आज के पूंजीवादी और बाजारवादी युग में सम्मान उसी का है जिसके पास जितना अधिक सोना है। ऐसे में कोई भी धनवान व्यक्ति भगवान के संदर्भ में इस मार्ग पर क्यों न चले कि जितनी अधिक पूंजी लगाओगे, उतना अधिक लाभ उठाओगे।

चेन्नई के एक धनी व्यापारी ने तिरुपति मंदिर में स्थापित भगवान वैंकटेश को पहनाने के लिए साढ़े तेरह किलो वजनी सोने और हीरे से जड़ित एक मुकुट बनवाया है, जिसका मूल्य डेढ़ करोड़ रुपए है।

यदि तिरुपति के भगवान वेंकटेश महत्वपूर्ण हैं तो उज्जैन के महाकालेश्वर भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। उनके जानने वाले सारे देश में फैले हुए हैं। सबसे बड़ी बात यह कि यदि चेन्नई का एक धनपति अपने भगवान के लिए डेढ़ करोड़ की पूंजी निवेश कर सकता है तो महाकालेश्वर के धनपति भक्त भी बहुत कुछ कर सकते हैं।

कुछ महीने पूर्व का ही एक समाचार है कि महकालेश्वर मंदिर के सौंदर्यीकरण के लिए बनी एक समिति ने निश्चिय किया है कि डेढ़ करोड़ रुपया खर्च करके मंदिर के 111 कलशों को स्वर्ण मंडित कराया जाए।

कुछ भक्तों और समुदायों की धारणा यह है कि वे जमाने लद गए जब भगवान को दरिद्र नारायण कहा जाता था। लगता है भगवान (या भगवानों) में आज इस बात की होड़ लगी हुई है कि कौन कितना बड़ा समृद्धि नारायण है। करोड़ों द्ररिद्रों के सिर पर यदि टूटी-फूटी खपरैल वाली झोपड़ी भी नहीं है तो क्या हुआ? ऐसे दरिद्र पहले

भी थे, आज भी है और भविष्य में भी बने रहेंगे। इनके लिए भगवान सदा-सदा के लिए दरिद्र नारायण बने रहें यह तो कोई बात नहीं है। दरिद्रता से मुक्ति पा चुके धनपतियों को यह अधिकार है कि वे अपने भगवान को दरिद्र नारायण न रहने दें उसे समृद्धि नारायण बनाएं।

भगवान के अस्तित्व का दूसरा बड़ा कारण भय है। हम बचपन से ही एक बात सुनते हैं—भगवान से डरो। पश्चिमी संसार में भी—"गॉड फियरिंग" व्यक्ति को अच्छा व्यक्ति माना जाता है। कुछ भक्त जन इस बात पर आग्रह करते हैं कि जो लोग भगवान से प्रेम करते हैं वही उसे प्रेरित करते हैं—"जिन प्रेम कियो तिन ही प्रभु पायो।" किंतु भय और प्रेम की दौड़ में भय बहुत आगे हैं। हमारे पौराणिक साहित्य में पापियों के लिए जिस रौरव नरक की कल्पना की गई है वह अत्यंत भयावह है। उसमें महाराज यम के खूंखार दूत पापियों को जिस प्रकार दंडित करते हैं, उसे देखकर अच्छे-खासे बहादुरों के भी पसीने छूट जाते हैं।

इस्लामी संसार में यह भय अपने चरम पर दिखाई देता है। वहां खुदा का खौफ तो है ही, खुदा, उसके नबी और कुरआन मजीद के संबंध में किसी प्रकार का, एक अपशब्द भी भयावह मौत का कारण बन सकता है। जिन व्यक्तियों पर ईशा निंदा या कुफ्र बकने का दोष लग जाता है उसे बिना किसी दलील, वकील या अपील के स्थानीय मौलवी ही संग सार (पत्थरों द्वारा भार डालने) की सजा दे देता है। हाल में ही पाकिस्तान के उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत के गांव में आशिक नबी नामक एक व्यक्ति को कुरआन मजीद के संबंध में अपशब्द कहने के आरोप में वहां के मौलवी ने उसे काफिर घोषित कर दिया और संग सार करने की सजा दे दी। परिणामस्वरूप 400-500 गांववालों ने उस पर पत्थर बरसाने शुरू कर दिए। आशिक नबी अपने को बचाने के लिए एक गुफा में घुस गया। वहां वह संग सार होने से तो बच गया किंतु भीड़ में से किसी ने उसे गोली से उड़ा दिया। मौलवियों ने उसके शव को दफनाए जाने की भी मनाही कर दी। उसके परिवार के लोग भी उसे कब्रिरस्तान में नहीं ले गए, क्योंकि उसे काफिर घोषित किया जा चुका था।

पाकिस्तान में 'ईशनिंदा कानून' है। वहां की मानवाधिकार संस्थाएं इसके विरुद्ध आवाज उठाती रही हैं। इस कानून की आड़ में लोग अपनी निजी रंजिश भी निकालते हैं। जनरल परवेज़ मुशर्रफ ने सत्ता में आते ही इस कानून को रद्द कर दिया था, किंतु वहां की कट्टरपंथी पार्टियों के दबाव में आकर उन्हें अपना फैसला बदलना पड़ा।

सीमा प्रांत में इस समय कट्टर धार्मिक संस्थाओं के गठजोड़-मुत्तहिदा मजदिए-ए-अमल (एम.एस.ए.) का शासन है। केंद्र में परवेज़ मुशर्रफ की सरकार को इसका सहयोग है। पेशावर में मानवाधिकारों के एक सक्रिय कार्यकर्ता तारिक खान का कहना है कि आम लोग कट्टर पंथियों से बहुत डरते हैं, जब कि इस्लाम इस प्रकार की हत्या की बिल्कुल

इजाज़त नहीं देता।

धार्मिक परवेश में हम सदा यह सुनते आए हैं कि भगवान कृपालु है, दयालु है, क्षमाशील है। वह गरीब नवाज़ है और पापियों का उद्धारक है, पतित पावन है। इस परिवेश में पांच विकारों—काम, क्रोध-लोभ, मोह और अहंकार की निंदा की जाती है और भगवान को इन विकारों से बहुत ऊपर माना जाता है।

मैं सोचता हूं कि क्या भगवान को स्वर्णमंडित होने, सोने का मुकुट पहनने, सोने की पालकी में बैठने का इतना ही लोभ है, जितना सांसारिक व्यक्तियों को होता है? क्या वह बहुत क्रूर है और चाहता है कि लोग मुझसे खौफज़दा रहें और यदि थोड़ी-सी भी गुस्ताखी करें तो उन्हें नरक कुंड में धकेल दिया जाए जा संगसार कर दिया जाए? संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं जो सोने की चमक में बौरा जाते हैं और उसके लिए अपने पिता, भाई बहन या मित्र की हत्या कर देते हैं। ऐसे क्रूर लोगों की भी कमी नहीं जो अपनी प्रभुता और सत्ता को बचाए रखने के लिए असंख्य लोगों को भयग्रस्त किए रहते हैं। भगवान के लिए कहा जाता है कि वह हमें लोभ और भय से मुक्त करता है। जो हमें लोभ और भय से मुक्त करता है। जो हमें इन दोनों विकारों में फंसा दे, वह कैसा भगवान है?

जिस देश की एक चौथाई जनसंख्या आज भी गरीबी रेखा में जीती हो, जिसके पास दो समय का भोजन न हो, सिर ढकने को छत न हो, पहनने को वस्त्र न हो, ऐसे देश में भगवान को डेढ़ करोड़ का मुकुट पहनाने, उसके मंदिरों को स्वर्णमंडित करने का क्या अर्थ है? ऐसा खुदा या उसका नवी सभी प्रकार की स्तुति-निंदा से बहुत ऊपर है। क्या उसे यह पसंद है कि उसकी निंदा के नाम पर किसी व्यक्ति पर पत्थर बरसाएं जाएं और उसकी हत्या कर दी जाए?

संत कबीर ने छह सौ वर्ष पहले कहा था, माथे पर तिलक लगाकर, हाथ में माला (या तस्वीह) लेकर धार्मिक बाना पहनने वालों ने तो भगवान को अपने हाथ का खिलौना बना लिया है।

माथै तिलक हथ माला बाना।
लोगन राम खिलडना जाना॥

(दैनिक जागरण, 28-4-2005)

दलितोद्धार की विडंबनाएं

दलित संदर्भ की दो बातें इस समय मुझे व्यापक और दूरगामी महत्व की दिखाई दे रही हैं। दलितों को लेकर जो असमानतावादी और घृणापूरित व्यवहार इस देश के समाज में सदियों से होता आ रहा है उस पर बहुत कुछ लिखा और बोला जा चुका है। इस स्थिति की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि इस नए युग में भी, जिसे दलितोद्धार और दलित जागरण का युग कहा जा सकता है, ऐसी जड़ मान्यताएं समाज के कुछ वर्गों में प्रचलित हैं जिसने हमारी प्रगतिशीलता और आधुनिक चिंतन पर गहरे प्रश्न चिह्न लगाए हैं। दलितों को गांव के सार्वजनिक कुएं पर पानी न भरने देना, उन्हें जूते तक पहनने का अधिकार न देना, उनकी स्त्रियों को लाल किनारी वाली धोती न पहनने देना, उनके शवों को गांव/कस्बे के श्मशानघाट पर जलाने की अनुमति न देना, उनके स्पर्श मात्र से अपवित्र हो जाने की धारणा को पालना आदि कितनी ही ऐसी बातें हैं जो इस देश में दलितोद्धार के सभी प्रयासों को झुठलाती रही हैं और भारतीय संविधान का खुल्लम-खुल्ला मजाक उड़ाती दिखी हैं।

पिछले कुछ दशकों में दलित वर्ग में आई चेतना और उनके बढ़ते राजनीतिक प्रभाव के कारण अनेक स्थानों पर टकराव की स्थिति भी उत्पन्न हुई है। ऐसी स्थितियों में अधिकतर दलित ही अपमानित हुए हैं और पिटे हैं। कुछ वर्ष पहले आगरा जिले के एक गांव में दलित परिवार के एक विवाह में दूल्हे ने मुकुट भी पहना और घोड़े पर भी चढ़ा। अपने आपको ऊंची जाति का समझने वाले लोग सदा ही यह मानते रहे कि यह अधिकार केवल उनके लिए सुरक्षित है। किसी दलित दूल्हे को यह अधिकार नहीं कि वह मुकुट पहने और घोड़े पर चढ़कर अपनी बारात निकाले। गांव के जाटों ने न केवल दलितों के इस दुस्साहस पर आपत्ति की, बल्कि दूल्हे और सभी बारातियों

की गत बना दी। लंबे समय तक इस घटना की चर्चा समाचार पत्रों में होती रही थी।

कुछ समय पहले ऐसी ही एक घटना राजस्थान के भीलवाड़ा जिले में हुई थी। इस जिले के खैराबाद गांव में सत्यनारायण साल्वी नाम के एक दलित युवक ने अपने विवाह के अवसर पर मुकुट पहनने और घोड़े पर चढ़ने की 'जुर्रत' की थी। गांव की पुरानी सामंतीय मानसिकता से पीड़ित वर्ग को यह सहन नहीं हुआ था। उन्होंने दूल्हे को न केवल घोड़े से जबरन उतार दिया था, उसे बुरी तरह अपमानित भी किया था। यह सब कुछ पुलिस अधिकारियों के सामने हुआ था, किंतु उन्होंने इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं किया था। यह सब कुछ करने वालों के विरुद्ध कोई केस भी दर्ज नहीं किया गया था।

कुछ समय पूर्व उसी गांव के एक अन्य दलित युवक ने फिर वही हिम्मत दिखाई। बलाई जाति के जेतूराम के बेटे सकरलाल ने फैसला किया कि वह अपनी बारात घोड़े पर चढ़कर निकालेगा और दूल्हे वाला मुकुट भी धारण करेगा। उसके इस निश्चय से गांव में सनसनी फैल गई। लोगों ने उसे समझाया भी, किंतु वह अपने निश्चय पर अडिग रहा। गांव का वातावरण तनावपूर्ण हो गया। संकेत यही थे कि कथित ऊंची जाति के लोग इसे बर्दाश्त नहीं करेंगे और कुछ वर्ष पूर्व घटी घटना को फिर से दोहराया जाएगा।

सकरलाल ने इस बार एक सावधानी बरती। उसने तीन दिन पहले ही जिला अधिकारियों को अपने निर्णय की सूचना दे दी और उनसे पुलिस के हस्तक्षेप की मांग की। इसका सही परिणाम निकला। बारात वाले दिन उप मंडल न्यायाधीश और उप पुलिस अधीक्षक पुलिस कर्मियों सहित वहां उपस्थित थे। सकर लाल ने सभी की उपस्थिति में डॉ. अंबेडकर के चित्र को हार पहनाया और शान से घोड़े पर सवार हुआ। वहां उपस्थित अधिकारियों ने यह निश्चय कर लिया था कि वे कुछ समय पूर्व हुई घटना को फिर से नहीं होने देंगे और किसी को यह अधिकार नहीं देंगे कि वे दलितों को अपमानित और पीड़ित करें। सकरलाल की बारात जब चली तो दलित स्त्रियों ने अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए डांडिया नृत्य भी किया।

कोई किसी वंचित व्यक्ति अथवा समाज को उसके उचित अधिकार सरलता से दे देता हो, ऐसा बहुत कम देखेंगे में आता है। अधिकार अपने निश्चय की दृढ़ता से ही प्राप्त किए जाते हैं।

दलित संदर्भ में दूसरी बात अधिक महत्वपूर्ण है। कुछ समय पूर्व उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान ने पौरोहित्य का एक पाठ्यक्रम प्रारंभ किया था। तीन माह के इस अध्ययन में पौरोहित्य कार्य का प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले विद्यार्थी प्रदेश के लगभग सभी जिलों से थे। इन विद्यार्थियों को जन्म, मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह, व्रत, मृत्यु आदि अवसरों के सभी कर्मकांडों की शिक्षा राज्य के जाने-माने पंडितों ने दी थी। इस कार्य में शिक्षित ये सभी विद्यार्थी अब हिंदू धर्म के सभी संस्कारों को संपादित कराने का कार्य करने

में सक्षम हैं। प्राचीन काल से ही पुरोहितगीरी करने का कार्य केवल ब्राह्मण वर्ग के लोग ही करते रहे हैं।

यह एक प्रकार से उनका ऐकांतिक क्षेत्र है। अन्य वर्णों के लोग इस क्षेत्र में न प्रवेश करते थे, न ही उन्हें प्रवेश की अनुमति थी, किंतु जिस संस्थान ने इस पाठ्यक्रम में प्रवेश के लिए विद्यार्थियों के आवेदन पत्र मांगे उसमें ब्राह्मण होना अनिवार्य नहीं था। परिणामस्वरूप इस आयोजन में प्रशिक्षित पंडितों में न केवल ब्राह्मण हैं, पिछड़ी जातियों के अब्राह्मण भी हैं। इस संदर्भ में सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें दलित वर्ग के लोग भी हैं। मैं समझता हूं कि यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात है जो हिंदू समाज में हो रही हैं।

किसी अब्राह्मण का ब्राह्मणत्व प्राप्त करना प्राचीनकाल से ही बहुत विवादित रहा है। इस संदर्भ में वशिष्ट और विश्वामित्र की चर्चा प्राचीनकाल से होती आ रही है। वशिष्ठ जन्म से ब्राह्मण थे इसलिए उनको ब्रह्मर्षि स्वीकार किए जाने में कहीं कोई दुविधा नहीं थी। विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय थे, इसलिए उन्हें राजर्षि कहा गया ब्रह्मर्षि नहीं। धीरे-धीरे सभी कार्य रूढ़ हो गए। पौरोहित्व का कार्य ब्राह्मणों तक ही सीमित हो गया। अन्य वर्गों के लिए अन्य दायित्व निर्धारित हो गए।

प्राचीनकाल में किसी अब्राह्मण ने पुरोहित, पुजारी बनने का दायित्व निभाया हो ऐसा मेरे अध्ययन में नहीं है। मध्यकाल का एक उदाहरण मुझे याद आता है। पांचवें गुरु-गुरु अर्जुन देव ने अमृतसर में सरोवर के बीच मंदिर बनवाया और उसे हरिमंदिर कहकर पुकारा। उन्होंने ही पूर्ववर्ती गुरुओं, संतों, सूफियों की रचनाओं को एक स्थान पर संकलित करके एक ग्रंथ बनाया। इस ग्रंथ को उन्होंने हरिमंदिर में स्थापित किया। यहां तक कोई बहुत अनहोनी बात नहीं थी, किंतु अनहोनी बात हरिमंदिर के पुजारी की नियुक्ति से प्रारंभ होती है। उन्होंने एक जाट, भाई बुड्ढा, को मंदिर का पहला पुजारी नियुक्त किया।

उन्नीसवीं सदी में उभरे आर्य समाज ने भी पुरोहित या पंडित होने के लिए ब्राह्मण अनिवार्यता को अस्वीकार कर दिया था। वहां भी पांडित्व की कसौटी योग्यता बनी न कि वर्ण विशेष।

किंतु सनातनी हिंदू परंपरा, जो आज भी खुले मन से किसी दलित को अपने मंदिर में आने की अनुमति नहीं होती है, किसी दलित पंडित को पुरोहताई का कार्य सौंपेगी और उसके द्वारा संपन्न किए जाने वाले संस्कारों को स्वीकार करेगी पर बहुत बड़ा प्रश्न हैं।

प्रश्न यह नहीं है कि पौरोहित्य कार्य में निष्णात एक दलित पंडित को समाज कितना स्वीकार करेगा। महत्व इस बात का है कि इस वर्जित क्षेत्र में उनका प्रवेश उनमें आत्म विश्वास उत्पन्न करेगा, उनके सम्मुख नए क्षितिज खोलेगा।

एक बात की और संभावना है। यदि परंपरागत सनातनी मंदिरों में इन दलित पंडितों को नहीं स्वीकारा जाएगा तो अनेक ऐसे मंदिर बन जाएंगे जिन पर वर्चस्व अन्य वर्गों का होगा। कुछ वर्ष पूर्व दक्षिण भारत में एक ऐसी घटना हुई थी। तमिलनाडु के एक नायडू प्रधान गांव में सवर्ण जाति की देवी का एक मंदिर था। उसमें दलितों का प्रवेश पूरी तरह वर्जित था। किसी भी समाज में ईश्वर, देवी, देवता के रूप में एक इष्ट का होना, उसके प्रति आस्था रखना, उसकी पूजा अर्चना करना उसकी आत्मिक तृप्ति के लिए बहुत आवश्यक होता है। मनुष्य ऐसी आस्था के बिना जी नहीं पाता। जो समाज शिक्षा की दृष्टि से जितना पिछड़ा होता है, उसे ऐसी आस्था की आवश्यकता अधिक महसूस होती है।

उस गांव के दलितों ने भी अपने लिए एक देवी कल्पित कर ली और उसकी एक मूर्ति बना ली। गांव के सवर्णों को दलितों का यह कार्य अच्छा नहीं लगा। उन्होंने आदेश दिया कि हमारी देवी की मूर्ति पत्थर की है और वह एक पक्के बने मंदिर में रहती है। यदि तुम लोग किसी देवी की पूजा करना चाहते हो तो करो, किंतु शर्त यह है तुम्हें अपनी देवी की मूर्ति मिट्टी की बनानी होगी। उसके लिए तुम पक्का मंदिर नहीं बनाओगे। तुम्हारी देवी का आसन खुले में ही रहेगा।

दलित मजबूर थे। उन्हें सवर्णों की शर्त माननी पड़ी। उन्होंने अपनी देवी की मूर्ति मिट्टी की बनाई। उसे गर्मी, सर्दी और बरसात में खुले में रखकर पूजा-अर्चना की। बरसात में मिट्टी की बनी मूर्ति पिघल जाती थी। बरसात जाते ही वे अपनी देवी की मूर्ति फिर बना लेते थे।

हमारे वर्जनाशील समाज में व्यक्ति की आस्थाओं पर भी कितने बंधन हैं, हम जानते हैं। पिछली कितनी ही सदियों में जन्मे अवतारों, गुरुओं, संतों, महात्माओं और समाज सुधारकों ने यह प्रयास किया है कि समाज को अंध रूढ़ियों और विश्वासों से मुक्त करके उसके संतोष, तृप्ति और सुख भरे जीवन की प्राप्ति कराई जाए, किंतु वे सभी अपने मन्तव्य में कितने सफल हुए?

इस दृष्टि से सतत प्रयास किए जाने की आवश्यकता है।

(अजीत समाचार, 17-7-2005)

देश का वर्तमान और गांधीजी की प्रासंगिकता

इस बार 2 अक्टूबर के समाचार पत्रों ने मुझे बहुत भ्रमित किया। महात्मा गांधी और लाल बहादुर शास्त्री के जन्मदिवस होने के कारण समाचार पत्रों के पृष्ठ उनके चित्रों से भरे हुए थे। एक बैंक ने अपने बैंक्रिग सेवा का प्रचार करते हुए अपने सचित्र विज्ञापन में लिखा–"बापू बसे हैं हमारे गांवों में, हमारे मूल्यों में, हमारे दिलों में।"

सभी समाचार पत्रों में सामाजिक न्याय और अधिकारिकता मंत्रालय का एक पूरे पृष्ठ का विज्ञापन छपा है। इस विज्ञापन में 'मेरे सपनों का भारत, शीर्षक से गांधीजी के कुछ वाक्य उद्धृत किए गए हैं–"ऐसा भारत जिसमें निर्धनतम भी यह महसूस करेंगे कि यह उनका देश है जिसे बनाने में उनकी आवाज भी मायने रखती है, ऐसा भारत जिसमें लोगों का कोई उच्च वर्ग या निम्न वर्ग नहीं होगा, ऐसा भारत जिसमें सभी समुदायों के लोग पूर्ण सद्भावना के साथ रहेंगे, ऐसे भारत में छुआछूत और नशाखोरी के अभिशाप के लिए कोई स्थान नहीं होगा। पुरुषों और स्त्रियों के बराबर के अधिकार होंगे, न तो कोई व्यक्ति किसी का शोषण करेगा और न कोई शोषित होगा।"

2 अक्टूबर के ही समाचार पत्रों की दूसरी महत्वपूर्ण खबर है कि सी.बी.आई. ने देश में एक सौ से अधिक स्थानों पर छापे मार कर सेवारत सरकारी अधिकारियों के घरों से अकूत संपत्ति बरामद की है। इन अधिकारियों का जितना वेतनमान है उससे इतनी संपत्ति किसी भी प्रकार जमा नहीं की जा सकती। स्पष्ट है कि उन अधिकारियों ने यह सारा धन रिश्वतखोरी करके जमा किया। दिल्ली में एक सहायक सफाई निरीक्षक जिसका वेतन मात्र तीन हज़ार रुपए मासिक है, के पास करोड़ों की संपत्ति है। आयकर विभाग तो ऊपर की आमदनी का बहुत लुभावना विभाग है। मुंबई के आयकर आयुक्त

के पास दो करोड़ का माल मिला है।

इसी दिन के एक समाचार पत्र ने मुख्य पृष्ठ के शीर्ष पर महात्मा गांधी और लाल बहादुर शास्त्री के बड़े-बड़े चित्र प्रकाशित किए हैं। उसी के नीचे तीन कालम के वाक्य में समाचार है—भ्रष्टाचार में डूबा सी.पी.डब्ल्यू.डी. घूसघोर बेनकाब। समाचार की पहली पंक्ति है—"केंद्रीय लोक निर्माण विभाग में यदि कोई काम कराना हो तो 40 प्रतिशत तक रिश्वत देने के लिए तैयार रहिए।"

पिछले दिनों पूर्व के. जी. बी. एजेंट वासिली मित्रोखिन की पुस्तक—दि मित्रोखिन आर्काइव 11 की देश में बड़ी चर्चा रही। सोवियत संघ के टूटने के पश्चात् ब्रिटिश खुफिया एजेंटों की सहायता से मास्को से भागते समय पूर्व के. जी. बी. अधिकारी मित्रोखिन जो दस्तावेज चोरी से अपने साथ ले गए थे उनके आधार पर वह पुस्तक लिखी गई। इस पुस्तक में कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी के. जी. बी. की तरफ से कितना धन मिलता था, इसका विवरण दिया गया था। सारा विवरण श्रीमती इंदिरा गांधी के शासनकाल का है। अब तो संदेह की श्रेणी में दो-चार भारतीय जन संघ के नेताओं के नाम भी आ गए हैं।

जो समाचार प्रकाशित हुए हैं उनके अनुसार कुछ राजनीतिक दलों और उनके नेताओं को तो धन प्राप्त होता ही था, देश के कई प्रमुख समाचार पत्र भी ऐसा धन प्राप्त करते थे। लगता है जैसे सारा देश बिकाऊ था।

चुनाव चाहे लोकसभा के हों अथवा किसी प्रदेश की विधान सभा के उनमें बेहिसाब धन खर्च होता है, इस बात की चर्चा अनेक वर्षों से होती चली आ रही है। निर्वाचन आयोग ने इस खर्च को नियंत्रित करने के कितने ही उपाय किए हैं किंतु कौन नहीं जानता कि चुनाव लड़ने वाले प्रत्याशी कोई-न-कोई ऐसा उपाय ढूंढ लेते हैं जिससे निर्वाचन आयोग के सभी प्रतिबंधों की धज्जियां उड़ती हुई दिखाई देती हैं। चुनाव लड़ना है तो उम्मीदवार के पास भी करोड़ों की बिना खाता-बही की दौलत चाहिए और उस राजनीतिक दल के पास भी अपरिचित राशि चाहिए जो अपने उम्मीदवार चुनाव के मैदान में उतारता है। हर दल किसी-न-किसी रूप में अपने उम्मीदवार की सहायता करता है। वह यह भी जानता है कि जो उम्मीदवार जितनी अधिक सहायता प्राप्त करेगा, दल और नेता के प्रति उसकी प्रतिबद्धता और निष्ठा को उतना अधिक निश्चित बनाया जा सकेगा।

मित्रखिन की पुस्तक में यह भी आया है कि अटैचियों में भर-भरकर करैंसी नोट प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की कोठी पर जाया करते थे। आज सभी नए-पुराने कांग्रेसी नेता इस बात को झूठ सिद्ध करने में लगे हुए हैं।

इस संदर्भ में एक बात याद आती है। इंदिरा गांधी के प्रधानमंत्रित्व का समय था। एक व्यक्ति रूसी मेहराब नागरवाला दिल्ली की पार्लियामेंट स्ट्रीट स्थित स्टेट बैंक ऑफ इंडिया के हेडआफिस में आता है। वह पब्लिक बूथ से प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की आवाज़ में बैंक के चीफ कैरियर से बात करता है और बैंक के लॉकर से साठ

लाख रुपए निकालकर ले जाता है। कुछ घंटों में ही इस धोखाधड़ी का पता लग जाता है। नागरवाला पकड़ा जाता है। उससे सारी रकम भी बरामद हो जाती है।

उस समय सारे देश में इस घटना की खूब चर्चा हुई थी। संसद में भी इस घटना को लेकर खूब शोर-शराबा हुआ था और हमेशा जैसे होता है, सरकार ने सारे मामले की जांच के लिए एक जांच समिति बना दी थी। लंबे समय तक उस जांच समिति की कोई रिपोर्ट नहीं आई। जब आई तो सरकार ने चुप्पी साध ली। वह रिपोर्ट आज भी गृह मंत्रालय की किसी आल्मारी में धूल चाट रही होगी।

उस घटना से कुछ प्रश्न अवश्य उभर आए थे। श्रीमती इंदिरा गांधी के बैंक लाकरों में कितना धन रखा हुआ था? क्या उस धन का कोई हिसाब-किताब था? नागरवाला ने जिस ढंग से वहां से रुपया निकलवाया था, उससे लगता है कि प्रधानमंत्री के कुछ विश्वस्त साथी वहां से बड़ी धन राशि निकालते भी होंगे और जमा भी कराते होंगे। सबसे बड़ा प्रश्न तो यह कि यह धन आता कहां से था और इसका उपयोग किस प्रकार किया जाता था। सभी राजनीतिक दलों के पास लंबा-चौड़ा पार्टी फंड होता है। बड़े-बड़े धन पतियों से यह धन इसी नाम से जमा किया जाता है। पार्टी के कोषाध्यक्ष को इस प्रकार का धन इकट्ठा करने में बड़ी महारत हासिल होती है।

सी.बी.आई. ने पिछले दिनों जो छापे मारे हैं वे अधिसंख्य सरकारी अफसरों के घर पर मारे गए हैं। इनसे प्राप्त धन और संपत्ति की सीमा दो-चार करोड़ रुपयों तक ही सीमित है। हम अपने देश में चर्चित घोटालों पर नजर डालें। उनके सम्मुख यह धन-संपत्ति बहुत नगण्य-सी लगती है। बोफोर्स से लेकर चारा घोटाले तक की संख्या दो अंकों से लेकर तीन और चार अंकों के करोड़ तक है।

एक बार किसी ने मुझसे पूछा कि इस समय देश में ऐसा कौन-सा क्षेत्र है जो भ्रष्टाचार से अपेक्षाकृत मुक्त है। मेरे मुंह से दो क्षेत्र निकले—सेना और शिक्षा, किंतु इन पर से भी अब मेरा विश्वास टूटता जा रहा है। तहलका घोटाले में राजनेताओं का पकड़ में आना अधिक आश्चर्य में डालने वाला नहीं था। राजनेताओं में अब कौन भ्रष्ट है इसकी पहचान नहीं होती है। अपनी उंगलियों पर उनकी गिनती करनी पड़ती है जो भ्रष्ट नहीं है, किंतु उस घोटाले में सेना के कुछ बड़े अधिकारियों का नाम आना आश्चर्यजनक भी था और आघातकारी भी।

मेरा संपूर्ण जीवन शिक्षा क्षेत्र में गुजरा है। मेरी मान्यता है कि यह क्षेत्र अपेक्षाकृत अभी भी साफ-सुथरा है। मूल्यहीनता के इस युग में एक अध्यापक अभी भी कुछ मूल्यों के साथ जीता है और उन्हें अपने विद्यार्थियों को देना भी चाहता है।

किंतु चारों ओर भ्रष्ट आचरण की बयार चल रही हो तो यह वर्ग भी इससे अछूता कैसे रह सकता है। हाल में ही उत्तर प्रदेश के कुलाधिपति टी.बी. राजेश्वर द्वारा प्रदेश के सात कुलपतियों को उनके द्वारा की गई अनियमिताओं और भ्रष्ट आचरण के कारण

बर्खास्त किया गया है। भ्रष्टाचार की बीमारी यदि विश्वविद्यालयों तक पहुंच गई है तो हमारे महाविद्यालय और विद्यालय तथा उनमें पढ़ाने वाले शिक्षक इससे कैसे दूर रहेंगे?

हमारी आंखों के सामने ही यह देश कैसा बन रहा है? गांधीजी की परिकल्पना का देश कैसा था? दलितों के साथ देश के अनेक भागों में आज भी वैसा ही व्यवहार है जैसा सदियों से होता आ रहा है। अस्पृश्यता को गांधीजी समाज का सबसे बड़ा कलंक मानते थे। देश का संविधान इसे दंडनीय अपराध मानता है, किंतु हम दलित वर्ग के प्रति बनी हुई मानसिकता में कितना परिवर्तन ला सके हैं? आज भी किसी इस वर्ग के किसी दूल्हे का घोड़े पर चढ़कर अपनी बारात ले जाना अनेक ग्रामीण क्षेत्रों में एक अपराध है। आज भी किसी दलित स्त्री का चप्पल पहनना अथवा लाल किनारे की धोती पहनना एक वर्ग को स्वीकार नहीं होता।

सितंबर माह में यह समाचार भी प्रकाशित हुआ था कि उड़ीसा के पुरी जिले के ब्रह्मगिरि पुलिस थाने के अंतर्गत भुवनपति गांव में महिलाओं और बच्चों सहित दलित जाति के लगभग 25 लोगों को सवर्णों ने न केवल मारा-पीटा, उन्हें गांव की गलियों में नंगा घुमाया। दलितों का दोष मात्र इतना था कि उन्होंने गांव में हो रही एक शादी के दौरान सवर्ण बारातियों के पैर धोने से इनकार कर दिया था। आज भी दलित वर्ग के लोग जब पुरानी अमानवीय रूढ़ियों से बाहर निकलने का प्रयास करते हैं तो उनके इस कार्य की उनकी जुर्रत माना जाता है और ऊंची जाति के लोग उन्हें इस कार्य के लिए दंडित करने में कोई कसर नहीं उठा रखते।

गांधीजी की 136वीं जयंती के अवसर पर उन्हें बहुत याद किया गया। उनकी प्रासंगिकता को लेकर बहुत से भाषण दिए गए और समाचार पत्रों में अनेक कालम लिखे गए। अहिंसा सत्याग्रह तथा उनके द्वारा अपनाए गए उन उपकरणों की भी बड़ी चर्चा हुई जिनका उपयोग उन्होंने विदेशी शासन से लड़ने के लिए किया था। किंतु इस संबंध में अधिक चर्चा नहीं की गई कि सभी स्तरों पर भ्रष्टाचार में आकंठ डूबते जा रहे समाज के लिए गांधीजी का क्या संदेश था।

स्वतंत्रता प्राप्त होते ही गांधीजी ने यह सुझाव दिया था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को भंग कर देना चाहिए और उससे जुड़े सभी नेताओं और कार्यकताओं को एक नए राजनीतिक दल का गठन करना चाहिए। इस देश की वर्तमान अधोगति का बहुत बड़ा दायित्व राजनीतिक दलों का है। जिसे इस देश को आजाद कराने का श्रेय दिया जाता है। गांधीजी के सुझाव में संभवतः भविष्य में संकेत निहित थे।

(दैनिक जागरण, 13-10-2005)

कितनी उलझी हुई है जाति व्यवस्था

भारतीय समाज की जाति व्यवस्था को देखकर संसार के समाज शास्त्रीय चकित रह जाते हैं। जातियाँ और वर्ग भेद संसार के सभी समाजों में हैं किंतु उनका जैसा रूप भारतीय समाज में प्राप्त होता है वह अद्वितीय है। यह व्यवस्था समाज के मानस में इस सीमा तक बसी हुई है कि इससे मुक्ति लगभग असंभव है। हिंदू समाज तो इससे बुरी तरह ग्रस्त है ही, मुसलमान, ईसाई तथा सिख—जिनके धर्म में जाति-प्रथा का पूरी तरह निषेध है—भी इसके सर्वग्राही प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। समाजशास्त्रियों ने अनेक प्रकार से जाति की परिभाषा एवं व्याख्या की है। एक समाज शास्त्री ने इसकी परिभाषा करते हुए कहा है—जब सामाजिक पद पूर्णतया निश्चित हो, जब जन्म ही मनुष्य के भाग्य को निश्चित करे, जब जीवन-पर्यन्त उसके परिवर्तन की कोई आशा न हो, तब वह जन-वर्ग जाति का रूप धारण कर लेता है।

सामाजिक दृष्टि से जाति प्रथा का सबसे घृणित रूप ऊंच-नीच की भावना है। यह ऐसी सोपानिक (सीढ़ीदार) व्यवस्था है जिसमें सबसे ऊंची सीढ़ी पर खड़ा हुआ व्यक्ति भी अपनी सर्वोच्चता के लिए अनेक प्रकार के दावे प्रस्तुत करता है। फिर वह सीढ़ी नीचे की ओर जाती है। सीढ़ी पर खड़ा व्यक्ति नीचे की ओर देखता है और यह सन्तुष्टि पाता है कि वह निचली सीढ़ियों पर खड़े हुए व्यक्ति से ऊंचा है। सबसे निचली सीढ़ी पर कौन खड़ा है, यह भी निर्विवाद नहीं है।

जाति व्यवस्था को तीन कसौटियों पर कसा ज़ा सकता है। एक, क्या सभी जातियों के लोग एक साथ धर्म-स्थलों पर जाकर पूजा-पाठ कर सकते हैं? दो, क्या सभी जातियों के लोग बिना भेदभाव के एक साथ बैठकर भोजन कर सकते हैं? तीन, क्या जाति भेद

की चिंता किए बिना सभी लोग आपस में विवाह संबंध स्थापित कर सकते हैं?

हिंदू समाज में ये तीनों स्थितियां प्रायः वर्जित हैं। अस्पृश्य जातियों के लिए सदियों से मंदिर प्रवेश निषिद्ध रहा है। सभी प्रकार के सुधारवादी आंदोलन के बावजूद इस स्थिति में व्यापक परिवर्तन नहीं हुआ है। खान-पान का भेद पहले से बहुत कम हुआ है। आधुनिक जीवन की अनेक ऐसी बाध्यताएं हैं कि कुछ कट्टर मान्यताओं वाले अपवादों को छोड़कर इसका पालन करना सहज नहीं है, किंतु आज भी सभी जातियों के लोग एक ही पंगत में बैठकर भोजन करें ऐसे दृश्य बहुत कम दिखते हैं। जहां तक वैवाहिक संबंधों की बात है, इसमें जाति-बंधन का टूटा लगभग असंभव है। यहां सोपानिक व्यवस्था आज भी बहुत मजबूत हैं। अपने ही वर्ण और वर्ग में भी लोग—ऊंच-नीच का बहुत विचार करते हैं, किसी अन्य जाति के विषय में सोचना बहुत दूर की बात है।

इस्लाम, ईसाइयत और सिखों में धार्मिक स्तर पर जाति प्रथा का पूरी तरह खंडन है और ऊंच-नीच की भावना का पूरी तरह निषेध है। किंतु ये समुदाय भी दो पड़ाव पार करने के पश्चात् तीसरे पर पहुंचकर ठिठक जाते हैं, इन समाजों में एक साथ पूजा-पाठ करने और पूजा स्थलों में सभी के प्रवेश पर कोई बंधन नहीं है। खान-पान संबंधी भी कोई अड़चन इन समाजों में नहीं है। किंतु वैवाहिक संबंधों को लेकर इन समाजों में ऊंच-नीच का भाव उभर आता है।

मुसलमानों की ही बात लें। कुरान मजीद में यह बात बहुत स्पष्ट होकर आई है कि इस्लाम में जाति के आधार पर सामाजिक बंटवारे का कोई स्थान नहीं है। भारत के अधिसंख्य मुसलमान यहीं के धर्मांतरित लोग थे। विशेष रूप से शूद्र जातियों से। ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है जो अपना संबंध पूर्वजों से जोड़ते हैं जो अरब, तुर्की, ईरान, मध्य एशिया अथवा अफगानिस्तान से यहां आए थे। ये लोग अशरफ कहलाते हैं और उन मुसलमानों से अपने आपको बड़ा मानते हैं जो स्थानीय हैं। ऐसे मुसलमानों को अजलाफ कहा जाता है। सैयद, पठान, शेख, मुगल आदि अशरफ कहे जाते हैं और अंसारी, धुनिया, लोहार, बढ़ई जैसे मुसलमान दूसरी श्रेणी में आते हैं। भारत के वे मुसलमान जो अपने आपको राजपूतों और जाटों की संतान मानते हैं अन्य धर्म परिवर्तित मुसलमानों से श्रेष्ठ समझते हैं। कोई सैयद या पठान मुसलमान जुलाहे, धुनिया या कुंजड़े परिवार के साथ संबंध नहीं जोड़ना चाहता।

जातिगत सोपानिक धारणा इन मुसलमानों में भी व्याप्त है। कुछ समय पूर्व बिहार में हुई एक घटना का समाचार अखबारों में छपा था। किसी गांव में एक जुलाहे परिवार की लड़की का एक धुनिया जाति के लड़के के साथ प्रेम संबंध हो गया। दोनों ने भागकर शादी कर ली। दोनों ही मुसलमान थे, किंतु जुलाहे अपने आपको धुनियों से बड़ा मानते थे। जुलाहों का असंतोष इस सीमा तक बढ़ा कि उन्होंने उस प्रेमी युगल को पकड़ मंगवाया और उन्हें मौत के घाट उतार दिया।

सिखों की हालत भी लगभग ऐसी ही है। किसी-न-किसी रूप में जाति प्रथा, अपनी सभी बुराइयों के साथ इनमें भी विद्यमान है। गुरुवाणी जाति-व्यवस्था और ऊंच-नीच का पूरी तरह खंडन करती है, किंतु लंबे समय तक गुरुद्वारों के पुजारी दलित जातियों से आए सिखों के भेदभाव करते थे। 1920 तक अमृतसर के हरिमंदिर और अकाल तख्त पर इन सिखों द्वारा लाया हुआ प्रसाद स्वीकार नहीं किया जाता था। उस समय इस प्रथा का विरोध करने के लिए आंदोलन हुआ। गुरुद्वारों से ऐसी मानसिकता रखने वाले पुजारियों का निष्कासन हुआ और दलित जातियों में से आए सिखों को इस क्षेत्र में प्रवेश प्राप्त हुआ।

पूजा-पाठ के समान अधिकार और लंगर की सहभोज की व्यवस्था के बावजूद वैवाहिक संबंधों में सिख समाज में वही जड़ता व्याप्त है जो इस देश में सदियों से चली आ रही है। सिखों में खत्री सिख हैं, अरोड़ा सिख हैं, राजपूत सिख हैं, जाट सिख हैं, रामगढ़िए सिख हैं और दलित जातियों से लिए सिख हैं। विवाह संबंध में ये सभी अपनी-अपनी बिरादरियों तक सीमित रहते हैं। खत्री-अरोड़े अपने आपको जाटों से बड़ा मानते हैं। जाट रामगढ़ियों को छोटा समझते हैं। दलित जातियों की स्थिति आज भी बहुत छोटी है। गुरु नानक ने कहा था—

नीचां अदरि नीच जाति, नीची हूं अति नीच।
नानक तिनके संग साथि वडियां सू किआ रीस॥

अर्थात् नीचों में भी जो नीच जाति के हैं, उनमें भी जिन्हें और नीचा समझा जाता है, मैं उनके साथ हूं। मुझे अपने आपको ऊंची जाति के मानने वालों से कुछ भी लेना-देना नहीं है।

विवाह में जाति संबंधी ऊंच-नीच की भावना के आधार पर कितनी ही दुःखद घटनाएं हो जाती हैं। एक गांव में एक जाट लड़की ने एक दलित जाति के सिख लड़के के साथ विवाह कर लिया। दोनों एक साथ पढ़ते थे। एम.ए. उत्तीर्ण करने के पश्चात् दोनों ही एक कॉलेज में लेक्चरार हो गए थे। इस घटना से उस गांव में कोहराम मच गया था। दोनों ही परिवार सिख थे, किंतु जाटों को यह स्वीकार नहीं था कि उनकी लड़की किसी दलित जाति के लड़के के साथ विवाह कर ले।

इस स्थिति की सबसे बड़ी विडंबना अनुसूचित जातियों के आरक्षण को लेकर है। भारतीय संविधान के अंदर जब दलित जातियों को आरक्षण देने की व्यवस्था दी गई तो उसकी परिधि में केवल हिंदू अनुसूचित जातियों को ही रखा गया था। सिख, मुसलमान, ईसाई उसमें नहीं आते थे। सबसे पहले शिरोमणि अकाली दल और उसके नेता मास्टर तारा सिंह ने यह आवाज़ उठाई कि अनुसूचित जातियों के सिखों को भी आरक्षण का लाभ मिलना चाहिए। जब इस मांग ने आंदोलन का रूप ले लिया तो केंद्र

सरकार को मानना पड़ा। सिखों की अनुसूचित जातियों को भी आरक्षण का लाभ मिलने लगा।

डॉ. अंबेडकर की प्रेरणा से लाखों हिंदुओं ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। इस कारण आरक्षण के लाभ से वे भी वंचित हो गए थे। सिख नेताओं और बौद्ध नेताओं को यह भय था कि यदि इनके भीतर की अनुसूचित जातियां आरक्षण के लाभ से वंचित हो जाएंगी तो उस लालच के कारण वे संभवतः न सिख रहे न बौद्ध। अब नव बौद्धों को भी जाति के आधार आरक्षण मिलने लगा है।

अब यह आवाज़ भी उठ रही है कि अनुसूचित जातियों से जो लोग ईसाई अथवा मुसलमान बन गए हैं, उन्हें भी आरक्षण का लाभ मिलना चाहिए। हाल में ही अखिल भारतीय संयुक्त मुस्लिम मोर्चा (लखनऊ) ने उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री मुलायम सिंह यादव से मांग की है कि वे केंद्र सरकार से इस बात की सिफारिश कर अनेक मुस्लिम जातियों को अनुसूचित जातियों की सूची में शामिल कराएं, जिससे उनका विकास हो सके।

इस मोर्चे का यह कहना है कि भारत को 85% मुस्लिम आबादी इन्हीं जातियों की है। संविधान की धारा 341 जिसके तहत आरक्षण का लाभ उन अनुसूचित जातियों और जनजातियों को प्राप्त होता है जो गैर-मुसलमान हैं। उन्होंने मुख्यमंत्री से यह आग्रह किया है कि दलित मुसलमानों को भी अनुसूचित जातियों/जनजातियों में शामिल किए जाने वाले प्रस्ताव को विधानसभा में पारित कराएं और केंद्र सरकार को भेजें।

ईसाई समुदाय बहुत पहले से ही यह मांग कर रहा है कि अनुसूचित जाति के ईसाइयों को भी आरक्षण सूची में लिया जाए।

इस दृष्टि से एक और रोचक तथ्य है। पहले दलित जातियों के लोग अपनी जाति छिपाते थे। आजकल बहुत से लोग आरक्षण का लाभ लेने के लिए, झूठे प्रमाण-पत्र बनवाकर अपने आपको अनुसूचित जाति/जनजाति में शामिल करवा लेते हैं।

समुचित जीवन-यापन के लिए मनुष्य का भौतिक संघर्ष ही आज का सबसे बड़ा संघर्ष दिखाई देता है। धार्मिक विश्वास और मान्यताएं जब संघर्ष की ऐसी दीवार से टकराती हैं तो उनका रूप-ढंग बदल जाता है। जाति प्रथा का भी वही हाल है। इसके विरुद्ध कितने ही धार्मिक आंदोलन उभरे और सुधार की लहरें चलीं, किंतु यह व्याधि जटिल से जटिलतर होती चली गई। आरक्षण व्यवस्था ने इसे नई परिभाषा दे दी है। समतामूलक समाज की स्थापना किसी भी आधुनिक समाज की पहली पहचान है। किंतु जातियों को लेकर आज की राजनीति में जैसे खेल खेले जा रहे हैं, क्या निकट भविष्य में ऐसे किसी समाज की स्थापना की कोई संभावना है।

(दैनिक जागरण, 27-10-2005)

अभी भी विवादग्रस्त है मंदिर प्रवेश

उड़ीसा के लिंगराज मंदिर में एक विदेशी महिला को प्रवेश की अनुमति न मिलने से यह बात फिर से उभर आई है कि हिंदू मंदिरों में न दलित प्रवेश कर सकते हैं, न अहिंदू। पिछली सदी में इस बात को लेकर निरंतर चर्चा होती रही है, इस बात को लेकर आंदोलन भी हुए हैं कि दलितों को मंदिर प्रवेश का अधिकार होना चाहिए। गांधीजी इस बात की सदा पैरवी करते रहे। डॉ. अंबेडकर बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पूर्व इस अधिकार के लिए आंदोलन करते हैं। इसके परिणामस्वरूप कुछ मंदिरों के द्वार दलित वर्ग के लिए खुल गए किंतु आज भी ऐसे प्राचीन मंदिरों की कमी नहीं है जिनमें न दलित प्रवेश कर सकते हैं, न अहिंदू।

किंतु पमेला नाम की गोरी महिला जिसने अनिल कुमार यादव नाम के हिंदू यूवक से विवाह किया है, उसका आर्य समाज मंदिर में 'शुद्धीकरण' हुआ है और उसने हिंदू धर्म स्वीकार कर लिया है। 'शुद्धीकरण' आंदोलन प्रारंभ से आर्य समाज के कार्यक्रमों का एक प्रमुख भाग रहा है, किंतु लिंगराज मंदिर के पंड़ों-पुजारियों ने उस श्वेत महिला को हिंदू मानने से इनकार कर दिया और जब उसके पति ने अपनी पत्नी सहित मंदिर में प्रवेश को अपना अधिकार बताया तो पुजारियों ने उसकी पिटाई भी कर दी।

यह कैसी विडंबना है कि हिंदू धर्म से बाहर जाने के तो अनेक मार्ग हैं, किंतु उसके अंदर आने के सभी मार्ग बंद हैं। इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है कि जब हिंदू धर्म छोड़कर मुसलमान बन गए कुछ लोगों ने हिंदू धर्म में वापस आना चाहा तो उन्हें इसकी अनुमति नहीं मिली। सोलहवीं-सत्रहवीं शती ने सिख-गुरुओं ने ऐसी कोई वर्जना नहीं रखी थी। उनके कलावे में दलित वर्ग के लोग भी आए थे और अहिंदू

भी। गुरु अर्जुन देव ने अमृतसर में जो हरिमंदिर बनवाया था, उसमें चारों दिशाओं में दरवाजे इसीलिए बनवाए गए थे कि सभी धर्मों, सभी वर्णों, सभी जातियों के स्त्री-पुरुष यहां आ सकते हैं।

उन्नीसवीं शती के अंत से आर्य समाज ने 'शुद्धिकरण' का विचार सामने रखा, जिसके अनुसार किसी विधर्मी को 'शुद्ध' करके आर्य बनाया जा सकता है, किंतु सनातनी समाज में कभी इसे मुक्तकंठ से स्वीकार नहीं किया गया। लिंगराज मंदिर के पुजारियों ने गोरी ईसाई महिला को शुद्धिकरण के बावजूद हिंदू नहीं माना।

मुझे कुछ बातों का स्मरण होता है। कुछ वर्ष पूर्व भारत सरकार के परिवहन मंत्रालय की हिंदी साहित्य समिति की एक बैठक कोचीन (केरल) में हुई थी। इस समिति का सदस्य होने के नाते मैं भी उस बैठक में सम्मिलित हुआ था। समिति में कुछ सरकारी सदस्य थे, कुछ संसद सदस्य थे, कुछ गैर सरकारी सदस्य थे।

दो दिन की बैठक समाप्त होने के पश्चात् वहां के व्यवस्थापकों ने हमसे कहा कि आज शाम को हम सभी सदस्यों को यहां के प्रसिद्ध ऐतिहासिक मंदिर में ले चलेंगे। आप सभी तैयार होकर बड़े हॉल में जाएं। हम सभी निश्चित समय पर वहां आ गए। हम मंदिर जाने के लिए सरकारी वैन में बैठने जा ही रहे थे कि एक रुकावट आ गई। नागालैंड के एक संसद सदस्य भी हमारे साथ थे। वे ईसाई थे। आयोजक ने उनसे कहा कि आप ईसाई होने के कारण वहां नहीं जा सकेंगे। वहां अहिंदुओं का प्रवेश वर्जित है। मेरे लिए भी एक वर्जना आ गई। मुझे अहिंदू तो नहीं माना गया किंतु मुझसे कहा गया कि उस मंदिर में नंगे सिर जाना पड़ता है। वहां आपको अपनी पगड़ी उतारनी पड़ेगी। मैंने कहा कि यह करना मेरे लिए संभव नहीं है। उदास भाव से हम दो लोग वहीं रुक गए। शेष सदस्य चले गए।

कैसी मजेदार बात है। किसी गुरुद्वारे में जाने के लिए सिर ढकना पड़ता है। उस मंदिर में जाने के लिए सिर का नंगा रहना अनिवार्य है। यदि कहीं भगवान होगा तो यह देखकर हंसता होगा। उसी की बनाई सृष्टि है, उसी के निमित बनाए गए धर्म-स्थलों में, उसी के भक्तों द्वारा, मनमाने ढंग से कैसे-केसे नियम बना दिए गए हैं।

तेरहवीं शती में महाराष्ट्र के संत नामदेव ने बड़े उलाहना भरे शब्दों में पूछा था—हे यादव राज कृष्ण, मैं बड़े उत्साह से हंसते-खेलते तुम्हारे द्वार पर आया था। मंदिर में बैठकर भक्ति करते हुए पंडे-पुजारियों ने मुझे पकड़कर बाहर निकाल दिया, इसलिए कि मैं हीन जाति का हूं। यदि मेरे साथ इसी प्रकार का व्यवहार होना था तो तुमने मुझे छीपे का जन्म क्यों दिया—

हंसत खेलत तेरे देहुरे आया।
भगति करत नामा पकरि उठाया।

हीनड़ी जाति मेरी जादम राया!
छीपे के जनम काहे को आया।

लिंगराज मंदिर के पुजारियों का कहना है कि हिंदू से विवाहित एक विदेशी महिला मंदिर में प्रवेश नहीं कर सकती। इस संबंध में पुरी के शंकराचार्य को स्पष्ट नियम बना देने चाहिएं। किंतु शंकराचार्य स्वामी निश्चलानंद सरस्वती के सचिव राजीव मिश्र का कहना है कि यदि लिंगराज मंदिर कमेटी औपचारिक रूप से शंकराचार्य से इस संबंध में निवेदन करे तो वे अपना अभिमत देंगे। इस संबंध में अभी हम कुछ नहीं कहेंगे।

यह कैसी थोथी दलील है। सभी शंकराचार्य हिंदू धर्म के सर्वोच्च व्याख्याकार हैं। मंदिरों में किनका प्रवेश हो सकता है और किनका नहीं इस संबंध में उन्हें स्पष्ट मत देना चाहिए।

क्या ये धर्माचार्य इतिहास से कोई शिक्षा नहीं लेना चाहते? भारत में रहने वाली 90% से अधिक अहिंदू भारतीय मूल के ही हैं। इनमें से भी अधिसंख्य शूद्र वर्ग के हैं। इनके साथ हुआ असमानता भरा अमानवीय व्यवहार सहस्राब्दियों की अवधि में फैला हुआ है। जिस भी धर्म में इन्हें समानता और बंधुत्व भरा व्यवहार मिला, वे उधर आकर्षित हो गए। वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि सदियों के भेदभाव और पीड़ा तथा अपमान भरा व्यवहार मिलने के बाद भी ऐसे करोड़ों लोग आज भी हिंदू कलावे में हैं।

बाबा साहिब अंबेडकर का उदाहरण सबसे ताजा है। अपने सभी प्रयासों के बाद जव उन्होंने अनुभव किया कि कुछ छुट-पुट सुधारवादी आंदोलनों के बावजूद हिंदू समाज अपनी भेदभाव भरी मानसिकता को बदलने के लिए तैयार नहीं है तो उन्होंने अपने दलित भाइयों सहित हिंदू धर्म छोड़ने की घोषणा कर दी।

1932 में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री रैमसे मैक्डोलांड ने 'कम्युनल अवार्ड' की घोषणा कर दी थी। इस अवार्ड में यह घोषणा की गई थी धर्म/जाति के आधार पर भारतवासियों को शासन में प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा। इसके अनुसार हिंदुओं, मुसलमानों, ईसाइयों, सिखों, ऐंग्लो इंडियनों और दलित समुदायों को अलग-अलग अपने प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार था।

गांधीजी ने इस अवार्ड का इस आधार पर विरोध किया था कि इससे दलित सदा सदा के लिए हिंदू समाज से अलग हो जाएंगे। उस समय वे यखदा जेल में कैद थे। वहीं उन्होंने आमरण अनशन प्रारंभ कर दिया। देश के अनेक बड़े नेता डॉ. अंबेडकर को मनाने में लग गए कि वे 'कम्युनल अवार्ड' में से दलितों के पृथक निर्वाचन की मांग वापस ले लें। बहुत दबाव के कारण डॉ. अंबेडकर ने यह मान लिया। गांधीजी ने यह आश्वासन दिया कि अब से दलितों के साथ भेदभाव नहीं होगा, सार्वजनिक कुओं और तालाबों से वे जल भर सकेंगे, सभी मंदिरों के दरवाजे उनके लिए खुल जाएंगे।

इसे पूना समझौता कहा जाता है।

किंतु दो वर्ष में ही डॉ. अंबेडकर का मोहभंग हो गया। हिंदू समाज का रवैया दलितों के प्रति अंश मात्र ही बदला। अधिसंख्य मंदिरों के दरवाजे उनके लिए बंद रहे। गांवों में उनके प्रति पहले जैसा ही व्यवहार होता रहा।

धर्म परिवर्तन की घोषणा डॉ. अंबेडकर ने 1935 में की थी। इसे कार्यरूप में परिणति करने में उन्होंने 21 वर्ष का समय लिया। 1956 में नागपुर में उन्होंने अपने कई लाख समर्थकों का साथ बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया।

इस अवधि में किसी धर्माचार्य, शंकराचार्य अथवा किसी हिंदू संगठन ने यह प्रयास नहीं किया कि डॉ. अंबेडकर की शिकायतों को किस प्रकार दूर किया जाए दलितों के लिए सभी मंदिरों के द्वार कैसे खुलें, गांवों में उच्च जातियों द्वारा उन पर जो अत्याचार किए जाते हैं, वे कैसे रुकें?

1950 में लागू हुए भारतीय संविधान ने छूत-छात को अपराध घोषित किया और दलितों सहित सभी नागरिकों को समान अधिकार दिए। इस संविधान के निर्माण में डॉ. अंबेडकर की अहम भूमिका थी। फिर भी वे जानते थे कि मात्र कानून बना देने से उस मानसिकता में परिवर्तन नहीं आ सकेगा, जो हजारों वर्षों से जड़ जमाए बैठी है।

आज विश्व हिंदू परिषद् जैसी संस्थाएं अयोध्या में भगवान राम का मंदिर बनाने को बहुत उतावली दिखती हैं। इसके लिए एक धर्म-संसद भी है जिसमें प्रतिष्ठित साधु संत हैं। वे इस समस्या पर विचार-विमर्श क्यों नहीं करते? क्यों नहीं यह घोषणा करते कि प्रस्तावित राम मंदिर में मानव मात्र का प्रवेश संभव होगा। अभी तक उन्होंने यह भी स्पष्ट नहीं किया है कि राम मंदिर की स्थिति कैसी होगी?

(दैनिक जागरण, 10-11-2005)

दलित समस्या लंबा संघर्ष है

अभी हाल में ही तमिलनाडु दलितों की स्थिति के संबंध में अंग्रेजी में दो पुस्तक प्रकाशित हुई है। एक हैं—'द्रविड़ भूमि में दलित' (दलित्स इन द्रविडियन लैंड)—लेखक हैं, एस. विश्वनाथन और दूसरी है—'अस्पृश्य नागरिक'—तमिलनाडु में दलित आंदोलन और लोकतंत्रीकरण। इसके लेखक हैं—हूगो गोरिंज।

इसे इस देश के सामाजिक जीवन का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि दलित समस्या से यहां का कोई भाग अछूता नहीं है। आम धारणा यह है कि उत्तर भारत के गंगा-यमुना क्षेत्र में ही जाति-पांति, छूत-अछूत की व्याधि का प्रभाव अधिक है, किंतु जब दक्षिण भारत की सामाजिक स्थिति का पता लगता है, तो आश्चर्य होता है कि वहां इस भावना की जड़ें उत्तर भारत से अधिक गहरी हैं।

यह बात तो सभी स्वीकार करते हैं कि मध्य युग में जिस भक्ति की लहर ने सारे देश को अपने प्रभाव में लिया था उसका उदय दक्षिण भारत में हुआ था। तमिल प्रदेश में आडवार या अलवार संतों द्वारा जिस ईश्वर-भक्ति की परंपरा ने वहां जन्म लिया उसी से वहां शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्याचार्य, निम्बार्काचार्य अदि आचार्यों का आविर्भाव हुआ और वही परंपरा महाराष्ट्र, गुजरात होती हुई उत्तर भारत में आई।

अलवार भक्तों की संख्या 12 मानी जाती है। ये समकालीन नहीं थे। उनका समय ईसा की सातवीं शती से लेकर बारहवीं शती तक फैला हुआ है। इन संतों में एक-दो को छोड़कर प्रायः सभी निम्न समझी जाने वाली जातियों में पैदा हुए थे। इन भक्तों के पदों का संग्रह 12वीं शती के आचार्यों द्वारा हुआ जिसे प्रबंधक कहा जाता है। इस ग्रंथ को तमिल वेद कहा जाता है।

दलितों के उत्थान और सम्मान की इतनी प्राचीन परंपरा होते हुए भी उस प्रदेश में दलित उत्पीड़न की मानसिकता में कमी नहीं आई। उनके साथ भेदभाव आज भी वहां के सामाजिक जीवन का प्रमुख अंग बना हुआ है।

स्कॉटलैंड विश्वविद्यालय से समाजशास्त्री हूगो गोरिंज ने 1980 और 1990 के मध्य तमिलनाडु के मदुराई और आसपास के क्षेत्रों का अध्ययन किया और दलितों की स्थिति का पता लगाया। विश्वनाथन तथा हूगो गोरिंज दोनों ही अपनी पुस्तकों में दलित समस्या के विरोधाभासों को रेखांकित करते हैं। पहले दलित समाज से बहिष्कृत थे और सताए हुए थे। अब उन्हें संविधान द्वारा अधिकार और सुरक्षा प्रदान की गई है। इसलिए अब वे समाज में शामिल तो हैं, फिर भी दबे हुए हैं। उन्हें अनेक प्रकार से पीड़ित किया जाता है। उनकी हत्या की जाती है, उनकी महिलाओं के साथ बलात्कार किया जाता है, उनके बच्चों के साथ दुर्व्यवहार होता है, उन्हें पढ़ाई से वंचित किया जाता है उनकी संपत्ति हथिया ली जाती है, उनकी आजीविका के वैधानिक रास्तों पर भी अड़चनें डाली जाती हैं या उन्हें नष्ट कर दिया जाता है।

विश्वनाथन की पुस्तक में एक घटना का उल्लेख है। मदुराई जिले के एक गांव के एक दलित ने मदुराई नगर से स्नातक की डिग्री प्राप्त की। यह डिग्री प्राप्त करने वाला वह उस गांव का पहला दलित युवक था। वह अपने गांव उस मार्ग से वापस आ रहा था जिस पर ऊंची जाति वालों की बहुतायत थी। दलित युवक ने कमीज-पैंट पहन रखी थी। उसके पैरों में जूते थे। ऊंची जाति के युवकों ने इसे अपने लिए चुनौती मानी। इस गांव के दलित न पैंट पहनते थे, न जूते। इस स्नातक युवक ने यह जुर्रत की थी। उसे घेरकर उसकी ऐसी पिटाई की गई कि उसकी मृत्यु हो गई।

इसी प्रकार की एक दूसरी घटना। अन्नामलाई विश्वविद्यालय के दो युवा दिलों में प्रेम हो गया। लड़का दलित वर्ग का था और लड़की वनियार जाति की। यह जाति भी छोटी मानी जाती है किंतु इस जाति के लोग अपने-आपको दलितों से बड़ा मानते हैं। वनियारों ने इस विवाह को स्वीकार नहीं किया। दोनों ही संदेहपूर्ण स्थिति में मृत पाए गए।

1998 में श्री के.आर. नारायण इस देश के राष्ट्रपति चुने गए थे। वे दलित वर्ग के थे। दलित युवकों के एक वर्ग ने अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने के लिए एक आयोजन किया। ऊंची जाति के लोगों ने इस पर आपत्ति की। दोनों वर्गों में झगड़ा हुआ। परिणामतः दलितों की बीस झोपड़ियां जला दी गईं और उनके सौ से अधिक घरों को नुकसान पहुंचाया गया। सन् 2003 के स्वाधीनता दिवस पर एक गांव की पंचायत के दलित सरपंच ने राष्ट्रध्वज फहराया। उस गांव के ऊंची जाति वालों ने सभी लोगों के सामने उसे अपमानित किया और पीटा क्योंकि उसने, एक दलित होते हुए, राष्ट्रध्वज लहराने की 'जुर्रत' की थी।

मदुराई के निकट मेलावलवू गांव की पंचायत की अध्यक्षता दलित वर्ग के लिए आरक्षित थी। पिछड़े वर्ग के थेवर जाति के लोगों ने, जो अपने आपको दलितों से ऊंचा समझते हैं, इस बात का कड़ा विरोध किया और चुनाव-प्रक्रिया में अनेक बाधाएं डालीं। अंत में पुलिस के संरक्षण में चुनाव हुए और मुरुगेसन नाम का एक दलित अध्यक्ष चुना गया, किंतु अपने आपको ऊंची जाति का समझने वाले थेवरों ने पंचायत के कार्यालय में उसे घुसने नहीं दिया। मुरुगेसन ने मदुराई जाकर जिला कलेक्टर से शिकायत की। जब वह अपने गांव वापस आ रहा था, उसकी बस रास्ते में रोक ली गई। बस से उसे तथा उसके 6 साथियों को जबरदस्ती उतार लिया गया और सबकी हत्या कर दी गई।

तमिलनाडु के विभिन्न भागों में इस प्रकार की घटनाएं नित्य होती रहती हैं। अनेक गांवों में दलितों को सार्वजनिक कुओं तथा अन्य जल-स्रोतों से पानी नहीं भरने दिया जाता, यह कहकर कि वे 'अपवित्र' होते हैं। वहां की चाय या काफी की अधिसंख्य दुकानों पर दलितों को चाय-कॉफी देने के लिए अलग बर्तन रखे जाते हैं।

जमीन से संबंधित मामलों में भी दलितों के साथ भयंकर अत्याचार होते हैं। सदियों से दलितों के पास अपनी जमीन नहीं होती थी। वे केवल खेतिहर मजदूर के रूप में ही काम करते रहे हैं। इसलिए व्यापक धारणा यह है कि दलितों को भू-स्वामी बनने का कोई अधिकार नहीं है, उन्हें केवल खेतिहर मजदूर बनकर ही रहना चाहिए। जब कभी दलित वर्ग का कोई व्यक्ति भू-स्वामी बनने की हिम्मत जुटाता है तो उसका जीना दूभर हो जाता है।

दलित अपने वर्ग की मृतक देहों का अंतिम संस्कार उन श्मशान घाटों पर नहीं कर पाते जहां कथित ऊंची जाति के लोग करते हैं। दलित वर्ग के लोग अपने मृतकों की शवयात्रा भी उन क्षेत्रों से नहीं ले सकते जिनमें ऊंची जाति के लोग रहते हैं।

इस स्थिति की सबसे अच्छी बात यह है कि तमिलनाडु में दलितों के अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाली अनेक संस्थाएं उभर आई हैं और अपने पर होने वाले अत्याचार और अन्याय के प्रतिरोध की अनेक घटनाएं सामने आने लगी हैं।

पंचायती राज्य-व्यवस्था में दलितों के लिए कुछ स्थान आरक्षित हैं। एक गांव की पंचायत के लिए पार्वती नाम की एक दलित महिला अध्यक्ष निर्वाचित हुई, किंतु उपाध्यक्ष के पद पर मरावा समुदाय का एक व्यक्ति चुना गया। वह अपने कुछ साथियों की सहायता से पार्वती को पंचायत की बैठक नहीं बुलाने देता था। पार्वती ने इसके लिए पुलिस की सहायता प्राप्त की। अपने साहस और निश्चय के कारण वह अपने अध्यक्ष पद के कार्य का निर्वहन करने लगी। उसे गांव के सभी लोगों, जिसमें ऊंची जाति के लोग भी थे, का सहयोग और समर्थन प्राप्त होने लगा।

तमिलनाडु का दलित परिदृश्य प्रगति, पीड़न, प्रतिरोध और परिवर्तन से भरा हुआ

है। हूगो गोरिंज ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि स्वतंत्र भारत में सभी संवैधानिक सुरक्षाओं के बावजूद अधिकतर दलित अभी भी समाज की मुख्यधारा में शामिल नहीं हो सके हैं। अभी भी उनकी बस्तियां गांव से बाहर होती हैं। बातचीत में अभी भी उन्हें अछूत कहकर संबोधित किया जाता है, पूजा-पाठ की दृष्टि से अभी भी उन्हें अपवित्र मानकर मंदिरों में प्रवेश नहीं करने दिया जाता। आर्थिक दृष्टि से उत्पादन के स्रोतों तथा भूमि से उन्हें दूर रखा जाता है। उनकी योग्यता या कुशलता का निरंतर अवमूल्यन होता है, सार्वजनिक जलपान गृहों में उनके साथ भेदभाव होता है।

दलित समस्या का एक विचित्र विरोधाभास यह है कि देश के सभी भागों में सवर्ण (ब्राह्मण, ठाकुर, वैश्य) तो उनके साथ अनंतकाल से असमानतामूलक व्यवहार करते रहे हैं, किंतु आज उन्हें सबसे अधिक विरोध और उत्पीड़न उन वर्गों से प्राप्त होता है जिनकी गणना वर्ण व्यवस्था में शूद्रों में होती रही है। तमिलनाडु में उन्हें उन लोगों के अत्याचार का शिकार होना पड़ता है जो स्वयं शूद्र हैं। वर्ण-व्यवस्था में मराठे, जाट, यादव, कुर्मी आदि को शूद्रों की ही श्रेणी में करवाया गया। यही जातियां आज दलितों के साथ, सवर्णों से अधिक जुल्म करती हैं। उत्पादन के अनेक स्रोतों पर इस जातियों का अधिपत्य है। देश के अनेक भागों में, मध्ययुग में इनकी राजसत्ता भी स्थापित हुई। आज की राजनीति में भी इनका वर्चस्व है। इसी वर्ग के लोग भू-स्वामी है जिनके खेतों में दलित मजदूरों की तरह काम करते रहे हैं। उनका उत्थान, उनकी प्रगति, उनकी शिक्षा इनके आर्थिक स्वार्थों को प्रभावित करती है इसलिए इसे सहज ढंग से स्वीकार करना इन्हें बहुत कड़ुवे घूंट की तरह लगता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि लोकतांत्रिक व्यवस्था, आरक्षण और निरंतर विकसित जागरुकता ने दलितों के मार्ग की अनेक अड़चनों को दूर किया है, किंतु यह लंबा संघर्ष है, जिसे निरंतर जारी रखना पड़ेगा।

(दैनिक जागरण, 8-12-2005)

कानून का दायरा तोड़ती पुलिस

पंजाब में मानवाधिकारों के लिए लड़ने वाले जसवंत सिंह खालड़ा की कुछ वर्ष पूर्व वहां के कुछ पुलिस अधिकारियों ने पुलिस हिरासत में हत्या कर दी थी। इस हत्याकांड को लेकर उस समय बहुत बावेला मचा था। मानवाधिकार संगठनों का कहना था कि खालड़ा का आतंकवादियों से कोई संबंध नहीं था। मानवाधिकार संगठनों द्वारा बहुत आग्रह किए जाने के परिणामस्वरूप सरकार में इस केस को केंद्रीय जांच ब्यूरो (सीबीआई) को सौंप दिया था, जिसकी जांच के बाद कुछ पुलिस अधिकारियों के विरुद्ध केस दायर हुए और मुकदमा चला। पिछले वर्ष 18 नवंबर को पटियाला के सत्र न्यायाधीश ने एक डीएसपी जसपाल सिंह और एक सब इंस्पेक्टर अमरजीत सिंह को आजीवन कारावास तथा चार अन्य पुलिसकर्मियों को सात साल की सजा सुनाई। दोनों ही पक्षों को ऊपरी अदालतों में अपील करने की छूट है।

मानवाधिकार संगठनों की एक और बड़ी प्रशंसा होती है वहीं कुछ लोग इन संगठनों की निंदा करते भी नहीं अघाते। कुछ मानवाधिकार संगठनों से मेरा परिचय है। इनमें कार्यरत कुछ लोगों को मैं अच्छी तरह जाता हूं। मैं यह भी जानता हूं कि कितने कम साधनों, सुविधाओं और तनावों में ये संगठन काम करते हैं। मैंने यह भी अनुभव किया है कि सरकारी तंत्र, मीडिया और सुरक्षा बलों की सामूहिक शक्ति के सामने ऐसे संगठनों की आवाज प्रायः नक्कार खाने में तूती की आवाज बनकर रह जाती है। पंजाब लंबे समय तक संकटग्रस्त रहा है। वहां आतंकवाद समाप्त हुआ, पर इसलिए नहीं कि पुलिस या सरकारी तंत्र ने उसे अपनी कुशलता से दबा दिया, बल्कि मुख्यतः इसलिए क्योंकि वहां की जनता ने प्रारंभ में आतंकवादियों को जो थोड़ा-बहुत समर्थन दिया था वह उनकी

लूटमार और निंदनीय कार्रवाइयों को देखकर वापस ले लिया और उसका प्रतिरोध भी करने लगे। संसार में व्यापक रूप से आतंकवाद उन्हीं क्षेत्रों में कुछ सफलता प्राप्त करता है जहां इस स्थानीय जनता का प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन प्राप्त होता है। इसमें संदेह नहीं कि आतंकवाद के दमन के नाम पर पंजाब पुलिस के कुछ अधिकारियों ने भयंकर रूप से मानवाधिकारों का हनन किया था। उस समय मानवाधिकारों के लिए आवाज उठाने वाली अनेक संस्थाओं ने अपने कार्यकर्ताओं को पंजाब भेजकर रिपोर्ट तैयार करवाई थी। 'सिटीजंस फार डेमोक्रेसी' की एक टीम पंजाब के गांव-गांव में गई थी।

1989 में 'कमेटी फार इनफॉरमेशन एंड इनीशिएटिव ऑन पंजाब' की एक टीम ने पंजाब में अनेक स्थानों पर जा कर पड़ताल की, लोगों की गवाहियां लीं, पीड़ित परिवारों से मिले और एक रिपोर्ट तैयार की। इस रिपोर्ट में सारे देश के सम्मुख यह तथ्य उजागर किया कि किस प्रकार आतंकवाद से लड़ने के नाम पर सुरक्षा बलों से जुड़े कुछ अधिकारियों ने वहां के निरीह नागरिकों पर कहर ढाए हैं। उन्हीं दिनों एक ब्लैक कैट कमांडो ने पंजाब हरियाणा उच्च न्यायालय में दाखिल अपनी एक याचिका में यह रहस्य खोला कि पंजाब पुलिस ने उसकी आंखों के सामने 11 निर्दोष व्यक्तियों की केवल इसलिए हत्या कर दी कि उन्हें आतंकवादी बताकर पुरस्कार और पदोन्नति प्राप्त की जा सके। कमांडो ने उन निर्दोष लोगों के नाम और पते भी दिए। उसने उन पुलिस अधिकारियों के नाम भी बताए जो इस नृशंस हत्याकांड में शामिल थे। कोई भी सभ्य समाज पुलिस को निर्दोष लोगों, यहां तक कि अपराधियों पर भी अत्याचार करने और उनकी हत्या करने की अनुमति नहीं देता, किंतु अपने देश में पुलिस की ओर से ऐसा कृत्य करने के समाचार आते रहते हैं। जब कोई समाज यह मान लेता है कि पुलिस को कानून की सीमाओं में रहना आवश्यक नहीं है तो वह सीधे-सीधे निरंकुश तानाशाही को नियंत्रित करता है और सभी लोकतंत्रीय तथा मानवीय मर्यादाओं को धूल में मिला देता है। मुझे नवंबर 1984 की घटनाएं याद आती हैं। दिल्ली में उस समय हिंसा का नंगा नाच हो रहा था। नगर के गली-कूचों में सिखों की हत्याएं की जा रही थीं।

उस समय कितने ही पुलिसकर्मी न केवल मूक बने रहे; बल्कि दंगाइयों से यह कहते सुने गए कि जो कुछ करना है जल्दी कर लो। उस भीषण हत्याकांड के बाद मानवाधिकार संगठनों द्वारा जितनी भी रिपोर्टें प्रकाशित की गईं उनमें दिल्ली पुलिस के अनेक अधिकारियों की खुलकर आलोचना की गई। सरकार द्वारा नियुक्त आयोगों और जांच समितियों ने दोषी पुलिसकर्मियों की सूची दी और यह सिफारिश की कि इनके विरुद्ध कदम उठाए जाएं, किंतु आज 21 वर्ष बीत जाने के बाद भी किसी अपराधी को दंडित नहीं किया गया। यही स्थिति देश के अनेक भागों में होने वाले सांप्रदायिक दंगों के संबंध में भी सही है। भागलपुर में पुलिस द्वारा कुछ अपराधियों को अंधा किए जाने की बात सर्वविदित है। जसवंत सिंह खालड़ा के केस के अदालती फैसले के संबंध

में पंजाब सरकार का रवैया भी विचित्र है। इस केस की पड़ताल सीबीआई ने की थी। उसी के आधार पर पटियाला के सत्र न्यायाधीश ने अपना फैसला दिया। पंजाब पुलिस के महानिदेशक ने अपने एक बयान में कहा है कि यदि दंडित अधिकारी ऊपरी अदालत में अपील करते हैं तो उनकी पूरी सहायता की जाएगी। सीबीआई भी एक सरकारी एजेंसी है और कोई भी केस उसे तभी सौंपा जाता है जब सरकार यह समझती है कि यह एजेंसी अवश्य इस केस की तह तक जाएगी। प्रायः यह कहा जाता है कि मानवाधिकार संगठनों की कार्रवाइयों से पुलिस का मनोबल टूटता है, किंतु यह बात पूरी तरह सही नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि थोड़े से अपराधी पुलिसकर्मियों की करतूतों के कारण संपूर्ण पुलिस विभाग का नाम खराब होता है। इसका पुलिस के मनोबल पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

मुझे यह बात भी अनुचित लगती है कि कोई अदालत किसी पुलिसकर्मी को अपराधी मानते हुए सजा दे और सरकार अपने विशेषाधिकार का उपयोग करते हुए उसे अपराध मुक्त कर उसकी सजा माफ कर दे। पंजाब में ऐसा हो चुका है। एक अदालत ने किसी डीएसपी को हत्या के आरोप में आजीवन कैद की सजा सुनाई थी, जिसे पंजाब सरकार ने एक अध्यादेश जारी करके क्षमा कर दिया। इसे पूरी तरह स्वीकार किया जाना चाहिए कि जिन पुलिसकर्मियों ने आतंकवादी अथवा समाज विरोधी तत्वों से लड़ने में अपनी कर्तव्यनिष्ठा प्रदर्शित की अथवा सांप्रदायिक दंगों के दौरान आम नागरिकों की जान-माल की रक्षा की उन्हें सम्मानित किया जाना चाहिए, किंतु जिन्होंने अपनी सीमाओं का अतिक्रमण किया है उन्हें पूरी तरह कानून के दायरे में लाया जाना चाहिए।

(दैनिक जागरण, 19-1-06)

सामाजिक-न्याय के लिए आरक्षण आवश्यक है

मानव संसाधन विकास मंत्री अर्जुन सिंह की इस घोषणा से कि केंद्रीय विश्वविद्यालयों तथा आई आई टी तथा आई आई एम के अन्य पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण देने के लिए केंद्र सरकार प्रतिभूत है, देश में फिर से मंडल-कमंडल का इतिहास दुहराया जाना प्रारंभ कर दिया है। बहुत से लोगों ने सरकार की पूरी आरक्षण नीति के प्रति अनेक प्रश्न खड़े करने प्रारंभ कर दिए हैं।

यह देश शताब्दियों से ही सवर्ण-अवर्ण, ऊँच-नीच, सामाजिक-आर्थिक असमानता को लेकर बंटा रहा है। गौतम बुद्ध से लेकर महात्मा गांधी तक इस असमानता के विरुद्ध आवाज उठाते रहे हैं। मध्ययुगीन संतों ने अपनी वाणी में बार-बार इस बात पर आग्रह किया था कि यदि परमात्मा मनुष्य मात्र का पिता है तो उसके पुत्रों में असमानता कैसे हो सकती है। परमात्मा ने कुछ लोगों की शिराओं में लहू प्रवाहित किया तो क्या कुछ अन्य व्यक्तियों की शिराओं में, उन्हें विशिष्टता देने के लिए, दूध प्रवाहित किया है? छह सौ वर्ष पूर्व संत कबीर ने उच्च वर्ग का गौरव पालन करने वाले ब्राह्मण से यही प्रश्न किया था—

> तुम कत बामन हम कत सूद।
> हम कत लोहू तुम कत दूध।

किंतु यह भी सच है कि अपनी शिराओं में रक्त के स्थान पर दूध के प्रवाहित

होने का भ्रम बहुत लोग पालते रहे हैं और आज भी पाल रहे हैं। कबीर जैसे संतों की उक्तियां उनकी मानसिकता में विशेष परिवर्तन लाने में सफल नहीं हुई है।

प्राचीन काल से ही इस देश का बहुतसंख्यक वर्ग शिक्षा-प्राप्ति से वंचित रहा है। एक विशिष्ट वर्ग का ही इस क्षेत्र पर एकाधिकार रहा है। इस देश की वर्ण-व्यवस्था में अवर्ण जातियों को शिक्षित करने की कभी आवश्यकता ही नहीं समझी गई। इसी के साथ अवर्ण जातियों में शिक्षित होकर समाज में अपना विशेष स्थान बनाने की कभी महती आकांक्षा नहीं थी। जिस किसी के मन में यह आकांक्षा उपन्न भी हुई उसे इसका अनाधिकारी माना गया।

किंतु युग परिवर्तित हो गया। पूरे संसार में सिद्धांत रूप में यह बात मान ली गई कि मनुष्य मात्र, अपने वर्ण, जाति, नस्ल, रंग और लिंग की विभिन्नता के बावजूद समान है। ऊंची से ऊंची शिक्षा प्राप्त करने और ऊंचे से ऊंचे ओहदे प्राप्त करने से उन्हें वंचित नहीं किया जा सकता। इसी के साथ आरक्षण का प्रश्न भी उभरा। जो लोग शिक्षा और पद जैसे सामाजिक क्षेत्रों में सदियों से वंचित रखे गए, उन्हें यदि उन वर्गों के साथ खुली प्रतियोगिता में सामने लाया गया जो पहले से ही इन क्षेत्रों के आगे बढ़े हुए हैं, तो ये उनका मुकाबला नहीं कर सकेंगे। इसलिए इनके लिए कुछ विशेष सुविधाएं जुटानी होगी, इन्हें कुछ आरक्षण देना होगा।

यह कहना अनुचित नहीं है कि दलित वर्गों के लिए आरक्षण की नीति स्वयं गांधी जी ने स्वतंत्रता से पंद्रह वर्ष पहले प्रारंभ कर दी थी। 1932 में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री ने अपना 'कम्युनल अवार्ड' घोषित किया था। इसमें देश के अल्पसंख्यकों मुसलमानों, ईसाइयों, पारसियों के साथ ही दलित वर्गों को भी पृथक निर्वाचन प्रणाली का अधिकार मिला था। गांधी जी दलित वर्गों को, हिंदुओं से पृथक, निर्वाचन के विरुद्ध थे। उस समय वे यखा जेल में थे। कम्युनल अवार्ड की इस धारा के विरुद्ध उन्होंने आमरण व्रत ले लिया। डॉ. अंबेडकर दलितों के लिए पृथक निर्वाचन प्रणाली से प्रसन्न थे। उस समय पं. मदन मोहन मालवीय, तेग बहादुर सप्रू, डॉ. जयकर, श्री राज गोपालाचारी के प्रयत्नों से एक समझौता हुआ था, जिसे पूना समझौता कहा जाता है। इसके अंतर्गत डॉ. अंबेडकर ने दलितों के लिए पृथक निर्वाचन प्रणाली की मांग त्याग दी थी और हिंदुओं (जनरल) कोटे में से दलित वर्ग के लिए आरक्षण के आश्वासन को स्वीकार भी किया था। इस समझौते से दलितों के लिए आरक्षण की नीति की नींव पड़ी, जिसे गांधी जी ने अन्य नेताओं की सहमति से स्वीकार किया था।

आरक्षण नीति का मूल आधार यह है कि सदियों से समाज के जो वर्ग शिक्षा तथा अन्य क्षेत्रों में समान सुविधाओं से वंचित रखे गए और असमानता मूल के वर्ण/जाति व्यवस्था के कारण गहन पीड़ा झेलते हुए अज्ञान के गर्त में पड़े रहे, उन्हें समाज के आगे बढ़े हुए लोगों के स्तर पर लाया जाए जिससे वे भी मानवीय गरिमा की उस अनुभूति

से जुड़ सकें जो उन्हें प्राप्त नहीं हुई थी।

ऐतिहासिक दृष्टि से शिक्षा क्षेत्र में आरक्षण की प्रक्रिया सन् 1902 से महाराष्ट्र की कोल्हापुर रियासत से आरंभ हुई थी। इसमें दलितों, पिछड़े वर्गों तथा अन्य अब्राह्मण जातियों के बच्चों के लिए स्थान आरक्षित किए गए थे। उसके पश्चात् सन् 1922 से मैसूर जैसे बड़े राज्य में वंचित वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई। (अब तमिलनाडू) तथा बम्बई प्रेजीडेंसी (अब महाराष्ट्र) में भी यह व्यवस्था 1931 में आई। केरल की त्रावणकोर रियासित में 1935 से यह व्यवस्था लागू की गई।

स्वतंत्र भारत में सबसे पहले 29 जनवरी 1953 में काका साहब कालेलकर की अध्यक्षता में पिछड़ा वर्ग आयोग की स्थापना की गई थी। इस आयोग में पिछड़े वर्ग के छात्रों के लिए सभी तकनीकी तथा व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के लिए 70 प्रतिशत आरक्षण देने को कहा गया था। इसी के साथ ही उसने सरकारी नौकरियों में भी आरक्षण की सिफारिश की थी।

केंद्र में जनता पार्टी के शासन के दौरान 20 दिसंबर 1978 को बिंदेश्वरी प्रसाद मंडल की अध्यक्षता में पिछड़े वर्गों की स्थिति और प्रगति के संदर्भ में एक आयोग की स्थापना की। इस आयोग की गणना के अनुसार इस देश की लगभग 52 प्रतिशत जनसंख्या पिछड़े वर्ग के लोगों की है। इस संख्या में यदि अनुसूचित जातियों (15 प्रतिशत) और अनुसूचित जनजातियों (7 प्रतिशत) को जोड़ दिया जाए तो इस देश की लगभग तीन-चौथाई जनसंख्या पिछड़े वर्गों और अति पिछड़े लोगों की है।

ऐसे देश में योग्यता, एक्सीलेंस, विशिष्टता और विश्वस्तर की प्रतिस्पर्धा की दौड़ केवल एक चौथाई लोगों की सीमा में आ जाता है। यही वह वर्ग है जो अपने हितों की रक्षा के लिए आरक्षण का विरोध करता है और बड़े-बड़े प्रदर्शन करता है।

देश के सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक निर्णय में घोषित किया है कि आरक्षण की सीमा को 50 प्रतिशत कम रखा जाना चाहिए। मंडल कमीशन ने पिछड़े वर्गों के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण की सिफारिश की थी। 22.5 प्रतिशत आरक्षण पहले से ही अनुसूचित जातियों और जनजातियों को मिला हुआ है। इस प्रकार आरक्षण की कुल सीमा 49.5 हो जाती है। अर्थात् सभी प्रकार के उच्च अध्ययन केंद्रों में 50 प्रतिशत से अधिक स्थान 25 प्रतिशत जनसंख्या की खुली स्पर्धा के लिए खुले हुए हैं।

यह बात भी अपने आप में महत्वपूर्ण है कि आरक्षण का जितना अधिक विरोध उत्तर भारत में होता है, उतना दक्षिण भारत में नहीं, इसका एक कारण यह है कि सामाजिक न्याय की आवाज उन्नीसवीं-बीसवीं सदी में दक्षिण भारत से उठनी प्रारंभ हुई। तमिलनाडू में इ. बी. राम स्वामी नैकर (पेरियार) और केरल में श्री नारायण गुरु समाज सुधारकों ने सामाजिक न्याय और पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए जिस प्रकार के आंदोलनों को जन्म दिया उससे दक्षिण भारत में सामाजिक, न्याय की लड़ाई को बड़ा बल मिला।

तमिलनाडु के द्रविड़ आंदोलन की जड़ें इन्हीं आंदोलनों में हैं।

आरक्षण के विपक्ष में जो तर्क दिए जाते हैं उनमें कहा जाता है कि आरक्षण से योग्यता (मेरिट) तथा उत्कृष्टता (एक्सीलेंस) को हानि पहुंचती है, इससे ऊंची जातियों के आर्थिक दृष्टि से कमजोर वर्गों को हानि पहुंचती है। आरक्षण से पिछड़े वर्गों को विशेष लाभ नहीं पहुंचता। यह लाभ इन्हीं वर्गों के संपन्न हो चुके लोग हड़प लेते हैं। उच्च शिक्षण संस्थानों में दिया गया आरक्षण सामाजिक विनाश जैसा होगा।

दक्षिण भारत के सभी राज्यों ने सिद्ध कर दिया है कि आरक्षण विरोधी ये सभी बातें कितनी आधारहीन हैं। आज तमिलनाडु में 69 प्रतिशत आरक्षण है। किंतु इस प्रदेश के शिक्षार्थी उत्तर भारत के किसी भी राज्य से योग्यता अथवा उत्कृष्टता में पीछे नहीं है। कर्नाटक में 50 प्रतिशत आरक्षण है। केरल में भी 50 प्रतिशत और आंध्र प्रदेश में 49.5 प्रतिशत आरक्षण है इनमें से कोई भी राज्य किसी भी दृष्टि से उत्तर भारत के किसी राज्य से पीछे नहीं है।

ऐसा लगता है कि उत्तर भारत के राज्य यथास्थितिवादी राज्य हैं। सामाजिक परिवर्तन का कोई भी मार्ग स्वीकार करने में इन्हें बड़ी कठिनाई होती है। इनकी मानसिकता यह है कि प्राचीन काल से चली आईं व्यवस्थाएं ही अच्छी हैं। उनके माध्यम से बहुसंख्यक लोग कुछ लोगों द्वारा किस प्रकार पीड़ित और शोषित होते हैं, यह इन्हें नहीं दिखता। संपन्न समाज के कुछ लोग अपने बच्चों को देशभर में फैले मेडिकल, इंजीनियरिंग तथा अन्य उच्च विद्या के निजी संस्थानों में लाखों रुपयों की कैपीटेशन फीस देकर प्रवेश दिलवा देते हैं। यह कार्य सभी लोग नहीं कर सकते। इस अन्यायमूलक व्यवस्था के विरुद्ध कोई आंदोलन क्यों नहीं होता।

मैं इस बात में इस देश का कोई गौरव नहीं मानता कि संसार के कुछ बड़े धनपतियों में भारत के कुछ धनपति भी शामिल हैं अथवा वैश्विक प्रतिस्पर्धा में भारतीय व्यापारियों का क्या स्थान है। एक बड़ा वट वृक्ष हो, किंतु उसके चारों ओर बंजर और उजड़ी हुई धरती हो तो उस वट वृक्ष का क्या महत्व है? देश की बहुसंख्यक जनता पिछड़ेपन का शिकार हो और कुछ लोग संपन्नता की दौड़ में बहुत आगे निकल गए हों, तो इसमें गौरव की कोई बात नहीं है।

देश के अंतर सामाजिक न्याय और समतामूलक समाज की स्थापना के लिए कटिबद्ध योजनाओं की पूर्ति के लिए आरक्षण व्यवस्था एक महत्वपूर्ण सोपान है, इसलिए इसका अंधा विरोध बंद होना चाहिए।

(दैनिक जागरण, 11-5-06)

माया महा ठगिनी हम जानी

धर्म हो और अंधविश्वास न हो, यह संभव नहीं दिखता। अंधविश्वास हो और आचार में भ्रष्टता न आए यह भी संभव नहीं है। क्या इसका निष्कर्ष यह है कि सभी प्रकार की धार्मिकता कुछ समय बाद भ्रष्टाचार के घेरे में घिरना शुरू हो जाती है? संसार का कोई भी धर्म ऐसा नहीं है कि जिसके अगुवाओं में, उन्हीं के जीवनकाल में या उसकी मृत्यु के कुछ समय बाद उनके उत्तराधिकारियों में उनके समीपस्थ लोगों में भ्रष्टाचार न फैलने लगा हो।

संसार भर में भ्रष्ट आचरण के दो ही मुख्य केंद्र बिंदु हैं—कंचन और कामिनी। सृष्टि के सभी जीव पहले पेट की भूख मिटाने के लिए गतिशील होते हैं, फिर अपनी काम तृप्ति की ओर बढ़ते हैं। दोनों प्रकार की क्षुधाएं सहज और प्राकृतिक हैं, पशु जगत इन्हें सहज और प्राकृतिक तौर पर पूरा करता है। मनुष्य के पास सोचने, समझने, बनाने, संवारने और उसके लिए नए से नए उपायों और साधनों को निर्मित करने की शक्ति है, इसलिए उसकी महत्वकांक्षाएं अपरिमित हैं। उसे केवल रोटी नहीं चाहिए—कंचन चाहिए, उसे केवल स्त्री नहीं चाहिए—कामिनी भी चाहिए। इस दृष्टि से भरसक वह किसी सीमा को नहीं मानता। धर्म मनुष्य के इन संवेगों को नियमित, नियंत्रित करने और दिशा देने में अहम भूमिका निभाता है। ईश्वर और परलोक का अस्तित्व ही मनुष्य को नियंत्रित करने, भय रखने, अनदेखे-अनजाने भविष्य के प्रति संचित रखने के लिए हुआ। हिंदी में जिसे हम 'धर्मभीरु' और अंग्रेजी में 'गॉड फियरिंग' कहते हैं वह समाज का भला और सज्जन अंग माना जाता है।

जीवन के सभी क्षेत्रों में भीरुता नकारात्मक मूल्य रखती है, किंतु धर्म के क्षेत्र में आते ही वह सकारात्मकता ग्रहण कर लेती है। यह भी विचित्र विरोधाभास है कि

जिस धार्मिकता को, आत्मानुभूति को और ईश्वर-आस्था को व्यक्ति को, 'भयमुक्त' करना चाहिए वह उसे पाप-पुण्य, नरक-स्वर्ग, इहलोक-परलोक, सुख-दुःख, अमीरी-गरीबी, स्वास्थ्य और रोग की कितनी कथाएं सुनाकर 'भयभीत' बनाती हैं। भयभीत व्यक्ति अपनी सुरक्षा के लिए इधर-उधर दौड़ता है। धर्मगुरु, धर्मोपदेशक, पंडे, पुरोहित, मौलवी, ग्रंथी और प्रीस्ट कहते हैं—अपनी सुरक्षा के लिए 'प्रभु' की शरण में आओ। बेचारा 'प्रभु' तो कहीं दिखाई नहीं देता। सामने दिखाई देते हैं व्यक्ति और प्रभु के बीच ये बिचौलिए (दलाल)। प्रभु को खोजता हुआ व्यक्ति इन्हीं के चरणों में पहुंच जाता है। ये अपने आपको मार्गदर्शक कहते हैं और दावे करते हैं कि लक्ष्य (प्रभु) तक पहुंचने में ये व्यक्ति का मार्गदर्शन करेंगे, किंतु धीरे-धीरे ये स्वयं लक्ष्य बन जाते हैं, प्रभु का रूप धारण कर लेते हैं। व्यक्ति जिन्हें साधन मानकर प्रारंभ में स्वीकार करता है, इनके मोहपाश में फंस कर इन्हें ही साध्य मान लेता है। इन्हीं की पूजा, इन्हीं की अर्चना, इन्हीं की सेवा उसकी संपूर्ण चिंता का केंद्र बन जाती है।

इसी बिंदु से दुनियादारी और कंचन-कामिनी की माया अपना रंग दिखाना शुरू करती है। हाड़-मांस के बने इन संतों, महंतों, आचार्यों, धर्मगुरुओं के सामने प्रभु की खोज में आए श्रद्धालुओं की जमात धन-दौलत के ढेर लगाना शुरू करती है। कितनी विचित्र बात है। संसार में किसी भी व्यक्ति अथवा स्थान के प्रति अपना आदर या सम्मान व्यक्त करने का सबसे महत्वपूर्ण साधन 'धन' है। जो जितना धन चढ़ाए वह उतना ही बड़ा भक्त या श्रद्धालु समझा जाता है। 'दरबार' में उसे उतना ही बड़ा सम्मान या 'शिरोपाव' दिया जाता है। मजे की बात यह है कि धार्मिक परिवेश में सबसे ज्यादा निंदा धन अथवा माया की होती है और सबसे ज्यादा बोलबाला भी इसी का होता है। वही मंदिर, दरगाह या गुरुद्वारा अधिक महत्त्वपूर्ण होता है जिसमें चढ़ावा ज्यादा आता है, जहां कंचन की वर्षा होती है। किसी समय इस देश के अनेक धर्म स्थानों में देवदासियों की भरमार थी। देवता को समर्पित ये कन्याएं धर्मस्थानों से जुड़े आचार्यों, पुरोहितों और पुजारियों को ही समर्पित हो जाती थीं। फिर वे राजाओं और धनपतियों को समर्पित होने लगीं। स्थिति यह आई कि उनकी हालत वेश्याओं जैसी हो गई। दक्षिण भारत के देव-स्थानों में इनका विकृत और घिनौना रूप आज भी देखा जा सकता है।

ये सारी बात मुझे कुछ समय पूर्व पश्चिमी बंगाल के सोदपुर के सुखचर आश्रम धाम के बालक ब्रह्मचारी वीरेंद्र चक्रवर्ती की मृत देह से संबंधित उत्पन्न विवाद और अवसाद भरे अंत को देखकर याद आने लगी। कहा जाता है कि बालक ब्रह्मचारी के सात करोड़ अनुयायी हैं, जिन्हें संतानों की इस चर्चा को सुनकर मुझे बंकिमचंद्र चटर्जी के उपन्यास 'आनंद मठ' के संन्यासी-विद्रोहियों की याद आ गई। उन्हें भी संतान कहा जाता था। कुछ वर्ष पूर्व बंगाल में 'आनंद मार्ग' नाम से इसी प्रकार के संन्यासियों का एक प्रबल आंदोलन उठा था और भगवे वस्त्रधारी केश-दाढ़ी और केसरिया रंग की पगड़ी

वाले संन्यासियों की जमातें बंगाल से बाहर भी बहुत बड़ी संख्या में दिखाई देने लगी थीं। बाद में उनकी हिंसात्मक गतिविधियों और गैरकानूनी ढंग की सरगर्मियों की भी ढेर सारी चर्चा पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने को मिलती रही थीं।

यह भी कितनी विचित्र और रोचक बात है कि धर्मजगत में अपना विशिष्ट पंथ, मत या मार्ग चलाने वाला, जिसका प्रारंभिक दावा प्रभु की प्राप्ति अथवा प्रभु की अनुभूति कराना होता है, धीरे-धीरे स्वयं भगवान या भगवान का अत्यंत निकटस्थ स्वरूप बन जाता है। लोग उसको अपना भगवान, इष्ट, गुरु या रहनुमा मानकर उसकी पूजा करना शुरू कर देते हैं। उसके चारों ओर भक्तों की जितनी भीड़ जमा होती है, उसकी अलौकिक और चमत्कारी शक्तियों की चर्चा भी बढ़ती चली जाती है। उसके चारों ओर 'मिथ' का ऐसा मायाजाल बनना शुरू हो जाता है कि आम लोग तो उससे प्रभावित होते रहते हैं, अच्छे खासे पढ़े-लिखें, साधन-संपन्न, बुद्धिजीवीयों से समझे जाने वाले, उच्च सरकारी पदों पर काम करने वाले, यहां तक कि जज और प्रोफेसर भी उसके प्रभामंडल में आ जाते हैं।

यह स्थिति भी कम रोचक नहीं कि जैसे-जैसे इस देश में राजनीति से लेकर सामान्य व्यवसाय में नंबर दो का धंधा उन्नति कर रहा है, वैसे ही वैसे देश में गुरुओं, साधुओं, बाबाओं, संतों, तांत्रिकों, योगिनियों, साध्वियों और उनकी अंतिम परिणति 'भगवानों' की संख्या बढ़ती चली जा रही है। इस देश में इस समय जितने भगवान और सिद्ध-पुरुष हैं उतने शायद इससे पहले कभी नहीं थे। पुराण-कथाओं के अनुसार पहले सहस्त्रों वर्षों के अंतराल के बाद और बड़े आर्तनाद के बाद एक 'अवतार' जन्म लेता था। उस अवतार की लीलाओं के कारण उसे 'भगवान' मान लिया जाता था। संपूर्ण पुराण-साहित्य में दस प्रमुख और चौदह गौण अवतार स्वीकारे गए। पिछले दस वर्षों में जितने अवतारों का डंका इस देश में पिटा, उनकी गिनती चौबीस से कहीं ज्यादा है।

इस प्रसंग में एक बात और अचंभित करने वाली है। प्राचीन और मध्य काल में कुछ लोगों/व्यवसायियों को अपनी चीजों को बेचने के लिए प्रचार के कुछ साधन अपनाने पड़ते थे। घोड़ों के व्यवसायियों को राज-दरबारों में जाकर अपने घोड़ों के लिए 'कन्वेसिंग' करनी पड़ती थी। कई बार कवियों को भी अच्छा आश्रयदाता ढूंढने के लिए दस स्थानों पर अपना काव्य पाठ करना पड़ता था। गली-मोहल्ले में घूम-घूमकर और हांक लगाकर अपना माल बेचने की परंपरा तो बहुत पुरानी ही है। आधुनिक युग में व्यवसायी अधिक आधुनिक प्रचार-साधनों का सहारा लेते हैं। अखबारों, रेडियो, दूरदर्शन पर होने वाले विज्ञापन, सड़कों, बाजारों में लगने वाले होर्डिंग, बैनर और पोस्टर सभी जीवन की दैनिक जरूरतों में इस्तेमाल की जाने वाली चीजों का जोर-शोर से प्रचार करते हैं।

व्यावसायिक तंत्र में मुनाफे के लिए वस्तुओं का उत्पादन होना और प्रचार-साधनों

के माध्यम से उन्हें बेचना आज की उपभोक्ता संस्कृति का अंग है, किंतु क्या ईश्वर धर्म,, आत्मोन्नति, भक्ति आदि विषय भी इस उपभोक्ता संस्कृति के अंग बन गए हैं? लग यही रहा है। वर्ष में दो-तीन बार ऐसे अवसर आते हैं जब कुंडलिनी जाग्रत कराने वाली एक माता के विज्ञापनों से दिल्ली के अखबार भरे दिखाई देते हैं। शहर में उनके इतने होर्डिंग, बैनर और पोस्टर लगे और चिपके दिखाई देते हैं कि बहुत से लोगों की कुंडलिनी अपने आप जाग्रत हो जाती है। फिर एक बाबा का दौर चलता है। केवल दिल्ली में ही नहीं, देश के कोने-कोने में उनकी चार-छह रंगों वाली तस्वीर से बने लाखों पोस्टर देखकर ऐसा नहीं लगता कि यह बाबा लोगों का कष्ट दूर करने, उन्हें किसी प्रकार का आत्मिक-ज्ञान देने वाला व्यक्ति नहीं है। ऐसा लगता है कि देश में राष्ट्रपति का खुला चुनाव हो रहा है और यह व्यक्ति उस पद का उम्मीदवार है।

ऐसे उदाहरण दो-चार नहीं हैं। जाने कितने संत, बाबा, महर्षि, अवधूत, तांत्रिक और माताएं करोड़ों/अरबों रुपए खर्च करके अपनी आध्यात्मिकता, धार्मिकता और दैवी शक्तियों का प्रचार उसी ढंग और तर्ज पर कर रहे हैं जैसे साबुन और टूथपेस्ट बनाने वाले करते हैं। दोनों ही प्रकार के व्यवसायी खर्च करते हैं और खूब कमाते हैं। अंतर केवल इतना है कि साबुन-टूथपेस्ट बेचने वाली व्यवसायी को अपने व्यवसाय में बहुत-सी पूंजी लगानी पड़ती है, कुछ हिसाब-किताब भी रखना पड़ता है और बहुत से कर भी देने पड़ते हैं, किंतु धर्म का व्यवसाय करने वालों के लिए ये सब माफ है।

ऐसे मठों, आश्रमों, डेरों और दरगाहों में धीरे-धीरे जो संपत्ति जुट जाती है, वह बड़े-बड़े पूंजीपतियों की संपत्ति से होड़ लेती है। पुट्टापार्थी के साईं प्रशान्ति निलयम के साईं बाबा का धन, साम्राज्य लगभग 1500 करोड़ का है। उनके भक्त उन्हें भगवान का अवतार मानते हैं। पिछले दिनों उनकी जान लेने की कोशिश में चार नौजवान पुलिस की गोली का शिकार हुए। ये चारों ही अपने 'भगवान' के परम भक्त थे। कहा यह जाता है कि साईं बाबा की अथाह संपत्ति के कारण उनके चारों ओर स्वार्थी तत्वों का एक जबरदस्त जाल तैयार हो गया है। ये नौजवान उस जाल को तोड़ना चाहते हैं। उसी में इनकी जानें चली गईं। इनमें से एक शांता राम प्रभु की विधवा पत्नी विनीता प्रभु कहती हैं कि उसके पति की हत्या किसी न किसी साजिश के तहत की गई है। उसका कहना है कि आश्रम में हर जगह ईर्ष्या का वातावरण है और रुपए-पैसे का बोलबाला है।

कोलकाता के बालक ब्रह्मचारी के संबंध में भी ऐसी ही समाचार आते रहे हैं। उन्होंने भी करोड़ों की संपत्ति इकट्ठी कर ली थी और उसकी रक्षा तथा बढ़ोतरी के लिए एक ओर अपने पाले हुए 'शिष्यों' के भुजबल पर भरोसा करते थे, दूसरी ओर राजनीतिक और प्रशासनिक संबंधों का पूरा लाभ भी उठाते थे।

संत कबीर का पद है–

'माया महा ठगिनी हम जानी'

इस पद में उन्होंने माया के विभिन्न रूपों और सभी स्थानों में उसकी पैठ का वर्णन किया है। यह पैठ केवल संसारी कहे जाने वाले व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है। जिसकी अनंत चर्चा आपको साधु, संत, संन्यासी, पीर, गुरु कहलाने वाले लोग भयंकर दोष और पाप के रूप में करते रहते हैं। दिलचस्प बात यह है कि माया की गहरी पैठ इन माया विरोधियों के घर में कहीं ज्यादा और भयावह दिखाई देती है।

घूम फिर कर बात 'अंधविश्वास' पर आकर टिकती है। धर्म के लिए विश्वास या आस्था जरूरी तत्व समझे जाते हैं। ये तत्व जरा-सी फिसलन पाकर अंधविश्वास और अंध आस्था की सीमा में सहज ही प्रवेश पा जाते हैं। लगता है आदिकाल से ही धर्म का सारा कारोबार इस अंधविश्वास पर ही टिका हुआ है। यह भी अपने आप में विचित्र विरोधाभास है कि अनेक धार्मिक संत और महापुरुष इस क्षेत्र में फैले हुए कंचन और कामिनी के अखंड साम्राज्य का विरोध करते हुए व्यक्ति को ज्ञान और तर्क का सहारा लेकर अंधविश्वास त्यागने और प्रेम तथा सेवा को आधार बनाकर प्रभु की भक्ति का मार्ग अपनाने की प्रेरणा देते रहे हैं, किंतु समय पाकर उन्हीं के अनुयायी उन्हीं के नाम और उपदेशों का सहारा लेकर अंधविश्वास की नींव पर ठगिनी माया का महल उसारने लगते हैं।

(दैनिक ट्रिब्यून, 23 मई 2006)

सो किऊं मंदा आखिऐ जित जम्मे राजन

भ्रूण हत्या हमारे सामाजिक जीवन की बहुत बड़ी व्याधि बनकर उभर आई है। आज भी अनेक परिवार ऐसे हैं जो सभी प्रकार के प्रतिबंधों के बावजूद लालची डॉक्टरों की मिलीभगत से गर्भस्थ शिशु का लिंग परीक्षण करा लेते हैं और यदि वह कन्या हो तो भ्रूण हत्या के उपाय निकाल लेते हैं। आज पंजाब और हरियाणा जैसे प्रदेशों में पुरुषों और महिलाओं की जनसंख्या की अनुपात दर देश के किसी भी भाग की तुलना में अधिक विषम है—प्रति हजार पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या नौ सौ से कहीं कम है, जब कि इस देश का राष्ट्रीय अनुपात 933 है।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि सिख समुदाय में यह अनुपात राष्ट्रीय अनुपात से बहुत कम है—प्रति हज़ार पुरुषों पर केवल 893 महिलाएं। इस स्थिति का विरोधाभास यह है कि संपूर्ण सिख परंपरा में नारी को बहुत महत्व दिया गया है।

नारी की स्थिति हमारी संपूर्ण परंपरा में अनेक विरोधाभासों से भरी रही है। एक ओर मनुस्मृति कहती है कि जहां नारी की पूजा होती है, वहां देवताओं का निवास रहता है—यत्र् नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता। वही एक स्मृति यह भी कह देती है कि पत्नी का कर्तव्य है कि पति की पूजा करे। यदि वह दुश्चरित्र और गुणहीन है, तब भी वह उसे देवता की तरह समझे। इसकी पुष्टि अन्य स्मृतियां भी करती हैं।

इस देश में ही नहीं लगभग संपूर्ण संसार की विविध समाज पद्धतियों में पुरुष का सदैव प्राधान्य रहा है। स्त्रियों की स्थिति तो सदैव पुरुषों द्वारा निर्धारित होती रही है। ब्रिटेन में भी, जिसे आधुनिक लोकतंत्र का जन्मदाता माना जाता है, स्त्रियों को चुनाव

में मत देने का अधिकार सन् 1920 के बाद ही प्राप्त हुआ। धर्म, शिक्षा, कला, संस्कृति जैसे क्षेत्रों में भी उनकी प्रगति को कभी अधिक प्रोत्साहित नहीं किया गया। भारतीय समाज में यह स्थिति निरंतर विषम होती गई और यहां तक हुआ कि स्त्री को सभी बुराइयों की जड़ मान लिया गया। कबीर जैसा विद्रोही और प्रगतिशील संत भी स्त्री के प्रति उद्धार भाव ग्रहण नहीं कर सका। संत कबीर ने भी स्त्री को सभी बुराइयों की जड़ और पाप की खान कहकर संबोधित किया है।

हमारे भक्ति साहित्य में ब्रह्म और माया की परिकल्पना में ब्रह्म अथवा ईश्वर की प्राप्ति में माया को सबसे बड़ी बाधा माना गया और हर भक्त ने साधक को माया से सावधान रहने, उसके प्रपंच से बचने और उसके मोहपाश से मुक्त होने की बात कही है। इस स्थिति की सबसे बड़ी विद्रूपता यह है कि इन भक्तों में 'माया' और 'नारी' को एक ही सिक्के के दो पहलू मान लिया और माया की सारी बुराइयों को नारी में देखना शुरू कर दिया। इसलिए नारी माया के समान ही निन्दनीय हो गई।

मध्य युग के घोर नारी-निंदापरक वातावरण में गुरु नानक का स्वर बिलकुल भिन्न दिखता है। उन्होंने अपनी एक रचना में कहा—"हम सभी स्त्री से ही जन्म लेते हैं। स्त्री के उदर में ही प्राणी का शरीर निर्मित होता है। स्त्री से ही सच्चाई और विवाह होता है। उसी के माध्यम से अन्य लोगों से हमारा संबंध बनता है। उसी के माध्यम से सांसारिक मार्गों के द्वार खुलते हैं। जब एक स्त्री मर जाती है तो पुरुष दूसरी स्त्री ढूंढ़ता है। इसी से उसके सभी संबंध बनते हैं। ऐसी स्त्री को बुरा क्यों कहा जाए जो बड़े-बड़े राजाओं को जन्म देती है। संसार का कोई भी प्राणी स्त्री के बिना जन्म नहीं लेता।"

यह वस्तुस्थिति है। स्त्री के अभाव में सृष्टि के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। एक रूपक का हमारे भक्ति साहित्य में प्रचुर प्रयोग हुआ है, ईश्वर को पुरुष और जीव अथवा साधक को नारी के रूप में देखने का। इस रूप में नारी समर्पिता तो है, किंतु वह निंदनीय नहीं है। उसे हीन मानना, भोग्या मानना, एक वस्तु मात्र मानकर उसके मनचाहे प्रयोग की ध्वनि कहीं व्यक्त नहीं होती।

सिख परंपरा में नारी दासी नहीं सहचरी समझी गई। गुरुनानक की पत्नी माता सुलक्खिणी हो या गुरु अंगद की पत्नी माता खीवी हो अथवा गुरु अमर दास की पुत्री और गुरु राम दास की पत्नी बीबी भानी हो, सभी अपने दायित्वों का निर्वाह अपने पुरुषों के साथ समान भाव भूमि पर करती हैं। माता खीवी का गुरु के दर्शन करने और उनका उपदेश सुनने के लिए आने वाले श्रद्धालुओं के भोजन की व्यवस्था पर इतना अधिक ध्यान रहता था कि लोग उसे 'माता खीवी का लंगर' कहकर पुकारते थे।

सती प्रथा इस देश में कब और किन परिस्थितियों में प्रारंभ हुई, इस पर विद्वानों

के विभिन्न मत हैं, किंतु इतना निश्चित है कि ऋग्वेद में इसका उल्लेख नहीं है। जब इस देश पर विदेश आक्रमण आरंभ हुए तो धन-संपत्ति के साथ स्त्रियों की लूट भी होने लगी। नारी-हरण के अपमान और लज्जा से बचने के लिए कई प्रथाएं प्रचलित हो गईं सती और बाल विवाह की प्रथाओं के सूत्र इस मानसिकता में ढूंढे जा सकते हैं। धीरे-धीरे इन प्रथाओं को धर्म की स्वीकृति भी मिलने लगी और सामान्य व्यक्ति इन्हें अपनी आस्था के साथ जोड़ने लगा।

इस देश में सती प्रथा पर प्रतिबंध लगाने का श्रेय उन्नीसवीं सदी में लार्ड विलियन बेंटिंक को दिया जाता है। राजा राममोहन राय और ईश्वरचंद्र विद्यासागर जैसे समाज सुधारकों ने, विशेष रूप से बंगाल जैसे प्रदेश में इन कुप्रथाओं के विरोध में जनमत बनाने की दिशा में बहुत सार्थक आंदोलन चलाया था, जहां विधवाओं को पति की चिता में हाथ-पांव बांधकर डाल दिया जाता था और उनका करुण-क्रंदन ढोल की आवाज़ में डूबो दिया जाता था।

किंतु पंजाब में गुरु अमरदास ने सोलहवीं सदी में ही इस प्रथा का पूरी तरह निषेध करते हुए लिखा था—''सती उन्हें नहीं कहना चाहिए जो अपने पति के साथ चिता में बैठकर जल जाती हैं। वास्तविक सती तो वह है जो अपने पति के वियोग की चोट सहती है।'' अपनी एक अन्य रचना में गुरु अमर दास ने कहा था—''जो स्त्रियां शील और संतोष के साथ जीवित रहती हैं, उन्हें ही अर्थवान सती मानना चाहिए।''

गुरु अर्जुन देव ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा—''जो स्त्रियां अपने पति की चिता पर चढ़कर जल मरती हैं उन्हें उनका पति प्राप्त नहीं होता। पति का साथ तो उतना ही मिलता है जितना प्रारंभ में होता है। जो स्त्रियां अन्य स्त्रियों को सती होता देखकर स्वयं जल मरती हैं उन्हें इस कर्म के कारण विभिन्न योनियों में भटकना पड़ता है।''

जन्म लेते ही लड़कियों को मार डालने की कुप्रथा भी सदियों से इस देश में प्रचलित रही है। कुछ अंशों में आज भी यह प्रवृत्ति कुछ समाजों में है। इस देश में मध्य एशिया से अनेक जातियां आती रहीं और कालांतर में विशाल भारतीय समाज का अंग बनती रहीं। कुशान, हूण, शक, आभीर, जाट, गुर्जर आदि कितनी ही नस्लें इस भूमि पर आईं। उन्होंने इस देश में प्रचलित धर्म-विश्वासों और विचारों को अपना लिया। इन जातियों की कुछ अपनी आदिम प्रवृत्तियां भी थीं। कन्या की हत्या भी उनमें से एक थी, जिसका प्रचलन समाज के विभिन्न अंगों में होने लगा।

लड़कियों को लेकर समाज में कुछ ऐसी धारणाएं विकसित होती चली गईं, जिन्होंने उनकी स्थिति को निरंतर उपेक्षा के घेरे में रखा। लड़की बोझ होती है, पराया धन होती है, बड़े-बड़े राजाओं के सिरों को भी झुकने के लिए मजबूर कर देती है, उसके कारण वंश को कलंक लग जाने का भय सदा बना रहता है—ऐसी कितनी ही धारणाएं इस समाज में सदियों से व्याप्त हैं। परिणामस्वरूप उसका जन्म परिवार में खुशी का कारण

न बनकर उदासी का माध्यम बन जाता है। इन्हीं सब कारणों से कन्या के जन्म लेते उससे छुटकारा पाने के विविध उपाय समाज के अनेक वर्गों में अपनाए जाते रहे हैं। अब विज्ञान ने यह भी सुलभ कर दिया है कि जन्म से पूर्व ही गर्भस्थ शिशु के लिंग की जानकारी उपलब्ध हो जाती है। इसलिए कन्या की भ्रूण हत्या सरल हो गई है।

गुरुओं ने कन्याओं की हत्या को पूरी तरह निषिद्ध घोषित किया। इस परंपरा में रहतनामों का बहुत महत्व है। रहतनामा एक प्रकार की नियमावली अथवा संहिता है जो यह बताता है कि व्यक्ति को किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहिए। ये रहतनामे गुरु गोविंद सिंह के समय और उनके पश्चात् अठारहवीं सदी में श्रद्धालु सिखों द्वारा निरंतर लिखे जाते रहे। लगभग सभी रहतनामों में यह आदेश दिए गए कि 'कुड़ीमार' (कन्या का हत्यारा) और 'नड़ी मार' (हुक्का पीने वाला) से किसी प्रकार का संबंध न रखा जाए। इनसे संबंध रखना धर्म-विरोधी कार्य घोषित किया गया है और इसे वज्र बुराई (कुरहत) माना गया।

इक्कीसवीं सदी में भी, सभी प्रकार की वैज्ञानिक उपलब्धियों और आधुनिक दृष्टि के बावजूद हमारे समाज की मानसिकता में बहुत अंतर नहीं आया है। आज भी घर में लड़की के जन्म का स्वागत नहीं होता। आज भी लोगों का यह विश्वास है कि पुत्र ही अपने माता-पिता के लिए स्वर्ग के द्वार खोलता है। आज भी लड़की को 'परायाधन' मानकर उसका 'दान' उस पुरुष को किया जाता है जो घोड़े पर चढ़कर, कृपाण लेकर मुकुट लगाकर एक विजेता की तरह कन्या का वरण करने आता है। इस स्थिति की विडंबना यह है कि इस देश के कई भागों में 'दामाद' की स्थिति आज भी एक गर्वीले और उद्धत युवक की होती है जो किसी की कन्या से विवाह करके उसके माता-पिता को उपकृत करता है। उत्तर प्रदेश में (संभवतः कुछ अन्य प्रदेशों में भी) लड़की के मां-बाप और बड़े भाई जमाई राजा के चरण धोते हैं और पैर पूजते हैं।

ऐसी स्थितियां जिस समाज में व्याप्त हों वहां लड़कियों की सारी शिक्षा, योग्यता और कर्मठता के बावजूद एक सामान्य गृहस्थ इन्हें बोझ मानने की मानसिकता से अपने को मुक्त नहीं कर सकता। इसी बात का परिणाम है कि इस देश में कन्याओं की भ्रूण हत्या की प्रवृत्ति सदा बनी रही है।

अकाल तख्त के जत्थेदार जोगिन्दर सिंह वेदान्ती ने इस बढ़ते हुए रुझान की निंदा करते हुए इसके विरुद्ध जो हुक्मनामा जारी किया है उसका स्वागत सारे देश में हुआ है। यह हुक्मनामा गुरु नानक देव के उस कथन के अनुरूप है—"सो क्यूं मंदा आखीए जिस जम्मे राजान।"

(दैनिक जागरण, 25-5-2006)

व्यापक आप्रवासन से राष्ट्रीयता की अवधारणा बदल गई है

आज संसार के लगभग सभी देशों में भारत या भारत मूल के लोग बसे हुए हैं, जिनकी गिनती कुछ करोड़ में की जा सकती हैं। संसार भर में यदि प्रवासियों की गणना की जाए तो चीनियों की गिनती सबसे अधिक दिखाई देगी। वे सभी देशों में है। जहां भी जाते हैं, उनका एक अलग 'चाइना टाउन' बन जाता है।

इस प्रकार के आप्रवासन का बहुत बड़ा लाभ यह हुआ है कि अब संसार के अनेक देश अपना जातीय चरित्र बदलने को बाध्य हो गए हैं। अब हर देश बहुलवादी (प्लूरलिस्टक) बनता चला जा रहा है जिसमें प्रभुसत्ता किसी एक समूह, धर्म, संस्कृति, भाषा के हाथ में नहीं रहती। बाहर से उस देश में बसे लोग कुछ समय तक तो विदेशी रहते हैं, फिर धीरे-धीरे उन्हें उस देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। वहां की शासन व्यवस्था को बनाने और चलाने में उनकी भागीदारी प्रारंभ हो जाती है। आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत की यह मान्यता है कि राजनीतिक प्रणाली के भीतर विविध समूह विद्यमान होते हैं और राजनीति का कार्य उन सबके वैध हितों में समुचित समायोजन स्थापित करना है। यह मान्यता उदारवाद का एक महत्वपूर्ण पक्ष उपस्थित करती है।

इस प्रकार का आप्रवासन ऐसे देशों से ही अधिक होता है जहां जीवन-यापन की सुविधाएं कम और सीमित होती हैं। अच्छे और बेहतर जीवन-स्तर की आशा में लोग विदेशों की ओर जाते हैं जो अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध होते हैं और वहां की कानून और शासन व्यवस्था उन्हें समुचित सुरक्षा प्रदान करती है।

सोलहवीं-सत्रहवीं शती में यूरोप की गोरी जातियों ने संसार के अनेक भागों की खोज की और वहां अपने उपनिवेश स्थापित कर लिए। इन जातियों को अपनी सरकारों का पूरा समर्थन प्राप्त था। इनके पास आधुनिक अस्त्र-शस्त्र थे और प्रशिक्षित सेनाएं थीं। सबसे बड़ी बात इनमें अदम्य साहस और बड़े-से-बड़ा जोखिम उठाने की हिम्मत थी। इन्होंने वहां के मूल निवासियों को बर्फीले पहाड़ों और जंगलों में खदेड़ दिया था। उन्हें मार डाला अथवा दास बना लिया। कनाडा भी एक ऐसा ही देश है। प्रारंभ में यहां फ्रांसीसी आए फिर अंग्रेज आए। अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने के लिए यूरोप से आई इन दोनों जातियों के मध्य अनेक वर्षों तक युद्ध हुए। अंत में यहां अंग्रेजों का वर्चस्व स्थापित हो गया। ब्रिटिश उपनिवेश बन जाने के बावजूद मॉंट्रियाल जैसे प्रदेश में फ्रांसीसी प्रभुत्व बना रहा। फिर दोनों जातियों ने मिलकर एक राष्ट्र का निर्माण किया। जब बीसवीं शती के प्रारंभ में, ब्रिटेन ने कनाडा को औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया तो दोनों गोरी जातियों ने मिलकर सत्ता के सूत्र संभाल लिए। यद्यपि मॉंट्रियाल क्षेत्र में यह मांग भी उठती रही है कि इस भाग को कनाडा से अलग करके एक स्वतंत्र राष्ट्र बना दिया जाए। इस संदर्भ में वहां दो बार जनमत गणना भी हो चुकी है, किंतु हर बार निर्णय संयुक्त कनाडा के पक्ष में रहा।

कनाडा में बेहतर जीवन-स्तर की आशा लेकर संसार के अनेक भागों से लोग वहां जाकर बसने लगे। प्रारंभ में यूरोप की अनेक जातियों—जर्मनी, हॉलैंड, इटली, पुर्तगाल आदि से लोग वहां गए। फिर चीन, भारत, दक्षिणी और पूर्वी, एशियाई देशों, अफ्रीका और अरब देशों से भी बहुत से लोग वहां पहुंचने लगे। देश पर अधिकार जमाए गोरे लोगों को ऐसे बहुत से लोगों की आवश्यकता थी जो सभी प्रकार के छोटे-बड़े काम करके वहां की समृद्धि में योगदान दे सकें। संयुक्त राज्य अमेरिका में इस प्रकार का काम करने वाले काले मजदूर अफ्रीकी देशों से ले आए गए थे। कनाडा में यह काम चीनियों और भारतीयों से कराया गया। घने जंगलों की कटाई करके उसे कृषि योग्य बनाने का कार्य पंजाबी मजदूरों ने किया।

धीरे-धीरे कनाडा की गोरी सरकार ने यह अनुभव किया कि एशिया से आने वाले प्रवासियों की संख्या बहुत बढ़ती जा रही है। कहीं ऐसा न हो कि उनकी संख्या इतनी बढ़ जाए कि शासन के सूत्र उनके हाथों में चले जाएं। इस आशंका से पीड़ित होकर उन्होंने अप्रवासन पर बहुत से प्रतिबंध लगा दिए। ये प्रतिबंध विशेष रूप से भारत से जाने वाले लोगों पर लगाए गए। इसका एक कारण यह भी था। जिन अन्य देशों से लोग वहां जाते थे, वे सभी स्वतंत्र देशों के नागरिक होते थे, किंतु भारत अंग्रेजों की दासता में था और वहां स्वतंत्रता के लिए संघर्ष चल रहा था।

1913 में अमेरिका में रहने वाले प्रवासी भारतीयों ने वहां अपने देशों की स्वतंत्रता के लिए एक आंदोलन शुरू किया था। जिसे गदर आंदोलन कहा जाता है। इस आंदोलन

से जुड़े लोग भारत के अनेक भागों से आए हुए प्रवासी थे किंतु इनमें अधिक संख्या पंजाब से गए सिख प्रवासियों की थी। इन लोगों ने अमेरिका से गदर नाम की साइक्लो स्टाइल की हुई पत्रिका हिंदी, पंजाबी, उर्दू और गुजराती में निकालना प्रारंभ कर दी थी।

भारत की अंग्रेजी सरकार को इस आंदोलन की पूरी जानकारी थी। वह कनाडा की सरकार को चेतावनी देती रहती थी कि वह भारतीय, विशेष रूप से पंजाबी प्रवासियों को वहां आने की सुविधा न प्रदान करे। कामागाटा मारू जहाज की घटना इसका ज्वलंत उदाहरण है।

अमृतसर जिले के बाबा गुरदित सिंह ने कनाडा जाने के इच्छुक व्यक्तियों को वहां ले जाने की योजना बनाई। उन्होंने हांगकांग की एक कंपनी से 'कामागाटा मारू' नाम का एक समुद्री जहाज पट्टे पर लिया। इस जहाज पर लगभग 400 यात्री सवार हुए, जिनमें अधिसंख्य पंजाबी थे।

यह जहाज 21 मई, 1914 को कनाडा के वैंकुवर बंदरगाह पर पहुंचा किंतु यात्रियों को तट पर उतरने नहीं दिया। दो महीने तक इस जहाज के यात्री अनेक प्रकार के कष्ट झेलते हुए समुद्र में ही खड़े रहे और अंत में बहुत निराश होकर अपने देश में वापस मुड़ आए।

अब स्थिति बहुत बदली हुई है। अब भारत के नागरिक एक स्वतंत्र देश के नागरिक हैं। ब्रिटिश कोलंबिया के वैंकुवर बंदरगाह पर 92 वर्ष पहले जिन भारतीयों को उतरने नहीं दिया गया, आज उस क्षेत्र में हर चौथा व्यक्ति भारतीय है। कुछ समय पहले यहां के मुख्यमंत्री, उज्जल दुसांझ, पंजाब से सातवें दशक में कनाडा गए थे। कनाडा की संसद में 10 भारतीय मूल के सांसद हैं। अनेक राज्यों की विधान सभाओं में अनेक भारतीय विधायक हैं। पंजाबी सरकारी स्तर पर स्वीकृत चार भाषाओं में से एक भाषा है। कनाडा के किसी भी नगर के चाइना टाउन से गुजरते हुए आप महसूस करते हैं कि आप चीन में हैं। इसी प्रकार वैंकुवर और टोरांटों के पंजाबी बाजारों में घूमते हुए आपको पंजाब याद आ जाता है।

राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान का आग्रह उन देशों में अधिक है जो प्राचीन देश हैं। संसार के अधिसंख्य देश ऐसे ही हैं, किंतु इन देशों में भी जहां प्रवासियों की पर्याप्त संख्या है, उनका राजनीतिक समरकोण महत्वपूर्ण होता जा रहा है। ब्रिटेन प्राचीन देश है किंतु यहां भी भारतीय, पाकिस्तानी, बंगलादेशी, श्रीलंका, आदि तथा अन्य एशियाई तथा अफ्रीकी देशों से आकर बसे लोगों की गिनती 'वोट बैंक' बन गई हैं। वहां का हर प्रत्याशी इस वोट बैंक को अपने पक्ष में करने का प्रयास करता है और यह आश्वासन देता है कि वह इन प्रवासियों की संस्कृति, धर्म, भाषा आदि के संरक्षण और विकास का पूरा प्रयास करेगा।

कनाडा, अमेरिका, न्यूजीलैंड, ऑस्ट्रेलिया तथा बैटिन अमेरिका के देशों में राष्ट्रीयता

की वैसी जड़ें नहीं हैं जैसी यूरोप अथवा एशिया के प्राचीन देशों में हैं। जापान जैसे देश तो किसी भी विदेशी नागरिक को अपने देश की नागरिकता नहीं देते हैं, चाहे वह वहां कितनी भी लंबी अवधि तक रहे। कनाडा जैसे नए बने राष्ट्रों का वातावरण इसलिए बहुत उन्मुक्त है कि वहां का हर व्यक्ति (वहां के मूल निवासियों को छोड़कर) विदेशी प्रवासी है।

इन नए बने राष्ट्रों ने जिनका इतिहास तीन-चार शती से अधिक प्राचीन नहीं हैं, राष्ट्रवाद, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय संस्कृति, राष्ट्रीय परंपरा और राष्ट्रीय अस्मिता की अवधारणाओं को नई परिभाषा देनी आरंभ कर दी है। मैंने सरी (वैंकुवर) के एक गुरुपर्व पर सिखों का एक जुलूस (नगर कीर्तन) देखा। इसमें परंपरा के अनुसार 'पांच प्यारे अपनी परंपरागत वेशभूषा में केसरी ध्वज लेकर आगे चल रहे थे, किंतु उनसे भी आगे, उसी वेशभूषा में एक अन्य 'प्यारा' कनाडा का राष्ट्रीय ध्वज लेकर चल रहा था। यहां से नए सभी लोग इस बात को पूरी तरह स्वीकार करते हैं कि उनका धर्म, भाषा, खान-पान, वेशभूषा और संस्कृति सब में उनकी निजता हो सकती है, किंतु सभी की राष्ट्रीयता कनाडा की है।

(दैनिक जागरण, 22-6-2006)

राजनीति से त्रस्त इतिहास

पाठ्य पुस्तकों को लेकर जिस प्रकार का संग्राम इस समय देश में छिड़ा हुआ है वह बहुत अप्रत्याशित नहीं है। 19वीं सदी के मध्य से अंग्रेजी शासन द्वारा नियोजित शिक्षा प्रणाली के साथ ही यह प्रश्न शिक्षाविदों के मध्य चर्चा का विषय बन गया था कि इस देश में कैसी शिक्षा दी जानी चाहिए? अंग्रेजों की अपनी नीति थी। वे इस देश में अपनी सरकार चलाने के लिए अधिक से अधिक क्लर्कों का निर्माण करना चाहते थे। उनका दूसरा उद्देश्य था कि भारतीय नागरिकों में ब्रिटिश राज और उसके राजा-रानी के प्रति किस प्रकार स्वामिभक्ति की भावना का विकास किया जाए। स्कूलों का पाठ्यक्रम इसी आधार पर बनाया जाता था। स्वतंत्रता मिलने के पश्चात् शिक्षा के लिए नई नीतियाँ बनाने का कार्य आरंभ हुआ। इसका मुख्य आधार यह था कि छात्रों में किस प्रकार देशभक्ति की भावना जागृत हो, राष्ट्रीय एकता को वे महत्व दे सकें और सर्वधर्म समभाव की भावना का उनमें विकास हो।

1986 में एक व्यापक राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाई गई जिसे 1992 में संशोधित किया गया। शिक्षा क्षेत्र में प्रारंभ से ही ऐसे तत्वों का प्रभुत्व था जो वामपंथी विचारधारा से प्रभावित थे। नूरुल हसन जब इस देश के शिक्षा मंत्री थे तब यह प्रभाव बहुत बढ़ गया। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एनसीइआरटी) द्वारा तैयार पुस्तकों पर ऐसे लेखकों का वर्चस्व बढ़ गया जो एक विशेष विचारधारा से संबद्ध थे और इतिहास, समाज, विज्ञान तथा साहित्य को एक खास नजरिए से देखते और व्याख्यायित करने के आदी थे। देश में राष्ट्रीय जनतांत्रिक मोर्चे की सरकार आने के बाद पहले से चल रही पाठ्य पुस्तकों का अवलोकन और परीक्षण प्रारंभ हुआ। उस समय ऐसे तथ्य सामने आए जिसने सभी को चौंका दिया। उन पुस्तकों में इतिहास को बुरी तरह विकृत किया

गया था। वामपंथी लेखकों तथा संस्थाओं ने नई व्यवस्था और नए बनने वाले पाठ्यक्रमों का विरोध किया। कारण बहुत स्पष्ट था। इस क्षेत्र से उनका वर्चस्व समाप्त हो रहा था। वे अपने तर्क देश के सर्वोच्च न्यायालय में भी ले गए, किंतु वहां उनकी दलीलें और तर्क अस्वीकार कर दिए गए। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान तथा प्रशिक्षण परिषद द्वारा प्रकाशित कुछ पुस्तकों के अनेक अंश ऐसे थे जो न केवल विवादास्पद, बल्कि बहुत भ्रामक और दोषपूर्ण थे। ये पुस्तकें पिछले अनेक वर्षों से देश भर के स्कूलों में पढ़ाई जा रही थीं। इनमें से अधिक पुस्तकें प्राचीन और मध्ययुगीन इतिहास से संबंधित थीं।

जब उन त्रुटियों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ और अनेक मंचों से उनका विरोध मुखर होना प्रारंभ हो गया तो सरकार ने यह आदेश दे दिया कि कतिपय अंश कक्षा में न पढ़ाएं जाएं और आने वाली परीक्षाओं में उन अंशों से प्रश्न न पूछे जाएं। इसी के साथ एनसीईआरटी ने अनेक शिक्षाविदों की सहायता से नई पुस्तकें लिखवाना प्रारंभ कर दीं। यहीं से सारा विवाद शिक्षा संसार की सीधी सड़क से निकलकर राजनीति की गलियों में उतर गया और जिस विवाद को अकादमिक ढंग से सुलझाया जाना चाहिए था, उसके लिए लोगों ने तलवारें भांजनी शुरू कर दीं। दरअसल एक विशिष्ट विचारधारा के तथाकथित विद्वान इतिहास की अपने ढंग और स्वनिर्मित मान्यता के अनुसार व्याख्या करते हैं। इस संपूर्ण व्याख्या में बहुत 'प्रगतिशील' दिखने का प्रयास होता है और अनेक प्राचीन मान्यताओं, विश्वासों की परवाह नहीं की जाती, बल्कि उन्हें सीधी-सीधी चुनौती दी जाती है।

इतिहास से खिलवाड़ करना और उसमें अपने ढंग से तोड़-मरोड़ कर लेना भी इस 'प्रगतिशीलता' में आ जाता है। वामपंथियों की दिक्कत यह है कि उनके सामने हिंदू 'सांप्रदायिकता' का हौवा सदा खड़ा रहता है। वे किसी भी प्रश्न पर अपना नजरिया वस्तुनिष्ठ (आब्जेक्टिव) नहीं रख पाते। नूरूल हसन ने अपने कार्यकाल में ऐसे इतिहासकारों को विश्वविद्यालयों और पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने वाली संस्थाओं में प्राथमिकता दी जो उनके दिशा निर्देश में कार्य कर सकें और इतिहास की वैसी व्याख्या कर सकें जैसी वे चाहते थे। पाठ्य पुस्तकों को लिखने का कार्य भी ऐसे लोगों को ही सौंपा गया। वर्षों तक इनके द्वारा लिखित अथवा संपादित पुस्तकें बच्चों को पढ़ाई जाती रहीं। रायल्टी से ऐसे लेखकों को अतुल धनराशि तो प्राप्त हुई, विद्या के क्षेत्र में इनकी ऐसी धाक जमी कि कुछ को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति का इतिहासकार घोषित कर दिया गया। विदेशों में होने वाले सम्मेलनों में वे सरकारी खर्च पर देश का प्रतिनिधित्व करने लगे।

यदि स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों को उनकी प्राथमिक कक्षाओं में ही यह पढ़ाना प्रारंभ कर दें कि प्राचीनकाल में आर्य गोमांस का भक्षण करता था तो हम किस गंतव्य को प्राप्त करना चाहते हैं? प्राचीन काल में गोमांस का भक्षण होता था या नहीं, यह वैदिक विद्वानों के विवाद और खोज का विषय है, किंतु इस बात में तो किसी को संदेह नहीं है कि शताब्दियों से इस देश में बहुसंख्यक वर्ग द्वारा संपूर्ण गोवंश को पूज्य माना

जाता रहा है। जो पूर्णरूप से शाकाहारी हैं उनके लिए तो सभी प्रकार का मांस वर्जित है। जो मांसाहारी हैं वे भी गोमांस भक्षण की बात नहीं सोचते। जीवन में बहुत से प्रश्न हमारी आस्था से जुड़े होते हैं। वे समय पाकर तर्कातीत हो जाते हैं। कुछ वर्जनाएं हमारी सामूहिक सोच का हिस्सा बन जाती हैं। मुसलमान सुअर का मांस क्यों नहीं खाते या सिख तंबाकू के सेवन से दूर क्यों रहते हैं, ये बहस के मुद्दे नहीं हैं।

यदि कोई लाल बहादुर बुझक्कड़ बच्चों की पढ़ाई जाने वाली किसी पुस्तक में इन मान्यताओं और वर्जनाओं के विपरीत लिख दे और दावा करें कि यह सब कुछ उसने बड़ी खोज के बाद लिखा है तो भी जन मानस उसे स्वीकार नहीं करेगा। सबसे अधिक आश्चर्य सतीश चंद्र की इतिहास दृष्टि को लेकर होता है। कुछ लोग इन्हें बहुत बड़ा इतिहासकार मानते हैं, किंतु 11वीं कक्षा में पढ़ाई जाने वाली उनकी पुस्तक मध्यकालीन भारत को देखकर यह नहीं लगता कि उन्हें इतिहास की बुनियादी समझ हैं। मध्यकालीन भारत में सतीश चंद्र ने लिखा था कि गुरु तेग बहादुर ने असम से लौटने के बाद शेख अहमद सरहिंदी के एक अनुयायी हाफिज आदम के साथ मिलकर पूरे पंजाब में लूटमार मचा रखी थी और सारे प्रांत को उजाड़ दिया था। अपनी इस बात की पुष्टि के लिए सतीश चंद्र ने जिस फारसी पुस्तक–'सियार उल-मुतारिवरीन' को आधार बनाया उसके लेखक सैयद गुलाम हुसैन ने 1782 में ईस्ट इंडिया कंपनी के गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्ज की नौकरी करते हुए यह पुस्तक लिखी थी। गुरु तेग बहादुर के बलिदान के कुल 25 वर्ष बाद उनके पुत्र गुरु गोबिंद सिंह ने अपनी आत्मकथा 'विचित्र नाटक' में उस संबंध में जो कुछ लिखा था, अपने आपको इतिहासकार मानने वाले सतीश चंद्र ने उसे देखने का भी कष्ट नहीं उठाया।

कश्मीर में हो रहे बलात् धर्म-परिवर्तन से त्रस्त कश्मीरी पंडितों के एक प्रतिनिधि मंडल का आनंदपुर में गुरु तेग बहादुर जी के पास आने को भी सतीश चंद्र ने पूरी तरह नकार दिया जबकि सर्वमान्य इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक औरंगजेब में इसका पूरा उल्लेख किया है। राजग सरकार के समय विकृतियों से भरी ऐसी पाठ्य पुस्तकों को हटाकर उनके स्थान पर जब नई पुस्तकों के लिखवाए जाने का उपक्रम एनसीईआरटी ने किया तो कथित वामपंथी लॉबी ने यह शोर मचाया कि संपूर्ण पाठ्यक्रम का भगवाकरण करने का प्रयास किया जा रहा है। संप्रग सरकार में अर्जुन सिंह मानव संस्थान विकास मंत्री बने। इसी के साथ राजग सरकार के समय की एनसीईआरटी द्वारा तैयार पुस्तकों पर रोक लगा दी गई और वामपंथी लेखकों को फिर भी पाठ्यक्रमों के लिए पुस्तकें लिखने को कहा गया। इस तरह इतिहास को विकृत करने वाली पुस्तकें आज भी पढ़ाई जा रही हैं।

(दैनिक जागरण, 29-6-06)

अब भगत सिंह की शहादत पर भी प्रश्नचिह्न

आगामी वर्ष, 2007 में शहीद भगत सिंह की जन्म शताब्दी मनाई जा रही है। भगत सिंह को कुल 23 वर्ष और 6 महीने का जीवन प्राप्त हुआ था। एक देशभक्त क्रांतिकारी, विचारक और चिंतक के रूप में भगत सिंह को अपने जीवनकाल और उसके पश्चात् जो सम्मान और प्रसिद्धि प्राप्त हुई वह अपने आप में अद्वितीय है, किंतु पहले कुछ वर्षों में पंजाब में कुछ कथित बुद्धिजीवियों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया है जो भगत सिंह के कार्यों और शहादत पर अनेक प्रश्न लगाने लग गया है। कुछ समय पहले चंडीगढ़ में उन बुद्धिजीवियों ने एक पत्रकार सम्मेलन किया, यह घोषित करने के लिए कि भगत सिंह को शहीद नहीं कहा जा सकता।

इन बुद्धिजीवियों की इस स्थापना का आधार इंडियन सिविल सर्विस से बरखास्त और लोकसभा के सदस्य रहे सरदार कपूर सिंह की आत्मकथा ढंग की पंजाबी में लिखी पुस्तक 'साची साखी' है। इस पुस्तक में उन्होंने लाला लाजपत राय और सरदार भगत सिंह को लेकर बड़ी विचित्र बातें लिखी हैं। उनके मत से लाहौर में सन् 1928 में साईमन कमीशन का विरोध करते हुए पुलिस कप्तान स्कॉट की आज्ञा से पुलिस द्वारा चलाई गई लाठियों की मार से घायल हो जाने के कारण कुछ दिन बाद लाला लाजपतराय की मृत्यु नहीं हुई थी। उनके अनुसार एक अंग्रेज अधिकारी हैमिल्टन हारडिंग का केवल एक बेंत उनकी छाती पर लगा था। वे पहले से ही हृदय रोग से पीड़ित थे। यही उनकी मृत्यु का कारण था। उन पर पुलिस की लाठियां पड़ी हैं, यह बात बाद में फैला दी

गई।

इस पुस्तक में यह भी लिखा है कि लाला लाजपतराय की मृत्यु का बदला लेने के लिए धोखे से पुलिस अधीक्षक स्कॉर्ट के स्थान पर दूसरे पुलिस अधिकारी सांडर्स पर गोली भगत सिंह ने नहीं चलाई थी। यह कार्य उनके दूसरे साथी ने किया था, किंतु श्रेय अनायास भगत सिंह को मिल गया।

सरदार कपूर सिंह ने अपनी पुस्तक में न ऐतिहासिक तथ्यों का सहारा लिया है, न गुप्त दस्तावेजों का और न ही तत्कालीन लेखकों, विशेष रूप से लाला लाजपतराय और भगत सिंह द्वारा लिखित रचनाओं का। उनके द्वारा लिखी गई बातें या तो उनकी अपनी समझ पर आधारित हैं या कुछ सुनी-सुनाई बातों पर।

स. कपूर सिंह ने यह पुस्तक लगभग तीन वर्ष पहले लिखी थी, किंतु उनकी बातों को किसी ने गंभीरतापूर्वक नहीं लिया था, इसलिए इस संबंध में कोई चर्चा या वाद-विवाद नहीं हुआ। इस अवधि में भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन पर, विशेष रूप से लाला लाजपतराय और सरकार भगत सिंह के जीवन और कार्यों पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इस संदर्भ में डॉ. ताराचंद की लिखी भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास (चार खंड) का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। उनकी भतीजी श्रीमती वीरेंद्र संधु की भगत सिंह पर अनेक पुस्तकें आई हैं। कुछ समय पूर्व सुप्रसिद्ध पत्रकार कुलदीप नैयर की एक खोजपूर्ण भगत सिंह पर प्रकाशित हुई है।

इस समय सिख बुद्धिजीवियों में एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया है जो संपूर्ण सिख आंदोलन को मनचाही रंगत दे रहा है और अजीबोगरीब मान्यताएं प्रस्तुत हुईं इसे इस देश की हजारों वर्ष प्राचीन सभी सांस्कृतिक परंपराओं से अलगाना चाहता है। ऐसे बुद्धिजीवियों को तीस वर्ष बाद यह बात क्यों सूझी कि स. कपूर सिंह की बातों को आधार बनाकर इस प्रश्न को उठाया जाए और एक आधारहीन विवाद को जन्म दिया जाए? मैं मानता हूं कि इसके पीछे भी वही अलगाववादी मानसिकता काम कर रही है। भगत सिंह आज देश में स्वतंत्रता के लिए जूझने वाला एक क्रांतिकारी युवक ही नहीं हैं, वह देश की संपूर्ण युवाशक्ति और उसकी आकांक्षाओं का प्रतीक बन चुका है। भगत सिंह की असीम लोकप्रियता अब केवल एक समाज अथवा एक प्रदेश तक ही सीमित नहीं है, वह संपूर्ण भारत में और विदेशों में भी, स्वतंत्रता प्राप्ति की अदम्य इच्छा शक्ति का जीवन्त उदाहरण बन गया है।

भगत सिंह को श्रद्धांजलि देते हुए, 26 मार्च 1931 को सुभाष चंद्र बोस ने कहा था—आज भगत सिंह एक व्यक्ति नहीं, एक प्रतीक है क्रांति की उस चेतना का जिसने आज संपूर्ण देश को जकड़ लिया है। डॉ. पट्टामि सीता रमैया ने कांग्रेस का इतिहास (पृष्ठ 364) में लिखा है—यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि यह वह समय था जब कि भगत सिंह का नाम भी भारत भर में उतना ही जाना जाता था और उतना ही लोकप्रिय

था जितना गांधीजी का।

भगत सिंह का महत्व केवल इस कारण ही नहीं है कि वह एक जुझारू क्रांतिकारी था। उससे पहले उसके समकालीन और उसके पश्चात् भी अनेक क्रांतिकारी इस देश में हुए। भगत सिंह का महत्व इस बात में है कि वह अपने समय का बहुत प्रगतिशील चिंतक था। भगत सिंह से पूर्व का संपूर्ण राष्ट्रीय आंदोलन उन पुनरुत्थान और नवजागरण के आंदोलनों से प्रभावित था जो देश के विभिन्न धार्मिक वर्गों में अलग-अलग पनपे और विकसित हुए थे। यहां हिंदू नवजागरण था, मुस्लिम नवजागरण था, सिख नवजागरण था। बाद में द्रविड़ और दलित नवजागरण के स्वर भी गूंजे, किंतु समग्र भारतीय नवजागरण की बात नहीं हुई। महाराष्ट्र और बंगाल में जो क्रांतिकारी आंदोलन उभरे उनके पीछे हिंदू नवजागरण की भावना काम कर रही थी। गीता को हाथ में लेकर वंदेमातरम का जयघोष करते हुए फांसी पर चढ़ जाना उस युग का आदर्श था। इसलिए ये आंदोलन अधिकतर शिक्षित मध्य वर्ग को अपनी ओर आकर्षित करते थे। उन्नीसवीं सदी के छठे, सातवें, आठवें दशक में पंजाब में उभरा कूका आंदोलन सिख नवजागरण की अभिव्यक्ति थी।

अमेरिका और कनाडा जैसे देशों में 1914-15 में पनपा गदर आंदोलन धर्मनिरपेक्ष दिशा ग्रहण करने वाला संभवतः पहला आंदोलन था। इसे जन्म देने वालों में पंजाबी किसान थे जो जीविका की खोज में अमेरिका और कनाडा जैसे देशों में बसने चले गए थे। गदर पार्टी की स्थापना अमेरिका में हुई और सशस्त्र क्रांति द्वारा भारत को आजाद कराने तथा भारत में स्वतंत्रता, समता तथा बंधुत्व पर आधारित स्वराज्य स्थापित करने का उद्देश्य इस संस्था ने अपने सामने रखा था। 1914 में प्रथम विश्व युद्ध प्रारंभ होने पर गदर पार्टी के सैकड़ों सदस्य भारत वापस आ गए। इन्होंने सेना में विद्रोह फैलाकर युवकों और किसानों की सहायता से 19 फरवरी 1915 को जनक्रांति करने की योजना बनाई जो ऐन वक्त पर भेद खुल जाने के कारण असफल हो गई। गदर पार्टी के बहुत से लोग बंदी बनाए गए। अनेक को मौत की सजा मिली और कितने ही लोगों को आजीवन कारावास मिला।

भगत सिंह पर गदर आंदोलन का गहरा प्रभाव पड़ा। इस आंदोलन का युवा शहीद करतार सिंह सराभा भगत सिंह का आदर्श था, जो 18 वर्ष की आयु में ही फांसी के तख्ते पर झूल गया था। भगत सिंह ने संसार के विभिन्न भागों मे चल रहे स्वतंत्रता आंदोलनों का गहरा अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि भारत की आजादी की लड़ाई को धार्मिक/सांप्रदायिक प्रेरणा स्रोतों से ऊपर उठाकर उसे जनवादी, समाजवादी, राष्ट्रवादी और मानववादी सरोकारों और आदर्शों से जोड़ना चाहिए। उस समय देश का सबसे अधिक लोकप्रिय उद्घोष 'वंदेमातरम' था। स्वयं भगत सिंह को वह प्रिय था, किंतु भगत सिंह ने जो उद्घोष इस देश को दिया—इंकलाब जिंदाबाद—वह संपूर्ण भारतीय

जनमानस–किसान, मजदूर और दलित वर्ग की मानसिकता में रच बस गया।

भगत सिंह ने अपने युवा मित्रों को साथ लेकर 1926 में लाहौर में नौजवान भारत सभा की स्थापना की थी। इस संस्था का उद्‌देश्य था–मजदूरों और किसानों को संगठित करना और सारे देश में उनके माध्यम से एक स्वतंत्र गणतंत्र की स्थापना करना। भगत सिंह ने इस देश के राष्ट्रीय आंदोलन को धार्मिक मोहपाश से मुक्त करके उसे धर्मनिरपेक्ष और जनवादी स्वरूप प्रदान किया था।

18 दिसंबर अर्थात् सांडर्स की हत्या के दूसरे दिन क्रांतिकारियों की ओर से जो पर्चा बांटा गया था, उससे भगत सिंह के आदर्शों को समझने में हमें मदद मिल सकती है। पर्चे में लिखा था–"हमें एक आदमी की हत्या करने का खेद है परंतु यह आदमी उस निर्दयी, नीच और अन्यायपूर्ण व्यवस्था का अंग था जिसे समाप्त कर देना आवश्यक है। इस आदमी की हत्या हिंदुस्तान में ब्रिटिश शासन के कारिंदे के रूप में की गई है। यह सरकार संसार की सबसे अत्याचारी सरकार है।"

दिल्ली बस केस के समय से शन जज मि. लियोनाई मिडिल्टन की अदालत में अपने ऐतिहासिक वक्तव्य में भगत ने कहा था–"हम एक बार यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हम मानव जीवन को अकथनीय पवित्रता प्रदान करते हैं और किसी अन्य व्यक्ति को चोट पहुंचाने के बजाय हम मानवजाति की सेवा में हंसते-हंसते अपने प्राण न्योछावर कर देंगे। हम साम्राज्यवादी सेना के भाड़े के सैनिकों जैसे नहीं हैं, जिनका काम ही नर हत्या होता है।"

भगत सिंह की सर्वप्रियता का सबसे बड़ा कारण ही यह है कि वह कोई ऐसा जनूनी व्यक्ति नहीं था जो बिना सोचे समझे अपने विरोधी की हत्या कर देता है। वह जीवन मूल्यों से प्रेरित एक योद्धा था जिसे जीवन जीना भी आता था और किसी महत् कार्य के लिए जीवन देना भी। ऐसे महान शहीद पर कीचड़ उछालना किसी उन्मादी का ही कार्य हो सकता है, किसी संयत और समझदार व्यक्ति का नहीं।

(दैनिक जागरण, 17-8-2006)

योग्यता की खोखली दलील

मेरे सामने दिल्ली विश्वविद्यालय के दो प्राध्यापक बैठे थे। दोनों की शिकायत लगभग एक जैसी थी। प्राध्यापक व विश्वविद्यालय के विज्ञान विभाग में वरिष्ठ प्रोफेसर हैं। उनकी शिकायत यह थी कि एम.एससी. करने के पश्चात् 20 छात्रों को हम एम. फिल. करने के लिए दाखिला देते हैं। इनमें से कम-से-कम दो छात्र अनुसूचित जाति के होना अनिवार्य हैं। ये सभी छात्र वरिष्ठ प्रोफेसर के मध्य निर्देशन के लिए बांट दिए जाते हैं। विडंबना यह है कि जनरल कैटेगरी से आए सभी विद्यार्थी, निर्देशकों के साथ काम करना प्रारंभ कर देते हैं, किंतु कोई भी प्रोफेसर अनुसूचित जाति के छात्रों को अपने निर्देशन में नहीं लेना चाहता। उनका तर्क यह होता है कि ये विद्यार्थी ठीक से काम नहीं करते हैं। इनकी बौद्धिक क्षमता इतनी नहीं होती कि ये एम. फिल. का शोध-कार्य कर सकें।

मैंने उनसे पूछा—इस कोर्स में किसी को दाखिला तभी मिलता होगा, जब वह एम.एससी. कर चुका होगा?

उन्होंने कहा—यह आवश्यक है।

मैंने पूछा—जो विद्यार्थी एम.एससी. तक की पढ़ाई सफलतापूर्वक कर चुका है, वह एम. फिल. क्यों नहीं कर सकता?

इसके लिए भी उनके पास अनेक तर्क हैं।

एक कॉलेज में रीडर पद पर हैं। उन्होंने बताया कि आरक्षण नीति के अंतर्गत उनके कॉलेज में अनुसूचित जाति के एक व्यक्ति की नियुक्ति अर्थशास्त्र पढ़ाने के लिए हो गई, किंतु उनसे कोई विद्यार्थी पढ़ना नहीं चाहता। वह हिंदी माध्यम से पढ़ाता है और विद्यार्थी अंग्रेजी माध्यम से पढ़ना चाहते हैं।

मैंने पूछा—"इस स्थिति के विकल्प क्या हैं?"

उनकी आंखों में आया हुआ विकल्प एक ही है। सभी प्रकार के आरक्षण समाप्त कर दिए जाएं। योग्यता को ही एक मात्र कसौटी माना जाए।

आरक्षण के संदर्भ में आजकल योग्यता (मेरिट) की बड़ी चर्चा है। इस एक शब्द को लेकर आरक्षण का विरोध करने वाले बार-बार यह दोहराते हैं कि योग्यता के संबंध में किसी प्रकार का समझौता नहीं किया जाना चाहिए, योग्यता ही एक मात्र कसौटी है।

योग्यता है क्या? क्या किसी परीक्षा में अधिक अंक प्राप्त कर लेने से योग्यता बढ़ जाती है? सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि योग्यता अर्जित किस प्रकार से की जाती है?

हमारे देश की सामाजिक व्यवस्था प्राचीन काल से सोपानिक व्यवस्था रही है। जाति और कर्म पर आधारित यह व्यवस्था सीढ़ी-दर-सीढ़ी के ढंग से ऊपर से नीचे की ओर आती है। एक वाक्य में इसे ब्राह्मणवादी व्यवस्था कह सकते हैं। शास्त्रों में भी इस व्यवस्था की किसी-न-किसी रूप में पुष्टि मिलती है, जहां इस बात को अनेक बार कहा गया है कि प्रजापति ने मानव-समाज-रूपी पुरुष का विधान किया उसमें मुंह ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय है, जांघें वैश्व हैं और पैर शूद्र हैं।

यह व्यवस्था कालांतर में रूढ़ होती चली गई। ब्राह्मण अपनी विद्या, क्षत्रिय अपनी राज शक्ति और वैश्य अपनी धन-शक्ति के कारण सवर्ण हो गए। अन्य सभी शूद्रों की श्रेणी में आ गए। बाहर से जितनी घुमन्तू जातियां या कबीले इस देश में आए अथवा अपने, नित्य कर्म के कारण जितनी जातियां इस समाज में बन गईं, सभी को शूद्रों में शामिल कर लिया गया। इसी कारण शूद्रों में भी दो वर्ग हो गए—एक स्पृश्य—जिन्हें छुआ जा सकता था, जिनके हाथ का पानी पिया जा सकता था। दूसरे वे जिन्हें अस्पृश्य कहा गया, जिन्हें न छुआ जा सकता था और जिनके हाथ का पानी पीना भी वर्जित था। आज आरक्षण की बात इन्हीं दो वर्गों के संदर्भ में की जा सकती है। पिछड़ा वर्ग (ओ. बी.सी.) पहले वर्ग के लोग हैं—अनुसूचित जातियां दूसरे वर्ग में आती हैं।

इसमें भी कोई संदेह नहीं कि पिछड़े वर्ग की जातियां—यादव, जाट, कुर्मी, सैण, सुनार, बढ़ई आदि ने पिछली कुछ शताब्दियों में इस सोपानिक व्यवस्था की अनेक सीढ़ियां ऊपर की ओर चढ़ ली हैं। ये भू-स्वामी बन गए, खेती-वाड़ी इनके हाथों में आ गई। राजसत्ता का सुख भी इन्हें प्राप्त हुआ है। आज की लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीति में इनका व्यापक दबदबा है।

यह भी इस समाज की विचित्र मानसिकता है कि जो भी जाति संपन्नता की ओर बढ़ती है। प्रख्यात समाज शास्त्री श्री एम.एन. श्रीनिवास, के मतानुसार जिन जातियों का संस्कृतिकरण हो जाता है, वे अपने आपको ऊंचा समझने लगती है और दलित वर्ग

को नीचा समझने और उन पर अत्याचार करने में सवर्ण जातियों को पीछे छोड़ देती हैं।

किंतु ऐसी मध्यम जातियों की कुल संख्या मंडल आयोग के अनुसार, संपूर्ण देश की जनसंख्या की लगभग आधी है। इसमें अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों की संख्या यदि जोड़ दी जाए तो देश की तीन-चौथाई संख्या इन वर्गों की बन जाती है, किंतु देश की धन संपदा, उद्योग, व्यापार, शिक्षा तथा अन्य उच्च स्तरीय पेशों—डॉक्टरों, इंजीनियरों, वकीलों, प्रोफेसरों, संपादकों आदि पर वर्चस्व उन वर्गों का ही है जिनकी संख्या कुल पंद्रह-बीस प्रतिशत है।

लोकतंत्र में गणना सिरों की होती है। इसलिए मध्यम जातियों के लोगों का राजनीति में तो प्रभाव बहुत बढ़ा है, किंतु अन्य उच्च स्तरीय पेशों में वे अभी बहुत पीछे हैं।

योग्यता की बात कौन लोग करते हैं? वे लोग जिनके पास अपनी योग्यता का निरंतर विकास करने की सभी प्रकार की सुविधाएं हैं। जिस व्यक्ति का जन्म सवर्ण जाति के पढ़े-लिखे समृद्ध परिवार में हुआ है उसके सम्मुख ज्ञान का पूरा क्षितिज खुला होता है। उसके व्यापक सामाजिक संपर्क होते हैं और शिक्षा संबंधी सभी प्रकार की जानकारी उसके सम्मुख होती है। उसके अभिभावक उसे सभी प्रकार की भौतिक सुविधाएं उपलब्ध कराते हैं, अच्छे-से-अच्छे अतिरिक्त ट्यूशन की व्यवस्था करते हैं। स्वाभाविक है कि ऐसे व्यक्ति की तथाकथित योग्यता उस व्यक्ति से अधिक होगी जिसका परिवार एक या दो कमरों में गुजर-बसर करता है, जिसे पढ़ाई-लिखाई करने के लिए न्यूनतम सुविधाएं भी उपलब्ध नहीं होतीं। जो सरकारी या सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों में हिंदी या अन्य किसी भारतीय भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करता है। उसकी जातीय पृष्ठभूमि, पारिवारिक वातावरण, सामाजिक संबंध उसे अधिक प्रोत्साहन भी नहीं देते। जिनकी समझ की सीमा बस इतनी ही होती है कि लड़का अपनी रोजी कमाने के योग्य हो जाए और लड़की का ठीक-ठाक विवाह हो जाए। इस व्यापक समूह में मैं अभी उस वर्ग को शामिल नहीं कर रहा हूं जिनकी गिनती करोड़ों में है, जो झुग्गी-झोपड़ियों में रहते हैं, जिन्हें परिवार नियोजन के संबंध में अधिक जानकारी न होने के कारण, सामान्यतः पांच-छह बच्चों का पालन-पोषण करना होता है। स्कूलों से 'ड्राप आउट' होने वाले अधिसंख्य बच्चे इन्हीं परिवारों से होते हैं।

ऐसे विभिन्न स्तरों में बंटे हुए समाज में हम किस मैरिट की बात करते हैं? इस वर्ग का बहुत पढ़ा-लिखा युवक (या युवती) वैसे फरटिदार अंग्रेजी नहीं बोल सकता जैसी अंग्रेजी माध्यम से, ऊंची फीस देकर, अतिरिक्त कोचिंग लेकर कोई व्यक्ति अर्जित करता है।

जो अभिभावक अपने बच्चों के लिए उच्च शिक्षा देने वाली निजी संस्थाओं में तीन-तीन लाख रुपए की कैपिटेशन फीस देकर प्रवेश दिलवाते हैं, वे धन के बल पर आरक्षण प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे संभ्रांत वर्ग के लोग ही उस आरक्षण नीति का अधिक विरोध करते हैं जो किसी भी देश की संवेदनशील सरकार उन वर्गों को देना चाहती

है जो सदियों से दलित हैं और पिछड़े हुए हैं। किसी भी लोकतांत्रिक सरकार का यह पहला दायित्व है कि वह जनसाधारण को सभी दृष्टियों से उन्नत करने का प्रयास करें। इस प्रकार की उन्नति में विशेष ध्यान समाज के उन वर्गों के लिए रखना आवश्यक होता है जो किसी कारण इस दौड़ में विछड़ गए हों अथवा अन्याय पूर्ण व्यवस्था के कारण दलित श्रेणी में धकेल दिए गए हों।

योग्यता के नाम पर आरक्षण का विरोध करने वाले लोग कौन हैं? मेडिकल-शिक्षा के वे छात्र जो संभ्रांत समाज का अंग हैं, वे लोग जो प्राप्त सुविधाओं और वैशिष्ट्य को अपने वर्ग तक ही सीमित रखना चाहते हैं और उसे किसी के साथ बांटना नहीं चाहते, जिन्हें उन तत्वों का सहयोग प्राप्त है जो यह समझते हैं कि पिछड़े वर्ग या दलित जातियों के लोग इस काबिल ही नहीं हैं कि ऊंचे स्तर की शिक्षा दी जा सके। वे यह भी मानते हैं कि इनका बौद्धिक स्तर इस योग्य ही नहीं होता कि इन्हें कोई महत्वपूर्ण पद दिया जा सके। ऐसे लोग यदि डाक्टर बन जाएंगे तो मरीजों की जान पर बन आएगी, यदि प्रोफेसर बन जाएंगे तो शिक्षा का स्तर चौपट हो जाएगा, यदि इंजीनियर बन जाएंगे जो देश के महत्वपूर्ण पुल टूटकर धराशाही हो जाएंगे।

मैं समझता हूं कि आरक्षण विरोध तथ्य न होकर एक मानसिकता है जो हमारे रूढ़ संस्कारों के साथ घुल-मिलकर हमारी सोच का अंग बन गई है। ऐसी मानसिकता वाला वर्ग आरक्षण की बात को बड़े अनमने ढंग से स्वीकार करता है और अवसर मिलते ही उसके विरोध में बोलना प्रारंभ कर देता है।

मैं फिर दिल्ली विश्वविद्यालय के अपने प्राध्यापक मित्रों की ओर मुड़ता हूं। मैंने अपने मित्र से पूछा—आपके विभाग के जो प्रोफेसर छात्रों को अपने निर्देशन में लेते हैं, क्या उनमें कोई अनुसूचित जाति का भी है? उनका उत्तर 'नहीं' में था। मैंनें फिर पूछा—जो प्रोफेसर अनुसूचित जाति के छात्रों को अपने निर्देशन में नहीं लेना चाहते उसमें उनकी जातिगत मानसिकता तो हावी नहीं है?

वे सोचते हुए बोले—यह भी संभव है।

योग्यता, उत्तमता, समानता जाति के आधार पर देश का बंटवारा आदि बड़े लुभावने शब्दों का प्रयोग आरक्षण का विरोध करते समय होता है, किंतु जिस देश में योग्यता ओर उत्तमता एक छोटे से वर्ग तक सीमित रही हो, जिस समाज में समता के बोध का नितांत अभाव हो, जहां जाति प्रथा ने पूरे समाज को असंख्य भेदों-विभेदों में बांट रखा हो वहां इन शब्दों की कितनी सार्थकता रह जाती है।

एक प्रश्न का उत्तर हमें अवश्य ढूंढना चाहिए। क्या भारतीय समाज में ऊंची-नीची जाति के आधार पर कुछ वर्गों के प्रति घोर अन्याय हुआ है? यदि इस प्रश्न का उत्तर हां है तो हमें यह भी सोचना चाहिए कि इस अन्याय का परिमार्जन किस प्रकार हो सकता है?

(दैनिक जागरण, 21-9-2006)

भयंकर अभिशाप है बाल मज़दूरी

सरकार ने हाल में ही एक अधिसूचना जारी की है जिसके अनुसार चौदह वर्ष तक के बच्चों से मज़दूरी कराना अपराध घोषित किया है। इससे पहले भी अनेक बार इस प्रकार की अधिसूचनाएं जारी की गईं और कानून बनाएं गए किंतु किसी ने उनकी परवाह नहीं की, न ही कभी प्रशासनिक अधिकारियों ने ऐसे कानूनों को लागू कराने में कोई तत्परता दिखाई। इसी बात का परिणाम है कि भारत में बाल मज़दूरों की संख्या संसार के किसी देश की अपेक्षा अधिक है। संयुक्त राष्ट्र संघ के बाल कोष के अनुसार 5-14 वर्ष की आयु के साढ़े तीन करोड़ बच्चे इस प्रकार की मजदूरी में लगे हुए हैं जो इस आयु वर्ग के बच्चों का 14 प्रतिशत भाग है। इतने अधिक बाल मज़दूरों में उनकी संख्या भी कम नहीं है, जिन्हें बंधुआ कहा जाता है। ये वे बच्चे हैं जिन्हें उनके मां-बाप ने कुछ रुपयों के लिए सम्पन्न लोगों को बेच दिया है। इन्हें न्यूनतम रोटी-कपड़ा देकर इनसे मजदूरी कराई जाती है।

सामंतवादी और पूंजीवादी समाज में ऐसे बाल मज़दूरों की पौध निरंतर पनपती रही है। इन बाल मज़दूरों का कोई नाम भी नहीं होता। घरों में काम करने वाले ऐसे बच्चों को मुंडूया छोटू कहकर पुकारा जाता है और उनसे सभी प्रकार का काम लिया जाता है। छोटे कारखाने, ठेकेदार, दुकानदार इन बच्चों को अपने यहां इसलिए नौकरी देते हैं कि वयस्क मज़दूरों की अपेक्षा इन्हें बहुत कम वेतन देना पड़ता है।

इस समस्या के मूल में निर्धनता और अज्ञानता है। समाज में यह मानसिकता लंबे समय से बनी हुई है कि घर में जितने अधिक कमाएंगे और घर की ज़रूरतों को पूरा करेंगे। ऐसे परिवारों में पढ़ाई-लिखाई अधिक महत्व नहीं रखती। प्रायः इनके मां-बाप यह कह देते हैं कि इसे पढ़-लिखकर कौन-सा डिप्टी कलक्टर बनना है। मैं ऐसे अनेक परिवारों को जानता हूं जिनका पुरुष मुखिया चौकीदारी करता है, रिक्शा चलाता है अथवा

अन्य कोई छोटा-मोटा काम करता है। उसकी पत्नी, लड़के-लड़कियां घरों में बर्तन मांजने, कपड़े धोने और सफाई का काम करती हैं। इन परिवारों में पांच-छह बच्चे होना आम बात है। बच्चे या तो स्कूल जाते ही नहीं या 3-4 कक्षा की पढ़ाई करके स्कूल जाना बंद कर देते हैं। मां-बाप को इससे कोई रंज नहीं होता। अनेक स्थितियों में वे खुश होते हैं—चलो अब बच्चा कुछ कमाई करेगा।

इस देश में कुछ ऐसे उद्योग हैं जिनमें बाल मजदूरों की बड़ी संख्या काम करती है। तमिलनाडु में शिवकाशी में आतिशबाजी बनाने का उद्योग बड़ी मात्रा में है। मिर्ज़ापुर, उत्तर प्रदेश में गलीचा बुनने के उद्योग में, राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में कांच की चूड़ियां बनाने के उद्योग में हजारों बाल मजदूर काम करते हैं। कुछ उद्योग बाल मजदूरों पर बहुत बुरा प्रभाव डालते हैं और उनके कोमल शरीर को अनेक रोगों से ग्रस्त कर देते हैं। इनकी सुरक्षा के लिए कितने ही कानून बने हैं किंतु किसी कानून ने कारगर ढंग से इनकी सहायता नहीं की। ऐसे उद्योगों के मालिकों को बाल मज़दूर बड़े सस्ते मिलते हैं और कुशलता में वे वयस्क मज़दूरों से कम नहीं होते।

इस देश में यह मान्यता भी है कि परिवार में पैतृक ढंग से जो काम होता आया है उसे बच्चे बड़ी सुगमता से सीख जाते हैं। बचपन से ही परिवार का मुखिया अपने पास बैठाकर अपनी निगरानी में उसे यह काम सिखाता है। सुनार, लोहार, बढ़ई, कुम्हार का बेटा अपने घर के काम में बड़ी जल्दी सिद्धता प्राप्त कर लेता हैं ऐसे कामों में पढ़ाई-लिखाई का विशेष महत्व नहीं होता। घर का मुखिया उसे पैतृक कारीगरी सिखाकर यह संतोष प्राप्त कर लेता है कि उसका बेटा इस योग्य हो गया है कि भूखा नहीं मरेगा।

हाथ से काम करने वाले कुटीर उद्योग भी अब बड़े-बड़े उद्योगों का रूप ले रहे हैं। घर में ही जूता बनाने के स्थान पर जूते बनाने के बड़े-बड़े उद्योग आ गए हैं। यही हाल हथकरघा चलाने वाले जुलाहों, सामान्य बढ़ई, लोहार और सुनार का काम करने वालों का हो रहा है। इनके लिए बड़ी पूंजी का निवेश होने लग गया है। कुटीर उद्योगों का रूप बदलने और गांव के लोगों का नगरों में बसने की रुचि ने वयस्क मज़दूरों के साथ ही बाल मजदूरों की गिनती बढ़ा दी है। बीड़ी बनाने, रंग बनाने, दिया सलाई बनाने के कारखाने खोलना भी अब बड़ी पूंजी का काम हो गया है। इनमें बाल मजदूरों की बड़ी संख्या है। ये वयस्क मज़दूरों की भांति संगठित भी नहीं हो सकते, अपनी यूनियन नहीं बना सकते। इन्हें काम तो भरपूर करना पड़ता है, वेतन बहुत कम मिलता है और अपने मालिकों का दुर्व्यवहार तथा शारीरिक दंड भी भुगतना पड़ता है।

भारत सरकार ने बहुत से कानून बनाए हैं और बाल-मजदूरों के संबंध अनेक नीतियों की घोषणा की है। 1986 में बनाया गया बाल मजदूरी (प्रतिबंध और नियमन) कानून बाल मजदूरों के लिए काम की स्थितियों और काम करने के घंटों का नियमन तो करता है किंतु वह भी उनके न्यूनतम वेतन की बात नहीं करता। यह कानून बाल मज़दूरों को आतिशबाजी बनाने, रसायनिक उद्योगों में काम करने जैसे घातक कामों में लगाने पर पूरी तरह प्रतिबंध लगाता है। कारखानों, व्यावसायिक संस्थानों, खेतों में काम

करने वाले बाल मज़दूरों के लिए भी कानून बने हुए हैं। बंधुवा मज़दूरी पूरी तरह गैर कानूनी है।

किंतु ऐसे सभी कानूनों का कोई प्रभाव नहीं हुआ है। सरकारी लापरवाही इस सीमा तक है कि इस बात की निगरानी भी कोई नहीं करता। बच्चों से काम लेने वालों से कोई यह भी नहीं पूछता कि इस संबंध में बने कानूनों की उन्हें जानकारी है भी या नहीं। मानवाधिकार सतर्कता समिति की ओर से 1995 और 1996 में देश के कुछ राज्यों में सर्वेक्षण किया गया। उसने पाया कि इन राज्यों में इन सभी कानूनों का पूरी तरह उल्लंघन किया गया। अपराधियों को इस बात का कोई डर नहीं था कि इस बात के लिए उन्हें दंडित किया जा सकता है।

आज हर क्षेत्र में व्यापक रूप से भ्रष्टाचार फैला हुआ है। यहां यह धारणा बनी हुई है कि घूस लेते पकड़े जाओ, घूस देकर छूट जाओ। लोगों की यह धारणा बन चुकी है कि किसी भी अपराध में कुछ खिला-पिला देने से बात बन जाती है। लोग बड़े गर्व से कहते हैं कि मैंने पूरी तरह 'सेटिंग' कर रखी है इसलिए चिंता करने की कोई ज़रूरत नहीं है। बाल-मजदूरी कानूनों को लेकर यह बात पूरी तरह लागू होती है।

इस संबंध में हमारी मानसिकता भी बहुत उत्तरदायी है। अपने सम्मुख गलत काम, गैर कानूनी काम व्यवस्था की धज्जियां उड़ते देखकर हम उदासीन रहते हैं और "चलता है" कहकर उसे नजरअंदाज़ कर देते हैं। प्रतिरोध का भाव, गलत काम को गलत कहने का साहस जैसे पूरी तरह विलीन हो चुका है। "मुझे क्या लेना है, मुफ्त में पंगा लेने की क्या जरूरत है, इस पचड़े में कौन पड़े"—जैसे वाक्य कहकर हम अपनी आंखों के सामने होते हुए अन्याय और अत्याचार से कन्नी काटकर निकल जाते हैं। बाल मज़दूरी को लेकर यह बात सर्वत्र दिखाई देती है। कई बार तो हम इसे पूर्व जन्भ के कर्मों का फल कहकर एक प्रकार से न्यायोचित घोषित कर देते हैं।

बाल मज़दूरी पर अधिसूचनाएं जारी करने अथवा कानून बनाने से अधिक लाभ नहीं होगा। इसका एक मात्र सार्थक विकल्प शिक्षा है। जो बच्चा स्कूल नहीं नहीं जाता है या स्कूल की पढ़ाई छोड़ चुका है, वह कुछ-न-कुछ करेगा ही। या वह मजदूरी करेगा, गलियों, बाजारों में घूम-घूमकर सड़कों पर पड़ी गंदगी में से काम की चीजें चुन-चुनकर अपनी झोली में डालेगा या चौराहों पर खड़ा होकर भीख मांगेगा। एक ओर बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगाना, दूसरी ओर बच्चे को स्कूल से दूर रखने का कोई अर्थ नहीं है। सरकार को यह बात समझनी होगी कि जो बच्चे काम करते हैं, वह उनका अपना चुनाव नहीं है। उनके घरों की गरीबी और शिक्षा से वंचित होना उन्हें ऐसा मार्ग चुनने के लिए बाध्य कर देता है।

सरकार ने सर्व-शिक्षा अभियान जैसी अनेक योजनाएं व्यापक शिक्षा प्रसार के लिए बनाई हैं, किंतु उनका लाभ सुदूर गांवों तक नहीं पहुंच रहा है। कुछ समय पूर्व देश के 29 राज्यों और केंद्र शासित प्रदेश के लगभग 600 जिलों का एक सर्वेक्षण हुआ। इसमें यह देखा गया कि आधे से अधिक प्राथमिक विद्यालय ब्लॉक मुख्यालयों से 10

कि.मी. से अधिक दूरी पर हैं। केवल लगभग 17 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों के स्कूल 5 कि. मी. की दूरी के अंतर्गत आते हैं। ऐसी दूरी के कारण बहुत से बच्चे, विशेष रूप से लड़कियां, स्कूलों तक नहीं पहुंच पाते और प्राथमिक शिक्षा से वंचित हो जाते हैं। इस सर्वेक्षण से यह भी पता लगा कि सरकारों द्वारा चलाए जा रहे तीस हज़ार से अधिक स्कूलों के पास अपने भवन नहीं हैं, अध्यापकों की बहुत कमी है, पीने के पानी की व्यवस्था नहीं है, बच्चों के बैठने के लिए बेंचों और डेस्कों की बात तो दूर पट्टियां तक नहीं हैं। शहरों में चलने वाले स्कूलों में भी 50 प्रतिशत बच्चे भर्ती नहीं होते। इनमें लड़कियों की संख्या लड़कों की अपेक्षा बहुत कम होती है।

बाल मज़दूरी की समस्या विश्वव्यापी है। जिन देशों ने इस समस्या को आंशिक या पूरी तरह हल कर लिया है उनका यह निष्कर्ष है कि जब तक प्राथमिक शिक्षा को बच्चे का भौतिक अधिकार मानकर अनिवार्य नहीं किया जाएगा, इस समस्या का निदान नहीं निकलेगा। इस देश में अनेक राज्यों में प्राथमिक स्तर पर ही पढ़ाई छोड़ देने (ड्राप आउट) वाले बच्चों की बड़ी संख्या है। उत्तर प्रदेश, राजस्थान, आंध्र प्रदेश और मेघालय जैसे राज्यों में 15 प्रतिशत बच्चे बीच में ही पढ़ाई छोड़कर काम-धंधों में लग जाते हैं।

सर्व-शिक्षा अभियान की योजना 2001 में प्रारंभ हुई। उद्देश्य यह था कि सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्य को 2007 तक प्राप्त कर लिया जाएगा। किंतु इस दिशा में जो प्रगति हुई है, उससे यह नहीं लगता कि आगामी वर्ष तक इस लक्ष्य की पूर्ति हो जाएगी।

शिक्षा का प्रसार राज्य सरकारों के कार्य क्षेत्र में आता है। जिन राज्यों ने सचेत होकर इस दिशा में कुछ कार्य किया है उन्हें काफी सफलता भी मिली है। आज देश में साक्षरता की दर लगभग 60 प्रतिशत है, किंतु केरल में यह दर शत प्रतिशत पहुंच गई है, जब कि बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, राजस्थान में यह दर राष्ट्रीय औसत से कम है।

इस देश को सर्व-शिक्षा अभियान के साथ ही अनिवार्य शिक्षा अभियान की आवश्यकता है। बाल-मज़दूरी के अभिशाप से मुक्ति पानी है तो केंद्र तथा राज्य सरकारों को अपने एजेंडे में इसे प्राथमिकता देनी होगी।

(दैनिक जागरण, 23-11-2006)

राजनीति

दुआ कीजिए कि हममें फिर जंग न हो

आम हिंदुस्तानी में पाकिस्तान का नाम आते ही अजीब सी संकल्पना उपजती है। एक ऐसा देश जिस से हमारी सदियों पुरानी लड़ाई है, हालांकि इस नाम के देश को अस्तित्व में आये अभी पैतीस वर्ष भी पूरे नहीं हुए हैं। ऊपर मैंने 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग किया है। अच्छा होगा कि मैं इस के स्थान पर 'हिंदू' शब्द का प्रयोग करूं, क्योंकि प्रायः लोग भारत और पाकिस्तान के मध्य के तनाव को सदियों से चले आ रहे 'हिंदू-मूस्लिम' तनाव की परिधि में घसीट लाते हैं। जनाव जुल्फिकार अली भुट्टी भी प्रायः अपने भाषणों में पाकिस्तान और भारत के संघर्ष को हजार वर्ष पुराना बताया करते थे। इसलिए पाकिस्तान की चर्चा आते ही आम हिंदुओं में (सिखों में भी) दुश्मनी, जंग, मारकाट, दहशत, डर, नफरत पता नहीं कितने भाव गड्डमड्ड हो कर उभरने लगते हैं।

कुछ महीने पहले मैं अपनी पत्नी और कुछ लेखक मित्रों के साथ पाकिस्तान गया था। यह सुना अवश्य था कि भारत के लोग (विशेष रूप से सिख) जब कभी पाकिस्तान जाते हैं, तो वहां की जनता द्वारा उन का भरपूर स्वागत होता है। फिर भी इसे स्वीकार करने में मुझे संकोच नहीं है कि मेरी मानसिकता एक आम भारतीय की मानसिकता से बहुत भिन्न नहीं थी।

परन्तु पाकिस्तान की जनता अद्‌भुत है। वह आप के सारे आतंक, भय और शंका को कुछ ही क्षणों में धो-पोंछ कर साफ कर देती है और वातावरण अत्यंत आत्मीय जनों के वियोग के बाद मिलने की भाव-विह्वलता में बदल जाता है। आप को देख कर लाहौर या रावलपिंडी के हर आदमी की आंखों में एक करुण चमक उभर आती है। मुसकुराता हुआ हर चेहरा आप को अपनी ओर निमंत्रित करता हुआ सा लगता

है। आप कहीं खड़े हों तो बच्चे, बूढ़े, जवान आप को चारों ओर से घेरे लेते हैं और तब उन्हीं में एक अधेड़ आयु का व्यक्ति अपनी झिझक को झटकता हुआ आप की ओर बढ़ आता है और पूछता है—'आप कहां से आये हैं?...आप के घर में सब अच्छी तरह तो हैं? चलिए, मेरे साथ एक प्याला चाय पी लीजिए...चाय नहीं...अच्छा तो कोकाकोला...'' आप ना ना कहते रहते हैं और इतनी देर में कितने ही हाथ शीतल पेय की बोतलें लिये आप को घेर लेते हैं। आप को लगता है, इस संबंध में हल्की-सी ना-नुकर इन सभी के दिलों को गहरा आघात पहुंचायेगी, क्योंकि आप की ओर टकटकी लगाये हर आंख कहीं अंदर तक आप को नम नज़र आती है।

जिस समय मैं पाकिस्तान गया था। भारत में पाकिस्तान द्वारा अमेरिका हथियारों की खरीद को ले कर काफी उत्तेजना थी। 'एफ- 16' राजनेताओं के भाषणों से ले कर अखबारों की सुर्खियों और संपादकीयों तक से गुजरता हुआ काफी हाउसों की बहसों में भी शामिल हो गया था। भारत पाकिस्तान के मध्य नये युद्ध की अटकलें लग रही थीं और कितने प्रबुद्ध राजनीतिकों और पत्रकारों को यह (दुर्भाग्यपूर्ण) दिन कुछ महीनों के अंतराल में ही दिखाई दे रहा था।

परंतु पाकिस्तान में यह उत्तेजना हमें कहीं नहीं दिखाई दी। लोगों के चेहरों पर हमें युद्धोन्माद के तनाव की जगह सहज मानवीय संवेदना नजर आयी। ऐसा नहीं कि लोग दो देशों के मध्य के इस तनाव में परिचित नहीं हैं परंतु पता नहीं क्यों हमे हर चेहरा इस तनाव को झुठलाता, इस से कतराता था, इस से बचने की दुआ करता हुआ नज़र आया।

दुआ की बात से मुझे एक और बात याद आती है। नयी दिल्ली के पाकिस्तानी दूतावास के एक कमरे से जब हम वीजा की मोहर लगे अपने पासपोर्ट ले कर चलने लगे तो दूतावास के एक अधिकारी ने पूछा—'पाकिस्तान में आप गुरुद्वारों के दर्शन के लिए तो जायेंगे ही?'

डॉ. सविंद्र सिंह उप्पल बोले—'गुरुद्वारों के दर्शन करने तो जरूर जायेंगे।'

उस अधिकारी ने अंदर तक भेद जाने वाली गहरी आंखों से हमें देखा और बोला—'वहां एक दुआ हमारी तरफ से भी कीजिएगा, हम में आपस में जंग न हो।'

पाकिस्तान में यही उद्गार हमें कितने ही व्यक्तियों से सुनने को मिले। इस्लामाबाद में पाकिस्तान सरकार के उच्च अधिकारियों ने हमारे लिए 'पंजा साहब' जाने की विशेष व्यवस्था की, क्योंकि वहां का वीजा हमारे पास नहीं था। यह निश्चित हुआ था कि वहां जाने के आज्ञापत्र के साथ ही एक अधिकारी हमारे साथ 'पंजा साहब' जायेगा, जिस से कि हमें कोइ असुविधा न हो । दूसरे दिन प्रातः हम सभी गृह मंत्रालय पहुंचे, मंत्रालय के एक डिप्टी सेक्रेटरी अपने कमरे मे सभी जरूरी आदेशपत्रों सहित हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने उस अधिकारी से हमारा परिचय कराया जिसे हमारे साथ जाना था। मंत्रालय के उक्त उपसचिव विभाजन से पूर्व दिल्ली के करोलबाग में रहते थे, इसलिए हम से मिल कर वह बहुत भावुक हो उठे थे। वह हमें छोड़ने के लिए

'लिफ्ट' तक आये और वहां मेरा हाथ पकड़-कर आंखों में आंसू भर बड़े विह्वल स्वर में बोले—'पंजा साहब में हमारी तरफ से भी दुआ कीजिएगा कि हम में फिर से जंग न हो?'

मैं और मेरे मित्र अपने देश के ऐसे तनिक भी अधिकार संपन्न या नीति निर्धारण में थोड़ा भी महत्त्व रखने वाले व्यक्ति नहीं थे जिन के चाहने या न चाहने से, दुआ या बद्दुआ से दोनों ही देशों के मध्य युद्ध होने या रुकने वाला हो। ये सूत्र तो दोनों ही देशों मे किन्हीं और हाथों मे हैं। हम तो लेखक के रूप में पाकिस्तान गये थे। मुझे याद है, दिल्ली में पाकिस्तानी दूतावास के अधिकारी ने हम से एक और बात कही थी कि जब हम पाकिस्तान से लौट कर आयें तो उस देश के विषय में कुछ अच्छा-अच्छा लिखें। पाकिस्तान में हमारा एक लेखक के रूप में अथवा सामान्य भारतीय के रूप में स्वागत सत्कार हुआ परंतु जो बात हमें सदा विह्वल करती रही, वह थी उस देश की सर्वसाधारण जनता की भारत से युद्ध न करने और भारत से अच्छे संबंध बनाने की सद्भावना की व्यापक अभिव्यक्ति।

शेखूपुरा जिले के जंडियाला शेरखां गांव में हम पंजाबी सूफी कवि सैयद वारिस शाह की मजार पर उर्स के अवसर पर श्रद्धांजलि अर्पित करने गये। वहां दूरदराज से कई हजार व्यक्ति आये हुए थे। कुछ भारतीय लेखकों के आगमन की सूचना पा कर वहां की भीड़ और भी बढ़ गयी थी। वहां के संस्मरणों को भूलाना मानवीय संवेदना को नकारने जैसा है। हमें अधिक से अधिक सुविधा पहुंचाने की दृष्टि से जैसे सारे गांव में होड़ सी लगी हुई थी। अनेक बूढ़ी औरतें हमें घेरकर हमारे घर बार और परिवार की हम से इस तरह कुशलक्षेम पूछ रही थीं, जैसे हम उसी गांव से निकलकर गये हों और एक वृद्धा बड़ी भरी आवाज में मेरे कंधे पर हाथ फेरती हुई बुदबुदा रही थी—उह वेला किन्ना चंगा से जदों असी रलके रहिंदे हुंदे सा (वह समय कितना अच्छा था जब हम मिलकर रहा करते थे)।

आमतौर पर किसी भी देश की अफसरशाही बहुत हृदयहीन होती है। भारत और पाक के मध्य पर्यटकों या यात्रियों के संबंध में जिस प्रकार का समझौता है, वह दोनों ही देशों के नागरिकों के लिए किसी यातना से कम नहीं है। दोनों ही देश एक-दूसरे देश के नागरिकों को दो या तीन स्थानों का ही वीजा देते हैं। जिस शहर का वीजा हो वहां पहुंचकर पुलिस कार्यालय में अपनी आमद दर्ज करानी होती है और जब उस शहर को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाना हो तो उसी कार्यालय से रवानगी का परवाना लेना होता है। यह सारी प्रक्रिया किसी भी अनजान व्यक्ति के लिए बेहिसाब पेचीदगियों से भरी होती है। इस दृष्टि से मुझे और मेरे साथियों को अधिक कष्ट नहीं उठाना पड़ा। उसका एक कारण तो यह था कि हमारे पाकिस्तानी लेखक बंधु (विशेष रूप से जनाब सिबतउल हसन जैगम) सदा हमारे साथ होते थे और स्वयं ही सारी कार्रवाई करते रहते थे, परंतु उससे भी आगे बढ़कर पुलिस अधिकारियों, गृहमंत्रालय के अधिकारियों तथा अन्य कर्मचारियों का इतना स्वागत और तत्परतापूर्ण रूख हमारे लिए

होता था कि समय-असमय वे हमारे लिए 'आमद-रवानगी' की कार्रवाइयां करते थे, इस कार्य को करते समय अत्यंत प्रसन्नता व्यक्त करते थे और हमारे लिए जलपान की भी व्यवस्था करते थे।

पाकिस्तानी जनता का यह सद्भाव न तो आकस्मिक है और न ही तात्कालिक। हमें बार-बार यह महसूस होता रहा कि भारत और पाकिस्तान के नाम से धरती ज़रूर बंटी है, दिल नहीं बंटे हैं। हमें लगा, हर पाकिस्तानी भारत आने के लिए तरसता है। वह दिल्ली, लखनऊ और बंबई जाना चाहता है। मुझे तो यह भी लगा कि आज की पाकिस्तानी युवा पीढ़ी के लिए भारत भ्रमण का आकर्षण यूरोप या अमेरिका के भ्रमण से बढ़कर है।

कुछ महीने पहले कुछ पाकिस्तानी लेखक हमारे निमंत्रण पर दिल्ली आए और हमारे मेहमान रहे। यहां से जाते समय उन सभी की आंखें नम थीं। उनके अनुभव भी लगभग हमारे जैसे थे। इन अनुभवों के मध्य जब दोनों देशों के युद्धोन्माद का समाचार मिलता है तो वह एकदम झूठा और बनावटी लगता है।

इसके बावजूद हम कई बार लड़ चुके हैं आगे नहीं लड़ेंगे इसकी भी कोई गारंटी नहीं है।

18-24 अप्रैल, दिनमान, 1982

करिश्मे की राजनीति फिर कामयाब हुई

5 जून को अमृतसर के स्वर्ण मंदिर में जो सैनिक कार्रवाई की गई उसकी खूब वाहवाही हो रही है। वक्तव्यों की झड़ी लगी है। संपादकीय लेख एक स्वर में इस कदम की सराहना करते हुए प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी की जयजयकार कर रहे हैं। देश एक बहुत बड़े संकट और विदेशी षड्यंत्र का शिकार होने से बच गया है। इसका भरपूर संतोष व्यक्त किया जा रहा है। दूरदर्शन और आकाशवाणी जैसे सरकारी प्रचार माध्यम वे सारे करतब दिखा रहे हैं, जो ऐसे समय कोई भी सरकार अपने कृत्य को न्यायोचित ठहराने के लिए करवाती है। देश की अखंडता, विदेशी षड्यंत्र, हिंसा की राजनीति आदि उन सभी मुहावरों का इस्तेमाल हो रहा है जो ऐसे अवसरों पर कोई भी चतुर शासनतंत्र इसलिए करता है कि जनता के दिलोदिमाग को अपने प्रचार के कोहरे से इस सीमा तक भर दे कि वह और कुछ सोच ही न सके।

जनता की स्मरण शक्ति बहुत कमजोर होती है, परंतु अपने देश के राजनेताओं, बुद्धिजीवियों और पत्रकारों की स्मरणशक्ति भी इतनी दुर्बल होगी, यह बात निश्चित ही आश्चर्य में डालने वाली है।

ठीक नौ वर्ष पहले, इस जून के महीने में (26 जून, 1975) इंदिरा गांधी ने तत्कालीन राष्ट्रपति द्वारा घोषित आपातकाल के पश्चात् राष्ट्र को संबोधित करते हुए जो कहा था, उसे आज के संदर्भ में रखकर देखना बहुत रोचक हैं। उस समय भी उन्होंने उन सभी मुहावरों का इस्तेमाल किया था जो वह आज कर रही है : ''आप उस गहरे और व्यापक षड्यंत्र से परिचित हैं जो लगातार उस समय से पनप रहा है जब से मैंने भारत के सर्वसाधारण स्त्री-पुरुषों के हित के लिए अनेक प्रगतिशील उपाय लागू करने शुरू किए। चुनी हुई सरकारों को काम नहीं करने दिया जा रहा है...आंदोलन,

हिंसा भड़का रहे हैं...ललित नारायण मिश्र की क्रूर हत्या से सारा देश भौंचक्का रह गया है। भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश पर हुआ सांघातिक हमला अत्यंत निंदनीय है। कुछ लोग देश की सेना और पुलिस को बगावत के लिए भड़का रहे हैं...विघटनाकारी शक्तियां खुलकर खेल रही हैं...सांप्रदायिक भावनाओं को भड़काया जा रहा है, जिससे हमारी एकता खतरे में पड़ गई है। हमने दीर्घकाल तक इन गतिविधियों को देखा है। कोई सरकार कब तक यह सब बरदाश्त कर सकती है और देश की स्थिरता को खतरे में पड़ने दे सकती है? यह हमारा सर्वोच्च कर्त्तव्य है कि देश की एकता और स्थिरता की रक्षा की जाए...राष्ट्र की अखंडता कड़ी कार्रवाई की मांग करती है।''

ये कुछ बातें नौ वर्ष पहले श्रीमती गांधी ने कही थीं। अपने प्रसारण के अंत में उन्होंने कहा था : ''मुझे देश के सभी भागों और सभी वर्ग के लोगों से सद्भवना के जो संदेश मिल रहे हैं, उन्होंने अभिभूत कर दिया है।''

आज फिर श्रीमती गांधी यही कुछ कह रही हैं। आज भी उन्हें अभिभूत कर देने वाले असंख्य संदेश मिल रहे होंगे। उस समय उन्हें एक चित्रकार ने दुर्गा के रूप में चित्रित किया था। कुछ चारण लेखक उनके लिए दुर्गा राग गाने में तन्मय हो गये थे। आज फिर से उन्हें दुर्गा कहा जा रहा है। उस समय भी उन पर देवत्वारोपण हुआ था। आज फिर वही हो रहा है। बस कमी एक देवकांत बरुआ की है, जो आकर फिर से कहे, इंदिरा ही भारत है।''

श्रीमती गांधी की राजनीति करिश्मे की राजनीति है। कहा जाता है कि जब जितना गहरा संकट होता है इंदिरा जी की निष्पत्ति उतनी ही उत्तम होती है। उस समय वह करिश्मा करती हैं। चारों ओर वाहवाही गूंज उठती है। वर्षों से डंड पेल रहे विरोधी दल भौंचक्के रह जाते हैं और लोकसभा का दो तिहाई बहुमत चुपचाप उनकी झोली में आ पड़ता है। सन् 1969 में कांग्रेस के तथाकथित सिंडिकेट को धूल चटाते समय, राष्ट्रपति पद के लिए अपनी ही पार्टी के अधिकृत उम्मीदवार को हराकर अपने द्वारा नामांकित उम्मीदवार को सफल बनाते समय, बंगलादेश के युद्ध के समय, अणु-शक्ति के परीक्षण के समय उन्होंने करिश्मे किए। नौ वर्ष पूर्व आपातकाल की घोषणा भी एक करिश्मा थी। परिवार नियोजन कार्यक्रम में उनके सुपुत्र (स्वर्गीय) संजय गांधी के उत्साहातिरेक के कारण 1977 के चुनावों में उन्हें पराजय का मुंह देखना पड़ा था, परंतु जनता पार्टी की खिचड़ी सरकार की आपसी फूट और निकम्मी नीतियों ने उन्हें फिर एक करिश्मा करने की सुविधा दे दी।

अब 1985 के आम चुनावों के लिए उन्हें एक करिश्मे की तलाश थी।

पंजाब में अकाली दल को अपनी राजनीतिक और धार्मिक मांगों की पूर्ति के लिए आंदोलन चलाते हुए लगभग दो वर्ष हो गए हैं। इस बीच अकाली प्रतिनिधियों और सरकार के बीच कितनी बार समझौता वार्ता हुई, कितनी बार विरोधी दलों को भी इस बातचीत में सम्मिलित किया गया। प्रत्येक बार यह लगा कि अब बातचीत किसी समझौते तक पहुंच जाएगी, परंतु हर बार बातचीत बिना कोई निर्णय लिए टूटती

रही और सरकार अपने प्रचार माध्यमों द्वारा अकाली दल को इसके लिए दोषी ठहराती रही। मई, 1984 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की पंजाब शाखा के सचिव अवतार सिंह मल्होत्रा की ओर से लिखित और प्रकाशित पुस्तक 'पंजाब को बचाओ! भारत को बचाओ' के पृष्ठ 5 की ये पंक्तियां ध्यान देने योग्य हैं। 'मध्यस्थों तथा अधिकारियों के जरिये और बाद में एक त्रिपक्षीय बैठक में वार्ताओं ने एक बार आशाएं बुलंद कीं। दरअसल ऐसा प्रतीत होता है कि इन वार्ताओं के फलस्वरूप जो समझौते तैयार हुए उन्हें तीन मौकों पर प्रधानमंत्री ने आखिरी मिनट पर रद्द कर दिया। इस सबसे किसी ने लाभ उठाया तो उग्रवादियों ने। ढीलढाल और गतिरोध की जान-बूझकर चलाई गई इस नीति का एक ही कारण हो सकता है; वह यह कि प्रधानमंत्री स्थिति को चुनावी राजनीति के हिस्से के रूप में इस्तेमाल करना चाहती थीं और आगामी लोकसभा चुनावों के लिए असम और पंजाब की अशांत हालत का लाभ उठाना चाहती थीं। यह समझा गया कि अकालियों से सख्ती से निपटने से उन्हें विशाल हिंदीभाषी इलाके में मदद मिलेगी। खुद पंजाब के भीतर इससे हिंदू और हरिजन वोटों को, कांग्रेस (इ) के गिर्द और भी मजबूती से जुटाने में सहायता पहुंचेगी। उग्रवादियों को लुभाने-फुसलाने की नीति को भी लगातार इस्तेमाल किया जा रहा था, ताकि अकाली आधार को विभाजित कर दिया जाए।'

उग्रवाद को किसने शह दी?

आज यह तर्क दिया जा रहा है कि अमृतसर स्वर्ण मंदिर में उग्रवादियों की गतिविधियां इतनी बढ़ गयी थीं और पंजाब में हिंसा का जो दौर चल रहा था, उसमें दरबार साहब में सैनिक कार्रवाई के अतिरिक्त और विकल्प नहीं बचा था, परंतु इन उग्रवादी गतिविधियों को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष बढ़ावा किसने दिया? पंजाब की सांप्रदायिक और उग्रवादी राजनीति में संत भिंडरांवाले का नाम धूमकेतु बन कर उभरा। जिस व्यक्ति को छह वर्ष पूर्व बहुत थोड़े से व्यक्ति जानते थे वही एकाएक देश-विदेश का बहुचर्चित नाम बन गया। पंजाब में अकाली जनता सरकार के दिनों में कांग्रेस (इ) के वरिष्ठ नेताओं ने उसे अपने सर्वाधिक प्रबल प्रतिपक्षी अकाली दल का प्रतिरोधी बनाकर उभारा। 24 अप्रैल, 1980 को निरंकारी बाबा गुरुबचन सिंह की हत्या की गयी। 9 सितंबर, 1980 को लाला जगत नारायण को दिन-दहाड़े गोली मार दी गयी। किसी भी सरकार के लिए (सचेत और जागरूक होना जिसकी पहली और अनिवार्य शर्त है) ये भविष्य की ओर संकेत करने वाली अत्यंत गंभीर घटनाएं थीं। किन्तु सरकार ने क्या किया? यह नहीं कि, वह कुछ कर नहीं सकती थी, या वास्तविकता यह है कि उसकी नीयत साफ नहीं थीं। उस समय उग्रवाद एक फुंसी थी। पुलिस अधीक्षक श्री अटवाल की हत्या तक वह एक फोड़ा बन गयी थी, किंतु श्रीमती गांधी इसे नासूर बनने देना चाहती थीं। फुंसी-फोड़ों के इलाज से करिश्मा पैदा नहीं होता। नासूर काटने

से डाक्टर की वाहवाही होती है, उसका नाम होता है, उसकी प्रैक्टिस बढ़ती है।

जरनैलसिंह भिंडरांवाले का नाम आज उग्रवाद और आतंकवाद का सबसे चर्चित नाम बन गया है, परंतु इस नाम को इस परिणति तक कदम ब कदम बढ़ाने में किसने सहायता की। 13 सितम्बर, 1981 को लाला जगत नारायण की हत्या के आरोप में उनकी गिरफ्तारी के वारंट जारी हुए। 16 सितंबर को उनसे वारंट तामील कराये गये और फिर उन्हीं की दी हुई तिथि पर उन्हें 20 सितंबर को अमृतसर के पास मेहता चौक में गिरफ्तार किया गया। क्या कभी अपराधी को उसकी अपनी दी हुई तिथि पर गिरफ्तार किया जाता है? उस दिन उनकी गिरफ्तारी को 'हीरो' की गिरफ्तारी का नाटक किसने बनाया? वहां उस गिरफ्तारी के नाटक में शामिल होने के लिए लाखों लोग मेहता चौक के गुरुद्वारे के बाहर जमा थे। गिरफ्तारी के साथ ही वह भीड़ हिंसक हो उठी थी। परिणामस्वरूप नौ व्यक्ति उस दिन पुलिस की गोलियों के निशान बने।

उस अवसर पर अनेक अकाली नेताओं ने भाषण दिये थे, परंतु इंदिरा गांधी के उस समय के सबसे चहेते सिख नेता जत्थेदार संतोखसिंह ने उस अवसर पर भिंडरांवाले के समर्थन में जो भाषण दिया था वह अपनी उग्रता में अन्य किसी भी भाषण को मात देने वाला था और जब 16 अक्तूबर को फिरोजपुर जेल से भिंडरांवाले को बिना शर्त रिहा कर दिया गया तो जेल द्वार पर उनका स्वागत करने वालों में जत्थेदार संतोखसिंह भी थे।

संत जरनैलसिंह भिंडरांवाले की इस गिरफ्तारी और रिहाई से किस की प्रतिष्ठा बढ़ी? यदि उनके खिलाफ सबूत नहीं थे तो उन्हें गिरफ्तार क्यों किया गया और यदि सबूत थे तो उन्हें बिना शर्त रिहा क्यों किया गया? भिंडरांवाले की गिरफ्तारी ऐसे 'हीरो' की गिरफ्तारी थी और रिहाई एक 'सुपर हीरो' की रिहाई थी। क्या प्रधानमंत्री को उनके गुप्तचर विभाग ने यह नहीं बताया था कि आतंकवाद के इस प्रतीक की छवि कितनी तेजी से उभरती जा रही है और उसके कितने घातक परिणाम होंगे?

अब कहा जा रहा है कि स्थिति हाथ से बाहर निकल चुकी थीं पंजाब का नागरिक प्रशासन टूट-फूट गया था। स्वर्ण मंदिर में सेना भेजने के अलावा कोई चारा नहीं था, परंतु क्या श्रीमती गांधी से यह पूछा जा सकता है कि उन्होंने किसी भी वक्तव्य में खुलकर भिंडरांवाले को उनकी कारगुजारियों के विरुद्ध चेतावनी देना तो दूर उनके नाम का भी उल्लेख क्यों नहीं किया? क्या कोई राजीव गांधी ये यह पूछ सकता है कि सैनिक कार्रवाई से केवल कुछ दिन पूर्व चंडीगढ़ में आपने यह क्यों कहा कि संत भिंडरांवाले केवल एक धार्मिक नेता हैं और उनकी कोई राजनीतिक आकांक्षा नहीं है? अब सरकार श्वेतपत्र प्रकाशित कर रही है और कह रही है जरनैलसिंह भिंडरांवाले के नेतृत्व में स्वतंत्र खालिस्तान के निर्माण की योजना बनायी गयी थी। इस प्रकार संपूर्ण देश को यह विश्वास दिलाया जा रहा है कि सरकार ने एक बहुत बड़े षड्यंत्र का पर्दाफाश किया है...करिश्मा-दर करिश्मा।

स्वर्ण मंदिर परिसर में मिले हथियारों को बार-बार दिखाने, अखबारों में उनकी

बढ़चढ़ रिपोर्ट और तस्वीरें छापने की होड़ लगी हुई है।

जिस मात्रा में स्वर्ण मंदिर परिसर में हथियार मिले हैं, जिस ढंग की आतंकवादियों ने जंगी मोर्चाबंदी की थी क्या इसकी कोई खबर सरकार को नहीं थी और यदि सचमुच सरकार को इसकी खबर नहीं थी तो क्या ऐसी निकम्मी, लापरवाह और उनींदी सरकार को शासन में बने रहने का नैतिक अधिकार है? क्या ऐसी सरकार को, जो अपनी शर्मनाक असावधानी का बढ़-चढ़कर प्रचार करके वाहवाही लूटने की कोशिश कर रही है, तुरंत इस्तीफा नहीं दे देना चाहिए? उन सभी नेताओं, पत्रकारों और भीड़ के बौराये हुए लोगों को जो श्रीमती गांधी को उनके 'साहसिक' कदम के लिए गुणानुवाद कर रहे हैं, क्या उन्हें और उनकी सरकार को इस निकम्मेपन के लिए प्रताड़ित नहीं करना चाहिए?

इसे विधि की विडंबना ही कहना चाहिए कि जिन तथ्यों के कारण श्रीमती गांधी की सरकार को भरपूर निंदा मिलनी चाहिए थी वही तथ्य उन्हें भरपूर सराहना दिलवा रहे हैं। यही है वह करिश्मा जिसमें इंदिरा गांधी बेजोड़ हैं।

यह कोई नहीं मानेगा कि श्रीमती गांधी इन तथ्यों से परिचित नहीं थीं। आसन्न संकट का उन्हें ज्ञान नहीं था, वह बड़ी साफ नीयत से समस्या को सुलझाना चाहती थीं। देश के सभी विपक्षी दलों ने बार-बार यह कहा कि वह पंजाब को अपनी चुनाव रणनीति का मोहरा बना रही हैं। स्वयं उनकी पार्टी के अनेक वरिष्ठ नेताओं ने अपनी व्यक्तिगत बातचीत में यह बात अनेक बार कहीं 'आपको पंजाब की चिंता होगी। हमें आगामी चुनाव की चिंता है, क्योंकि हमारी नेता, नेता के पुत्र और हमारा भविष्य इस चुनाव के साथ बुरी तरह जुड़ा हुआ हैं'।

पंजाब की समस्या को लेकर दिल्ली के प्रमुख नागरिक और बुद्धिजीवी गत दो वर्षों में बार-बार यह अपील करते रहे हैं कि पंजाब समस्या को पहले राजनीतिक दृष्टि से हल कीजिए। फिर, सभी का सहयोग लेकर (सिखों का विशेष रूप से)। उग्रवादियों को व्यापक सिख समाज से अलग थलग करके, उनके प्रति कड़ा रुख अपनाइए। 2 जून को देश के सभी समाचार पत्रों में दिल्ली के पचास से अधिक लेखकों, पत्रकारों, बुद्धिजीवियों की अपील प्रकाशित हुई, जिसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया कि सरकार उग्रवादियों के साथ सख्ती से निपटे, परंतु उसी के साथ उदारपंथी अकालियों की मांगों को स्वीकार कर लें, क्योंकि वे सभी पंजाबियों की मांगें हैं।

इन सभी अपीलों में से श्रीमती गांधी अपने अनुकूल एक बात चुनती रहीं, कि उग्रवादियों से सख्ती से निपटा जाये, परंतु दूसरी ओर अधिक महत्वपूर्ण बात, कि पंजाब की राजनैतिक समस्या का समाधान किया जाये, को वे रद्दी की टोकरी में फेंकती गयीं। अब वह बड़ी चतुराई से कह रहीं हैं कि देश के सभी लोग चाहते थे कि उग्रवादियों से सख्ती से निपटा जाये। इसलिए सेना को सख्त कार्रवाई करने के लिए स्वर्ण मंदिर परिसर में भेजा गया। हर चतुर नेता कितने भी विरोधी वक्तव्य में अपने मतलब की बात निकाल लेता है।

स्वर्ण मंदिर में की गयी सैनिक कार्रवाई का दूरगामी परिणाम क्या होगा, यह तो भविष्य ही बताएगा, परंतु आज की तात्कालिक सफलता पर जो लोग गाल बजा रहे हैं वे दिहाड़ी पर जीने और संतुष्ट होने वाले लोग हैं, जिन्हें न बीता हुआ कल याद रहता है, न आने वाले कल की चिंता होती है ऐसे लोग करिश्मों की दुनिया में जीते हैं और हर करिश्मे में चकाचौंध होकर आंखें मिचमिचाते हुए तालियां बजाते हैं। इन्हीं लोगों के लिए श्रीमती गांधी ने एक बार फिर कश्मिा कर दिखावा है। कुछ महीने बाद होने वाले चुनाव में उन्हें इसका लाभ तो मिलेगा ही। किस कीमत पर? सत्ता राजनीति को इसकी कभी चिंता नहीं होती।

(दिनमान् 24, 30 जून, 1984)

सिख मतदाता का मन बदल रहा है

सिखों में वोट राजनीति का ढांचा हमेशा दोहरा रहा है—पंजाब के अंदर और पंजाब से बाहर। पंजाब में अकाली दल को सिखों की प्रतिनिधि संस्था के रूप में देखा जाता रहा है, इसलिए अधिसंख्य सिख वोट आमतौर पर अकाली दल के उम्मीदवारों को मिलते रहे हैं। पंजाब के सिखों में कांग्रेस की पकड़ भी काफी गहरी और पुरानी है। उसकी अपनी एक परंपरा है। इसलिए सिखों के काफी वोट, विशेष रूप से शहरी सिखों के, कांग्रेस को भी मिलते रहे हैं। गत दो दशकों में वामपंथी दल भी पंजाब की ग्रामीण जनता में अपना कुछ आधार बनाने में सफल हुए, इसलिए कम्युनिस्ट पार्टी और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी भी काफी सिख मत प्राप्त करती रही है। जनसंघ (अब भारतीय जनता पार्टी), सोशलिस्ट पार्टी (अब जनता पार्टी) जैसी संस्थायें सिखों में अपना जनाधार बनाने में अधिक सफल नही हुईं।

पंजाब से बाहर का ढांचा सदा ही इससे भिन्न रहा। सिखों की अस्सी प्रतिशत आवादी पंजाब में है और कुल बीस प्रतिशत शेष देश में है। पंजाब से बाहर लोकसभा का एक भी निर्वाचन क्षेत्र ऐसा नहीं है जहां सिख बहुमत में हो। हां, ऐसे कुछ क्षेत्र हैं जहां उनकी जनसंख्या किसी उम्मीदवार को सफल या असफल बनाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा पाती है। शेष भारत की सिख जनता में अकाली दल का सम्मान तो रहा है, परंतु वोट देते समय उन्होंने कभी अकाली दल के आदेशों को विशेष महत्त्व नहीं दिया। यहां वे स्थानीय संबंधों और आवश्यकताओं के आधार पर ही अपने मताधिकार का प्रयोग करते रहे हैं और यह मताधिकार प्रायः कांग्रेस के पक्ष में रहा है।

परंतु लोकसभा के इन चुनावों के लिए सिखों की दृष्टि से परिदृश्य पूरी तरह

बदला हुआ है। पंजाब में चुनाव हो नहीं रहे हैं और संपूर्ण देश में संभवतः सभी प्रमुख राजनैतिक दलों के उम्मीदवारों में कांग्रेस (इं) के उम्मीदवार बूटासिंह को छोड़कर एक भी सिख प्रत्याशी नहीं है।

शेष भारत में सदा ही कांग्रेस का समर्थन करने वाले सिख इस बार क्या करेंगे? नवंबर के प्रथम सप्ताह में हिंदी भाषी क्षेत्रों में सिखों के साथ जो नृशंसता बरती गयी है, उसके घाव अभी बहुत ताजे हैं। यह तथ्य कौन नहीं जानता कि इस व्यापक हत्याकांड और लूटपाट के पीछे किस राजनैतिक दल का हाथ था।

मेरे एक मित्र हैं। विभाजन से पहले वह पंजाब के एक प्रमुख नगर में कांग्रेस कमेटी के सचिव थे। जीवन भर वह कांग्रेस के समर्पित कार्यकर्त्ता रहे, अनेक पदों पर भी रहे, सदा सफेद पगड़ी बांधी और खद्दर के कपड़े पहने ऐसे अनेक लोग हैं। इनकी स्थिति सबसे दयनीय और संभ्रम से भरी हुई है। मेरी उपस्थिति में ही उनसे दिल्ली में इस बीच कितनी ही बार सिखों ने पूछा है कि इस बार हम किसे वोट दें। वह चुप रह जाते हैं। उनकी मानसिकता में बसा हुआ वर्षों के कांग्रेस प्रेम का घर अभी भी रीता नही हुआ है, परंतु इन दर्दनाक घटनाओं के बाद 'कांग्रेस को वोद दो' कहने के लिए उनसे शब्द नहीं संजोये जाते।

अकाली दल ने खुलेआम घोषणा कर दी है कि सभी सिखों को कांग्रेस (इं) के विरोध में अपना मत देना चाहिए। दिल्ली में कांग्रेस (इ) का पिछलग्गू अकाली दल (मास्टर तारासिंह ग्रुप) भी इतनी शक्ति नहीं जुटा पा रहा है कि वह भारतीय जनता पार्टी की हिंदू सांप्रदायिकता का हौवा दिखाकर सिखों से यह कह सके कि कांग्रेस (इं) के पक्ष में मतदान करो। इस समय सिखों में वह सिख सबसे अधिक निषिद्ध समझा जायेगा जो उनसे कांग्रेस को वोट देने को कहेगा।

जनसंघ या भारतीय जनता पार्टी की छवि सिखों के मध्य कभी अच्छी नहीं रही, इसे सदैव सिख विरोधी संस्था समझा गया । भाजपा ने भी कभी सिखों के मध्य अपनी छवि सुधारने की ईमानदार कोशिश नहीं की। इसलिए दिल्ली में और दिल्ली से बाहर बहुत से सिखों के मन में एक बात यह भी आयी है कि वे इस चुनाव में किसी भी संस्था को वोट नहीं देंगे, घर में ही बैठेंगे। ऐसा सोचने वाले शायद यह सोचते हैं कि इस प्रकार वे कांग्रेस के प्रति अपना रोष व्यक्त कर सकेंगे, परंतु इस बीच सिखों में एक युवा वर्ग बहुत सक्रिय हो उठा है जो घर घर जाकर सिख मतदाताओं को यह समझा रहा है कि वोट न देना कांग्रेस (इं) की मदद करना है, इसलिए उन्हें विपक्षी दल के सबसे सशक्त उम्मीदवार को अपना वोट देना ही चाहिए।

इस बीच सिखों को सबसे अधिक निराशा राजीव गांधी के वोट क्लब पर दिये गये 19 नवंबर के भाषण से हुई है। उनके मुंह से असंख्य पीड़ित सिखों के लिए हमदर्दी के दो शब्द भी नहीं निकले। हां, उन्होंने यह कहकर कि जब बड़ा पेड़ गिरता है तो धरती हिलती ही है। नवंबर के प्रथम सप्ताह की नृशंस घटनाओं पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी है।

मेरे एक निकट संबंधी वर्षों से जनसंघ (भाजपा) के कट्टर विरोधी हैं और सदा ही अपने संपूर्ण परिवार सहित कांग्रेस का समर्थन करते रहे हैं, कल ही वह हंसते हुए बोले—'अब तो हम मार मार कर जनसंघ (उनका मतलब भाजपा) के समर्थक दिये गये है।'

इन स्थितियों में सिख मतदाता अपना अंतिम फैसला किसके हक में नहीं करेगा, इतना तो स्पष्ट नजर आता है, सिर्फ उसके आंकड़े भर देखना शेष है।

(दिनमान, 9-15, दिसम्बर, 1984)

कब तक भुनाया जाएगा आनन्दपुर साहब प्रस्ताव

आठवीं लोकसभा के चुनाव लड़े गये और कांग्रेस (इ) द्वारा बड़ी धूम से जीते गये। जीत भी कैसी? अभूतपूर्व। यदि यह कांग्रेस सचमुच उस कांग्रेस की वारिस है जिसके नेता के रूप में पं. जवाहरलाल नेहरू देश के 17 वर्ष तक प्रधानमंत्री रहे थे, तो ऐसा बहुमत उन्हें भी नहीं मिला था।

इंका की इस जीत के कारणों को अनेक प्रकार से विश्लेषित किया जा रहा है, परन्तु एक बात पर लगभग सभी लोग सहमत हैं कि देश की एकता और अखण्डता को इस बार जितने प्रभावी ढंग से चुनाव का मुद्दा बनाया गया, उतना पहले कभी नहीं। इस बार गरीबी, बेरोजगारी, सामाजिक न्याय, कमजोर वर्गों की खुशहाली जनसंख्या विस्फोट, नसबंदी, नशाबंदी आदि कोई मुद्दा या सवाल किसी भी दल द्वारा अपनी रंगत नहीं बना सका। देश की एकता और अखण्डता के खतरे की ऐसी मूसलधार बारिश श्री राजीव गांधी और उनकी कम्प्यूटर मंडली ने की कि बाकी के सारे मुद्दे मुंह-सिर ढंगकर खोहों में घुस गए और विपक्षी दल अपने बचाव की कमजोर छतरियों को दोनों हाथों में थामे इधर से उधर भागते फिरे।

और देश की एकता और अखण्डता को बेहिसाब खतरा किससे था? 1962 वाले चीन से नहीं, 1965 और 1971 वाले पाकिस्तान से नहीं। भारतीय मूल के हजारों तमिलों को मौत के मुंह में धकेलने वाले श्रीलंका से भी नहीं। उसे खतरा था, आनन्दपुर साहब प्रस्ताव से, इस प्रस्ताव को प्रस्तुत करने वाले अकाली दल से और अकाली दल जिन सिखों का प्रतिनिधित्व करने का दावा करता है उन सिखों से।

आनन्दपुर साहब प्रस्ताव है क्या, इसे चुनाव का मुद्दा तो बनाया गया, परन्तु

कभी इस पर बहस नहीं गयी। आज भी जब नयी सरकार के प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी पंजाब की समस्या को हल करने की दृष्टि से अपनी काफी आकुलता व्यक्त कर रहे हैं, उनके दल की जीती हुई टीम आनन्दपुर साहब प्रस्ताव को फुटबाल बनाकर खुले मैदान में अकेले ही किक पर किक लगाए चली जा रही है।

आइए देखें आख़िर यह प्रस्ताव है क्या?

शिरोमणि अकाली दल की कार्यसमिति ने 11 दिसंबर, 1972 को श्री सुरजीत सिंह बरनाला की अध्यक्षता में दल की नीति और कार्यक्रम निर्धारित करने के लिए एक उपसमिति का गठन किया। इस उपसमिति के अन्य सदस्य थे सर्व श्री गुरुचरण सिंह तोहड़ा, जीवन सिंह उमरा नंगल, गुरमीत सिंह, डॉ. भाग सिंह, श्री बलवंत सिंह, ज्ञान सिंह राडे वाला, प्रेम सिंह लालपुरा, जसविंदर सिंह बराड, भाग सिंह, मेजर जनरल गुरबख्श सिंह बधनी और श्री अमर सिंह अम्बालवी।

इस उपसमिति की ग्यारह बैठकें हुईं। अंत में इस समिति द्वारा नीतियों और कार्यक्रमों का जो मसौदा तैयार किया गया उसे गुरु गोविन्द सिंह के क्रीडास्थल आनन्दपुर साहब में अकाली दल की सम्पूर्ण कार्य समिति द्वारा 16-17 अक्टूबर, 1973 को स्वीकार किया गया। अनेक वर्षों तक अकाली दल के नेताओं तथा अन्य व्यक्तियों में इस मसौदे पर बातचीत और वाद-विवाद होता रहा। सरदार कपूर सिंह तथा डॉ. भगत सिंह ने मूल मसौदे में कुछ जोड़-घटाकर अपने-अपने अलग मसौदे भी तैयार किए। इसी बात को आधार बनाकर कुछ लोग कहते हैं कि इस प्रस्ताव के तीन-तीन प्रारूप हैं, किसे प्रामाणिक माना जाए किसे नहीं, परन्तु अकाली दल की कार्यसमिति ने स. कपूर सिंह और डॉ. भगत सिंह द्वारा तैयार मसौदे स्वीकार नहीं किए। अंत में 28 अक्टूबर 1978 को लुधियाना में हुए शिरोमणि अकाली दल के अठारहवें अखिल भारतीय अधिवेशन में 12 प्रस्तावों के रूप में इस मसौदे को स्वीकार किया गया। ये 12 प्रस्ताव इस प्रकार थे–

प्रस्ताव-1

शिरोमणि अकाली दल अनुभव करता है कि भारत विभिन्न भाषाओं, धर्मों और संस्कृतियों की एक संघात्मक तथा गणतंत्रात्मक भौगोलिक विद्यमानता (एनटिटी) है। धार्मिक तथा भाषाई अल्पसंख्यकों के मूलभूत अधिकारों की रक्षा करने, जनतांत्रिक परम्पराओं की मांगों को पूरा करने और आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करने के लिए यह बहुत जरूरी है कि भारतीय संविधान के ढांचे को केंद्र और राज्य के संबंधों तथा अधिकारों को ऊपर लिखे सिद्धान्तों और उद्देश्यों की दृष्टि से परिभाषित करते हुए, सही संघात्मक रूप दिया जाए।

लोकनायक श्री जयप्रकाश नारायण की 'सम्पूर्ण क्रान्ति' की अवधारणा भी सत्ता के प्रगतिशील विकेन्द्रीयकरण पर आधारित है। देशवासियों के सम्मुख सत्ता के केन्द्रीयकरण

की प्रक्रिया का चरमोत्कर्ष उस समय आया जब कांग्रेस शासन के दौरान संविधान का बार-बार संशोधन किया गया और आपातकाल की घोषणा करके सभी नागरिकों के मूलभूत अधिकारों का हनन कर दिया गया। उस समय शिरोमणि अकाली-दल द्वारा चिरसमर्थित-सत्ता के विकेन्द्रीकरण का कार्यक्रम—जनता पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी, अ. भा. द्रमुक आदि दलों द्वारा खुलेतौर पर स्वीकार तथा ग्रहण किया गया।

शिरोमणि अकाली दल इस सिद्धान्त पर सदा ही दृढ़ता से खड़ा रहा है, इसीलिए उसने बटाला तथा आनन्दपुर साहब के अकाली अधिवेशनों में संघीय अवधारणा के अनुकूल राज्यों की स्वायत्तता के सिद्धान्तों की पुष्टि की है।

शिरोमणि अकाली दल जनता सरकार से (उस समय केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार थी) आग्रह करता है कि वह विभिन्न भाषाई और सांस्कृतिक वर्गों, धार्मिक अल्पसंख्यकों तथा करोड़ों लोगों की आवाज की ओर पूरा ध्यान दे और देश के संवैधानिक ढांचे को यथार्थ और अर्थपूर्ण संघीय सिद्धान्तों के अनुरूप नया रूप दे जिससे देश की अखंडता और राष्ट्रीय एकता के किसी भी संकट को निवारण हो सके। इससे सभी राज्य अपनी सत्ता का अर्थपूर्ण उपयोग करते हुए भारतीय जन की प्रगति और समृद्धि में अपनी उपयोगी भूमिका निभा सकेंगे।

प्रस्ताव-2

शिरोमणि अकाली दल की यह विशाल सभा मांग करती है कि—

(क) चंडीगढ़, जिसे पंजाब की राजधानी के रूप में मूल रूप में उसारा गया था, पंजाब को सौंप दिया जाए।

(ख) शि. अ. द. की काफी समय की यह मांग मान ली जाए कि भाषाई विशेषज्ञों द्वारा पहचाने गये पंजाबी भाषी क्षेत्र गांव को आधार बनाकर, पंजाब में सम्मिलित कर दिए जाएं।

(ग) हेडवर्क्स का नियंत्रण पंजाब में ही बना रहे और यदि आवश्यक हो तो पुनर्गठन धारा में संशोधन किया जाए।

(घ) आपातकाल के दौरान रावी-व्यास पानी के बंटवारे के संबंध में श्रीमती इंदिरा गांधी द्वारा दिया गया मनमाना और अन्यायपूर्ण फैसला सर्वस्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर संशोधित किया जाए, जिससे पंजाब को न्याय मिल सके।

(ङ) सिखों की विशेष क्षमता और समरोचित गुणों को ध्यान में रखते हुए सेना में उनकी वर्तमान संख्या के अनुपात को बनाए रखा जाए।

(च) उत्तरप्रदेश के तराई क्षेत्र में भूमि सुधारों के नाम से अधिवासियों पर जो ज्यादितियां की जा रही हैं उन्हें रोका जाए और उसके लिए अधिकतम भूमि कानून में केंद्रीय निर्देशों के अनुसार समुचित संशोधन किए जाएं।

प्रस्ताव-3 (आर्थिक नीति)

शिरोमणि अकाली दल की आर्थिक नीतियों और कार्यक्रमों का मुख्य प्रेरणा स्रोत श्री गुरुनानक देव और श्री गुरु गोबिन्द सिंह जी की धर्मनिरपेक्ष, जनतान्त्रिक और समाजवादी अवधारणाएं हैं। हमारा आर्थिक कार्यक्रम तीन मूल सिद्धान्तों पर आधारित है–

(1) श्रम का सम्मान

(2) ऐसा आर्थिक तथा सामाजिक ढांचा जिससे समाज के गरीब और दलित वर्ग ऊपर उठ सकें।

(3) पूंजीपतियों के हाथों में आर्थिक और राजनीतिक सत्ता के एकत्रीकरण का निरन्तर विरोध।

शिरोमणि अकाली दल की आर्थिक नीति और कार्यक्रम बनाते समय आनन्दपुर साहब प्रस्ताव में इस बात पर विशेष बल दिया था कि भारत में कांग्रेस शासन के तीस वर्षों में पूंजीपतियों की भारत की अर्थव्यवस्था पर जो इजारेदारी ठोसी गई है उसे तोड़ा जाए। इस इजारेदारी के कारण केन्द्रीय सरकार ने मुगल साम्राज्यवाद की भांति सम्पूर्ण सत्ता अपने हाथ में ले ली है। इसके कारण राज्यों की आर्थिक प्रगति में रूकावट उत्पन्न हुई और जनता के सामाजिक और आर्थिक हितों पर चोट पहुंची। शिरोमणि अकाली दल गुरु नानक देव के इन शब्दों की पूर्ति के लिए सिख जीवन पद्धति पर पुनः आग्रह करता है–

घाल खाए किछु हत्थहुं देइ,
नानक राह पछावे सेइ।।

(जो व्यक्ति मेहनत करके कमाता है और उसमें से कुछ देता है, वही सही मार्ग को पहचानता है)। इस जीवन दृष्टि के तीन अंग हैं–

(1) किरत करना (हाथ से काम करना)

(2) बांट कर खाना

(3) नाम जपना (प्रभु स्मरण)

शिरोमणि अकाली दल केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकार से मांग करता है कि आगामी दस वर्षों में बेरोजगारी को पूरी तरह समाप्त किया जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति करते समय कमजोर वर्गों, अनुसूचित और दलित वर्गों, मज़दूरों, भूमिहीन और गरीब किसानों और शहरी गरीबों की ओर विशेष ध्यान दिया जाए। सभी के लिए न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जाए।

शिरोमणि अकाली दल पंजाब सरकार से आग्रह करता है कि वह राज्य के लिए ऐसी आर्थिक योजना बनाए जिससे आगामी दस वर्षों में प्रति व्यक्ति औसत आय 3000 रु. वार्षिक हो जाए और 4 प्रतिशत की राष्ट्रीय विकास दर के मुकाबले में पंजाब की वार्षिक विकास पर 7 प्रतिशत हो जाए।

अकाली दल कर प्रणाली को पुनर्निधारित करने को पहल देता है जिससे करों

का बोझ गरीबों के ऊपर से हटकर अमीरों पर चला जाए और राष्ट्रीय आय के बराबर के बंटवारे को सुनिश्चित किया जा सके।

अकाली दल केन्द्र सरकार से मांग करता है कि अमृतसर को एक अन्तरराष्ट्रीय हवाई अड्डा बनाया जाए और उसे शुष्क बंदरगाह की सुविधाएं प्रदान की जाएं। इसी तरह औद्योगिक और आर्थिक प्रगति के लिए लुधियाना में एक स्टाक एक्सचेंज खोला जाए। अकाली दल यह भी चाहता है कि विदेशी मुद्रा के खुले लेन-देन के लिए विदेशी मुद्रा विनिमय के नियमों में समुचित संशोधन किया जाए। इससे भारत प्रवासियों की कठिनाइयों को दूर किया जा सकेगा।

शिरोमणि अकाली दल भारत सरकार से पुरजोर मांग करता है कि वह कृषि उत्पादनों और औद्योगिक कच्चे माल की कीमतों में समानता लाए, जिससे उन राज्यों, जिनमें इन चीज़ों की कमी है, के साथ भेदभाव दूर किया जा सके।

शिरोमणि अकाली दल मांग करता है कि नकदी फसलें, जैसे कपास, गन्ना, तेल बीज आदि के उत्पादकों का व्यापारियों द्वारा शोषण तुरन्त रोका जाए। इस उद्देश्य के लिए ऐसी फसलों की सरकार द्वारा अच्छी कीमत पर खरीद की व्यवस्था की जाए। कपास की खरीद के लिए कपास निगम द्वारा प्रभावी कदम उठाए जाएं इस दृष्टि से सरकार को प्रयास करना चाहिए।

शिरोमणि अकाली दल बड़ी तीव्रता से अनुभव करता है कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्या अनुसूचित जातियों के करोड़ों शोषित व्यक्तियों की स्थिति में सुधार करना है। इस कार्य के लिए अकाली दल मांग करता है कि केन्द्रीय और राज्य सरकार विशेष कोष की स्थापना करे। इसी के साथ राज्य सरकारें नगर और ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे व्यक्तियों को मुफ्त रिहाइशी प्लाट देने के लिए अपने-अपने बजट में सुमुचित धन का प्रावधान करें।

शिरोमणि अकाली दल यह भी मांग करता है कि कृषि में तेजी से विविधता लाई जाए। भूमि सुधार कानूनों की कमियों को दूर किया जाए, राज्य का तेजी के साथ औद्योगिकीकरण सुनिश्चित किया जाए, मध्यम उद्योगों के लिए ऋण की सुविधाओं को बढ़ाया जाए और बेरोजगार व्यक्तियों को बरोजगारी भत्ता दिया जाए। लाभप्रद खेती के लिए कृषि यन्त्रों जैसे ट्रैक्टर, ट्यूबवैल तथा खादों की कीमतों को घटाया जाए।

प्रस्ताव-4

शिरोमणि अकाली दल का यह अधिवेशन पड़ोसी राज्यों-हिमाचल प्रदेश, हरियाणा, दिल्ली तथा जम्मू कश्मीर में पंजाबी भाषा के प्रति अपनाए गए भेदभाव के प्रति खेद प्रकट करता है। अधिवेशन यह मांग करता है कि नेहरू भाषा फार्मूले के अनुसार पड़ोसी-राज्यों को वहां पंजाबी को दूसरी भाषा का दर्जा देना चाहिए, क्योंकि उनके राज्य में पंजाबी भाषा-भाषियों की काफी बड़ी संख्या निवास करती है।

प्रस्ताव-5

यह अधिवेशन इस बात पर खेद प्रकट करता है कि देश विभाजन के फलस्वरूप जम्मू-कश्मीर में आकर आबाद हुए शरणार्थियों को, इतना समय बीत जाने के बाद भी कोई मुआवजा नहीं दिया गया है। ये बदनसीब शरणार्थी अभी भी शिविरों में पड़े हुए हैं।

यह अधिवेशन मांग करता है कि इनके दावों का तुरन्त फैसला किया जाए और इनके पुनर्वास का तुरन्त प्रबंध किया जाए, चाहे इसके लिए धारा 370 में संशोधन क्यों न करना पड़े।

प्रस्ताव-6

यह अधिवेशन पंजाब से बाहर बसे अल्पसंख्यकों के प्रति होने वाले भेदभाव के प्रति गहरी चिंता व्यक्त करता है और मांग करता है कि अन्य राज्यों में बसे हुए सिखों के प्रति हो रहे अन्याय को समाप्त किया जाए और उन्हें, यदि आवश्यक हो तो नामजदगी द्वारा, सरकारी नौकरियों, स्थानीय संस्थाओं, राज्य विधान मंडलों में उचित प्रतिनिधित्व दिया जाए।

प्रस्ताव-7

यह अधिवेशन इस बात पर संतोष व्यक्त करता है कि देश में कृषि के मशीनीकरण से उपज बढ़ी है और परिणामस्वरूप देश आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ रहा है, परन्तु हम यह भी अनुभव करते हैं कि निर्धन किसान इस मशीनीकरण को उसके बहुत महंगे होने के कारण अपना नहीं पाते।

शिरोमणि अकाली दल सरकार से मांग करता है कि ट्रैक्टरों पर से उत्पाद शुल्क समाप्त कर दिया जाए, जिससे कि कीमत कम हो जाने के कारण साधारण किसान भी मशीनीकरण का लाभ उठा सके कृषि के समूचे विकास में अपना योगदान दे सके।

प्रस्ताव-8

यह अधिवेशन केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों से पुरजोर अपील करता है कि वे निर्धन और मजदूर वर्ग की ओर विशेष ध्यान दे और मांग करता है कि न्यूनतम मजदूरी कानून में समुचित संशोधन करने के साथ ही साथ ऐसे कानूनी कदम भी उठाए जाएं जिससे मजदूर वर्ग सम्मानपूर्वक जीने की सुविधाएं पा सकें और देश के औद्योगिक विकास में अपनी उपयोगी भूमिका निभा सकें।

प्रस्ताव-9

यह अधिवेशन भारत सरकार से स्वर्ण मंदिर अमृतसर में एक ब्राडकास्टिंग स्टेशन स्थापित करने की अनुमति चाहता है जिससे विदेशों में बसे हुए सिखों को 'गुरुवाणी

कीर्तन' द्वारा आध्यात्मिक संतोष प्रदान किया जा सके।

यह अधिवेशन यह स्पष्ट करना चाहता है कि प्रस्तावित ब्राडकास्टिंग योजना का सम्पूर्ण व्यय भार खालसा पंथ उठाएगा और उस पर पूरा नियंत्रण भारत सरकार के हाथ में होगा। हमें आशा है कि योग्य विचार विमर्श के बाद सरकार को इस मांग को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होगी।

प्रस्ताव-10

यह अधिवेशन भारत सरकार से पुरजोर आग्रह करता है कि कृषक वर्गों, जिन्होंने व्यापक राष्ट्रीय हितों के लिए कठिन श्रम किया है, के हित के लिए निम्नलिखित कानून में आवश्यक संशोधन किया जाए–

(1) हिन्दू उत्तराधिकार कानून की सम्बन्धित धारा में यह संशोधन किया जाए कि स्त्री को अपने ससुर की सम्पत्ति में उत्तराधिकार का अधिकार प्राप्त हो, न कि अपने पिता की सम्पत्ति में।

(2) किसानों की कृषि योग्य भूमि को सम्पत्ति कर और भू-सम्पत्ति शुल्क से पूरी छूट हो।

प्रस्ताव-11

यह अधिवेशन भारत सरकार से पुरजोर मांग करता है कि अनुसूचित और गैर-अनुसूचित जातियों के आर्थिक पिछड़ेपन को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय बजट में उनके कल्याण के लिए प्रयोग की जाने वाली राशि, उनकी जनसंख्या के आधार पर निर्धारित की जाए। इस कार्य के लिए एक विशेष मंत्रालय की स्थापना की जाए जो आरक्षण के आधार पर उन्हें न्याय दिलवाने के लिए व्यावहारिक उपाय अपना सके।

यह अधिवेशन यह भी मांग करता है कि पहले से हो चुके समझौते के अनुसार देश के किसी भाग में हिन्दू और सिख हरिजनों के मध्य भेदभाव न किया जाए।

प्रस्ताव-12

केन्द्र सरकार से मांग की जाती है कि कांग्रेस सरकार ने रावी-व्यास पानी के बंटवारे को लेकर पंजाब के प्रति अन्याय और भेदभाव की जो नीति अपनाई है, उसे तुरन्त दूर किया जाए। केन्द्र सरकार पंजाब में 6 शक्कर मिलों और 4 कपड़ा मिलों की स्थापना की भी तुरन्त मंजूरी दे, ताकि पंजाब अपनी कृषि-औद्योगिक नीति को कार्यान्वित कर सके।

यह है आनन्दपुर साहब प्रस्ताव की सम्पूर्ण रूपरेखा जिसे 1978 में लुधियाना के अकाली अधिवेशन में स्वीकार किया गया था।

(दिनमान, 1985)

पंजाब :
आतंकवाद की अनिवार्य परिणति

दावा किया जा रहा है कि पंजाब में खाड़कूलहर की कमर टूट गई है और इसका अंतिम आखिरी वक़्त आने में अब वर्षों-महीनों का इंतजार नहीं है, बस अगले कुछ दिनों की ही बात है।

आइए, इस दावे को सही मान लें। यह मान लें कि पिछले दशक के आरंभ में जो आतंकवादी रूझान, जिसे पंजाब में खाड़कूलहर' कहा जाता है पंजाब में उभरा था और जिसकी परछाई के नीचे देश-विदेश के कुछ अन्य भाग भी आ गए थे, वह अब अपनी आखिरी सांस ले रहा है। इसके बड़े-बड़े नेता मार डाले गए हैं। कुछ को पुलिस ने पकड़ लिया है और कुछ ने आत्मसमर्पण कर दिया है। खाड़कू कहे जाने वाले नौजवानों की कतारें भी लगभग टूट गई हैं और अब इसमें नई भरती नहीं हो रही है।

यह स्थिति गंभीर विश्लेषण की मांग करती है। कुछ लोग इस तात्कालिक सफलता से बागोबाग हो रहे हैं। एक वर्ग गहरी मायूसी और उदासी भी अनुभव कर रहा है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो खाड़कुओं के अस्तित्व संकट से उत्पन्न शून्य में से अपनी संकट में पड़ी लीडरी को फिर से चमकाने की कोशिश भी कर रहे हैं। जब समय बदलता है तो ऐसी बातें होती ही हैं। 13 वर्ष पूर्व 24 अप्रैल, 1980 के दिन जब दिल्ली में निरंकारी बाबा गुरुवचन सिंह की हत्या हुई थी, समय ने एक बड़ी करवट ली थी। इन वर्षों को पंजाब और इससे जुड़े असंख्य लोकों ने अपनी छाती पर जिया है। इन वर्षों में पंजाब और पंजाबियों ने क्या कुछ नहीं देखा? जो जख्म उन्हें देश के विभाजन के समय लगे थे, उससे कहीं अधिक गहरे जख्म इन वर्षों में लगे हैं। वे जख्म जल्दी ही सूख गए थे, केवल उनकी खरोंच दिखाई देती रही, परन्तु इन वर्षों

में लगे जख्मों का इतिहास के पन्नों में घुसकर नासूर बन जाने का खतरा कहीं अधिक दिखाई देता है।

यह खाड़कू लहर क्या थी? इसका उद्देश्य क्या था। इसकी पृष्ठभूमि में किसी बड़े परिवर्तन की कामना थी या केवल आतंकवाद का रोमांटिक स्वाद था?

इसमें कोई संदेह नहीं कि संसार के किसी भी भाग में आतंकवादी आन्दोलन जब उभरता है, तो उसकी पृष्ठभूमि में शासन अथवा धन-सम्पत्ति के नशे में डूबे सत्ताधारियों के अत्याचार और अन्याय ही होते हैं। यह खेल आदिकाल से खेला जा रहा है और आगे भी खेला जाएगा, किन्तु ऐसी हर लहर पूर्ववर्ती लहरों के इतिहास और अनुभवों को सामने रखती है और उनसे सबक लेती है। इसलिए यह नतीजा सहज ही निकाला जा सकता है कि हर लहर नए सिरे से आरम्भ नहीं होती, उसकी पृष्ठभूमि में पूर्ववर्ती लहरों की सम्पूर्ण पूंजी होती है। स्वाभाविक है कि पंजाब की इस खाड़कू लहर को और सिख परम्परा और इतिहास की पृष्ठभूमि में और दूसरी ओर संसार के क्रान्तिकारी आतंकवादी आन्दोलनों के प्रकाश में देखना चाहिए।

एक बात निश्चित रूप से कहीं जा सकती है कि जिस ढंग का आतंकवाद पंजाब में पनपा और अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जिस ढंग के साधनों का प्रयोग खाड़कुओं ने किया उसकी पुष्टि सिख इतिहास या परम्पराओं से नहीं होती। एक ही बात दोनों के समान दिखाई देती है—वह है उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हंसते-हंसते प्राणों की आहुति दे देना।

सन् 1849 में पंजाब में सिखराज की समाप्ति हुई और वह अंग्रेजों की गुलामी में चला गया। उसके बाद सिखों में दो प्रकार की लहरें साथ-साथ चलीं—एक धार्मिक—सामाजिक सुधार की और दूसरी देश को अंग्रेजी पराधीनता के मुक्त करने की। पहले प्रकार में निरंकारी सिंह सभा, खालसा दीवान और अकाली लहरों को गिना जा सकता है। नामधारी लहर भी मूलरूप से धार्मिक थी, किन्तु उसके साथ स्वतंत्रता की भावना भी जुड़ी हुई थी, जिसने कुछ समय के लिए हिंसक स्वरूप भी ग्रहण कर लिया था। यही भावना बाद में गदर लहर और बब्बर अकाली आन्दोलन का आधार बनी। ये दोनों आन्दोलन अंग्रेजी शासन के विरुद्ध सशस्त्र आंदोलन थे। इन आंदोलनों पर योरोप, में चल रहे, क्रान्तिकारी आन्दोलनों का प्रभाव था और आतंकवाद इनका मुख्य हथियार था।

'टेरर' जिसका हिन्दी रूप आतंक प्रचलित हो गया है कि अर्थ है 'भय'। ऐसी कार्रवाई जो विरोधी के मन में भय उत्पन्न कर दे। यह राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हिंसा द्वारा उत्पन्न किए गए भय का सिद्धान्त है। इस शब्द का प्रयोग स्थापित व्यवस्था या सरकारों द्वारा उनके लिए किया जाता है जो अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐसी सरगर्मियां करते हैं, किन्तु आतंक का सहारा लेने वाले अपने आपको राष्ट्रवादी, क्रान्तिकारी, विद्रोही कहते हैं। पंजाब में इन्होंने अपने आपको खाड़कू कहलाना पसंद किया और कश्मीर में जंगजू।

आतंक की राजनीति इस देश के लिए नई बात है। यह प्रवृत्ति पश्चिमी देशों विशेष रूप से रूस की आजादी या सत्ता परिवर्तन के लिए उभरे सशस्त्र आन्दोलनों के प्रभाव से इस देश में पनपी। इसकी प्रारंभिक झांकियां बंगाल में दिखाई दी थीं। 1907 में युगांतर पार्टी के एक नेता हेमचंद्र दास को योरोप भेजा गया था जहां उन्होंने अपने देश से निष्कासित रूसी क्रान्तिकारियों से सम्पर्क किया और उनसे विस्फोटक पदार्थों के बनाने का प्रशिक्षण प्राप्त किया। जब वे 1908 में वापस आए तो ऐसा लगा जैसा भारत के क्रान्तिकारी संगठनों में बम मार्ग फैल गया।

1905 में जब लार्ड कर्जन ने बंगाल को दो भागों में बांटने की योजना बनाई तो केवल बंगाल में ही नहीं सम्पूर्ण देश में उसका तीव्र विरोध हुआ। इसने बंगाल में क्रान्तिकारी लहरों को प्रोत्साहित किया और अनेक आतंकवादी और उग्रवादी संगठन वहां सक्रिय हो उठे। ये संगठन गुप्त ढंग से अपना कार्य करते थे। गुप्त स्थानों पर बम बनाने का प्रशिक्षण दिया जाता था। विदेशों से विस्फोटक सामग्री मंगवाई जाती थी। संसार के अनेक देशों में इनके ठिकाने बन गए थे। डाके मारना, बैंकों को लूटना, खजानों को छीनना, रेलगाड़ियों की पटरियां उखाड़ना ऐसे संगठनों के कार्यक्रम का भाग था। बंगाल से ही इस प्रकार की क्रान्तिकारी लहरें देश के दूसरे भागों में पहुंचीं। ग़दर आन्दोलन और उसके पश्चात् भगत सिंह जैसे क्रान्तिकारियों पर बंगाली क्रान्तिकारियों का गहरा प्रभाव था।

इन हिंसात्मक आन्दोलनों की विशेषता यह थी कि इनके निशाने पूरी तरह नियोजित होते थे। अंग्रेज सरकार को डराने या किसी अफसर को उसकी बुरी और अन्यायपूर्ण कारगुजारी के लिए दंडित करने के लिए ये हिंसात्मक ढंग अपनाते थे। ये क्रान्तिकारी अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए न ही किसी को लूटते थे, न ही निर्दोष व्यक्तियों की हत्या करते थे। इसलिए ऐसे लोग जो इनकी नीतियों और कार्य प्रणालियों से सहमत नहीं थे, इनका आदर करते थे और इनकी सहायता भी करते थे।

पंजाब की खाड़कू लहर के नवयुवक जब अपने निश्चित उद्देश्य की दिशा में चलते रहे और उसकी प्राप्ति के लिए हत्याएं या लूटमार करते रहे, इन्हें पंजाब की आम जनता के एक वर्ग की (विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्र में) सहानुभूति और सहायता मिलती रही। हत्या प्रारम्भ हुई, पंथ के नाम पर निजी शत्रुताएं निभाई जाने लगीं, सैद्धान्तिक या वैचारिक स्तर पर मतभेद प्रकट करने वालों के मुंह गोलियों से बंद किए जाने लगे, महिलाओं के साथ बलात्कार जैसी जघन्य घटनाएं शुरू हो गईं, लूट-मार या अन्य उपायों से प्राप्त धन मौजमस्ती के लिए या बड़ी-बड़ी जायदादें बनाने के लिए इस्तेमाल किया जाने लगा, किसी मदद उद्देश्य के स्थान पर सिर्फ अपनी प्रभुता चमकाने और रोमानी स्पंदन प्राप्त करने के लिए सामूहिक हत्याओं, डकैतियों या अपहरणों की घटनाएं होने लगी तो यह लहर लोकविरोधी शक्ल लेने लगी। इससे लोगों की हमदर्दी दूर होने लगी। लोग (ग्रामीण सिख जनता) इनसे भयभीत होने लगे। इसका

जुझारू चरित्र समाप्त हो गया। लोग इन्हें अपराधी मानने लगे।

यह प्रश्न भी विचारणीय है कि संसार के किसी भी भाग में आतंकवादी गतिविधियों से क्या कभी कोई सार्थक सफलता प्राप्त हुई है? बंगाली क्रान्तिकारियों के एक नेता वीरेन्द्र घोष ने उन दिनों लिखा था कि वे और उनके साथी कुछ अंग्रेजों की हत्या करके अपने देश को स्वतंत्र कर पाने की आशा नहीं रखते। वास्तव में वे अपने देशवासियों को यह बताना चाहते हैं कि उन्हें खतरे और मौत का मुकाबला कैसे करना चाहिए। भगत सिंह ने भी उस समय अपने एक लेख में लिखा था कि आतंकवाद शासक के मन में भय और दबी हुई जनता के मन में प्रतिकार और मुक्ति की भावना जगाता है। घबराई हुई जनता को यह साहस और आत्मविश्वास देता है।

कुछ हद तक यह काम पंजाब के खाड़कूवाद ने भी किया। 1984 के आपरेशन ब्लू स्टार और फिर दिल्ली, कानपुर, बोकारो जैसे स्थानों पर सिखों की व्यापक हत्याओं, उनकी सम्पत्ति को लूटने, आग लगाने और स्थान-स्थान पर उन्हें अपमानित करने का जो सिलसिला शुरू हुआ था, उससे सामान्य सिखों का हौसला (विशेषरूप से पंजाब से बाहर रहने वालों का) गिरा था। ऐसे समय में खाड़कुओं की कुछ योजनाबद्ध कारवाइयों से आम सिख मन में आत्मविश्वास बढ़ा था। हर ऐरा-गैरा, जो किसी भी सिख को अपमानित करने में तिल भर भी संकोच नहीं अनुभव करता था, ऐसी घटनाओं के बाद सहम और डर की गिरफ्त में आ गया था।

किन्तु यह भी सच है कि आतंकवाद से थोड़े समय के लिए तात्कालिक सफलता तो प्राप्त की जा सकती है, इसे किसी प्रकार की स्थायी उपलब्धि में परिणत नहीं किया जा सकता। यहां मैं भगत सिंह के अन्य लेख का उल्लेख करना चाहता हूं। बंगाल में 'बम मार्ग' का दौर 1905 में शुरू हुआ। उसके लगभग पच्चीस वर्ष बाद उसका लेखा-जोखा करते हुए भगत सिंह ने लिखा था—''आइए, इस कठिन प्रश्न के सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाएं। बम का मार्ग 1905 से चला आ रहा है। आज तक यह महसूस नहीं किया गया कि इसका सही गलत प्रयोग क्या है। आतंकवाद क्रांतिकारी मानसिकता का लोगों का लोगों में गहराई तक न जा सकने का पछतावा भर है। यह हमारी असफलताओं की स्वीकृति भी है। प्रारम्भ में इसका कुछ लाभ था। इसने सारी राजनीति की शक्ल बदली, नौजवान बुद्धिजीवियों की सोच को, त्याग की भावना को उजागर किया और संसार तथा अपने शत्रुओं के सामने आंदोलन की सच्चाई और शक्ति को प्रकट करने का अवसर मिला, परन्तु अपने आपमें यह काफी नहीं। हर देश में इसका (आतंकवाद) इतिहास असफलता का इतिहास है। पराजय का बीज इसके अंदर ही छिपा है। साम्राज्यवादियों को मालूम है कि तीस करोड़ लोगों पर शासन करने के लिए प्रतिवर्ष तीस लोगों की बलि दी जा सकती है।''

इसी लेख में भगत सिंह ने आगे लिखा था, ''आतंकवाद के शैतान को कोई दाद देने की जरूरत नहीं है। आतंकवादियों ने काफी काम कर लिया है, काफी कुछ सिखा दिया है। यदि हम अपने उद्देश्यों और तरीकों के सम्बन्ध में कोई भ्रम न रखें

तो अभी भी यह कुछ उपयोगी हो सकता है...किन्तु यह पटाखेबाजी के सिवा और कुछ नहीं।"

संसार में अत्याचार, अधीनता और अन्याय को समाप्त करने और समानता, स्वतंत्रता तथा न्याय पर आधारित समाज व्यवस्था और राज्य स्थापित करने के लिए संघर्ष का लंबा इतिहास है। इस संघर्ष की शुरुआत लोगों में जागृति उत्पन्न करके उनकी सक्रिय भागीदारी से होती है। समय आने पर सशस्त्र टकराव की स्थिति भी आ जाती है। सम्पूर्ण सिख इतिहास इसका जीता-जागता प्रमाण हैं, किन्तु अपने उद्‌देश्य की प्राप्ति के लिए सशस्त्र संघर्ष ही एकमात्र उपाय है, ऐसा भी सिख परम्पराओं से सिद्ध नहीं होता। इसका सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण गुरुद्वारा सुधार आन्दोलन है।

1920 से पहले सभी ऐतिहासिक गुरुद्वारों पर महंतों का अधिकार था। गुरुद्वारों के साथ जुड़ी हुई सम्पत्ति और श्रद्धालुओं द्वारा नियमित रूप से भेंट किए जाने वाले धन ने इन महंतों को भ्रष्ट और दुराचारी बना दिया था। ये महंत ऊपर से धर्म का पाखंड करते थे और अंदर से सभी प्रकार के दुष्कृत्यों में लीन रहते थे।

सभी धर्मों के पवित्र स्थानों के साथ, जहां धन-सम्पत्ति का वैभव जुड़ा होता है, यह स्थिति उत्पन्न हो जाती हैं। इसका एक गंभीर पहलू यह भी है कि ऐसे महंत और पुजारी अपनी गद्‌दी बचाए रखने के लिए सरकार तथा अन्य सत्ता प्रतिष्ठानों के पिट्‌ठू बन जाते हैं और कई बार असामाजिक और अपराधी तत्वों का सहारा लेने में भी संकोच नहीं करते। गुरुद्वारों के महंतों की स्थिति भी ऐसी ही थी।

ऐसे भ्रष्ट महंतों और पुजारियों से अपने पवित्र स्थानों को मुक्त कराने के लिए सुधारवादी सिखों में अभियान शुरू हुआ और अमृतसर के गुरु का बाग से 1920 में इस अभियान को सक्रिय और सार्थक दिशा मिली।

मेरे मन में कई बार यह विचार आता है कि 1920-25 के मध्य पंजाब में गुरुद्वारों के सुधार की जो लहर उभरी थी, उसके लिए उस समय के सिख नेताओं ने महात्मा गांधी वाला अहिंसात्मक सत्याग्रह का मार्ग क्यों चुना था? उस समय पंजाब में सशस्त्र हिंसात्मक संघर्ष का बोलबाला था उस माहौल में यह बड़ा स्वाभाविक दिखता था कि भ्रष्ट और आचरणहीन महंतों से अपने पवित्र स्थानों को मुक्त कराने के लिए कुछ नवयुवक अपने हाथों में तलवारे या बंदूकें ले लेते और दस-बीस महंतों की हत्या कर देते और बड़े गौरव से यह दावा करते कि उन्होंने सिख परम्पराओं के अनुसार ही यह कार्य किया है जैसा कि इस दौर के अनेक सिख नेता और खाड़कू मुखिया दावा करते रहे हैं।

गुरुद्वारा सुधार आंदोलन की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि और उपलब्धि को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय का सिख नेतृत्व, आज के नेतृत्व की अपेक्षा कहीं अधिक विवेकशील, दूरदर्शी और प्रौढ़ था। पंजाब पर अधिकार करने के बाद से ही अंग्रेज़ शासकों की यह नीति थी कि यदि सिखों को अपने नियंत्रण में रखना है तो यह बहुत आवश्यक है कि उनके गुरुद्वारों को अपनी पूरी निगरानी और प्रभाव में रखा

जाए। वे यह जानते थे कि गुरुद्वारे सिखों की सब से सशक्त जीवन-रेखा का काम करते हैं। ये सिर्फ पूजा-पाठ के ही स्थान नहीं, यहां से सिखों की सामूहिक शक्ति को सदा ही प्रेरणा और चेतना प्राप्त होती रही है। सन् 1881 में पंजाब के लेफ्टीनेंट गवर्नर एजटर्न ने गवर्नर जनरल लार्ड रिपन को लिखे एक पत्र में लिखा था—"सिख गुरुद्वारों के प्रबन्ध को ऐसी कमेटी के हाथों में जाने देने की अनुमति देना, जो सरकारी नियंत्रण से आजाद हो चुकी हो, राजनीतिक दृष्टि से खतरनाक होगा। मैं विश्वास करता हूं कि हजूर इस सम्बन्ध में ऐसी आज्ञा जारी करने में सहायक होंगे जो उस व्यवस्था को बनाए रखे जो पिछले वर्षों से चली आ रही है।"

उस समय के अकाली नेता यह अच्छी तरह जानते थे कि भ्रष्ट महंतों के पीछे बड़ी शक्तिशाली अंग्रेज सरकार खड़ी है। महंतो से छेड़ी गई कोई भी हिंसात्मक लड़ाई उसे सीधी चुनौती देना होगा। इसका परिणाम यह होगा कि महंतों को न केवल सुरक्षा प्राप्त होगी, गुरूद्वारों की आजादी का सारा संघर्ष अनिश्चित समय के लिए ऐसी लंबी अंधेरी गुफा में फंस जाएगा, जहां से उसे बाहर निकालना आसान नहीं होगा।

इस लड़ाई को बड़े सुनियोजित, शांतिपूर्ण और अहिंसात्मक ढंग से लड़ा गया। लाठी, गोली खाते, रेलों की पटरियों पर लेटकर अपने प्राण देते, गिरफ्तारियों देते हुए लोगों में जितना उत्साह था उसे देखकर सारा संसार आश्चर्यचकित हो गया। आखिर लाचार होकर अंग्रेज सरकार को घुटने-टेकने पड़े। महंतों की प्रभुता समाप्त हो गई और लोकतांत्रिक ढंग से चुनी जाने वाली शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंध कमेटी अस्तित्व में आई।

इस दृष्टि से एक बात और दृष्टव्य है कि उसी समय (1920-25) में एक सशस्त्र हिंसात्मक लहर का पूर्ववर्ती रूप माना जा सकता है, किन्तु उसे समय की सिख राजनीति ने इस हिंसात्मक प्रवृत्ति को अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया जैसा इन वर्षो में हुआ।

आठवें दशक के प्रारम्भ तक अकाली राजनीति पर मास्टर तारा सिंह और संत फतह सिंह की पकड़ बनी रही और उसका मार्ग लोकतंत्रात्मक शन्तिपूर्ण आन्दोलन वाला बना रहा। उसके बाद जो नेतृत्व उभरा उसमें न तो वैसी क्षमता ही थी, न दूरदृष्टि। इसलिए नवें दशक के प्रारम्भ होते-होते उस पर उग्रवादी तत्व हावी होने लगे और सम्पूर्ण सिख राजनीति की सोच और दिशा बदल गई। इस अवधि में संत जरनैल सिंह भिंडरावाले के व्यक्तित्व का उभरना एक बहुत बड़ी घटना थी। संत भिंडरांवाले मूलतः धार्मिक व्यक्ति थे। सिख नौजवानों में आ रहा गिरावट उनकी मुख्य चिंता थी। इसी समय सिख परम्परा में से ही निकली निरंकारी लहर का एक टुकड़ा अपना अलग 'गुरुउम' स्थापित करने के लिए सक्रिय था। संत भिंडारांवाले सहित अनेक प्रतिबद्ध सिख इसे गहरे सरोकार और कोप को देख रहे थे इसी का परिणाम था कि 1978 की बैसाखी के दिन अमृतसर में संत भिंडरांवाले के अनुयायी जब अपना विरोध प्रकट करने के लिए निरंकारी सम्मेलन की ओर जा रहे थे, उन पर हमला हो गया जिसमें 13 व्यक्ति मारे गए। उसके बाद निरंकारी बाबा तथां कुछ अन्य लोगों पर मुकदमा

भी चला, किन्तु सबके सब साफ बच गये। यदि उस समय कुछ दोषियों को सजा मिल जाती तो सिखों के मन में यह भाव नहीं पैदा होता कि सरकार या अदालतों से उन्हें न्याय नहीं मिल सकता और ऐसी स्थिति में अपराधियों को स्वयं सजा देना उचित है।

अमृतसर की इस घटना के दो वर्ष बाद 24 अप्रैल 1980 के दिन दिल्ली में बाबा गुरुवचन सिंह की हत्या कर दी गई। इसी बिंदु से पंजाब में उस आतंकवादी प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ जिसने आज तक उसे अपने कलावे में जकड़ रखा है।

पंजाब में कांग्रेस पार्टी की नीति सदैव यह रही है कि किसी भी प्रकार वहां से अकाली जनाधार को समाप्त किया जाए, क्योंकि अकाली दल से ही उसकी सत्ता को सदैव चुनौती मिलती रही है। इस दृष्टि से अकाली नेतृत्व के समानान्तर सिख नेतृत्व उभारने को धार्मिक परिवेश में से निकालकर राजनीतिक क्षेत्र में प्रविष्ट कराने और उनमें राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं जगाने में कांग्रेस ने बड़ी सक्रिय भूमिका निभाई, यह बात अलग है कि बाद में उन्हें अकाली नेतृत्व ने अपनी ओर खींचने की कोशिश की और ये सारी सिख राजनीति हावी ही नहीं हुए, उसमें हिंसात्मक दौर लाने में भी सफल हो गये।

सभी सिख परम्पराओं, मर्यादाओं और विचारधाराओं के सामने संत भिंडरांवाले की यह घोषणा एक चुनौती भरा प्रश्न बनकर उभरी कि मैं पंजाब के हर गांव में तीन-तीन मोटर साइकिलें, तीन-तीन पिस्तौलें और तीन-तीन तैयार सिखों का बंदोबस्त देखना चाहता हूं, ताकि गुरु-द्रोहियों, दंभियों और अत्याचारियों को ठीक किया जा सके।

आतंकवाद की तलवार दुधारी होती है पहले वह 'दूसरों' पर चलती है फिर अपनों को ही काटना शुरू कर देती है। पिछले 12-13 वर्षों में हुई हत्याएं इस बात का प्रमाण हैं। यह कहने का दावा कौन कर सकता है कि ज्ञानी प्रताप सिंह से लेकर श्रीमती राजेन्द्र कौर तक जितने लोग खाड़कुओं या तथाकथित खाड़कुओं की गोली का शिकार हुए वे गुरु-द्रोही, दंभी और अत्याचारी थे।

इन वर्षों में सिखों के नाम पर हिंसा की जैसी खुली वकालत शुरू हुई वह भी विचारणीय है। गुरु नानक ने कहा था—हिंसा मोह, लोभ और क्रोध-ये चारों आग की नदियां हैं, जो भी इन नदियों में प्रवेश करते हैं वे जल जाते हैं—

हंसु हेतु लोभु कोपु चारे नदीआं अगि।
पवहि दझहि नानका बरीए करभी लगि।।

पंजाब की आतंकवादी लहर इस समय बुरी तरह लड़खड़ा रही है और असफलता के कगार पर पहुंच गई है। दस बारह वर्षों तक इसने पंजाब और पंजाब के बाहर राजनीतिक और सामाजिक स्थिति को अपने चंगुल में बांधे रखा, किन्तु इसकी अंतिम परिणिति यही होनी थी। संसार में ऐसे उदाहरण विरल ही होंगे जहां सिर्फ़ आतंकवादी

गतिविधियों के माध्यम से किसी सार्थक उद्देश्य की प्राप्ति की गई हो। इसमें संदेह नहीं कि इस शती के दूसरे शतक में, रूस में और पांचवें दशक में चीन में बहुत बड़ी सशस्त्र क्रान्तियां हुईं और सफलता की मंजिल तक पहुंचीं। उनका प्रारम्भ भी आतंकवादी गतिविधियों से हुआ था किन्तु उन्होंने शीघ्र ही इतना व्यापक जनाधार प्राप्त कर लिया था कि इक्का-दुक्का हत्याओं की अपेक्षा वे विशाल जन-क्रान्ति में बदल गई थीं।

किन्तु सामान्यतः आतंकवादी सरगरमियों को व्यापक जनाधार नहीं मिलता, या उसे बना पाने में सफल नहीं होतीं उन्हें अपने समय की शक्ति सम्पन्न सरकारों से टक्कर लेनी पड़ती है। सरकारों के साथ ऐसी टक्कर को लम्बे समय तक बनाए रखना बहुत दूभर होता है।

अपने ही देश के पिछले 4-5 दशकों के उदाहरणों को सामने रखा जा सकता है। आजादी के तुरन्त बाद से ही नागालैंड, मिजोरम, मणिपुर जैसे उत्तरपूर्वी प्रदेशों में सशस्त्र विद्रोह उभरे और लम्बे समय तक चले। आज भी उन क्षेत्रों में अवशिष्ट तत्व हैं जो आतंकवादी तरीकों से अपने जीवित होने का कुछ प्रमाण देते रहते हैं, किन्तु उनकी मुख्य धाराएं केंद्र सरकार के साथ संवैधानिक समझौते कर चुकी हैं।

कम्युनिस्ट विचारधारा मानती रही है कि क्रान्ति के लिए सशस्त्र संघर्ष नितान्त आवश्यक है। रूस, चीन तथा अन्य कुछ देशों में प्राप्त सफलताओं का आदर्श उनके सामने रहा है। चेयरमैन माउत्जे वुंग का यह कथन उनके लिए ब्रह्मवाक्य का काम करता रहा है कि राजनीतिक सत्ता बंदूक की नली में से उत्पन्न होती है, किन्तु भारत में उनका इस कथन को झुठलाता रहा है। कम्युनिस्ट पार्टी के विभिन्न गुट के द्वारा इस देश में सशस्त्र क्रान्ति के जितने भी प्रयास हुए वे अपनी थोड़ी सी चमक दिखाकर बुझ गये। 1951 का तेलंगाना का किसान संघर्ष और 1967 में उत्तरी बंगाल के नक्सलबाड़ी क्षेत्र से शुरू हुआ सशस्त्र संघर्ष हमारे सामने हैं। नक्सलवादी लहर ने बंगाल के साथ ही आन्ध्रप्रदेश, केरल, बिहार, पंजाब आदि कितने ही क्षेत्रों में अपने प्रभाव का विस्तार किया था और कुछ समय तक देश की सम्पूर्ण राजनीति में चकाचौंध पैदा करने में सफल हुआ था किन्तु धीरे-धीरे यह लहर भी सिमटती गई और इसके बचे-खुचें नेता संवैधानिक और संसदीय लोकतांत्रिक संघर्ष की दिशा में मुड़ने लगे।

पंजाब की खाड़कू लहर धार्मिक आवेश से उपजी थी और अपनी इस अपील के कारण उसने कुछ समय तक सिख जनता को प्रभावित भी किया था, किन्तु सिख धर्म की परम्पराओं और कथनों (गुरुवाणी) में इसका समर्थन ढूंढ पाना संभव नहीं था। इसलिए इस लहर ने आम सिख जनता का समर्थन सैद्धांतिक आधार पर प्राप्त करने के स्थान पर गोली के बूते पर प्राप्त करने का प्रयास किया। यह कहने की ज़रूरत नहीं कि क्रांतियां (हिंसक हो या अहिंसक) व्यापक जन समर्थन पाने के लिए जनता के मन में अपने उद्देश्यों और मन्तव्यों के लिए सत्कार और अपनत्व उत्पन्न करती हैं। भय की सहायता से प्राप्त समर्थन क्षणजीवी होता है।

पंजाब की खाड़कू लहर की असफलता का दूसरा मुख्य कारण इस लहर में

अपराधीतत्वों की भारी घुसपैठ है। किसी भी सरकार के लिए यह काम मुश्किल नहीं है कि वह ऐसे आन्दोलनों में अपने खरीदे हुए लोगों को भारी संख्या में प्रविष्ट कराकर उसके चरित्र को धूमिल कर दे। पंजाब में यह काम बड़ी सफलतापूर्वक बड़े पैमाने पर किया गया। इसलिए पिछले कुछ वर्षों में खाड़कू लहर का स्वरूप इस सीमा तक बदलता दिखाई दिया कि लूट खसोट, बलात्कार और मनमानी ढंग से की जाने वाली उद्देश्यहीन हत्याओं का नाम ही खाड़कुओं को पर्याय बन गया। इनमें प्रतिबद्ध और उद्देश्य प्रेरित खाड़कुओं की छवि भी धूमिल हो गई।

प्रश्न यह है कि अब क्या होगा? पंजाब के मुख्यमंत्री श्री बेअंत सिंह और पुलिस अधीक्षक श्री के. पी. एस. गिल अपनी सफलता पर फूले नहीं समा रहे हैं। मेरी मान्यता है कि यह स्थिति बहुत नाजुक और संक्रामक है। यह स्थिति खुश होने की नहीं, गंभीर चिंतन, विश्लेषण और सक्रियता की मांग करती है। इस समय पंजाब में कानून और व्यवस्था की दृष्टि से कुछ सुधार दिखाई देता है, किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि पंजाब की समस्या कानून और व्यवस्था की समस्या नहीं है। मूल समस्या पंजाब के साथ किए जाने वाले निरन्तर अन्याय से उपजी संतापित मानसिकता की है। केंद्र सरकार ने पंजाब के साथ बहुमत से वायदे किये और उन्हें लिखित समझौतों का रूप भी दिया किन्तु ईमानदारी और दयानतदारी से कभी उनका पालन नहीं किया। जुलाई, 1985 में तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी का अकाली दल के अध्यक्ष संत हरचंद सिंह लोगोंवाल से किया गया समझौता इसका ज्वलंत उदाहरण है।

मुझे लगता है कि यदि इस समय पंजाब, विशेष रूप से सिखों के साथ सार्थक संवाद शुरू करके समस्या को सुलझाने और आहत भावनाओं का सम्मान करने की दिशा में कोई प्रभावशाली कदम न उठाया गया तो कुछ समय बाद ही पंजाब में आतंकवाद का दूसरा दौर शुरू हो जाएगा। मुझे यह भी लगता है कि उस संभावित दौर से जुड़े लोग अधिक प्रतिबद्ध और उद्देश्य प्रेरित होंगे और व्यापक जनसमर्थन करने का पूरा प्रयास करेंगे।

यदि पंजाब के साथ इस प्रकार धोखाधड़ी होती रही, वायदा खिलाफी होती रही। 1984 के व्यापक नरसंहार के दोषियों को इसी प्रकार संरक्षण प्राप्त होता रहा और पंजाब की उचित मांगों की इसी प्रकार उपेक्षा होती रही तो निश्चित ही समर्थन उनके पक्ष में बढ़ता हुआ दिखाई देगा जिन्हें हम आज आतंकवादी या खाड़कू कहते हैं।

कश्मीर की वर्तमान स्थिति से हमें कुछ सीखना चाहिए।

(1991)

इज़राइल-फिलस्तीन :
शान्ति का द्वार

इज़राइल और फिलस्तीनी मुक्ति संगठन (पी. एल. ओ.) के बीच जो ऐतिहासिक समझौता 13 सितम्बर 1993 को हुआ, उस से मुझे अचानक राजीव-लोंगोवाल समझौते की याद आ गई। कट्टरपंथी फिलस्तीनियों की तरफ से जिस प्रकार पी. एल. ओ. के सर्वोच्च नेता यासर अरफात के प्रति गुस्से को प्रकट किया जा रहा है, उन्हें कौम का गद्दार कहा जा रहा है—उससे इस बात का अनुमान बड़ी सहजता से लगाया जा सकता हैं कि उनके प्राण बड़े सकंट में हैं। यासर अरफात को ऐसी धमकियां चारों ओर से मिल रही है और कहा जा रहा है कि उनका हश्र भी मिश्र के राष्ट्रपति अनवर सादात जैसा ही होगा, जिन्होंने 13 सितम्बर 1978 को इजराइल से समझौता किया था, उनके इस कार्य से क्रोधित होकर कुछ समय बाद मिश्र के कट्टरपंथी मुसलमानों के एक गुट ने उनकी हत्या कर दी थी।

लेकिन इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि गत वर्ष दिसम्बर में सोवियत संघ के विघटन के बाद यह समझौता संसार की सब से बड़ी और महत्वपूर्ण घटना है।

इस समझौते ने एक बात साबित कर दी है कि संसार में मित्रता और शत्रुता सदा के लिए नहीं होती। समय की मांग और समय की मार बड़े-बड़े मित्रों को शत्रु बना देती है और शत्रुओं से हाथ मिलाने के रास्ते खोल देती है। कुछ समय पहले कोई सोच भी नहीं सकता था कि फिलस्तीनी अरबों और इजराइली यहूदियों के बीच किसी प्रकार का समझौता हो सकता है, क्योंकि दोनों पक्षों ने एक-दूसरे को पूरी तरह नष्ट कर देने की कसम खाई हुई थी और पिछली आधी शती से लगातार लड़ते चले आ रहे थे।

इज़राइल का यह क्षेत्र संसार के तीन बड़े धर्मों—यहूदी, ईसाई और इस्लाम से

गहरा सम्वन्ध रखता है। इन धर्मों के आदि पुरुष अव्राहम (इव्राहीम) थे उनके दो पुत्र से इसहाक और इसमाईल। इसहाक के वंशजों से यहूदी और ईसाई धर्मों का जन्म हुआ और इसमाईल के वंशजों से इस्लाम पनपा। फिर ये शताव्दियों तक आपस में लड़ते रहे उसी प्रकार जैसे भारत में जन्मे वैदिक (हिन्दू) और बौद्ध-जैन कई सौ वर्षों तक एक-दूसरे से शास्त्र और शस्त्र की लड़ाई लड़ते रहे और गत कुछ वर्षों में हिन्दुओं और सिखों में कुछ तनावपूर्ण स्थिति पैदा हुई। इस लड़ाई में सबसे जेठा धर्म यहूदी (जुडाइज्म) विछड़ गया। उसके अनुयायी अपनी मूल धरती छोड़कर संसार भर में विखरने को मज़वूर हो गये और लम्वे समय तक ईसाइयों और मुसलमानों के जुल्म का शिकार होते रहे। पश्चिमी एशिया से निकलकर ईसाइयत पश्चिमी संसार की ओर वढ़ी और सारा यूरोप ईसाई हो गया। सम्पूर्ण पश्चिमी और मध्य एशिया पर इस्लाम का प्रभुत्व छा गया। यहूदी घर से वेघर होकर सारी दुनिया में भटकने को वाध्य हो गये।

यहूदियों पर हुए अत्याचारों की कहानी वहुत लम्वी है। जर्मनी के तानाशाह हिटलर ने इस शती के चौथे और पांचवें दशक में 60 लाख यहूदियों को मौत के घाट उतार दिया था। संसार के अनेक भागों में फैल हुए यहूदियों में यह आकांक्षा वलवती होती जा रही थी कि जब तक उनके मूल-स्थान फिलस्तीन में उनका अपना राज्य स्थापित नहीं हो जाता उस समय तक उनकी दुर्दशा वनी रहेगी। उन्नीसवीं शती के अन्तिम वर्षों में 'जिओनिज्म़' नाम से एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जिसका उद्देश्य था—सारे संसार में विखरे हुए यहूदियों को फिलस्तीन में जाकर वसने के लिए प्रेरित करना, जिससे कि एक स्वतंत्र यहूदी राज्य के सपने साकार किया जा सके। पहली 'जिओनिस्ट कांग्रेस' 1897 में स्वीटजरलैंड में हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि अनेक देशों-विशेष रूप और पूर्वी यूरोप में रहने वाले यहूदी धीरे-धीरे फिलस्तीन में आकर वसने लगे।

अनेक धर्मों और मसीहाओं की क्रीड़ास्थली यह क्षेत्र शताब्दियों तक रोमन साम्राज्य का हिस्सा वन कर रहा। सातवीं शताव्दी में अरवी मुसलमानों ने इस क्षेत्र पर अधिकार जमा लिया। कुछ समय में फिलस्तीन अरबी रंग में पूरी तरह रंग गया यहां की वहुसंख्या ने इस्लाम स्वीकार कर लिया और अरवी संस्कृति और भाषा को अपना लिया। अल्पसंख्या में लोग यहूदी और ईसाई बने रहे। सोलहवीं शती के आरम्भ में तुर्कों ने फिलस्तीन पर कब्जा कर लिया और लगभग 400 वर्षों तक वहां उनका राज्य बना रहा। पहले विश्वयुद्ध (1914-18) में टर्की ने जर्मनी का साथ दिया था। युद्ध समाप्त हो गई और फिलस्तीन व्रिटिश हकूमत के नीचे आ गया।

फिलस्तीन में वाहर के देशों से आकर वसने वाले यहूदियों के इस अभियान को अंग्रेजों ने पूरा समर्थन दिया। 1922 में इस क्षेत्र में यहूदी आबादी कुल 11 प्रतिशत थी 1948 तक यह आवादी 31 प्रतिशत हो गई। प्रथम विश्वयुद्ध के समय ब्रिटेन ने यहूदियों से यह वायदा किया था कि वह फिलस्तीन में स्वतंत्र यहूदी राज्य स्थापित करने में अपना पूर्ण सहयोग देगा।

इस प्रकार यहूदी-फिलस्तीनी संघर्ष का आंशिक आरम्भ लगभग सौ वर्ष पूर्व ही हो गया था। इस क्षेत्र में बाहरी देशों से आकर बसने वाले यहूदियों का फिलस्तीनी मुसलमानों ने कड़ा विरोध किया था। 1920 से ही फिलस्तीनियों ने अंग्रेजों और यहूदियों पर हमले करने शुरू कर दिये थे। दोनों ओर से ऐसे छुट-पुट झगड़े 1948 तक चलते रहे। नवम्बर 1947 में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि फिलस्तीन को दो भागों में विभाजित करके एक भाग में स्वतंत्र यहूदी राज्य-इजराइल-बनाया जाए, दूसरा भाग फिलस्तीनी अरबी मुसलमानों का हो और ब्रिटेन इस क्षेत्र से अपनी संप्रभुता समाप्त कर दे।

इस प्रकार 14 मई 1948 को इजराइल राज्य अस्तित्व में आया। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्ताव के अनुसार फिलस्तीन का 56 प्रतिशत क्षेत्र यहूदी राज्य के लिए निर्धारित किया गया था। इस प्रस्ताव को फिलस्तीन सहित किसी भी अरब देश ने स्वीकार नहीं किया सभी अरब देश फिलस्तीनियों की सहायता करने के लिए एकजुट होने लगे, किन्तु आपसी झगड़ों, एक-दूसरे के प्रति गहरे अविश्वास तथा द्वेष से भरे होने के कारण वे कोई प्रभावशाली गठबंधन नहीं बना सके। इसका परिणाम यह हुआ कि इजराइली सेनाओं ने अरबी बस्तियों और शहरों पर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिए और फिलस्तीनी अरब अपना घर-द्वार छोड़कर भागने को मजबूर हो गए। लगभग सात लाख फिलस्तीनी, फिलस्तीन के अरबी बहुसंख्या वाले क्षेत्र और दूसरे पड़ोसी अरब देशों में चले गये। 1949 तक इजराइल ने पुराने फिलस्तीन के लगभग 77 प्रतिशत भाग पर अपना अधिकार जमा लिया। शेष बचे फिलस्तीन, जो पहाड़ी क्षेत्र है और आमतौर पर जिसे वेस्ट बैंक कहा जाता है, पर पड़ोसी अरब देश जार्डन ने कब्जा कर लिया। समुद्री किनारे का लगभग 378 कि.मी. क्षेत्र, जिसे गाजा पट्टी कहा जाता है, को मिश्र ने अपने अधिकार में ले लिया।

जून 1967 के 6 दिन के युद्ध में इजराइल ने मिश्र, सीरि़या और जार्डन को पराजित कर शेष फिलस्तीन पर कब्ज़ा कर लिया। इसमें वेस्ट बैंक, यरूशलम का पूर्वी (अरबी) भाग और गाजा पट्टी शामिल था। इसी के साथ इजराइली सेना ने मिश्र के सिनाई प्रायद्वीप और सीरिया की गोलन-पहाड़ियां भी अपने अधिकार में ले लीं।

अब इजराइलियों और फिलस्तीनियों की लड़ाई का लम्बा दौर शुरू हो गया। 1964 में 'पैलस्टीन लिब्रटेशन आर्गनाइजेशन' (पी.एल.ओ.) की स्थापना हुई। 1968 में जब इस संगठन ने अपना संविधान घोषित किया तो उसमें कहा गया कि अरब लोग इजराइल के साथ अरबों की किसी प्रकार की बातचीत का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

1929 में यरूशलम में जन्मे यासर अरफात पी.एल.ओ. के सर्वाधिक प्रभावशाली नेता बनकर उभरे। उन्होंने एक ओर फिलस्तीनी क्षेत्रों पर इजराइली अधिकार और ज़ोर जबरदस्ती के विरुद्ध अपना संघर्ष आरम्भ किया दूसरी ओर सम्पूर्ण संसार में फिलस्तीनियों की उचित मांगों, उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं और अस्तित्व-रक्षा के लिए राजनीतिक स्तर पर व्यापक प्रयास करते रहे। पी.एल.ओ. ने एक निर्वासित फिलस्तीनी

सरकार की भी स्थापना कर ली, जिसे भारत सहित अनेक देशों ने मान्यता दे दी।

इजराइल को मान्यता न देने और उसके अस्तित्व को स्वीकार न करने का अरब देशों ने निर्णय कर रखा था। संसार के अनेक देश पेट्रोलियम पदार्थों के लिए अरब देशों पर निर्भर रहे हैं, इसलिए वे अरबों को नाराज़ नहीं कर सकते। यही कारण था कि भारत सहित अनेक देश वर्षों तक इजराइल को मान्यता देने तक से कतराते रहे। इजराइल की सबसे बड़ी आकांक्षा यह रही है अरब देशों सहित सम्पूर्ण संसार उसके अस्तित्व को स्वीकार करे और उसे मान्यता दे। अरब देश लगातार अपनी जिद पर अड़े रहे। परिणाम यह हुआ कि लगभग आधी शती तक वे इजराइल के साथ टकराते रहे।

किन्तु यह झगड़ा कब तक? यह प्रश्न सारे संसार के राजनेताओं के सम्मुख उभरता रहा है। इजराइल ने अस्तित्व में आते ही यह सिद्ध कर दिया कि शताब्दियों की आकांक्षाओं के बाद जो एक छोटा-सा यहूदी राज्य संसार के मानचित्र पर उभरा है, उसे किसी भी मूल्य पर नष्ट नहीं होने दिया जाएगा। गत चार-पांच दशकों में इजराइली सेनाओं ने (जिसमें स्त्रियों की संख्या भी पर्याप्त है) अरब देशों के साथ हुए युद्धों में अपनी वीरता और कुशलता का जो परिचय उससे सम्पूर्ण संसार चमत्कृत हो गया। अरब देशों के साथ उसके जितने भी युद्ध हुए उन सभी में वह विजयी हुआ। सभी अरब देश इकट्ठे होकर भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सके।

दूसरी ओर यह भी सच है कि लाखों की संख्या में निर्वासित फिलस्तीनियों ने भी हार नहीं मानी। उन्होंने इजराइल के विरुद्ध अपनी छायामति छापामार लड़ाई निरन्तर जारी रखी।

इस उलझाव को तोड़ने का सबसे पहला साहसिक क़दम मिश्र के राष्ट्रपति अनवर सादात ने उठाया। उन्होंने इज़राइल से बातचीत का सिलसिला शुरू किया। अमेरिका ने उसमें सहायता की। 1973 के युद्ध में इजराइल ने मिश्र का सिनाई क्षेत्र जीत लिया था। 17 सितम्बर 1978 को इजराइल के प्रधानमंत्री मोनाहिम बेगिन और अनवर सादात ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए। इजराइल ने सिनाई क्षेत्र मिश्र को लौटा दिया और मिश्र ने इजराइल को मान्यता दे दी। चूंकि यह समझौता, अमेरिका की मध्यस्थता में, 'कैंप डेविड समझौता' कहा जाने लगा।

इस समझौते के कारण मिश्र और उसके राष्ट्रपति अनवर सादात को बहुत कुछ झेलना पड़ा। अरब लीग के 16 सदस्यों ने मिश्र का पूरी तरह राजनीतिक और आर्थिक बहिष्कार कर दिया। अनवर सादात की इस्लामी दुनिया में बड़ी बदनामी हुई। 6 अक्टूबर 1981 को जब वे एक सैनिक परेड का निरीक्षण कर रहे थे, कुछ मुस्लिम कट्टरपंथियों ने उनकी हत्या कर दी।

वर्षों पहले अनवर सादात ने जिस दूरदृष्टि का परिचय दिया था, आज शेष अरब देश भी धीरे-धीरे उसे स्वीकार कर रहे हैं।

इजराइल और फिलस्तीन के मध्य जो समझौता हुआ है उसके अनुसार प्रारम्भ में जार्डन नदी के पश्चिमी तट के जेरिको नामक नगर और गाजा पट्टी पर नागरिक प्रशासन-शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य, पर्यटन, समाज कल्याण, सीधे कर आदि विभागों का

दायित्व फिलस्तीनियों को दिया गया है। फिलस्तीनी अपने सक्रिय छापामार गुटों को एकत्र करके पुलिस बल तैयार करेंगे। 1967 के युद्ध के बाद जो लाखों फिलस्तीनी जार्डन, मिश्र, लेबनान, सीरिया आदि देशों में शरण लेने के लिए बाध्य हो गए थे, उन्हें वापस बुलाया जाएगा। इजराइली सेनाएं गाजा पट्टी और जैरिको नगर से हटना शुरू हो जाएंगी। यह कार्य एक वर्ष में पूरा कर लिया जाएगा 13 दिसम्बर, 1998 तक स्थाई समझौता हो जाएगा। इस प्रकार पांच वर्ष बाद एक नया फिलस्तीनी देश दुनिया के नक्शे पर आ जाएगा।

लगभग पांच दशकों की निरन्तर लड़ाई, संसार की बदलती हुई स्थितियां, अरब देशों के आपसी संकट, पश्चिमी एशिया में अमेरिका की अपनी आवश्यकताएं, अनेक अरब देशों में बढ़ता हुआ मुस्लिम कट्टरवाद—इन सभी बातों ने दोनों पक्षों को यह सोचने पर बाध्य कर दिया कि वे अपने दुराग्रह छोड़कर बातचीत का मार्ग अपनाएं और यह मान लें कि वे एक-दूसरे को पूरी तरह समाप्त नहीं कर सकते, उन्हें सह-अस्तित्व का सिद्धान्त स्वीकार करना होगा।

इस प्रकार के समझौते की पहल कोई साहसी और दूरदृष्टि वाला नेता ही कर सकता है। पहले यह साहस अनवर सादात ने दिखाया था और अब यासर अराफात इसे प्रदर्शित कर रहे हैं।

इजराइली और फिलस्तीनी-दोनों पक्षों के कट्टरपंथी इस समझौते का विरोध कर रहे हैं। कुछ इजराइली संगठन 'बृहत्तर इजराइल' का स्वप्न देख रहे हैं और आशा करते हैं। कुछ और आशा करते हैं कि एक दिन इजराइल की सीमाएं जार्डन लेबनान सीरिया तक पहुंच जाएंगी। उन्हें इजराइल के प्रधानमंत्री राबिन का यह कदम फूटी आंखों नहीं सुहा रहा है। दूसरी ओर पी. एल. ओ. के कट्टरपंथी तत्व यासर अराफात को कौम का गद्दार घोषित करते हुए 'अराफात को मार डालो' के नारे लगाते हुए सड़कों पर प्रदर्शन करते रहे।

मैंने प्रारम्भ में ही लिखा है कि इस समझौते से मुझे राजीव-लोंगोवाल समझौते की याद आ गई है। संसार का कोई भी राजनीतिक आन्दोलन जिस निर्दिष्ट उद्देश्य को सम्मुख रखकर चलता है उसकी प्राप्ति एक ही समय में, एक मुरत हो जाए ऐसे उदाहरण विरल ही होंगे। हर संघर्ष टुकड़ों में होता है। बीच-बीच में कुछ ऐसे समझौते किए जाते हैं जिनकी उपलब्धियों निर्दिष्ट उद्देश्य से बहुत कम दिखाई देती हैं। ऐसे समय में संकीर्ण और कट्टरपंथी लोग असंतोष की अभिव्यक्ति करते हैं और अपने नेता या नेतृवर्ग पर अनेक आरोप लगाया प्रारम्भ कर देते हैं। संत हरचंद लोगोंवाल के साथ यही हुआ था। आज यासर अराफात के साथ यही हो रहा है।

किन्तु वह नेता ही क्या जो जोख़िम और खतरे भरे निर्णय नहीं ले सकता? संसार में ऐसा कौन-सा नेता या आन्दोलन है जिसे असफलता का मुंह नहीं देखना पड़ता? किन्तु यह भी सच है कि राष्ट्रों के इतिहास संकटों और असफलताओं की राह से गुजर कर ही बनते हैं।

(दैनिक जागरण, अक्टूबर, 1993)

मराठवाड़ा विश्वविद्यालय के नामान्तर का विरोध क्यों?

पिछले दिनों समाचार पत्रों में पढ़ने को मिला कि भारतीय जनता पार्टी, विश्व हिंदू परिषद् तथा संघ परिवार की अन्य संस्थाएं दलितों और पिछड़े वर्गों में अपनी पैठ बढ़ाने का व्यापक प्रयास करेंगी। अभी हाल में ही सम्पन्न पांच हिन्दी भाषी राज्यों के विधानसभा चुनावों में जातीय समीकरणों की मुख्य भूमिका रही। भारतीय जनता पार्टी सदा से ही सर्वण हिन्दुओं का समर्थन पाने वाली संस्था रही है, यद्यपि पिछड़े वर्गो और दलितों का भी कुछ समर्थन पाने का वह प्रयास करती रही है। इस बार के चुनाव में उत्तरप्रदेश में मुलायमसिंह यादव और कांशीराम के उम्मीदवारों को जो सफलता प्राप्त हुई, उसने जातीय ध्रुवीकरण को व्यापक रूप से उजागर किया और यह स्पष्ट कर दिया कि उनकी प्राथमिकताएं क्या हैं?

यदि मध्ययुगीन सामतशाही का ही जमाना होता तो पिछड़े वर्गों और दलितों को कौन पूछता...किंतु युग आ गया है लोकतंत्र का जिसने ब्राह्मण और क्षत्रिय को तथा चांडाल समझे जाने वाले व्यक्ति को एक धरातल पर ला खड़ा किया है। हर एक के पास एक वोट है और उस वोट का महत्व एक जैसा है।

इस वोट शक्ति की ही महिमा है कि शताब्दियों से अस्पृश्य अछूत और अधम समझा जाने वाला वर्ग अब गर्दन सीधी करके और सिर ऊंचा करके यह कहने की जुर्रत कर रहा है-हम तुम्हते कुछ घाटि?' अब अशोक सिंहल भी कह रहे है कि डॉ. भीमराव अम्बेडकर महान क्रांतिदर्शी हिन्दू नेता थे और दलित वर्ग हिन्दू समाज का अभिन्न अंग है। उसी वोट शक्ति की ही महिमा है कि सत्तारूढ़ कांग्रेस सरकार भूले-बिसरे डॉ. आम्बेडकर को विस्मृतियों के ढेर में से निकालकर 'भारत रत्न' के सर्वोच्च अलंकरण से विभूषित कर देती है।

किन्तु ये सारे प्रयास सत्ता-राजनीति से प्रेरित ऐसे प्रयास हैं, जिनकी आत्मा कुछ और होती है और चेहरा कुछ और बोलता है। इसका सबसे ज्वलंत उदाहरण फिर से उभरकर सामने आ गया है-मराठवाड़ा वि. वि. के नामान्तर के प्रश्न को लेकर।

एक दशक से अधिक हो गया जब महाराष्ट्र राज्य विधानसभा में यह प्रस्ताव आया था कि औरंगाबाद स्थित मराठवाड़ा विश्वविद्यालय का नाम डॉ. अम्बेडकर वि. वि. कर दिया जाए। राज्य विधानसभा ने इस प्रस्ताव को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया था और तत्कालीन कांग्रेस सरकार ने यह आश्वासन दिया था कि इस संबंध में शीघ्र ही एक अधिसूचना जारी कर दी जाएगी, किन्तु अधिसूचना जारी होने से पहले ही महाराष्ट्रभर में विरोध की एक तेज आंधी उठ खड़ी हुई थी। सवर्ण हिन्दूओं के एक बड़े वर्ग ने विश्वविद्यालय का नाम बदलने के विरुद्ध स्थान-स्थान पर बंद आयोजित किए; हड़ताले कीं, सरकारी सम्पति को नष्ट किया, प्रदर्शन किए। गांवों में दलितों की बस्तियों पर हमले किए गए। उनकी झुग्गियों को जलाया गया। कितने ही मरे और कितने ही जख्मी हुए।

इस विरोध के कारण सरकार दुबक गई। वोटों के कारण ही उसने नामान्तर करने का फैसला किया था आर वोटों के कारण ही वह फैसला टाल दिया तथा विधानसभा के निर्णय को ठंडे बस्ते के हवाले कर दिया गया।

यह कैसा देश है। बाबा साहब अम्बेडकर को भारत का महान सपूत मानकर उन्हें भारत-रत्न की उपाधि से सम्मानित किया जा सकता है, किन्तु उनकी स्मृति में किसी वि. वि. के साथ उनका नाम नहीं जोड़ा जा सकता। इससे एक बात तो स्पष्ट होती है; ऊपर से चाहे कितनी चिकनी-चुपड़ी बातें की जाएं, दलितों के प्रति घृणा या नीची जाति होने का जो भाव शताब्दियों से भरा हुआ है। वह आज भी विद्यमान है। यह वर्ग ऊपर उठे, पढ़े-लिखे, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तर पर सवर्ण जातियों के समकक्ष खड़ा हो, यह बात एक बड़े वर्ग को आज भी वर्दाश्त नहीं होती।

दलित समुदाय लगातर यह मांग करता रहा है कि सरकार वर्षों पूर्व महाराष्ट्र विधानसभा द्वारा पारित प्रस्ताव की अनुशंसा के अनुरूप अपने निर्णय को लागू करे और मराठवाड़ा वि. वि. के साथ डॉ. अम्बेडकर का नाम जोड़े। भला सरकार को ऐसी क्या पड़ी थी कि दबी हुई आग के ऊपर से राख झाड़कर उसे सुलगा दे। हताश होकर लोगों को फिर से आंदोलन का सहारा लेना पड़ा। इन पंक्तियों के लिखे जाने तक तीन व्यक्ति दो युवक और एक युवती इस मुद्दे पर प्राण त्याग चुके हैं। दो ने आत्मदाह कर ली है और एक ने साइनाइड का कैप्सूल निगल कर आत्महत्या कर ली है।

मराठवाड़ा महाराष्ट्र का वह क्षेत्र है जो राज्यों के पुनर्गठन से पहले हैदराबाद राज्य का भाग था। इसमें आठ जिले हैं और औरंगाबाद इस भाग का सबसे बड़ा नगर है। यह वही क्षेत्र है जहां मुगल सम्राट औरंगजेब ने अपने जीवन के अंतिम पच्चीस वर्ष दक्षिण की शिया बहमनी राज्यों, बीजापुर, गोलकुंडा, अहमदनगर तथा मराठों के साथ युद्ध करते हुए व्यतीत किए थे। अंत में यहीं उसका देहान्त हो गया था। औरंगजेब

का मकबरा औरंगाबाद के निकट बना हुआ है।

महाराष्ट्र से दूर बैठे किसी व्यक्ति की समझ में यह बात नहीं आती कि वहां की सवर्ण जातियों के लोगों को औरंगाबाद के वि. वि. के नाम के साथ डॉ. अम्बेडकर का नाम जोड़े जाने से इतनी आपत्ति क्यों है। इस देश के अनेक विश्वविद्यालों के नाम महापुरुषों, संतों, समाजसेवियों और राजनेताओं के नाम से जुड़े हुए हैं। गुरु नानक, शिवाजी, अहिल्याबाई, दयानद, महात्मा गांधी के अतिरिक्त जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, रविशंकर शुक्ल, इंदिरा गांधी, हेमवतीनंदन बहुगुणा, आचार्य नरेन्द्र देव जैसे कितने ही व्यक्तित्वों के नाम से यहां के विश्वविद्यालय विभूषित हैं। एक वि. वि. के नाम के साथ डॉ. अम्बेडकर का नाम जुड़ जाने से कौन-सा आसमान टूट पड़ेगा?

यह भी कैसी विडम्बना है कि इस वि. वि. के नामान्तरण का विरोध महाराष्ट्र का ब्राह्मण समुदाय इतना नहीं कर रहा है, जितना मराठा वर्ग कर रहा है। इस समय महाराष्ट्र की राज-सत्ता मराठों के हाथों में है। सदियों से इस प्रदेश में ब्राह्मणों की प्रभुता नही है। धर्म, समाज, राजनीतिक सत्ता, शिक्षा, उच्च सरकारी पद इन सभी पर सदा ब्राह्मण ही छाए रहे हैं, किन्तु पिछले 25-30 वर्षों में ब्राह्मणों को पीछे धकेलकर मराठे आगे आ गए हैं।

इस संदर्भ में महाराष्ट्र की हिन्दू समाज अवस्था को समझाना जरूरी है। उत्तर भारत की भांति यहां स्पष्ट चतुवर्ण व्यवस्था नहीं रही। महाराष्ट्र तथा अन्य दक्षिण भारतीय राज्यों में मुख्य भेद ब्राह्मण और अब्राह्मण का रहा है। ब्राह्मणों के अतिरिक्त वहां सभी वर्ग शूद्र समझे जाते रहे। महाराष्ट्र में मराठों की लगभग वही सामाजिक स्थिति रही है जो उत्तर भारत में जाटों की। ब्राह्मणों का पुराहित वर्ग सदा ही इनकी गणना निम्न वर्ग में करता रहा है। यही कारण था कि सत्रहवीं शती में जब शिवाजी ने इस क्षेत्र में अपने शौर्य और चातुर्थ से एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली तो भी अनेक वर्षों तक वे विधिवत् छत्रपति या महाराजा बनकर सिंहासन पर नहीं बैठे। कारण यह था कि महाराष्ट्र का कोई भी कुलीन ब्राह्मण शिवाजी के मस्तक पर राजतिलक लगाने को तैयार नहीं था, क्योंकि हिन्दू शास्त्र-विधि अनुसार राजतिलक लेकर, अपने सिर पर राजछत्र झुलवाने और छत्रपति बनने का अधिकार केवल क्षत्रिय को है। आखिर शिवाजी के कुछ सहयोगियों ने बनारस जाकर और भारी भरकम दक्षिणा (या रिश्वत) देकर कुछ ब्राह्मणों को इस कार्य के लिए तैयार किया। इन ब्राह्मणों ने सबसे पहला काम यह किया कि किसी प्रकार शिवाजी के भोसला वंश को चितौड़ के सिसौदिया राजपूत क्षत्रिय वंश से जोड़ा और यह प्रचारित किया कि वे कुलीन क्षत्रिय हैं, इसलिए शास्त्र विधि से राजतिकल लेने में कोई बाधा नहीं है। उस समय तक महाराष्ट्र के किसी पुरोहति ने उनका उपनपन संस्कार भी नहीं करवाया था क्योंकि शूद्र इस संस्कार का अधिकारी नहीं माना गया। राजतिलक से पूर्व उनका यह संस्कार भी किया गया, क्योंकि अब वे क्षत्रिय घोषित किए जा चुके थे।

राजसत्ता के अधिकारी हो जाने का परिणाम यह निकला कि मराठों की गणना

सवर्ण वर्ग में की जाने लगी। आज वही वर्ग 'उच्च' जाति का अहंकार लेकर दलितों को उनके वाजिब हक नकारने की कोशिश कर रहा है। मराठों की इस मानसिकता को उत्तर भारत के जाटों की मानसिकता से जोड़कर देखना अपने आप में एक रोचक बात है। राजस्थान में बसे जाटों को वहां के राजपूत क्षत्रिय नहीं मानते, इसलिए उनके साथ बराबरी का व्यवहार नहीं करते। अन्य राज्यों की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है। इसलिए जब वर्षों पूर्व क्षत्रिय महासभा की स्थापना हुई थी, जिसमें राजस्थान तथा अनेक राज्यों के राजपूत नरेश भी सम्मिलित हुए थे। अलवर, भरतुपर, धौलपुर के जाट राजाओं को उस महासभा में शामिल नही किया गया था।

राजसत्ता, जमीन पर स्वामित्व तथा अन्य कारणों से आज पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तरप्रदेश और राजस्थान के जाट भी अब शूद्र श्रेणी से निकलकर 'उच्च वर्ग' हो गए हैं। वर्ण व्यवस्था के कारण भेदभाव और उपेक्षा की मार मराठों और जाटों ने सदियों तक सही है, किन्तु आज इन वर्गों का भी दलितों के साथ वैसा ही घृणापूर्ण, भेदभाव से भरा, छुआछूत की क्रूर मानकिसता से प्रभावित व्यवहार रहता है जैसा अन्य तथाकथित उच्च वर्गों का। यह भी कैसा भोंड़ा मजाक है कि जब किसी शूद्र जाति का दर्जा किसी कारण ऊंचा हो जाता है तो वह दलितों के साथ अन्याय और अत्याचारपूर्ण व्यवहार करने में ब्राह्मणों और क्षत्रियों को भी पीछे छोड़ जाता है।

अब लोकतंत्र ने दलितों, अछूतों के लिए भी राजसत्ता के द्वार खोल दिए हैं। आरक्षण की नीति के कारण इस वर्ग के लोग ऊंचे-ऊंचे सरकारी पदों पर पहुंचने लगे हैं। जिस दिन यह वर्ग अपने आरक्षण के पूरे कोटे का इस्तमाल करने लगेगा (अभी तक केवल 6 प्रतिशत का ही प्रयोग हो पाता है) उस दिन सामाजिक परिवर्तन के चक्र की गति और तेज हो जाएगी।

कुछ समय पूर्व हुए विधानसभा के चुनावों ने दलित वर्ग की वोट शक्ति को पूरी तरह उजागर कर दिया है। इस देश का कोई भी राजनीतिक दल अब इस शक्ति की उपेक्षा नहीं कर सकता। यही कारण है कि मराठवाड़ा विश्वविद्यालय के नामकरण आंदोलन का समर्थन भारतीय जनता पार्टी सहित सभी राजनीतिक दल कर रहे हैं। केवल शिवसेना विरोध में खड़ी है।

यह प्रश्न भारतीय जनता पार्टी को सबसे अधिक मुश्किल में डालता है। अपनी राजनीतिक आवश्यकताओं के कारण उसे पिछड़े वर्गों और दलितों के सहयोग की आवश्यकता है किन्तु उस पर प्रभाव पूरी तरह सवर्ण वर्ग के लोगों का है। पिछले कुछ वर्षों में साधु-संत भी इसके साथ जुड़ गए हैं जो चतुवर्ण व्यवस्था में पूरी आस्था रखते हैं। भारतीय जनता पार्टी द्वारा घोषित हिन्दू राष्ट्र का संकल्प प्राचीन मान्यताओं को छोड़कर कैसे पूर्ण किया जा सकता है। यह इस संकल्प के प्रस्तोता अच्छी तरह जानते होंगे। मनुस्मृति तथा अन्य धर्मशास्त्रों में सभी शूद्रों, विशेष रूप से अस्पृश्य वर्गों के लिए जो विधान किए गए हैं। उनमें इनके लिए अपमान और घृणा के अतिरिक्त और क्या है?

किन्तु दलितों की वोट शक्ति के कारण भाजपा और विश्व हिन्दू परिषद् जैसी संस्थाएं भी मजबूर हैं कि वे दलितों को गले लगाने की बातें करें और डॉ. अम्बेडकर को क्रांतिदर्शी हिन्दू नेता कहें, किन्तु महाराष्ट्र मे भाजपा की सहयोगी संस्था शिवसेना नामान्तर विरोधी अभियान का संचालन कर रही है। इसलिए ऐस भी हो सकता है कि भाजपा और संघ परिवार की अन्य संस्थाएं दलितों और उनकी मांगों के प्रति शाब्दिक सहानुभूति तो दर्शाएं, लेकिन बहुत सक्रिय होकर उनके साथ न जुड़ें। क्योंकि ऐसा करने से सवर्ण जातियों में जो उनका वोट बैंक बन चुका है, वह खतरे में पड़ जाएगा।

आज महाराष्ट्र में मराठावाड़ा वि. वि. के नामान्तर की लड़ाई केवल दलितों की लड़ाई नहीं है। अब यह लड़ाई उन सभी की प्रतिष्ठा की लड़ाई बन गई है जो मानवीय समता, न्याय और सम्मान में आस्था रखती है। यदि दलित अपनी यह छोटी सी लड़ाई जीतने में सफल नहीं हो पाते तो यह मान लेना चाहिए कि इस देश में अभी भी ऊंच-नीच में विश्वास रखने वाली शक्तियों का पलड़ा भारी है और सामाजिक परिवर्तन का चक्र बड़ी धीमी गति से चल रहा है।

(स्वतन्त्रभारत, 7 जनवरी, 1994)

मूल्यहीन राजनीति ने सभी के कपड़े उतार दिये

राजनीतिक में तनिक भी रुचि रखने वाला देश का सामान्य नागरिक भी इस समय देश की राजनीति को खूब 'एन्ज्वाय' कर रहा है। राजनीति की देह के कुंचुआधर्मी होने का थोड़ा-बहुत एहसास सभी को है। इसकी निंदापरक या क्षोभपरक चर्चा हर नागरिक करता है। कभी गुस्सा, कभी मजाक और कभी उदासीनता भरी प्रतिक्रिया भी वह व्यक्त करता है, लेकिन इसका मजा लिया जा सकता है, इसे 'एन्ज्वाय' किया जा सकता है। ऐसी स्थिति इससे पहले कभी नहीं आयी। लोग सारी स्थिति का स्वाद लेते हुए एक-दूसरे से यह पूछते हैं कि केन्द्र में उत्तर प्रदेश वाला तजुर्बा दोहराये जाने वाली घड़ी अब कितनी दूर रह गयी है? कांग्रेस का कितना बड़ा धड़ा टूट कर और अपनी नयी कांग्रेस बनाकर भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में केन्द्र में सत्ता की भागीदारी करेगा? सबसे मजेदार स्थिति यह है कि अब हर व्यक्ति रोज अपनी उंगलियों पर यह हिसाब लगाता रहता है कि गुजराल साहब की सरकार अब कितने दिन और है।

पार्टियों के टूटने और नये गठबंधन होने का सिलसिला इस देश की राजनीति में आजादी के बाद से ही लगातार चला आ रहा है। आजादी के तुरन्त बाद कांग्रेस के अन्दर के सोशलिस्टों ने कांग्रेस से अलग हो सोशलिस्ट पार्टी बना ली थी। इस सोशलिस्ट पार्टी ने कितनी बार टूट-टूट कर नये-नये नाम धारण किये, इसका हिसाब लगाना आसान नहीं है। वामपंथी पार्टियां भी टूटीं। एक जमाने में पं. जवाहर लाल नेहरू के विरुद्ध तत्कालीन मध्य प्रदेश के लौह पुरुष द्वारका प्रसाद मिश्र ने विद्रोह का झंडा उठाया था। फिर कांग्रेस में ओ. जे. एस. आई. जैसी संज्ञाओं वाली अनेक पार्टियां बनी और अन्ततोगत्वा उसी में समा गयीं।

ऐसे राजीनीतिक परिदृश्य में सभी दल में दो खेमों में बांटकर देखने और प्रचारित करने की प्रवृत्ति विकरित हुई। एक खेमा 'सेक्यूलर' कहे जाने वाले दलों का, दूसरा खेमा 'कम्यू नल' कहे जाने वाले दलों का। सभी तरह के कांग्रेस, समाजवादी और वामपंथी, आपस में सभी प्रकार की सिर फुटव्वल करने के बावजूद 'सेक्युलर' झंडे की छत्रछाया अपने सिर पर बनाये रहे और भाजपा, शिव सेना, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद जैसी 'कम्यू नल' संस्थाओं को लम्बे बांस से भी न छूने की कसम खाकर गरिआते रहे। लेकिन सेक्युलर और कम्युलन पार्टियों के बीच की दीवार उस दिन दरकने लगी, जब जार्ज फर्नांडिस जैसे पुराने वाग्वद्ध सोशलिस्ट ने जनता दल से टूटकर अपनी समता पार्टी बनायी और चुनावी समझौता कर लिया भाजपा से। हुकमदेव नारायण जैसे प्रतिबद्ध लोहियावादी और सरकारी अफसरी छोड़कर चंद्रशेखर जी से दीक्षा लेकर समाजवादी बने यशवंत सिन्हा भाग कर भारतीय जनता पार्टी के रथ पर तुरत-फुरत चढ़ गये।

कैसा रोचक दृश्य है। बिहार और उत्तर प्रदेश में जार्ज फर्नांडिस की समता पार्टी भाजपा की उंगली पकड़ कर बैठी है। हरियाणा में, एक समय के इंदिरा गांधी के नूरेनजर बंसीलाल भाजपा के साथ मिलकर सरकार बनाये हुए हैं। पंजाब का दृश्य तो और भी रोचक है। एक-दूसरे को फूटी आंख न सुहाने वाले दो दल-अकाली दल और भारतीय जनता पार्टी आज गलतबहियां डालकर पंजाब की सत्ता में पूरे भागीदार हैं। कल तक ऐसे गठजोड़ थोड़ा-बहुत आश्चर्य पैदा करते थे।

अब ऐसा नहीं लगता। उत्तर प्रदेश में कांग्रेस में से टूटकर एक बड़ा वर्ग भाजपा के साथ मिलकर सत्ता का भागीदार बन गया, यह बात भी अब आश्चर्य पैदा नहीं करती। इसने सिर्फ इतना किया है कि कांग्रेस में भयंकर हड़कम्प वाली स्थिति पैदा कर दी है। स्थिति यह हो गयी है कि अब कांग्रेस के बड़े-बड़े नेता ऐसी कसमें खाने को लाचार हो रहे हैं कि मैं कांग्रेस में रहकर बूढ़ा हो गया हूं...कुछ भी हो जाए, मैं कांग्रेस छोड़कर भाजपा की तरफ नहीं भागूंगा

मुझे लगता है कि आज के सम्पूर्ण राजनीतिक परिदृश्य में सारा संकट कांग्रेस पार्टी के आस-पास है। स्वतंत्रता के 50 वर्षों में लगभग 45 वर्ष केन्द्र में कांग्रेस ही सत्ता में बनी रही। अनेक वर्षो तक 'कांग्रेस' और 'सत्ता' समानार्थी शब्द बन कर रहे। किसी समय की देश के लिए समर्पित 'इडियन नेशनल कांग्रेस' सत्ता का स्वाद चखते ही सत्तामय हो गयी। किसी भी छोटे-बड़े कांग्रेस के लिए यह सोच सकना ही दूभर हो गया कि वह सत्ता से बाहर रहकर जी सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि राजनीतिक दलों का जन्म ही सत्ता प्राप्त करने के लिए होता है और इसी दिशा में वे प्रयत्नशील रहते हैं, किन्तु राजनीतिक दल के नेतृत्व में समय-समय पर होते रहने वाले परिवर्तन और सत्ता में किसी भी दल के वर्चस्व की समय-सीमा सत्ता के प्रति भयावह जोड़-तोड को तो रोकती है, दल के सदस्यों को भी सत्ता लिप्सा से बचाती है। अमरीका की रिपब्लिकन और डेमोक्रेटिक पार्टी तथा ब्रिटेन की टोरी और लेबर

पार्टी में वर्षों से यह संतुलन बना हुआ है।

हमारे देश में ऐसा नहीं हुआ। यहां कांग्रेस पार्टी सत्ता में आयी, उसी के साथ एक परिवार सत्ता में आ गया। धीरे-धीरे यह मानसिकता विकसित हुई और विकसाई गयी कि इस देश के लिए ये दोनों तत्व (कांग्रेस पार्टी और नेहरू-गांधी परिवार) अनिवार्य भी हैं और अपरिहार्य भी हैं। नेहरू जी ने अपने जीवन काल में ही अपनी बेटी को अपने उत्तराधिकारी के रूप में विकसित करना और बढ़ाना शुरू कर दिया था। इंदिरा गांधी के समय संजय गांधी, बिना किसी संवैधानिक अधिकार के, इस देश के अघोषित प्रधानमंत्री के रूप में काम करने लगे थे। इंदिरा गांधी की मत्यु के बाद यह बात सहज ही मान ली गयी कि उनका उत्तराधिकारी उनके बेटे राजीव गांधी को ही होना है। इसलिए कांग्रेस संसदीय दल के नेता के औपचारिक चुनाव के बिना ही उन्हें प्रधानमंत्री पद की शपथ दिला दी गयी। आज भी इस स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया हैं 'सोनिया लाओ-देश बचाओ' जैसे नारों की गूंज बहुत दूर तक ध्वनित होती रहती है।

यही बात कांग्रेस पार्टी के बारे में निरन्तर चलती रही। कांग्रेस ही देश की एकता अखंडता की रक्षा कर सकती है और स्थायी सरकार दे सकती है यह मिथ इस देश में वर्षों तक प्रचारित किया जाता रहा और इसके घेरे में सारे देश को फंसाये रखा गया। कांग्रेस के हाथ से दो-तीन बार सत्ता गयी और छोटे अंतराल के बाद फिर आ गयी। कोई काग्रेंस नेता सत्ता के बगैर जी ही नहीं सकता। सत्ता के लहू का स्वाद उसकी दाढ़ों में बैठा हुआ है। वह उसे चैन से बैठने नहीं देता।

इस समय कांग्रेस बड़े संकट में है। पिछली लोकसभा के चुनाव में उसे कुल 144 स्थान प्राप्त हुए। संयुक्त मोर्चे की सभी 13 पार्टियों के पास लगभग 180 स्थान हैं। संयुक्त मोर्चे का गठन ही केन्द्र में अपनी सरकार का गठन करना था। इसलिए वह कांग्रेस को समर्थन दे नहीं सकता। विवश होकर कांग्रेस को ही संयुक्त मोर्चे को अपना समर्धन देना पड़ा, नहीं तो भाजपा का भूत उसे निगल जाता।

नेहरू-गांधी परिवार का अपना एक करिश्मा था। कांग्रेस का सारा दारोमदार इस करिश्मे पर टिका था। पी. वी. नरसिंह राव ने यदि थोड़ा संयम दिखाया होता तो सोलह कला सम्पूर्ण करिश्माई अवतार न सही, छह-आठ कलाओं वाले अवतार तो वे बन ही सकते थे। सीताराम केसरी कोई करिश्मा पैदा कर सके हैं ऐसा वह खुद ही नहीं मानते—भला और कौन मानेगा! इसलिए कांग्रेसजनों की हताश बढ़ जाना बहुत स्वभाविक है। इस बार चुनकर आये कांग्रेस सांसद यह बात बुरी तरह महसूस करते हैं कि क्या बिना सत्ता-सुख भोगे ही उनका कार्यकाल समाप्त हो जाएगा। संयुक्त मोर्चे के वामपंथी उन्हें मोर्चा सरकार में घुसने नहीं देते। मध्यावधि चुनाव में उन्हें फिर से चुने जाने की कोई आशा नहीं। इसलिए किसी भी हालत में वे लोकसभा को समय से पहले भंग नहीं होने देना चाहते। उनके सामने इसके अलावा और चारा ही क्या है कि वे कांग्रेस की कैद से भागें और किसी के भी साथ मिलकर सत्ता के दुर्लभ फल

को जितना हो सके, अपने दांतों से काट लें।

सबसे मजे की स्थिति में है भारतीय जनता पार्टी। उसने उत्तर प्रदेश में वह कर दिखाया जिसे 'रिकार्ड तोड़ना' कहते हैं। कल्याण सिंह ने दीवाली की ऐसी दुकान खोल दी जिस पर लिखा था—एक हाथ समर्थन दो, दूसरे हाथ मंत्री पद लो। एक टुकड़ा कांग्रेस पार्टी से निकला, एक बहुजन समाज पार्टी से, एक जनता दल से। सभी ने कल्याण सिंह को बायें हाथ से समर्थन पकड़ाया और दाहिने हाथ से कुर्सी हथिया ली। तुम्हारी भी जय-जय हमारी भी जय-जय।

सारी बात भारतीय जनता पार्टी पर आकर केंद्रित हो जाती है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ संस्कारों पर विश्वास और आग्रह करने वाली संस्था है। उस स्रोत से जल ग्रहण करने वाली भारतीय जनता पार्टी मूल्याधारित राजनीति पर बल देती रही है, किन्तु उत्तर प्रदेश में जो कुछ हुआ, उसे और जो भी कहा जाय, किसी प्रकार का मूल्य संरक्षण तो नहीं कहा जा सकता। जितना बड़ा मंत्रिमंडल कल्याण सिंह ने बनाया है उससे एक बात उभरी है कि इस देश की राजनीति अब ऐसे घटिया बाजार में बदल गई है जहां चीजों की खुली खरीद-फरोख्त होती है।

इस देश में राजनीति के मूल्यों की खुले आम दुर्गति कांग्रेस द्वारा शुरू हुई। जिस देश के प्रधानमंत्री पर यह आरोप लग जाए कि उसने अपनी गद्दी बचाने के लिए 50-50 लाख रुपए रिश्वत देकर विपक्षी सांसद खरीदे तो समझिए कि अब कुछ भी हो सकता है। आखिर भारतीय जनता पार्टी भी एक राजनीतिक दल है। जब देश की राजनीतिक संस्कृति सारे मूल्य त्याग कर पूरी तरह नंगी होकर सड़कों पर विचरने लगे तो किसी भी पार्टी के शरीर पर आखिर कितने दिन कपड़े रह जाएंगे? इस हमाम में सभी नंगे थे। अब तो हमाम की सभी दीवारें और दरवाजे भी टूट गए हैं! क्या ऐसी ही क्षण-क्षण जीवी सत्ता-राजनीति के प्रदूषण में हम सांस लेने और जीने को अभिशप्त हैं?

(राष्ट्रीय सहारा, 15 नवम्बर, 97)

सह-अस्तित्व के पुष्प गुच्छ या घृणा-युद्ध

इतिहास की करवटें भी विचित्र होती हैं। यदि वह सीधी करवट ले ले तो उसके साथ अनेक सुनहरे पृष्ठ जुड़ जाते हैं। यदि वह कभी उल्टी करवट ले ले तो उसके पृष्ठों पर असंख्य लोगों के खून के छींटे बिखर जाते हैं। 15 अगस्त, 1947 को यही बात हुई थी।

15 अगस्त, 1947 को न सिर्फ़ भारत को स्वाधीनता मिली, बल्कि उसी के साथ देश के दो फाड़ भी हो गये। देश-विभाजन के बहुत समय बाद तक दोनों ओर बड़ा भय था। एक ओर से आवाज़ें उठती थीं कि हम पुनः इस देश को एक करके अखंड भारत के संकल्प को साकार करेंगे। दूसरी ओर से आते हुए नारे सुनाई देते थे 'हँस के लिया है पाकिस्तान-लड़के लेंगे हिंदुस्तान।' बहुत हद तक यह फोबिया आज भी विद्यमान है।

यह विडम्बना ही है कि विभाजन के बावजूद ये दोनों देश इस अवधि में तीन युद्ध लड़ चुके हैं। गौर करने वाली बात यह है कि इन तीनों युद्धों का क्षेत्र निरंतर विस्तृत होता चला गया। पहला युद्ध कश्मीर की सीमाओं में हुआ था। दोनों देशों के अस्तित्व में आने के लगभग दो महीने बाद ही पाकिस्तान की ओर से हज़ारों कबाइलियों को कश्मीर में भेज दिया गया। इनमें पाकिस्तानी सेना के नियमित सैनिक भी थे। इन कबाइलियों ने वहां अत्याचार और विनाश का नंगा-नाच शुरू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि भारत और पाकिस्तान की सेनाएं भी आमने-सामने आकर जूझने लगीं।

पहला युद्ध केवल कश्मीर की सीमाओं में हुआ था। दूसरा युद्ध जो 1965 में लड़ा गया उसके दायरे में पश्चिमी पाकिस्तान और उससे लगे सभी भारतीय क्षेत्र शामिल थे। तीसरे (1971) में पूरा पाकिस्तान और भारत का एक बड़ा भाग युद्ध की चपेट

में था। यदि इन दोनों देशों में चौथा युद्ध हुआ तो उसके कलावे में संपूर्ण पाकिस्तान तो आ ही जाएगा, परमाणु अस्त्रों और प्रक्षेपास्त्रों की मार से भारत का कोई भी भाग बचा नहीं रहेगा। इस युद्ध से दोनों देशों के जन-धन का जो विनाश होगा, यह सोचकर ही पसीने छूट जाते हैं।

पता नहीं इन दोनों देशों में राजनीति में आकंठ डूबे हुए लोगों ने इन युद्धों से कोई सबक सीखा है या नहीं, किंतु आम लोग ऐसी किसी भी संभावना के प्रति पूरी तरह संवेदनशील हैं। मुझे याद है कि 1982 में हम कुछ लोग मशहूर पंजाबी सूफी कवि सैयद वारिस शाह के उर्स में शामिल होने के लिए पाकिस्तान गए थे। उस समय भी दोनों देशों के आकाश में किसी नये युद्ध की आशंका के काले बादल छाए हुए थे। जब हम दिल्ली स्थित पाकिस्तानी उच्चायोग में गए तो वीजा अफसर ने वीजा देने के पश्चात् बड़ी भावुकतापूर्ण भाषा में हमसे कहा, 'पाकिस्तान में आप वहां के गुरुद्वारों के दर्शन करने ज़रूर जाएंगे। वहां जाकर आप एक दुआ जरूर मांगिएगा कि हमारे दोनों देशों में फिर से जंग न हो।'

दोनों देशों के बुद्धिजीवी लगातार यह प्रयत्न करते रहे हैं कि राजनीतिक दृष्टिकोण को दूर रखकर सांस्कृतिक क्षेत्र में दोनों देशों के लोग एक-दूसरे से अपनी साझेदारी बढ़ाएं। इस प्रयास में वे कुछ हद तक सफल रहे हैं। दोनों ओर के लेखक, कवि, गायक, कलाकार, पत्रकार जब भी अपनी सीमाओं को पार करके दूसरी ओर गए हैं, उनका भरपूर स्वागत हुआ है। पाकिस्तान के अहमद फराज ने यहां आकर कहा,

तुम्हारे देश में आया हूं दोस्तों, अब के
न साजो नगमा की महफिल न शायरी के लिए
अगर तुम्हारी अनाही का सवाल है तो,
चलो मैं हाथ बढ़ाता हूं दोस्ती के लिए

इस भावना का उत्तर देते हुए भारत के अली सरदार जाफरी ने कहा,

तुम आओ यूं गुलशने लाहौर से चमन बरदोश,
हम आएं सुबहे बनारस की रोशनी लेकर।
फिर उसके बाद यह पूछें कि कौन दुश्मन है?

लेकिन ऐसी सभी भावनाएं उस समय हवा में सूखे पत्तों की तरह उड़ने लगती हैं जब राजनीति की गर्मी माहौल पर हावी हो जाती है। उस समय प्रेम से हिलते हुए हाथ एक-दूसरे को घूरते हुए, धमकी से भरी मुट्ठियों में बदल जाते हैं।

भारत-पाकिस्तान के मध्य गत 52 वर्षों से कश्मीर का मुद्दा गले की हड्डी बना हुआ है। पाकिस्तानी शासकों ने उस समय गलत कदम उठाया जब उन्होंने

पश्चिमोत्तर क्षेत्र के बर्बर कबाइलियों को अपनी फौजी सहायता देकर कश्मीर पर हमला करवा दिया। इन लोगों ने कश्मीर की सीमा में घुसकर आम लोगों पर (जिनमें अधिसंख्य मुसलमान थे) जैसे जुल्म ढाए उससे वे लोगों की हमदर्दी पूरी तरह गंवा बैठे। उस समय शेख अब्दुल्ला और उनकी नेशनल कांफ्रेस ने भारत के साथ जुड़ने का फैसला किया। कश्मीर के तत्कालीन महाराजा हरि सिंह ने अपने राज्य का भारत में विलय करने का निर्णय लेकर आवश्यक दस्तावेजों पर हस्ताक्षर कर दिए और भारत सरकार से सैनिक सहायता की याचना की। भारतीय सेनाओं ने कश्मीर पहुंचकर कबाइलियों को खदेड़ना प्रारंभ किया और उनके द्वारा अधिकृत किए गए बहुत से क्षेत्रों को वापस ले लिया।

इस समय भारत सरकार ने जो कदम उठाया उसका मतलब और तर्क आज तक किसी की समझ में नहीं आया। प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू कश्मीर का मामला सुरक्षा परिषद में ले गये और जान-बूझकर उन्होंने इस प्रश्न को अन्तरराष्ट्रीय रूप दे दिया। उन्होंने यह कदम क्यों और किसकी सलाह पर उठाया, यह आज भी रहस्य बना हुआ है।

उसके बाद से भारत ने कश्मीर के संबंध में जो रवैया रखा है वह अन्तर्विरोधों से ग्रसित है। उसने पहले संयुक्त राष्ट्र संघ के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया था कश्मीर में जनमत संग्रह कराया जाएगा और लोगों की इच्छानुसार कश्मीर के भविष्य का निर्णय किया जाएगा। लेकिन बाद में स्वयं प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने यह कहना प्रारंभ कर दिया कि अब स्थितियां बदल गई हैं, इसलिए जनमत संग्रह का प्रश्न नहीं उठता। भारत यह भी दलील देता आ रहा है कि जम्मू-कश्मीर में कितनी ही बार आम चुनाव हो चुके हैं और लोगों ने अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करके अपना निर्णय दे दिया है। इसलिए अब जम्मू-कश्मीर भारत का अविभाज्य अंग है।

पाकिस्तान ने भारत की इन दलीलों को कभी नहीं स्वीकार किया। जम्मू-कश्मीर में हुए चुनावों को वह सदैव बनावटी और नियोजित चुनाव घोषित करता रहा और सदा यह मांग करता रहा कि संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्ताव के अनुसार वहां जनमत संग्रह कराया जाए। गत 52 वर्षों में कश्मीर को लेकर भारत और पाकिस्तान में दोपक्षीय बातचीत होती रही है। सातवें दशक के प्रारंभ में जुल्फिकार अली भुट्टो, जो उस समय पाकिस्तान के विदेश मंत्री थे और भारत की ओर से केंद्रीय मंत्री स्वर्ण सिंह ने आपस में छह मुलाकातें की थीं—तीन भारत में और तीन पाकिस्तान में, किन्तु पनाला वहीं बहता रहा जहां बह रहा था। फिर भी यह सिलसिला लगातार चलता रहा और आज भी चल रहा है, बिना किसी सार्थक परिणाम के।

भारत कहता है, हम कश्मीर सहित पाकिस्तान से हर समस्या पर बातचीत करने के लिए तैयार हैं, किंतु बातचीत दोपक्षीय होनी चाहिए। किसी तीसरे पक्ष की भागीदारी हमें स्वीकार नहीं। पाकिस्तान ने अब यह कहना प्रारंभ किया है कि गत 52 वर्षों से हम बिना परिणाम के दोपक्षीय वार्ता करते चले आ रहे हैं। समस्या का कोई निदान तो निकला नहीं, बल्कि स्थिति पहले से ज्यादा खराब हो गई है, इसलिए हमें किसी

तीसरे पक्ष को बीच में डालना चाहिए।

इस देश में भी किसी जागरूक व्यक्ति के लिए यह बात समझना सरल नहीं है कि भारत एक ओर तो कहता है कि कश्मीर का भारत में विधिवत विलय हो चुका है, वह भारत का अविभाज्य अंग है, दूसरी ओर वह कश्मीर समस्या को हल करने के लिए पाकिस्तान से हर समय बातचीत करने को तैयार रहता है। यह बात अपने आपमें अंतर्विरोधों से भरी लगती है। सही और सार्थक सोच रखने वाले दोनों देशों के जो लोग यह प्रयास करते रहते हैं कि हमारे आपसी संबंध सौहार्द, सहयोग और प्रेम के बनें, उनके तर्कों का मुख्य आधार भावुकता से भरा होता है। कश्मीर जैसी उलझी हुई समस्या का निदान ढूंढने के लिए अभी तक उनकी ओर से कोई ठोस सुझाव नहीं दिया गया। परिणाम यह हुआ कि ऐसे लोग लम्बे भाषणों, भावुक गीतों और उच्च स्वर वाले नारों से आगे नहीं जा सके हैं। अपना सद्भाव प्रदर्शित करने के लिए पिछले कुछ वर्षों से इस देश से ऐसे लोग 14-15 अगस्त की रात को वाघा सीमा पर जाकर प्रतीक रूप से मोमबत्तियां जला आते हैं।

इस अत्यंत उलझी हुई स्थिति में समस्या का केवल एक समाधान दिखाई देता है कि कश्मीर में आज की वास्तविक नियंत्रण रेखा को ही भारत-पाकिस्तान के मध्य की अन्तरराष्ट्रीय सीमा स्वीकार कर लिया जाए। यह सुझाव कोई नया सुझाव नहीं है। पं. जवाहरलाल नेहरू के समय में भी यह कि दोनों देशों के राजनेता यह समझते हैं कि यदि ऐसी कोई बात उनके मुख से निकली तो वह उनकी कमजोरी मानी जाएगी और विपक्षी दल उसका भरपूर लाभ उठाएंगे। स्थिति यह है कि भारतीय नेताओं के लिए यह कहना उनकी बाध्यता है कि हम उस भाग को अवश्य स्वतंत्र कराएंगे, जिस पर पाकिस्तान ने अधिकार जाम रखा है। पाकिस्तानी नेताओं की मजबूरी यह है कि वे ऊंचे स्वर में यह कहते रहें कि कश्मीर को भारत ने जबरन गुलाम बना रखा है और हम उसे जरूर आजाद कराएंगे।

किंतु आधी सदी का अनुभव यह सिद्ध करता है कि कश्मीर का जो भाग, जिसके अधिकार में है वह उसी के अधिकार में रहेगा। इस यथार्थ को कोई झुठला नहीं सकेगा, किन्तु वास्तविकता को झुठलाने का वहम पाल कर दोनों ओर के सैनिक एक-दूसरे की गोलियों का शिकार होते रहेंगे, आम लोग गेहूं में घुन की तरह पिसते रहेंगे और धार्मिक उन्माद दोनों ओर बढ़कर सही और सार्थक सोच वाली शक्तियों को लगातार कमजोर करता रहेगा।

स्वतंत्रता की अर्द्धशती भारत ने भी मना ली और पाकिस्तान ने भी। कुछ ही महीनों बाद संपूर्ण संसार अगली सदी में पदार्पण करेगा। प्रश्न यह है कि ये दोनों देश इक्कीसवीं सदी में एक-दूसरे के लिए घृणा, युद्ध और अशांति का दुर्भाव लेकर जाएंगे अथवा सौहार्द, सहयोग और सह-अस्तित्व का पुष्प गुच्छ अपने हाथों में रखेंगे।

राष्ट्रीय सहारा, 23 अगस्त, 1998

राजनीति का निदेशक अब 'सूटकेस' है

राजनीति को जो घिनौना नाटक इस देश में 17 अप्रैल को खेला गया, उसने इस देश की भावी राज-व्यवस्था के प्रति हर संवेदनशील मन को बहुत व्यग्र और चिंतित कर दिया है। एक प्रश्न बार-बार कुरेद रहा है कि क्या एक सौ करोड़ के इन विशाल देश में सरकारों का बनना बिगड़ना किन्हीं एक-दो व्यक्तियों की दिमागी सनक या फितूर पर निर्भर करेगा? क्या यह जनतंत्र है? क्या इस देश की विशाल जनता अत्यंत निरही बनकर कुछ एक राजनीतिज्ञों के कार्यकलापों को देखने और उसके परिणाम भुगतने के लिए मजबूर है? क्या साढ़े पांच सौ की सीमा में घिरी छोटी-सी संख्या सौ करोड़ लोगों के भाग्य-निर्धारण में अपनी तुच्छ और स्वार्थी सोच को आधार बना 'नम्बर गेम' के पांसे फेंकती रहेगी और इस देश का मानस निरन्तर छला जाता रहेगा? हमने सनकी राजाओं और बादशाहों की बहुत सी कहानियां पढ़ी हैं। किसी 'अंधेरे नगरी—चौपट राजा' की बात हमारी लोक मानसिकता का हिस्सा है, जिसके राज में टके सेर भाजी भी बिकती थी और टके सेर खाजा (मिठाई) भी। मोहम्मद तुगलक जैसा कोई सुल्तान 14 वीं सदी में दिल्ली से बदलकर दौलताबाद को अपनी राजधानी घोषित करके सभी दिल्ली-निवासियों को अपना बोरी-बिस्तर बांधकर दौलताबाद जाने की आज्ञा देकर असंख्य लोगों को संकट में डाल सकता था। राजतंत्र में ऐसा होता रहा है किन्तु जनतंत्र में भी कोई सुब्रह्मण्यम स्वामी, कोई जयललिता, कोई मायावती जनता के साथ ऐसा क्रूर मज़ाक कर सकती है, यह सोचा भी नहीं जा सकता।

वाजपेयी सरकार 'नम्बर गेम' में केवल एक मत से पिछड़ गयी और उसका सारा ढांचा लड़खड़ाकर धराशायी हो गया। जनतंत्र में सरकारें बनती हैं और टूटती हैं। यह एक स्वीकृत तथ्य है। जनंतत्र में जनता यह भी अपेक्षा रखती है कि राजनीति

में भाग लेने वाले सभी दल और व्यक्ति किन्हीं मुद्दों को उजागर करेंगे और किन्हीं सिद्धान्तों और आदर्शों को आधार बनाकर अपनी राजनीतिक लड़ाई लड़ेंगे, किन्तु इस देश में तो ऐसा कुछ भी नहीं हो रहा है। एक पक्ष किसी न किसी तरह सत्ता में बना रहना चाहता है, दूसरा पक्ष उसे किसी न किसी तरह से हटाना चाहता है। क्या जनतंत्र की सारी लड़ाई इन दो मुद्दों में ही बंटी हुई है? क्या इस विशाल देश की जनता केवल यह देखने के लिए बाध्य है कि देश मूलभूत समस्याओं-गरीबी, बेरोजगारी, सामाजिक अन्याय, कमरतोड़ महंगाई और निरंतर बढ़ती अपराध वृत्ति को भुलाकर मुट्ठीभर लोग, जो जनता के प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं, सिर्फ सरकार बनाने और बिगाड़ने का कुटिल खेल खेलते रहें?

पिछले तेरह महीनो का हिसाब-किताब क्या है? अब की बारी अटल बिहारी का नारा सारे देश में गुंजाने का प्रयास हुआ, किन्तु इस समय कोई भी एक नारा सारे देश को अपने कलेवर में नहीं लेता। पिछले आम चुनाव में लोकसभा की 182 सीटें जीतकर भारतीय जनता पार्टी सबसे बड़ी पार्टी बनकर तो उभरी किन्तु सरकार बनाने के लिए उसे 90 से कुछ अधिक सदस्यों का और सहयोग चाहिए था। यह संख्या देश के 100 करोड़ लोगों की खोपड़ी में ठुकी कीलों की तरह चुभने लगी। यह संख्या तराजू पर रखे मेंढकों की तरह लगातार ऐसी उछल-कूद करती रही कि वाजपेयी सरकार का सारा ध्यान इन्हीं को संभालने में लग गया। इस सरकार के बनने के पहले से लेकर इस सरकार के गिरने तक सुश्री जयललिता ने जो भूमिका अदा की उसके सामने उनके बीते समय की फिल्मी अदाकारी धूलिम पड़ गयी। तेरह महीने तक दम साध कर देश यह समझने की कोशिश में लगा रहा कि 543 सदस्यों की लोकसभा में कुल 17 सदस्य लेकर यह महिला करना क्या चाहती है? पिछले 13 महीनों में जयललिता से बढ़कर कुचर्चित व्यक्ति इस देश में दूसरा नहीं रहा।

सारा देश जानता है कि भ्रष्टाचार में आकण्ठ डुबोने वाले आरोप जयललिता पर लगे हुए हैं जिनके मुकदमे अदालतों में चल रहे हैं। क्या ऐसा व्यक्ति सारे देश को उंगलियों पर नचा सकने में समर्थ हो सकता है और सभी को मुंह में उंगली दबाकर बेबस मुद्रा में सब कुछ देखने और सहने को बाध्य कर सकता है? एक हैं डा. सुब्रह्मण्यम स्वामी, जिन्होंने देश-विदेश में पढ़ने-पढ़ाने में जीवन का एक बड़ा भाग व्यतीत किया। आठवें दशके के प्रारंभ में वे जनसंघ में आये थे और उस संस्था के 'आयडियोलाग' बन गये और धीरे-धीरे सभी स्थापित नेताओं की चूलें हिलाने लगे। जैसे बलराज मधोक ने भारतीय जनसघ के मरे हुए सांप को अपने गले में लटकाया हुआ है, उसी तरह 20 वर्ष पहले टूट-फूट गयी जनता पार्टी का फटा ढोल उन्होंने अपने गले में डाल दिया है। बलराज मधोक से अधिक कामयाब ये इसलिए हैं कि लंबे समय तक राज्यसभा और अब लोकसभा की सदस्यता ने उनकी 'न्यूसैन्स वैल्यू' को बनाये रखा है।

पिछले कुछ वर्षों में सुब्रह्मण्यम स्वामी ने महमूद गजनवी की तरह मूर्ति भंजक होने की विशेषज्ञता प्राप्त की और इसे वे अपनी बड़ी गौरवपूर्ण उपलब्धि मानते हैं।

सभी जानते हैं कि रामकृष्ण हेगड़े की मूर्ति तोड़ने में उन्होंने छेनी से नहीं, हथौड़े से काम लिया था और बहुत हद तक सफल रहे थे। तमिलनाडु में जयललिता भी बहुत समय तक उनके निशाने पर रहीं किन्तु एक दिन अचानक लोगों ने देखा कि हाथ में हथौड़ा रखने वाला व्यक्ति गले में पट्टा डालकर दुम हिलाता हुआ उसी जयललिता के पीछे-पीछे चल रहा हे जिसे वह कुछ समय पहले तक भ्रष्टाचार की मूर्तिमंत देवी मानता था। यह कैसा जनप्रतिनिधित्व है कि या तो मुझे वित्तमंत्री बनाओ नहीं तो मैं अपना सारा जोर सरकार तोड़ने में लगा दूंगा। पिछले तेरह महीने सुब्रह्मण्मय स्वामी यहीकरते रहे और अंत में अपनी दो उंगलियों से 'वी' बनाकर अपनी विजय की घोषणा करते हुए संपूर्ण देश को और जनतंत्र को ठेंगा दिखाने में सफल हुए। इस सम्पूर्ण घटनाक्रम में सुश्री मायावती ने जो कुछ किया उसने न केवल जनतंत्र में हमारी आस्था को शिथिल किया, बल्कि यह सोचकर हमें अपना सिर नीचा करने पर मजबूर किया कि इस देश को बागडोर उनके हाथ में जा रही है जो कितनी उथली और बचकानी मानसिकता में जी रहे हैं। विश्वास प्रस्ताव से एक दिन पहले दूरदर्शन पर उन्हें लोकसभा में बोलते हुए सारे देश ने सुना था। बार-बार वे देश के बहुसंख्यक बहुजन समाज की चर्चा कर रही थीं। उन्हें भाजपा और कांग्रेस दोनों ही मनुवादी पार्टियां लग रही थीं, जिन्हें एक दलित महिला का उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री बनना नहीं सुहाया था। एक को उन्होंने 'सांपनाथ' कहा तो दूसरे को 'नागनाथ'। इसी के साथ यह घोषणा की कि बहुजन समाज पार्टी के 5 सदस्य विश्वासमत पर मत विभाजन कि समय तटस्थ रहेंगे। किसी के पक्ष-विपक्ष में मतदान नहीं करेंगे। मायावती का यह स्टैण्ड कुछ समझ में आता था। यदि आप किसी भी पक्ष से संतुष्ट नहीं हैं तो तटस्थ हो जाइए। यह बात जनतंत्र की मर्यादा के अनुकूल है और निजी जीवन में भी हम कई बार ऐसा निर्णय लेते हैं, किन्तु लोकसभा जैसे महत्वपूर्ण मंच से एक बात की घोषणा करना, जिसे देश के करोड़ों नागरिक सुन रहे हों और दूसरे दिन मत-विभाजन के समय ठीक उसके विपरीत व्यवहार करना क्या किसी इज्जतदार पुरुष या महिला के लिए शोभनीय है? लेकिन सवाल यह है कि इज्जत है कहां? वह तो भारी-भरकम सूटकेसों में बंद करंसी नोटों के नीचे दबकर अपना दम तोड़ बैठी है। उसी रात को कहां-कहां से, किन-किन सूत्रों के माध्यम से कितने बड़े लेन-देन के आधार पर मायावती को लोकसभा के फ्लोर से दिये उनके वक्तव्य से मुंह मुड़वा लिया, कौन कह सकता है?

इस प्रसंग में सबसे शर्मनाक ढिठाई मायावती ने यह कहकर की कि उन्होंने उत्तर प्रदेश में उनके साथ कल्याण सिंह ने जो कुछ किया था उसका बदला ले लिया है। गली-मोहल्ले के अनपढ़ बच्चे भी ऐसा नहीं करते। माफिया गुटों से जुड़े अपराधी भी अपना बदला इस प्रकार बेशर्म होकर नहीं लेते। चम्बल बीहड़ के डाकुओं की नैतिकता भी इससे बेहतर होती है। मेरे जैसे व्यक्ति सदा की इस बात के प्रति बहुत मुखर रहे हैं कि सदियों से इस देश की समाज व्यवस्था के कारण उपेक्षित, पीड़ित और आतंकित रहे वंचित समाज के लोगों को आगे बढ़ने और समाज में अपना योग्य

स्थान प्राप्त करने का पूरा अवसर मिलना चाहिए, किन्तु मायावती ने जो कुछ किया उससे उस बहुजन समाज के हितों को बेहिसाब नुकसान हुआ है जिसके कंधों पर सवार होकर वे ऐसा खेल खेलती हैं। लोकसभा में बोलते हुए समता पार्टी के एक सदस्य ने लालू प्रसाद यादव के लिए 'जोकर' शब्द का प्रयोग किया था। लोकसभा की कार्यवाही देखते समय कई बार इस बात का सचमुच एहसास होता है कि क्या हम कहीं जोकरों की सभा में तो नहीं आ गये हैं? उस दिन मैंने कल्पनाथ राय को संसद के गलियारों में बोलते सुना 'मुझसे वायदा किया था कि मुझे कैबिनेट मिनिस्टर बनाया जाएगा। वह वायदा पूरा नहीं किया गया इसलिए अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार को गिरना ही चाहिए।'

क्यों ऐसी बातें जोकराना नहीं लगती हैं? क्या जनता ऐसे व्यक्तियों को इसलिए चुनकर भेजती है कि वे अपना सारा समय मंत्री बनने, उससे सभी प्रकार के जायज़-नाजायज़ लाभ उठाने और फिर सरकार को बनाने-बिगाड़ने में लगा दूं?

इस सम्पूर्ण घटनाक्रम में देश के अन्य राजनीतिक दलों की भूमिका कैसी रही है? इस देश में दो पक्षों को सिद्धांताधारित पक्ष माना जाता है-एक भारतीय जनता पार्टी को दूसरा वामपंथी दलों को। सत्ता किस प्रकार सिर पर सवार होकर सभी सिद्धान्तों की मिट्टी पलीत कर देती है इसकी मिसाल भाजपा है। केवल 13 महीने की सत्ता में इस पार्टी में कितने अन्तर्विरोध उभार दिये यह देखकर अचंभित रह जाना पड़ता है। वामपंथी दलों की भूमिका भी सिद्धान्तों और आदर्शों से बहुत परे की नजर आती है। आज हरकिशन सिंह सुरजीत और ज्योति बसु जैसे लोग सोनिया गांधी को देश का प्रधानमंत्री स्वीकार करने को तैयार हैं क्योंकि वे किसी भी कीमत पर वाजपेयी सरकार को गिराना चाहते हैं। क्या किसी सरकार को गिरना ही किसी राजनीतिक पक्ष का एकमात्र उद्देश्य हो सकता है? जनतंत्र की कुछ अपनी परम्पराएं होती है। ब्रिटेन में कंजरवेटिव पार्टी और लेबर पार्टी अपने सिद्धान्तों और कार्यक्रमों में एक दूसरे से मीलों दूर हो सकती हैं, किन्तु एक-दूसरे की सरकार गिराने और देश को अनिश्चितता की गहरी खाई में धकेलने का ऐसा काम वे कभी नहीं करतीं जैसा इस देश की वामंपथी पार्टियां कर रही हैं। एक ओर गरीबी, बेकारी और आर्थिक मंदहाली की गुहार लगाना और दूसरी ओर चल रही सरकार को गिराने के लिए अत्यन्त भ्रष्ट और दृष्टिहीन तत्वों के साथ सभी प्रकार के अनैतिक समझौते करना और फलस्वरूप देश को गहरे आर्थिक संकट की ओर धकेल देना क्या किसी सिद्धान्त और आदर्श की पुष्टि करता है?

जैसी स्थिति इस समय इस देश में पैदा हो गयी है यह किसी भी जागरूक नागरिक में न केवल गहरी निराशा भरती है बल्कि उसे भयंकर रूप से हताश कर देती है। जिस देश में आधी से अधिक जनसंख्या को दो व़क्त की रोटी के लाले पड़े रहते हों उस देश की राजनीति का निदेशक तत्व करंसी नोटों से भरा सूटकेस बन जाए इससे अधिक दुर्भाग्य की बात क्या हो सकती है? इस समय इस देश की राजनीति में सौ-दो सौ करोड़ का लेन-देन आम बात हो गयी है। साल भर बाद ही फिर मध्यावधि

चुनाव के बादल मंडराने लगे है सभी जानते हैं कि ये बादल सूखी धरती को जल नहीं देते हैं, बल्कि लहलहाती खेती पर ओले बरसाने का काम करते हैं। जन प्रतिनिधि और नेता समझे जाने वाले लोग बड़ी बेशर्म मुद्राएं बनाकर सारे देश को उसी ओर ले जा रहे हैं और घोषित कर रहे हैं कि वे देश की सेवा कर रहे हैं। सैफुद्दीन सोज़ जैसे व्यक्ति ऐन मौके पर जनतंत्र की पीठ में छुरा घोंपते हैं और दावा करते हैं कि इससे जनतंत्र की जीत हुई है। ऐसी स्थिति में एक आम आदमी ऐसा राजनीति को धिक्कार न करे तो क्या करें?

(राष्ट्रीय सहारा, 24 अप्रैल, 1999)

क्या हैं नई सदी की चुनौतियां?

द्वार पर दस्तक दे रही है, नई शताब्दी भी और नई सहस्त्राब्दी भी। बीसवीं शताब्दी तो बहुत दूर की बात नहीं लगती। उस की सुबह में इस देश में कैसी गहमा-गहमी थी। देश में पुनर्जागरण का जो स्वर उन्नीसवीं शती के मध्य में उभरा था, इस समय वह अपने पूरे यौवन पर था। कुछ वर्ष पूर्व ही स्वामी विवेकानंद सारे सांर में अपने देश का यश फैलाकर लौटे थे और बहुत पिछड़ा समझा जाने वाला यह देश भी संसार को कुछ दे सकता है, इस गौरवानुभूति की लहर से युवा पीढ़ी में नया विश्वास पनपा था। देश की मिट्टी से जुड़े सभी धार्मिक समुदाय, पश्चिम की ओर से आई हुई नई रोशनी की चकाचौंध में अपने आपको फिर से पहचानने, स्वत्व की भी तलाश करने, अतीत में झांकने और भविष्य के सूत्र ढूंढने में लगे हुए थे। मैथिलीशरण गुप्त की ये पंक्तियां शायद बीसवीं शती के आलोड़न का सही प्रतिनिधित्व करती हैं–

> हम कौन थे क्या हो गये है और क्या होंगे अभी।
> आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएं सभी।

इन समस्याओं पर विचार करते-करते इस शती ने क्या नहीं देखा। दो विश्व युद्ध देखे, अजुशक्ति का विस्फोट देखा, सोवियत क्रान्ति देखी और उसका पतन भी देखा, संसार भर से उपनिवेश्वाद की समाप्ति देखी। हमारे उपमहाद्वीप में आज़ादी आई, किन्तु लाखों व्यक्तियों के खून से में नहा कर आई। मनुष्य ने जितनी विनाश लीला इस शती में देखी, वैसी अपने सम्पूर्ण इतिहास में नहीं देखी। दुर्भिक्ष, ग़रीबी और प्राकृतिक प्रकोप की मार से संसार का कोई भाग नहीं बचा। इस सभी में से गुज़रते हुए जनसंख्या के ऐसे विस्फोट के कगार में शती के अंत में हम आ खड़े हुए हैं कि

इक्कसवीं शती में हम प्रदूषण से भरी हुई हवा और पानी में प्रवेश करने जा रहे हैं और कीड़ी-मकोड़ों जैसा जीवन संभवतः हमारी प्रतीक्षा करने जा रहा है।

इस देश में दूसरी सहस्राब्दी का प्रवेश भी सुखद नहीं था। भारत के उत्तरी-पश्चिमी भाग का अंतिम हिन्दू शासक जयपाल, जिसका राज्य हिमाचल प्रदेश में कांगड़ा से लेकर अफगानिस्तान की सीमा तक फैला हुआ था, सन् 1001 में पेशावर के निकट हुए एक युद्ध में गज़नी के मुल्तान महमूद से हार गया था। जयपाल इतना स्वाभिमानी था कि इस हार की ग्लानि के बाद उसने जीवित रहना पसंद नहीं किया वह जीवित जलती चिता में कूद गया। उसके पुत्र आन्न पाल ने महमूद का कुछ वर्षों तक प्रतिरोध किया, किन्तु सफल नहीं हुआ। दूसरी सहस्राब्दी के प्रारंभिक दस वर्षों में जो घटनाएं घटीं उनकी छाया पूरे हज़ार वर्षों तक इस देश का ग्रसित किये रही। तुर्कों, पठानों, ईरानियों, मुग़लों के आक्रमणों का सिलसिला निरन्तर चलता रहा। जयपाल और आनन्दपाल के पूरे 800 वर्ष बाद महात्मा रणजीत सिंह ने उत्तर-पश्चिम भारत को एक स्वतन्त्र-स्वदेशी राज्य दिया और उस ओर से जाने वाले आक्रान्ताओं का मार्ग हमेशा के लिए बंद कर दिया, किन्तु इसी समय दक्षिण-पश्चिम समुद्री तटों से पुर्तगाली, डच, फ्रान्सीसी और अंग्रेज भारत में प्रवेश करने लगे और सौ वर्षों में ही अंग्रेजों ने सभी स्वदेशी-विदेशी ताकतों को पीछे धकेल कर लगभग सारे देश को अपने अधिकार में ले लिया। इस सहस्राब्दी के अंतिम 53 वर्षों (1947) में इस देश ने स्वतंत्रता का वह कटा-छंटा देखा जो सहस्राब्दी के प्रारंभ से ही अस्त होना प्रारम्भ हो गया था।

कैसी दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना है कि एक पूरी सहस्राब्दी में इस देश ने जैसी पराधीनता, आक्रान्ताओं के निरन्तर आक्रमण, अत्याचार, नरसंहार और पीड़ा झेली, वैसी संसार के किसी अन्य देश के हिस्से में नहीं आई। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में नई शताब्दी और नई सहस्राब्दी का आगमन इस देश के राजनीति, समाज नीति, अर्थनीति के लिए ही एक चुनौती भरा आह्वान लेकर नहीं आया है, बल्कि संस्कृति, धर्म, दर्शन, साहित्य और विज्ञान के सभी क्षेत्रों में गूंज सुनाई दे रही है।

यह भी कम महत्व की बात नहीं है कि पिछले हजार वर्षों में इस देश में कोई विशिष्ट और उल्लेखनीय उपलब्धि न तो ज्ञान के क्षेत्र में हुई, न विज्ञान के क्षेत्र में। दर्शन, धर्म, विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र भी भौतिक उपलब्धियां इस देश ने ईसा-पूर्व की सहस्राब्दी और ईसा पश्चात् की पहली सहस्राब्दी में ही प्राप्त कीं। पिछले हज़ार वर्षों में इस देश का चिंतन व्याख्याओं, टीकाओं, पुनर्स्थापनाओं और पुनर्सृजन की गलियों में ही चक्कर काटता रहा। विदेशी संस्कृति से टकराव का उत्तर अधिकतर कछुआ धर्म अपनाकर दिया गया। वर्ण और जाति का मजबूत किला बनाकर बहुत कुछ उसमें समेट लिया गया और जो कुछ बाहर छूट गया उसे भगवान भरोसे छोड़ दिया गया। ऐसे प्रयास बहुत कम हुए जिसमें प्रतिरोधी स्वर उभरा और सांस्कृतिक टकराव के उत्तर के लिए वैसे ही हथियार ढाले गए जैसी की उस समय मांग थी। संत कबीर, गुरु नानक, राजा राममोहन राय और विवेकानंद जैसे बहुत कम व्यक्तियों

को इस बात का अहसास हुआ था कि कोई किला, कितना भी मजबूत क्यों न हो, अधिक समय तक अपने अंदर शरण ग्रहण किये हुए लोगों को ताजी हवा और निर्मल पानी नहीं दे सकता। सिकुड़न में जीने वाले समाज के जीवनदायी स्रोत-धीरे-धीरे सूखते जाते हैं और वह पंगु होता चला जाता है। गतिशील और जीवंत रहना है तो बाहर की खुली हवा के थपेड़ों को सहना ही होगा।

नई शती और नई सहस्राब्दी ऐसी चुनौतियां लेकर सामने खड़ी हैं। विज्ञान की चामत्कारिक प्रगति ने सारे संसार को छोटे से दायरे में बदल दिया है। आने वाले वर्षों में यह चमत्कार अधिक चमक लेकर हमारे सामने आएगा इसमें भी कोई संदेह नहीं कि प्रगति की इस दौड़ में विकसित देश आगे-आगे रहेंगे और हम अपने सभी साधनों मानसिक और भौतिक के साथ गिरते-पड़ते-लड़खड़ाते हुए उनसे कदम मिलाने का प्रयास करते रहेंगे।

किन्तु हमारा संकट इतना ही नहीं है कि हम इस दौड़ में किस सीमा तक सहभागी बन सकते हैं। हमारा सबसे बड़ा संकट यह है कि इस दौड़ में सौ करोड़ लोगों की इस विशाल संख्या की सहभागिता किस प्रकार प्राप्त करें। ऐसा तो नहीं है कि नई सदी के सूरज की कुछ किरणें केवल पांच से लेकर दस प्रतिशत लोगों के घरों में ही पड़ें और नब्बे प्रतिशत से अधिक लोग गरीबी, भुखमरी, बेकारी और अशिक्षा के दुष्चक्र के अंधेरे में उसी तरह जिएं, जैसे वे हजारों वर्षों से जीते चले आ रहे हैं।

इस देश के राजनेताओं के पास इसका उत्तर नहीं है। इस देश में संसार के किसी भाग से एक हवा आती है और हमारे सम्पूर्ण चिंतन पर छा जाती है। इस शती के दूसरे दशक को बौलशेविक क्रांति ने समाजवाद की सोच को इस देश में ऐसा रूप दिया कि ऐसा लगने लगा कि हमें अपनी सभी व्यथाओं की रामबाण औषध मिल गई है। केवल राजनीति कर्मी ही नहीं, हमारे संस्कृतिकर्मी भी इस विचार को अपनी मिट्टी में गूंथे बिना, दोनों हाथ उठाकर इसका जय-जयकार करने लगे। अब उदारीकरण की लहर आ गई है। कुछ वर्ष पूर्व उत्पादन के सभी साधनों का राष्ट्रीयकरण करना समय की सबसे बड़ी आवश्यकता समझा जा रहा था और 'प्रगतिशील' कदम कहकर पुकारा जा रहा था। आज उद्यमों के निजीकरण को स्वीकारने की बात संकटमोचन जैसी समझी जा रही है।

क्या इक्कीसवीं शती में भारत की अपनी कोई विशिष्ट पहचान उभर सकेगी? अनेक स्वरों में यह बात तो कही जा रही है कि इस शती में यह देश संसार की एक महाशक्ति बन जाएगा। क्या महाशक्ति बनने का इतना ही अर्थ है कि हमारी सैन्य शक्ति संसार के किसी भी देश से पीछे नहीं रहेगी? या हम वैज्ञानिक प्रगति में उतने ही माहिर और कुशल हो जाएंगे जितने अन्य विकसित देश हैं। या हमारे यहां भी कम्प्यूटीकरण, इंटरनेट, वेबसाइट और इनसे जुड़ी सूचना तकनीक भी उतनी ही सुलभ हो जाएगी जितनी विकसित देशों में है?

यदि इक्कीसवीं शती को इन मापदंडों पर तोला जाएगा तो अंतहीन भटकन

के सिवा हमारे हाथ कुछ भी नहीं आएगा। यह सही है कि संसार के किसी भी क्षेत्र में हो रही तकनीकी प्रगति में हम अपने आपको अछूता नहीं रख सकते, किन्तु उससे भी बड़ी चुनौती यह है हम किस प्रकार इस देश के उस विशाल जनसमूह को जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सक्षम बना सकें जिसके लिए यह शताब्दियों से तरस रहा है।

छह सौ वर्ष पहले भगवद्भक्ति को जीवन का परम सत्य मानने वाले संत कबीर ने अपने इष्टदेव के सम्मुख एक कटु यथार्थ रख दिया था– हे प्रभु, अपनी माला वापस ले लो क्योंकि भूखे पेट मुझसे भक्ति नहीं होती। मेरी तुम्हारी कैसे निभ सकती है। तुम मुझे कुछ नहीं दोगे तो मैं मांग कर ले लूंगा। मेरी मांग अधिक नहीं है। मुझे अपना और अपने परिवार का पेट भरने के लिए नित्य दो सेर आटा चाहिए, पाव भर घी और कुछ नमक चाहिए, आधा सेर दाल चाहिए, जिससे मुझे दोनों वक्त निवाला मिल सके। सोने के लिए खाट चाहिए। तकिया, बिछाने के लिए तलाई और ओढ़ने के लिए रजाई चाहिए। इतनी सुविधाएं मिलने पर ही मैं प्रेमपूर्वक तुम्हारी भक्ति कर सकता हूं। यह सब कुछ मांग कर मैं लालच नहीं कर रहा हूं। (क्योंकि ये तो मेरी बुनियादी ज़रूरते हैं) तभी तुम्हारा नाम मुझे अच्छा लग सकता हूं। मेरा मन उसी स्थिति में तुम्हें मानने को तैयार है। मन मानता है, तभी मैं तुम्हें जानता हूं–

भूखे भगति न कीजै।
यह माला अपनी लीजै।
माधो कैसे बने तुम संगे।
आप न देहु त लेवहु मंगे।
दुइ सेर मांगउ चूना।
पाउ घीउ संग लूना।
अध सेर मांगउ दाले।
मो कउ दोनों बखत जिवाले।
खाट मांगउ चउपाई।
सिरहाना अवर तलाई।
ऊपर कउ मांगउ खींधा।
तेरी भगति करै जन थोंधा।
मैं नाही कीता लगो।
एक नाउ तेरा मै फबो।
कह कबीर मन मानिया।
मन मानिया तउ हरि जानिया।

जिस नग्न यथार्थ को संत कबीर ने उस समय आग्रहपूर्वक अपने प्रभु के सामने

प्रकट किया था, इस देश की लगभग आधी जनता के लिए वह आज भी जीवन का सबसे बड़ा सच है। नई शती की सबसे बड़ी चुनौती यही है कि कैसे इस देश के असंख्य जनों के लिए दो वक्त के निवाले का जुगाड़ हो सके, उन्हें पीने के लिए साफ़-सुथरा पानी मिल सके, सोने के लिए चारपाई और ओढ़ने के लिए छोटा-सा बिस्तर मिल सके। अमेरिका में बैठे किसी स्वजन से मिनट में संलाप कर लेना या उसे कम्प्यूटर की स्क्रीन पर देख लेना उसकी प्राथमिकता में कहां आता है।

यहीं मुझे बुद्धिजीवियों और संस्कृतिकर्मियों की विशिष्ट भूमिका दिखाई देती है। प्रचार माध्यमों की चकाचौंध में हम अपने कटु यथार्थ को नज़रों से ओझल हो जाने दें, ऐसी संभावना से कौन इनकार कर सकता है। किन्तु लेखकों/कलाकारों की दृष्टि में इस चकाचौंध को भेदकर अपनी धरती की सच्चाई को देखने का सामर्थ्य रखती है इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता। समाप्त हो रही शताब्दी में समता, बन्धुता और स्वतंत्रता का स्वर सारे संसार में गूंजा और उसकी प्रतिध्वनि इस देश ने भी सुनी। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो का मंत्र इन्हीं वर्षों में समाज के उन वर्गों को दिया था जिनके जीवन में न शिक्षा थी, न संगठन की समझ थी और न संघर्ष करने की प्रेरणा थी। नई शती में सामाजिक परिवर्तन और समतामूलक समाज की स्थापना का संघर्ष और तीव्र होगा इसमें मुझे संदेह नहीं है। संस्कृतिकर्मी सामाजिक-आर्थिक विषमता के विरुद्ध उभरे संघर्ष को इस शती में कुछ स्वर देते रहे हैं। नई शती में यह स्वर अधिक मुखरता के साथ उभरेगा, ऐसी अपेक्षा इनसे की जानी चाहिए।

मैं समझता हूं कि नई शती में राजनीतिकर्मी सभी मानवीय मूल्यों को धराशाई करने, सभी नैतिकताओं को ताक पर रखकर सत्ता की अंधी दौड़ में शामिल होने और उसके लिए सभी प्रकार के हथकंडे अपनाने की दिशा में एक-दूसरे से होड़ लगाते हुए आगे बढ़ेंगे। ऐसी स्थिति में सभी ओर हिंसा और अराजकता का बोलबाला हो जाए तो आश्चर्य की बात नहीं होगी। इस आशंका के लक्षण बीसवीं शती के अंतिम वर्षों में कितने स्पष्ट दिखाई दिए हैं, यह हमारे सामने हैं। ऐसे समय में यदि बुद्धिजीवी, लेखक, पत्रकार, कलाकार तथा संस्कृति के क्षेत्र में काम करनेवाले सभी लोग संगठित होकर एक प्रतिरोधी दीवार नहीं खड़ी करेंगे तो नई शती और नई सहस्राब्दी की चुनौती बस एक चुनौती बनकर ही रह जाएगी और भावी पीढ़ियों के लिए हम कोई सार्थक दिशा संकेत नहीं दे जाएंगे।

(दैनिक जागरण, 30-12-99)

हमें लोकतंत्र का नया मॉडल चाहिए

बिहार में श्रीमती राबड़ी देवी ने अपना जम्बो मंत्रिमंडल बना लिया। कांग्रेस पार्टी ने वहां राष्ट्रीय जनता दल को अपना समर्थन दिया और पूरी कीमत वसूल कर ली। विधानसभा में उनके चुने गये सभी सदस्य मंत्री बना दिये गये, किन्तु असंतोष इससे भी दूर नहीं हुआ है। जो लोग मंत्रिमंडल में शामिल नहीं हुए हैं वे अपने फन-फुपकारते हुए इधर-उधर घूम रहे हैं। लोकतंत्र का इससे बड़ा मजाक क्या होगा कि इस बार बिहार विधानसभा के लिए लगभग डेढ़ दर्जन ऐसे व्यक्ति भी चुन लिये गये जो अनेक आपराधिक आरोपों के कारण जेल के सींखचों के पीछे थे।

हमारा संविधान जिस प्रकार की शासन-प्रणाली की व्यवस्था इस देश को देता है उसमें कहीं कुछ कमी है, कहीं तोड़ हैं इस बात को व्यापक स्तर पर इस देश में कई दशकों से महसूस किया जा रहा है। वर्तमान केन्द्र सरकार ने कुछ साहस दिखाकर अब संविधान की पुनर्समीक्षा के लिए एक आयोग भी बना दिया है।

राष्ट्रीयता, लोकतंत्र, वयस्क मताधिकार आदि अवधारणाएं पश्चिमी समाज में सदियों तक अनुभव और प्रयोग के दायरे से गुजरती हुई विकसित हुईं और धीरे-धीरे सारे संसार में मान्य हो गईं। प्राचीन भारत में इन अवधारणाओं के जो भी रूप रहे हों, उन्नीसवीं शती में पुनरूथान की लहर के साथ ये हमारे देश में भी प्रबुद्ध वर्ग के बीच समादृत होने लगी।

सामंतीय युग से निकल कर लोकतंत्र को राज्य शासन का नियामक तत्व बनने में कई सदियां लग गईं। इस दृष्टि से पश्चिमी देशों ने अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप अपने देश में लोकतंत्र के स्वरूप का निर्धारण किया और जब भी आवश्यक हुआ उसमें परिवर्तन किया। प्राचीन भारत में गणतंत्रों की अपनी परम्परा थी, किन्तु उनमें कुलीन वंशों का ही वर्चस्व होता था, सम्मान्य जनता की भागीदारी नहीं होती थी। यूरोप में भी जब लोकतंत्र की कल्पना उभरने लगी तो वह भी कुलीन वंशों की

सहभागिता तक ही सीमित थी।

सम्पूर्ण संसार में लोकतंत्र अनेक पड़ावों से गुजरा किन्तु हमारे देश में आजादी के साथ ही वह एक साथ पूरे धमाके से आ गया। ब्रिटेन को लोकतंत्र की मां कहा जाता है। वहां लोकतंत्र पहले कुछ कुलीन परिवारों तक ही सीमित था। उन्नीसवीं शती में इसके घेरे में मध्यम श्रेणी के लोग शामिल किये गये। प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) तक वहां महिलाओं को मताधिकार प्राप्त नहीं था। यह अधिकार उन्हें बाद में प्राप्त हुआ।

किन्तु इस देश ने स्वतन्त्रता प्राप्त होते ही न केवल लोकतंत्र की अवधारणा को स्वीकार किया अपितु सभी वयस्क नागरिकों-स्त्री-पुरुष, धनी-निर्धन, कुलीन-अकुलीन, साक्षर-निरक्षर, सवर्ण-अपर्ण सभी को मताधिकार दिया।

यह एक बहुत बड़ा साहसिक कदम था। लोकतंत्र ने आज भी जो सर्वमान्य परिभाषा स्वीकार कर ली है वह अमरीकी चिंतक अब्राहम लिंकन की परिभाषा है कि लोकतंत्र लोगों का शासन, लोगों के लिए और लोगों द्वारा होता है।

एक ओर जहां ऐसा साहसिक कदम उठाया गया, उस समय के नेताओं और संविधान निर्माताओं ने इस बात पर गंभीर चिंतन नहीं किया कि लोकतंत्र का कौन-सा माडल इस देश के लिए उपयोगी रहेगा। हमारे देश पर अंग्रेजों का शासन था। आधुनिक युग की अनेक राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा वैज्ञानिक अवधारणाओं की प्रेरणा हमारे चिंतकों को उन्हीं के माध्यम से प्राप्त हो रही थी। वहां का शासन लोकतंत्र की संदीय प्रणाली द्वारा चलाया जा रहा था। हमोर नेताओं ने आंखें मूंद कर उसी माडल को अपने देश के लिए स्वीकार कर लिया।

मुझे लगता है गलती इस विंदु पर हुई। इस देश के राजनेताओं ने गंभीरता से इस बात पर विचार नहीं किया कि "क्या लोकतंत्र की यह प्रणाली इस देश के लिए उपयुक्त है, अथवा इस देश को अपनी परिस्थितियों, समस्याओं और आवश्यकताओं के अनुसार लोकतंत्र के किसी अन्य माडल की तलाश करना चाहिए।

इस दृष्टि से एक उदाहरण अत्यन्त ज्वलन्त हैं। आज के संसार के सर्वाधिक सम्पन्न और शक्तिशाली देश-संयुक्त राज्य अमेरिका को संसार के मानचित्र पर उभरे तो दो सौ वर्ष ही हुए हैं। संसार के अनेक देशों के लोगों (विशेष रूप से यूरोपीय) ने वहां जाकर अपनी बस्तियां बनाईं और वहां के मूल निवासियों को घने जंगलों में खदेड़ दिया। इनमें अधिसंख्या में ब्रिटिश थे, इसलिए ब्रिटेन का शासन वहां स्थापित हो गया। धीरे-धीरे अमरीकियों की अपनी पहचान बनने लगी और वे ब्रिटिश शासन से मुक्त होने के लिए संघर्ष करने लगे। कड़े संघर्ष के बाद वे सफल हुए और उन्होंने 1776 ई. में अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी।

सांस्कृतिक, भाषाई, और जातीय, अनेक दृष्टियों से अमरीकी लोग ब्रिटेन के बहुत निकट थे। ब्रिटेन से लड़कर उन्होंने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की थी, किन्तु स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने ब्रिटिश शासन पद्धति, संसदीय लोकतंत्र को स्वीकार

नहीं किया। अपने नवनिर्मित राष्ट्र की विशालता और विविधता को देखते हुए उन्हें ब्रिटिश प्रणाली उपयुक्त नहीं लगी। उन्होंने अपने देश के लिए एक नई शासन प्रणाली की संरचना की जिसे लोकतंत्र की अध्यक्षीय प्रणाली कहा जाता है।

संसदीय प्रणाली छोटे देशों में जहां एकात्मक राज्य प्रणाली होती है, सफल होती है। यूरोप के सभी देश लगभग इसी प्रकार के हैं, किन्तु विशाल क्षेत्रफल वाले देश, जिसमें जातीय और भाषाई विविधता हो और जिसे एक सुगठित राष्ट्र के रूप में संसार में पहचान बनानी हो अपने देश में संघात्मक प्रणाली अपनाते हैं। अमेरिका ने उस समय अपने आपको ब्रिटेन जैसा एकात्मक शासन प्रणाली का राज्य न बनाकर संघात्मक प्रणाली का राज्य घोषित किया।

भारत की स्थिति लगभग वैसी ही थी। एक राष्ट्र होते हुए यह देश विभिन्न प्रकार की विविधताओं को जिस प्रकार अपने आप में संजोए हुए है, वैसा दूसरा उदाहरण संसार में नहीं है। इसलिए इस देश में स्वतंत्रता का अर्थ था कि यह अनुमति देश के कोने-कोने और जन-जन तक उनकी भाषा और उनकी सांस्कृतिक विशेषता के साथ पहुंचे। इसलिए देश के संविधान निर्माताओं ने भारत को विभिन्न राज्यों के एक संघ के रूप में स्वीकार किया।

यह विभिन्न प्रकार का विरोधाभास है कि जब संविधान निर्माताओं ने इसे ब्रिटेन की तरह एकात्मक राज्य प्रणाली न देकर अमेरिका की तरह की संघात्मक राज्य प्रणाली दी, उसने शासन की ब्रिटेन वाली पद्धति, संसदीय लोकतंत्र, को स्वीकार कर लिया।

स्वतंत्रता के पश्चात् से दो प्रकार की सरकारें चल रही हैं—केन्द्र सरकार और राज्य सरकारें। प्रारम्भ में कांग्रेस का सारे देश पर प्रभाव था इसलिए केंद्र में भी कांग्रेस की सरकार थी और देश के लगभग सभी राज्यों में कांग्रेस सरकारें थी। कुछ वर्षों बाद ही राज्यों में गैर-कांग्रेसी सरकारें अस्तित्व में आने लगीं। केरल और पंजाब में विलय के पूर्व के पेप्सू (पटियाला एंड ईस्ट पंजाब स्टेट्स यूनियन) राज्य में सबसे पहले ऐसी सरकारें उभरीं।

ऐसी स्थिति की आशंका विधान निर्माताओं ने की थी कि इस प्रणाली में केंद्र और किसी राज्य सरकार में टकराव उत्पन्न हो सकता है। ऐसी स्थिति से निपटने के लिए संविधान में धारा 356 का प्रावधान कर लिया गया था, जिसके अन्तर्गत केंद्र कभी भी राज्य सरकार भंग करके वहां राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है, किन्तु केंद्र सरकार द्वारा इस धारा का निरन्तर दुरूपयोग किया जाता रहा और राज्य सरकारों की स्थिति म्यूनिसिपल कमेटियों से भी बदतर बना दी गई। इस बात का परिणाम यह हुआ कि अनेक राजनीतिक दलों और राज्य सरकारों द्वारा यह मांग उठने लगी कि इस धारा को संविधान से निकाल दिया जाए। 1994 में जब केन्द्र की कांग्रेस सरकार ने देश के अनेक राज्यों की भाजपा सरकारों को इस धारा के अन्तर्गत भंग कर दिया तो एस. आर. बोम्बई केस के फैसला सुनाते हुए देश के सर्वोच्च न्यायालय ने धारा 356 के कार्यान्वयन पर अनेक प्रतिबंध लगा दिए।

आज देश का राजनीतिक परिदृश्य पूरी तरह बदला हुआ है। अपराधिकरण, अस्थिरता, भयंकर सौदेबाजी, अवसरवादिता आदि व्याधियों ने इस परिदृश्य को पूरी तरह जकड़ लिया है। केन्द्र में किसी एक राजनीतिक दल के स्पष्ट बहुमत प्राप्त करने की संभावना समाप्त हो गई है इसलिए दलों के मध्य होने वाले गठजोड़ों की सरकारें बनना, फिलहाल तो इस देश की नियति बन गई है। ऐसे गठजोड़ों में दस से लेकर बीस पार्टियों शामिल हो रही हैं और एकल सांसद का महत्व भी उस सीमा तक चला गया है जहां वह अपने समर्थन की कुछ भी कीमत मांग सकता है। पिछले वर्ष श्री अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार केवल एक मत से पराजित हो गई और देश को लोक सभा के मध्यावधि चुनाव का पंद्रह सौ करोड़ का अतिरिक्त व्यय वहन करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। अब विभिन्न राज्यों में भी अलग-अलग दलों की सरकारें बनना, उनमें भी अनेक दलों का गठजोड़ होना और अस्थिरता की मानसिकता का निरन्तर बने रहना अनिवार्य सा हो गया है। सबसे ताजा उदाहरण बिहार है।

देश में ऐसी राजनीतिक अव्यवस्था पैदा हो जाएगी इसका अनुमान पचास वर्ष पहले लगाया जा सकता था। भारत जैसे विशाल और विविधता से भरे हुए देश के लिए ब्रिटिश माडल की संसदीय प्रणाली अपनाए जाने का यह स्वाभाविक परिणाम है।

इस स्थिति की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि देश के अनेक भाग आंतरिक अलगाववादी शक्तियों से तो निरन्तर जूझ ही रहे हैं, उसे अपने पड़ोसी देश की शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियों को भी झेलना पड़ रहा है जो इस देश में अस्थिरता उत्पन्न करने, इसकी सुरक्षा नष्ट करने और इसे अनेक टुकड़ों में बांटने के किसी भी मौके से चूकने वाला नहीं है।

आज हम सभी के सम्मुख यह प्रश्न मुंह बाए खड़ा है कि क्या संसदीय प्रणाली की शासन व्यवस्था इस देश की एकता को बचाए रखने में समर्थ होगी? क्या यह प्रणाली देश को आन्तरिक और बाह्य संकटों से इसे सुरक्षित रख सकेगी? क्या इस देश के विचारकों, चिंतकों और जागरूक व्यक्तियों को इस प्रणाली का कोई विकल्प नहीं तलाश करना चाहिए जो इस देश के मानस का सही प्रतिबिंब सिद्ध हो सके?

यह देखना है कि संविधान के पुनर्समीक्षा के लिए बनाया गया आयोग क्या सुझाव देता है?

(दैनिक जागरण, 20-4-2000)

बहुत कुछ कर सकते हैं मानवाधिकार संगठन

रूप लाल सरारिया पाकिस्तान की जेलों में 26 वर्ष का लम्बा समय गुज़ार कर अपने देश, भारत में वापस आ गया। रूप लाल ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि जीवित रहते वह कभी पाकिस्तानी जेल से मुक्त होकर अपनी बेटी, दामाद और नातिन से मिल सकेगा। पाकिस्तानी पुलिस द्वारा जब वह बंदी बनाया गया था, उसकी बेटी मात्र 6 महीने की थी। आज वह विवाहिता है और एक बच्ची की मां है।

किन्तु वह अनहोनी होनी में किस तरह बदल गई? इस काम में उसकी बेटी और दामाद ने जी-तोड़ कोशिश की, जिसमें वे सफल भी हो गये, किन्तु क्या उनके सभी प्रयास सफलता की सुबह देख सकते थे यदि पाकिस्तान की मानवाधिकार संगठन की नेत्री श्रीमती अस्मा जहांगीर ने अपनी भरपूर कोशिश न की होती? रूप लाल को तो पाकिस्तान की अदालत ने जासूसी के आरोप में मौत की सज़ा सुना दी थी। अस्मा जहांगीर के प्रयासों से पहले उसे मिला मृत्युदंड आजीवन कारावास में परिवर्तित हुआ। फिर उन्हीं के प्रयासों से रूप लाल को जेल से मुक्ति मिली।

मानवाधिकारों के लिए लड़ने वाले व्यक्तियों और संगठनों पर समय की सरकारें भी गुस्सा खाती हैं और कुछ संकुचित सोच वाले व्यक्ति भी। अपने देश में इस क्षेत्र में निरन्तर कार्य करने वाले संगठनों और व्यक्तियों को मैं निकट से जानता हूं। कितने कम साधनों, सुविधाओं और तनावों में ये लोग काम करते हैं, इसे इनके साथ काम करके ही जाना जा सकता है। कभी-कभी तो ऐसा महसूस होता है कि राजतन्त्र, मीडिया और सुरक्षा बलों की असीम शक्ति के मध्य ऐसे संगठनों की आवाज़ कितनी क्षीण है—जैसे नक्कारखाने में तूती की आवाज़। फिर भी मानवीय गरिमा, प्रतिष्ठा और स्वतंत्रता के लिए जूझते हुए कुछ संगठन और उनसे जुड़े हुए व्यक्ति अपनी धुन में मगन अपनी आवाज बुलन्द करते ही रहते हैं। यह आवाज कितनी सबल और सार्थक

होकर अपनी प्रभाव छोड़ती है, इसका पता तभी लगता है जब सरकारी तंत्र और बद्धमूल धारणाओं वाले कुछ लोग तिलमिला कर अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करते हैं।'

जैसे-जैसे संसार में चिंतन का विकास हुआ, मनुष्य में जागरूकता बढ़ी वैसे ही वैसे उसने इस बात पर आग्रह करना शुरू किया कि दो पक्षों, दो सरकारों और दो देशों के मध्य युद्ध-क्रिया कितनी भी मतभेदों, झगड़ों और हिंसा से भरी क्यों न हो, वहां भी कुछ नैतिकताएं होती हैं, बंधन होते हैं जिन्हें नियमबद्ध किया जाना चाहिए। रेडक्रास जैसी संस्थाएं और जिनेवा समझौता जैसी संधियां इन्हीं मानवीय चिंताओं में से जन्मी हैं। आज किसी भी देश की सरकार या सेना अपने ही लोगों अथवा शत्रुपक्ष के नागरिकों पर, अन्तरराष्ट्रीय नियमों, मर्यादाओं या संधियों का उल्लंघन कर ज्यादतियां करती है। सारा संसार चीख़ उठता है और इस चीख में सबसे तेज आवाज उनकी होती है जिन्हें मानवाधिकारवादी कहा जाता है।

इसी प्रकार मर्यादा और नियमबद्धता आन्तरिक कानून-व्यवस्था को बनाये रखने की जिम्मेदार पुलिस तथा अन्य सुरक्षा बलों पर भी लागू होती है। उन्हें खूंखार अपराधियों को पकड़ने और उस प्रक्रिया में उनकी हत्या करने का अधिकार तो होगा, किन्तु उन्हें यह बिल्कुल अधिकार नहीं है कि वे किसी भी व्यक्ति या वाहन को पकड़ ले जाएं और झूठी मुठभेड़ का सहारा लेकर निर्दोष नागरिकों को अपनी गोलियों से भून दें।

आजादी से पहले विदेशी सरकार तो मानवीय अधिकारों का हनन करती ही थी, आजादी के बाद भी ऐसी घटनाओं की कमी नहीं है जब इस देश में मानवाधिकारों की खुलकर होली खेली गई। आठवें दशक में, नक्सलावादी आन्दोलन पश्चिमी बंगाल, बिहार, पंजाब, केरल, आन्ध्र आदि अनेक प्रदेशों में बहुत ज़ोर पर था। नक्सलवादियों के दमन के साथ ही अन्य अनेक निर्दोष नागरिक सुरक्षा बलों की लपेट में आ रहे थे। उस समय मुंबई उच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश जस्टिस तारकुंडे ने मानवाधिकार के हनन के विरुद्ध आवाज उठाई और ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जिनसे यह स्पष्ट होता था कि नक्सलवादी बता कर पुलिस से कितने निर्दोष लोगों की हत्या की थी।

उसके बाद जस्टिस तारकुंडे के संरक्षण में अनेक मानवाधिकार संगठन अपने देश में उभर आए। पीपल्स यूनियन फार सिविल लिबर्टीज़ (पी.यू.सी.एल.), पीपल्स यूनियन फार डेमोक्रेटिक राइट्स (पी. यू. डी. आर.), सिटीजन्स फार लिबर्टी (सी. एफ. डी.) आदि संगठनों ने बड़ी सक्रियता से मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए आवाज उठानी शुरू कर दी।

मुझे नवम्बर 1984 के वे काले दिन याद आते हैं। श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या के बाद सारे देश में सिखों के विरुद्ध सुनियोजित ढंग से उन्माद उभारा गया और उनकी हत्याएं की जाने लगीं, उनके घरों/व्यावसायिक प्रतिष्ठानों को लूटा जाने लगा, उनमें आग लगाई गई। दिल्ली, कानपुर, बोकारो तथा चलती ट्रेनों, बसों और राहों पर लगभग 5 हजार सिखों की निर्मम हत्या कर दी गई। तत्कालीन सरकारी तंत्र चुपचाप तमाशा

देखता रहा। अनेक स्थानों पर स्थानीय प्रशासन और पुलिस दंगाइयों की सहायक बन गई।

उस भयावह समय में मानवाधिकार संगठनों के लोग आगे आए। वे उन क्षेत्रों में गये जहां निर्दोष लोगों की लाशें पड़ी थीं, उनके मकान/दुकानें लूट लिए गए थे और आम सिखों में गहरा सदमा व्याप्त था। दिल्ली में सबसे अधिक नरसंहार हुआ था। उस समय मानवाधिकारों को समर्पित इन संगठनों ने सक्रियता न दिखाई होती तो सिखों की बहुत बड़ी संख्या का पंजाब की ओर पलायन हो जाता (काफी कुछ हुआ भी)।

दंगों के एक सप्ताह के अंदर ही पी.यू.सी.एल. और पी. यू. डी. आर. ने मिल कर एक पुस्तिका प्रकाशित कीं—दोषी कौन (हू आर द गिल्टी)। इस एक पुस्तिका ने तत्कालीन सरकारी तंत्र में हड़कंप पैदा कर दिया, क्यों इसमें दंगों की सारी क्रूर प्रक्रिया बेनकाब किया गया था जिन्होंने सिख-विरोधी दंगों को भड़काया था और दंगाई भीड़ का नेतृत्व किया था। इस पुस्तिका में दोषी पुलिस अधिकारियों के नाम भी थे।

इस पुस्तिका के प्रकाशन के बाद मानवाधिकार संगठनों ने कुछ और रिपोर्टें भी प्रकाशित कीं, जिनके द्वारा सम्पूर्ण देश और सम्पूर्ण विश्व को यह ज्ञात हुआ कि नवंबर 1984 में किस प्रकार क्रूर ढंग से नागरिक अधिकारों का हनन हुआ था और इसके लिए कौन लोग जिम्मेदार थे।

आतंकवादी दौर के समय में पंजाब में क्या हुआ था? कुछ आतंकवादी तत्वों ने सारे प्रदेश में हत्या का नंगा नाच नाचना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे उनके साथ घोर अपराधी तत्व, दूसरे निहित स्वार्थ, सत्तालोभी राजनीतिकर्मी जुड़ गये। इनके साथ ही कुछ पुलिसकर्मी भी जुड़े या जोड़े गये जो बहती गंगा में हाथ धोने में किसी से पीछे नहीं रहे। एक समय पंजाब में पुलिस बल के एक वर्ग में यह होड़ लग गई कि आतंकवादी नाम देकर जिस किसी को पकड़ लो, एन्टरोगेशन सेन्टर या थाने में लाकर उसकी जी भरकर गत बनाओ, उसके सगे-सम्बन्धियों से अधिक से अधिक रुपए बटोरो और जब मौका मिले उन्हें पुलिस मुकाबला (एन्काउंटर) दिखाकर भून डालो। उनकी लाशों को नदियों/नहरों में बहा दो या अनपहचानी लाश घोषित करके जैसे-तैसे उसका अंतिम संस्कार कर दो।

पुलिस ज्यादतियों को अनेक रिपोर्टें मानवाधिकार संगठनों ने प्रकाशित कीं। कुख्यात आपरेशन ब्लू स्टार के तुरन्त बाद सिटीजन्स फार डिमोक्रेसी (सी.एफ.डी.) की पांच सदस्यों-अभिया राव, अरविन्द घोष, सुनील भट्टाचार्य, तेजिन्दर आहूजा और एन. डी. पंचोली—की एक टीम पंजाब के गांव-गांव में गई थी। इस टीम ने लौटकर एक रिपोर्ट तैयार की—'रिपोर्ट टु दि नेशन—आपरेशन इन पंजाब।' इस रिपोर्ट ने पंजाब में पुलिस और अन्य अर्द्धसैनिक बलों द्वारा निरपराध लोगों पर किए गए अत्याचारों की करुण गाथा है। 1989 में—''कमिटी फार इन्फारमेशन एंड इनीशिएटिव आन पंजाब' की एक टीम नित्य रामकृष्णन, अशोक अग्रवाल, तपन के. बोस और रामनारायण कुमार—ने पंजाब में अनेक स्थानों पर जाकर पड़ताल की, लोगों की गवाहियां लीं, पीड़ित परिवारों से मिले और एक रिपोर्ट प्रकाशित की—''स्टेट टेररिज्म इन पंजाब'। इस रिपोर्ट

ने सारे देश के सम्मुख यह तथ्य उजागर किया कि किस प्रकार आतंकवाद से लड़ने के नाम पर सुरक्षा बलों से जुड़े कुछ अधिकारियों ने पंजाब में निरीह नागरिकों पर कहर ढाए हैं।

कुछ वर्ष पहले चंडीगढ़ के अंग्रेजी दैनिक 'ट्रिब्यून' में एक खबर छपी थी, जिसके अनुसार पंजाब पुलिस के एक ब्लैककैट कमांडों सतवंत सिंह माणक ने पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय में दाखिल अपनी एक याचिका में यह रहस्य खोला कि पंजाब पुलिस ने उसकी आंखों के सामने ग्यारह निदोर्ष व्यक्तियों की केवल इसलिए हत्या की उन्हें आतंकवादी बताकर पुरस्कार और पदोन्नति प्राप्त हो सके। सतवंत सिंह माणक ने उन बेकसूर लोगों के नाम और पते भी दिए जिन्हें इस प्रकार मारा गया था। उसने उन पुलिस अधिकारियों के नाम भी बताए जो इस नृशंस हत्याकांड में शामिल थे।

लोकतंत्र पुलिस को जब जी चाहे अत्याचार करने, लोगों को अंधा करने, गरम सलाखों से दागने, बलात्कार और हत्या करने की बिल्कुल इजाजत नहीं देता। जब कोई समाज यह मान लेता है कि (कैसी भी गंभीर स्थितियों के बावजूद) पुलिस को कानून की सीमाओं में रहने की ज़रूरत नहीं है तो वह सीधे-सीधे निरंकुश तानाशाही को निमंत्रित करता है और सभी लोकतंत्रीय और मानवीय मर्यादाओं को खाक में मिला देता है।

मानवाधिकारों की रक्षा का प्रश्न अब केवल एक देश या एक समुदाय तक ही सीमित नहीं है। 'एमनेस्टी इंटरनेशनल' जैसी संस्थाओं ने इसे वैश्विक प्रश्न बना दिया है। अब लगभग सभी देशों की सरकारें अपने यहां मानव अधिकार संगठनों को मान्यता दे रहे हैं। भारत सरकार ने राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकार आयोग का गठन किया है। अन्य अनेक राज्य सरकारें भी ऐसे आयोग बना रही हैं। इन आयोगों के सम्मुख ऐसी सभी शिकायतें रखी जा सकती हैं, जहां मानवाधिकारों का हनन हुआ है।

यह भी कम आश्चर्य और खेद की बात नहीं कि इस देश में मानव अधिकारों का सबसे अधिक उल्लंघन उत्तरप्रदेश में होता है एक रिपोर्ट के अनुसार वर्ष 1997-98 में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग को प्राप्त कुल 35,779 शिकायतों में 50 प्रतिशत शिकायतें केवल उत्तरप्रदेश से प्राप्त हुईं।

पाकिस्तान में आज लोकतंत्र दम तोड़ चुका है। सच बात तो यह है कि वहां कभी लोकतंत्र पनपा ही नहीं। वहां अधिकांश समय सैनिक तानाशाही रही अथा कुछ समय के लिए आया लोकतंत्र सेना अधिकारों के दबाव में सांसें लेता रहा। मानवाधिकारों की बात, उसके लिए जनमत तैयार करना अथवा जनान्दोलन करना लोकतंत्र में तो संभव है, सैनिक तानाशाही उतना सरल नहीं है। ऐसी कठिन और विषम परिस्थितियों में भी वहां मानवाधिकार संगठन काम करते रहते हैं। श्रीमती अस्मा जहांगीर तो इसके लिए पूरी तरह समर्पित महिला हैं। रूप लाल की मुक्ति के लिए उन्होंने जो प्रयास किए और सैनिक तानाशाहों से अपनी बात मनवा ली, इसके लिए उनका जितना भी साधुवाद किया जाए कम है।

(दैनिक जागरण, 27-4-2000)

गहरे जख्म छोड़ गया ऑपरेशन ब्लू स्टार

कुछ दिन पूर्व देश के पूर्व सेनाध्यक्ष जनरल शंकर रायचौधुरी (अब संसद सदस्य) ने एक भेंटवार्ता में कहा कि केंद्र सरकार ने 16 वर्ष पूर्व पंजाब में जो ऑपरेशन ब्लू स्टार करवाया था वह अपने राजनीतिक लाभ के लिए था। यह निश्चित रूप से केंद्र सरकार की भयंकर भूल थी। जनरल चौधुरी ने यह भी कहा कि इस कार्रवाई के बिना भी सारी स्थिति को संभाला जा सकता था, किंतु केंद्र में सत्तारूढ़ लोगों की कुछ जायज मांगें थीं किंतु दिल्ली दरबार ने लंबे समय तक उनकी ओर से मुंह फेरे रखा। रोजगार के अवसर न मिलने के कारण पंजाब के युवक निराशा से भरे हुए थे। पाकिस्तान ने इस हालत का पूरा लाभ उठाया और ऐसे युवकों को गुमराह करने के लिए उन्हें हथियार भी दिए तथा धन भी। जनरल रायचौधुरी जो 16 वर्ष पहले भी सेना में उच्च पदाधिकारी रहे होंगे संभव है उस समय भी उनकी यही राय रही हो किंतु सेना में रहते हुए वे उस समय उसे व्यक्त कर सकने में समर्थ नहीं होंगे।

गत कुछ वर्षों से पंजाब में शांति है, किंतु उससे पहले के दस-बारह वर्षों में पंजाब ने क्या कुछ नहीं झेला? कैसे-कैसे दौर से वह नहीं गुजरा? उग्रवाद और सरकारी आतंकवाद से न केवल पंजाब का, बल्कि पंजाब के आसपास के प्रदेशों का जीवन भी निरंतर थरथराता रहा। आपरेशन ब्लू-स्टार ने करोड़ों मनों को आहत किया, परंतु आज तक यह प्रश्न बार-बार मन को कुरेदता है कि सत्ता पर अधिकार का सुख क्या इतना क्रूर और भयावह होता है कि उसके सम्मुख सत्ताधारी व्यक्ति हजारों बेगुनाह लोगों की बलि देने से भी नहीं हिचकिचाता। आपरेशन ब्लू स्टार के समय जिस अधिकार सुख को संरक्षण प्राप्त हुआ उसकी प्यास तो हजारों लोगों का लहू पीकर भी तृप्त नहीं हुई। इस घटना से देश का सामाजिक सौमनस्य ही नहीं चरमराया बल्कि असंख्य लोगों को वह वर्षों तक भयाक्रांत करता रहा। 1980 में श्रीमती इंदिरा गांधी

फिर से सत्ता में आ गई थीं। सत्ता में आते ही अनेक राज्यों की गैर-कांग्रेसी सरकारों को उन्होंने भंग कर दिया था, जिसमें प्रकाश सिंह बादल के नेतृत्व वाली अकाली-जनता सरकार भी शामिल थी। पंजाब में दो कांग्रेसी दिग्गजों-दरबार सिंह और जैल सिंह की आपसी गुटपस्त राजनीतिक खींचतान में उन्हें एक मोहरा मिल गया—एक अचर्चित नाम संत जनरैल सिंह भिंडरावाला। उन्हीं दिनों पंजाब में उभरे अकाली-निरंकारी विवाद ने इस नाम को चर्चित कर दिया था। 13 अप्रैल 1978 को बैसाखी वाले दिन अमृतसर में एक खूनी संघर्ष में दोनों पक्षों के 17 व्यक्ति मारे गये और 100 से अधिक घायल हो गये। इसके पश्चात् पंजाब में हत्याओं का एक दौर शुरू हो गया था। 24 अप्रैल, 1980 को दिल्ली में निरंकारी बाबा गुरुबचन सिंह की हत्या हुई और 9 सितम्बर 1981 को लाला जगत नारायण को दिन-दहाड़े गोली मार दी गई। किसी भी सरकार के लिए सचेत और जागरूक होना उसकी पहली और अनिवार्य शर्त है। ये भविष्य में उभरने वाले रुझान की ओर संकेत करने वाली अत्यंत गंभीर घटनाएं थी किंतु केंद्र सरकार चुपचाप बैठी तमाशा देखती रही। उस समय तक पंजाब में पनपता हुआ उग्रवाद एक फुंसी थी। दो वर्ष बाद जब पुलिस अधिक्षक एच. एस. अटवाल को स्वर्ण मंदिर से बाहर निकलते समय गोली का निशाना बना दिया गया तो उग्रवाद एक फोड़े का रूप धारण कर चुका था किंतु श्रीमती गांधी इसे नासूर बनने देना चाहती थीं। फुंसी-फोड़े के इलाज से किसी डाक्टर का करिश्मा साबित नहीं होती। नासूर काटने से डाक्टर की वाहवाही होती है, उसका नाम होता है, उसकी प्रैक्टिस बढ़ती है।

आखिर श्रीमती गांधी ने समय रहते पंजाब में ऐसे कदम क्यों नहीं उठाये जिससे आपरेशन ब्लू-स्टार करने की नौबत नहीं आती? इस बात की अनेक प्रकार से व्याख्याएं की गई हैं। मार्क टली और सतीश जेकब ने अपनी पुस्तक, 'अमृतसर : इंदिरा गांधी की आखिरी लड़ाई' में लिखा है कि 'अपने कार्यकाल के अंतिम दौर में श्रीमती गांधी कांग्रेस पार्टी के पारंपरिक समर्थकों-मुसलमानों और हरिजनों-पर निर्भर रहना छोड़कर बहुसंख्यक, हिंदू समुदाय को एक ठोस 'वोट ब्लाक' में बदलने की कोशिश रही थीं। जाति-पाँति के गहरे विभाजन के कारण पहले यह कभी संभव नहीं हो पाया था। इस नये राजनीतिक समीकरण के लिए उत्प्रेरक का काम कर रही थी समूचे हिंदुस्तान में बहने वाली पुनरुत्थानवाद की लहर। हिंदू अपने आपको 30 साल से धर्मनिरपेक्ष नीति का सबसे बड़ा शिकार महसूस करने लगे थे। इसका असर इतना ज्यादा था कि स्वयं श्रीमती गांधी यह महसूस करने लगी थीं कि अगर अल्पसंख्यकों को और तरजीह दी गई तो व्यापक हिंदू प्रतिरोध होगा। बजाए इसके कि वे इस पुनरुत्थानवाद को चुनौती दें, वे उसी पर सवार होकर जितनी दूर हो सके, जाना चाहती थीं। धर्म-निरपेक्षता से हटकर हिंदूवाद की ओर श्रीमती गांधी की राजनीति के परिवर्तन को देखते हुए लोगों का कहना था कि उन्होंने भिंडरावाले के विरुद्ध कोई कार्रवाई करने में इसलिए देर की कि वे एक अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा बहुसंख्यक समुदाय को दी जाने वाली खुली चुनौतियों से खुश हो रही थीं। इसी देरी ने उन्हें हिंदू समुदाय का प्रिय पात्र बनने में सहायता पहुंचाई।

1984 के अंत में लोकसभा में आम चुनाव होने वाले थे। उस समय उनकी प्रतिष्ठा गिर रही थी। असम में बंगलादेश से आने वाले घुसपैठियों के कारण समस्या गंभीर हो गई थी। वहां की जनता पर जबरन थोपे गये चुनाव के दौरान तीन हजार लोगों का कत्लेआम हुआ था। उत्तरप्रदेश में आजादी के बाद सबसे भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हुए थे और पंजाब में उग्रवाद अपने चरम पर पहुंच गया था। ऐसी स्थिति में श्रीमती गांधी कोई करिश्मा करना चाहती थीं, जिससे उनकी दुर्गा की छवि एक बार फिर से स्थापित हो सके जिसे उन्होंने तब अर्जित किया था जब 1971 में पाकिस्तानी सेना को हराकर और पाकिस्तान के टुकड़े करके बंगलादेश को निर्मित किया था। उन दिनों यह भी बहुत चर्चा थी कि श्रीमती गांधी पाकिस्तान से एक और युद्ध करने की योजना बना रही हैं। 1982 में मैं एक प्रतिनिधिमंडल के साथ पाकिस्तान गया था। वहां मैंने यह महसूस किया था कि पाकिस्तान के बुद्धिजीवी, राजनीतिकर्मी, यहां तक कि आम जनता भी इस बात से बहुत आशंकित थी कि भारत उनके देश पर शीघ्र ही आक्रमण करके उसके और टुकड़े करने की योजना बना रहा है। श्रीमती गांधी तब तक गुट-निरपेक्ष आंदोलन की अध्यक्ष बन चुकी थीं और अपनी अंतरराष्ट्रीय छवि के प्रति बहुत सतर्क थीं। पाकिस्तान के तत्कालीन फौजी शासक जनरल जिया स्थिति को अच्छी तरह समझते थे, वे श्रीमती गांधी को युद्ध छेड़ने की कोई वजह नहीं देना चाहती थे, किंतु श्रीमती गांधी को करिश्मा करने के लिए कोई मुद्दा चाहिए था। स्थितियों का दबाव ऐसा था कि उन्हें अपनी नजर पाकिस्तान से हटाकर कहीं और मोड़नी पड़ी और उन्हें मिल गया पंजाब।

श्रीमती गांधी के संबंध में यह बात कही जाती है कि जब जितना गहरा संकट होता है, उनकी निष्पत्ति उतनी ही उत्तम होती है। उस समय वह कोई करिश्मा करती हैं। चारों ओर उनके प्रति वाहवाही गूंज उठती है। वर्षों से दंड पेल रहे विरोधी भौंचक्के रह जाते हैं और लोकसभा का दो-तिहाई बहुमत चुपचाप उनकी झोली में आ पड़ता है। 1984 में होने वाले चुनावों के लिए उन्हें फिर एक करिश्मे की तलाश थी। पंजाब में अकाली दल को अपनी राजनीतिक और धार्मिक मांगों की पूर्ति के लिए आंदोलन चलाते हुए लगभग दो वर्ष हो गए थे। इस बीच अकाली प्रतिनिधियों और सरकार के बीच कितनी बार समझौता-वार्ता हुई, कितनी बार विरोधी दलों को भी इस बातचीत में सम्मिलित किया गया। प्रत्येक बार यह लगा कि अब बातचीत किसी समझौते तक पहुंच जाएगी, परंतु हर बार बातचीत बिना कोई निर्णय लिए टूटती रही और सरकार अपने प्रचार माध्यमों द्वारा अकाली दल को इसके लिए दोषी ठहराती रही। मई 1984 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की पंजाब शाखा के सचिव अवतार सिंह मल्होत्रा की ओर से लिखित और प्रकाशित पुस्तिका—'पंजाब को बचाओ। भारत को बचाओ' के पृष्ठ 5 की ये पंक्तियां ध्यान देने योग्य हैं—'मध्यस्थों तथा अधिकारियों के जरिए और बाद में एक त्रिपक्षीय बैठक में वार्ताओं ने एक बार आशाएं बुलंद कीं। दरअसल ऐसा प्रतीत होता है कि इन वार्ताओं के फलस्वरूप जो समझौते तैयार हुए उन्हें तीन मौकों पर प्रधानमंत्री ने आखिरी मिनट पर रद्द कर दिया। इन सब से किसी ने लाभ उठाया

तो उग्रवादियों ने। ढीलढाल और गतिरोध की जान-बूझकर चलाई गई इस नीति का एक ही कारण हो सकता है, वह यह कि प्रधानमंत्री स्थिति को चुनावी राजनीति के हिस्से के रूप में इस्तेमाल करना चाहती थीं और आगामी लोकसभा चुनावों के लिए असम और पंजाब की अशांत हालत का लाभ उठाना चाहती थीं। यह समझा गया कि अकालियों से सख्ती से निपटने से उन्हें विशाल हिंदीभाषी इलाके में मदद मिलेगी। खुद पंजाब के भीतर इससे हिंदू और हरिजन वोटों को, कांग्रेस (ई) के गिर्द और भी मजबूती से जुटाने में सहायता पहुंचेगी। उग्रवादियों को लुभाने-फुसलाने की नीति को भी लगातार इस्तेमाल किया जा रहा था, ताकि अकाली आधार को विभाजित कर दिया जाए।

उन दिनों दिल्ली में 'पंजाब ग्रुप' नाम से पंजाब समस्या के प्रति गहरा सरोकार महसूस करने वाले कुछ बुद्धिजीवी बहुत सक्रिय थे। इनका नेतृत्व इंद्रकुमार गुजराल के हाथ में था और इसमें कुलदीप नैयर, एयरचीफ मार्शल अर्जुन सिंह, जस्टिस राजेंद्र सच्चर, जस्टिस रणजीत सिंह नरुला, ले. ज. जगजीत सिंह अरोड़ा, प्राण चोपड़ा, राजेंद्र सरीन, निर्मल मुकर्जी आदि अनेक जाने-माने व्यक्ति शामिल थे। इस ग्रुप की ओर से निरंतर यह प्रयास होता रहता था कि केंद्र सरकार और अकाली दल के मध्य कुछ ऐसा सम्मानपूर्ण राजनीतिक समझौता हो जाए जिसमें पंजाब में लोकतंत्र में विश्वास रखने वाली शक्तियों को बल मिले तथा उग्रवादी अलग-थलग पड़ जाएं। इस लक्ष्य को सामने रखकर इस ग्रुप के लोग एक ओर केंद्र सरकार के मंत्रियों से संपर्क रखते थे और दूसरी और शीर्षस्थ अकाली नेताओं से। यह सच है कि हरचंद सिंह लोंगोवाल सहित सभी अकाली नेता चाहते थे कि किसी प्रकार केंद्र सरकार से ऐसा समझौता हो जाए जिससे पंजाब की राजनीति में उनकी साख बनी रहे और उग्रवादी तत्वों को प्रभावहीन भी किया जा सके। केंद्र सरकार के सभी वरिष्ठ मंत्री इस ग्रुप को यह आश्वासन देते रहते थे कि सरकार जल्दी ही पंजाब समस्या के लिए समझौते का कोई मार्ग निकाल लेगी। वे यह भी आश्वासन देते थे कि सरकार किसी भी स्थिति में स्वर्ण मंदिर परिसर में सैनिक कार्रवाई नहीं करेगी। ग्रुप की ओर से यह भरोसा अकाली नेताओं को दिया जाता था।

किंतु श्रीमती गांधी और उनकी परामर्श मंडली के लोग अकालियों को सबक सिखाने के लिए स्वर्ण मंदिर परिसर में सैनिक कार्रवाई करने का निश्चय कर चुके थे। आपरेशन ब्लू-स्टार के कुछ दिन पहले ही अकाली दल के अध्यक्ष लोगोंवाल ने श्रीमती गांधी से टेलीफोन पर लंबी बातचीत की थी जिसमें उन्होंने यह स्वीकार किया था कि स्थिति पर अब उनका नियंत्रण नहीं रह गया है। उन्होंने श्रीमती गांधी से यह निवेदन किया था कि वे अकाली मांगों के बारे में कुछ रियायतें दें जिसे वे अपनी सफलता कहकर मोर्चा स्थगित कर दें और भिंडरावाले को अलग-थलग करने की कोशिश करें। संत लोंगोवाल की ओर किया गया वह आखिरी प्रयास भी असफल रहा। निश्चित दिन और समय पर केंद्र सरकार के निर्देश पर सेना हरिमंदिर परिसर में प्रवेश कर गई। वहां जो कुछ भी हुआ, उसे बताने की यहां जरूरत नहीं है किंतु जो कुछ भी हुआ वह असंख्य दिलों पर गहरे घाव छोड़ गया जो आज भी रिस रहे हैं।

(राष्ट्रीय सहारा, 6-6-2000)

भारत विभाजन और सिख नेताओं की भूमिका

55 वर्ष पूर्व-भारत विभाजन के समय सिख नेताओं की क्या भूमिका थी इस सम्बन्ध में विभाजन के बाद से ही लगातार चर्चा होती रही है। इस सम्बन्ध में बहुत सारे भ्रम और गलतफहमियां भी कुछ लोग पाले रहे हैं, कुछ आज भी पाले हुए हैं। हाल में ही अकाली दल (अमृतसर) के अध्यक्ष श्री सिमरन सिंह मान ने एक वक्तव्य दिया कि अंग्रेज सिखों को अलग देश देना चाहते थे किन्तु मास्टर तारा सिंह कांग्रेस के साथ मिल गए। उन्होंने 1947 में सिखों को कांग्रेस के पास बेच दिया।

विभाजन के तुरन्त बाद ए. एन. बाली लिखित 'नाउ इट कैन बी टोल्ड' प्रकाशित हुई थी। कुछ वर्ष बाद पाकिस्तान के वरिष्ठ राजनीतिक सैयद शरीफुद्दीन पीरजावा की लिखी 1200 से अधिक पृष्ठों की 1969-70 में कराची से प्रकाशित पुस्तक 'फाण्उेशन ऑफ पाकिस्तान' प्रकाशित हुई, जो इस विषय की अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। इसी लेखक ने 1977 में पाकिस्तान के निर्माता मोहम्मद अली जिन्ना का संपूर्ण पत्र-व्यवहार 'कायदे आजम जिन्ना' 'ज करेस्पोन्डेन्स' शीर्षक से प्रकाशित कराया। फ्रान्सीसी लेखक लैरी कालिन्स और डेमनिक लिपिअरे' की पुस्तकें 'फ्रीडम एट मिटनाइट और माउन्टबेटन एंड पार्टीशन आफ इंडिया' बहुचर्चित हो चुकी है। इस सूची को और भी बढ़ाया जा सकता है। इन सभी पुस्तकों और दस्तावेजों का अध्ययन करने के बाद स्थिति बहुत स्पष्ट हो जाती है। केवल व्याख्या और मीमांसा के स्तर पर ही कुछ मतभेद हो सकते हैं

उदाहरण के लिए मौलाना अबुल कलाम आजाद की पुस्तक—'इंडिया विन्स फ्रीडम' में लेखक ने लिखा है कि कैबिनेट मिशन ने इस देश को विभाजन से बचाने

का जो फार्मूला रखा था उसे कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया था। कुछ समय बाद उसे मुस्लिम लीग ने भी स्वीकार कर लिया, किंतु बाद में उसे अस्वीकृत कर दिया। मुस्लिम लीग की इस अस्वीकृति के लिए वे पं. जवाहर लाल नेहरू के बम्बई में दिए गए इस वक्तव्य (10 जुलाई, 1946) की मानते हैं जिसमें उन्होंने कहा था कि कांग्रेस ने केवल संविधान निर्मात्री सभा में जाने का निर्णय लिया है, कैबिनेट मिशन की योजना में परिवर्तन या संशोधन करने के लिए वह स्वतंत्र है।

देश के बंटवारे के समय सिखों की क्या स्थिति थी और उस समय के सिख नेताओं ने कैसी भूमिका निभाई इस सम्बन्ध में बहुत सी धारणाएं प्रचलित हैं।

देश के विभाजन के समय इस देश की कुल जनसंख्या लगभग 40 करोड़ थी जिसमें सिखों की आबादी लगभग 60 लाख थी। विभाजन की सबसे अधिक कीमत सिखों को चुकानी पड़ी। उनकी कुल आबादी का 40 प्रतिशत उस ओर था, जिसे पाकिस्तान कहां गया। यह सम्पूर्ण आबादी अपने घरों से उजड़ गई। लगभग 2 लाख सिख विभाजन के समय हुए भयंकर साम्प्रदायिक दंगों में मौत के घाट उतार दिए गये। पश्चिमी पंजाब के सिख, पूर्वी पंजाब के अपने सहधर्मियों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न थे। उनकी कुल धन, सम्पत्ति, जमीन-जायदाद का 70 प्रतिशत भाग उस ओर रह गया। ननकाना साहब (गुरुनानक का जन्म स्थान), डेरा साहब और पंजा साहब जैसे पवित्र तीर्थ स्थान पाकिस्तान में चले गए।

इस देश में जैसे-जैसे स्वशासन और स्वराज्य की बात आगे बढ़ी वैसे-वैसे सभी समुदायों में यह प्रश्न भी उभरने लगा कि अंग्रेजों के चले जाने के बाद इस देश का शासन तन्त्र कौन संभालेगा। मुख्य रूप से यहां दो पक्ष थे हिन्दू और मुसलमान। सिख तीसरा पक्ष अवश्य थे किन्तु उनकी आबादी मुख्य रूप से पंजाब में ही केंद्रित थी और वहां भी मोगा और तरन-तारन तहसील को छोड़कर कहीं भी उनकी बहुसंख्या नहीं थी। पूर्वी पंजाब की कुछ सिख रियासतों-पटियाला, नाभा, फरीदकोट आदि में उनकी आबादी 40 से 55 प्रतिशत तक थी।

पंजाब में शिरोमणि अकाली दल अपने जन्म (1920) से ही कांग्रेस की नीतियों का समर्थक रहा था और चाहता था कि इस देश के सभी समुदाय मिल-जुलकर शासन संभालो और देश अविभाजित रहे। किन्तु धीरे-धीरे ऐसी स्थितियां बनती चली गईं जिससे यह लगने लगा कि हिन्दू और मुसलमान मिलकर इस देश में ब्रिटिश शासन के उत्तराधिकारी नहीं बन सकेंगे।

1940 में लाहौर में हुए मुस्लिम लीग के अधिवेशन में पाकिस्तान की मांग का प्रस्ताव विधिवत रूप से स्वीकार किया गया। 1942 में सर स्टफर्ड क्रिस्प और 1944 में सी राजगोपालाचार्य ने इस उलझी हुई समस्या के निदान के लिए जो फार्मूले सामने रखे वे किसी न किसी रूप में मुस्लिम बहुल प्रदेशों में मुसलमानों के स्वशासन की बात को स्वीकार करते थे।

दूसरे विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटेन में लेबर पार्टी सत्ता में आ गई और क्लीमेंट ऐटली वहां के प्रधानमंत्री बने। उन्होंने 15 मार्च 1946 को 'हाउस आफ

कामन्स' में यह घोषणा की कि वे अपने मंत्रिमंडल के तीन सदस्यों का एक प्रतिनिधि मंडल भारत भेज रहे हैं जो वहां वाइसराय तथा राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों के साथ मिलकर देश को स्वशासन देने की दिशा में काम करेगा। इस कैबिनेट मिशन में लार्ड पैथिक लारेंस, सर स्टफर्ड क्रिप्स और ए. वी. एलेक्जेन्डर सम्मिलित थे।

हाउस आफ कामन्स में लार्ड ऐटली ने अपने भाषण में कहा कि मैं जानता हूं कि जब मैं हिंदुस्तान की बात करता हूं, तब मैं उस देश की बात करता हूं जहां नस्लों, धर्मों और भाषाओं का बहुत बड़ा समूह है और मैं यह भी जानता हूं कि इस कारण मार्ग में कितनी कठिनाइयों हैं किन्तु ये कठिनाइयां हिंदुस्तानी के लोग स्वयं ही दूर कर सकते हैं।

कैबिनेट मिशन ने भारत आकर सभी पक्षों के नेताओं से विचार विमर्श किया और सारे देश के लिए एक योजना सामने रखी, जिसे 'कैबिनेट मिशन प्लान' कहा जाता है। इस योजना के अन्तर्गत केन्द्र सरकार के पास केवल तीन विषय-सुरक्षा, विदेशी मामले और संचार साधन रखे गये। शेष सभी राज्यों के अधिकार क्षेत्र में रखे गये। इस योजना द्वारा सारे देश को तीन भागों में बांटा गया—ए, बी, और सी। ए भाग में वे सभी प्रान्त ये जिसमें हिन्दू बहुमत था। बी भाग मुस्लिम बहुल प्रदेशों का था, जिसमें पूरा पंजाब, सीमा प्रान्त, सिंध और बलोचिस्तान रखे गये थे। सी भाग में बंगाल और असम थे, जहां मुसलमानों की थोड़ी बहुसंख्या थी।

उस समय कैबिनेट मिशन के सदस्यों ने सिख नेताओं से भी मुलाकात की। मुलाकात करने वालों में मास्टर तारा सिंह, ज्ञानी करतार सिंह, सं. हरनाम सिंह और स. बलदेव सिंह थे। मिशन के सदस्यों ने उनसे जानना चाहा कि यदि उन्हें चुनाव का अवसर दिया जाए तो सिख किसी एक पक्ष को शासन सौंपने के पक्ष में होंगे या एक से अधिक पक्षों को। यदि शासन दो पक्षों को सौंपा गया तो सिख किसके साथ जाना पसंद करेंगे और यदि यह बात व्यावहारिक हो और इसकी व्यवस्था की जा सके तो क्या सिख अपने लिए एक अलग राज्य बनाना पसंद करेंगे?

लगभग सभी सिख नेता इस पक्ष में थे कि यह देश अविभाजित रहे और सभी समुदाय मिलकर संयुक्त सरकार बनाएं, किन्तु यदि देश का विभाजन अनिवार्य हो जाए तो सिख अपने लिए एक अलग राज्य चाहेंगे।

सिख नेताओं ने अलग सिख राज्य की मांग को अपनी दूसरी प्राथमिकता के रूप में, पाकिस्तान की मांग के उत्तर में ही कैबिनेट मिशन के सामने रखी था। उनकी पहली मांग यही थी कि इस देश को विभाजित न होने दिया जाए। वे यह अवश्य चाहते थे कि स्वतंत्र भारत में एक अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में उनकी पूरी सुरक्षा हो। कैबिनेट मिशन को प्रस्तावित योजना भी उन्हें स्वीकार नहीं थी, क्योंकि इसके आधार पर पूरा पंजाब बी भाग में पड़ता था और लगभग सम्पूर्ण सिख आबादी मुस्लिम बहुल क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाती थी। अलग सिख राज्य के लिए सं. बलदेव सिंह ने जो विकल्प कैबिनेट मिशन के सामने रखा था, उसमें उन्होंने सुझाव दिया था कि संयुक्त

पंजाब के लाहौर जालन्धर और अम्बाला डिवीजनों को मिला ऐसा राज्य बनाया जा सकता है, किन्तु इस क्षेत्र में भी उनका बहुमत नहीं था। इसलिए उसके स्वीकार किए जाने की कोई संभावना नहीं थी।

1946 में सारे देश में केन्द्र और प्रान्तीय विधान सभाओं के चुनावों में मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में मुस्लिम लीग को व्यापक सफलता प्राप्त हुई। बंगाल में मुस्लिम लीग की सरकार के समय 16 अगस्त 1946 को मुस्लिम लीग ने सीधी कार्रवाई 'दिन' मनाने का फैसला किया। कलकत्ता और बंगाल के कुछ अन्य भागों में हिंसा भड़क उठी। इस कार्रवाई में केवल कलकत्ता में 5 हजार व्यक्ति मारे गए। 15 हजार घायल हुएं और एक लाख से अधिक व्यक्ति बेघर बार हो गए। मुस्लिम लीग की ओर से यह पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए युद्ध की घोषणा थी।

मार्च 1947 को लार्ड माउंटबैटन भारत के नये वाइसराय और गवर्नर जनरल बन कर आए। ब्रिटिश सरकार की ओर से यह घोषणा कर दी गई कि जून 1948 में वह हिन्दूस्तान को स्वशासन देकर अपना शासन समाप्त कर देगी। बाद में यह तिथि बदलकर 15 अगस्त, 1947 कर दी गई।

मोहम्मद अली जिन्ना चाहते थे कि विभाजन की स्थिति में सिख पाकिस्तान का हिस्सा बनना स्वीकार कर लें। इस दृष्टि से उन्होंने सिख नेताओं के सामने अनेक प्रस्ताव भी रखे, किन्तु सिख नेता इन प्रस्तावों की अव्यावहारिकता को अच्छी तरह जानते थे। सारे देश में साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठ थे। दिसम्बर 1946 से ही सीमा प्रान्त के हज़ारा जिले में सिखों की व्यापक हत्याएं शुरू हो गई थीं।

संयुक्त पंजाब में 1946 में यूनियनिस्ट सरकार बनी थी जिसके मुख्यमंत्री मलिक ख़िजर हैयात खान थे। मंत्रिमंडल में हिन्दू और सिख भी शामिल थे, किन्तु मुस्लिम लीग के बढ़ते दबाव के कारण ख़िजर हैयात खान ने अपने पद से 2 मार्च 1947 को त्याग पत्र दे दिया। पंजाब के तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर ने विधान सभा में दूसरी सबसे बड़ी पार्टी होने के नाते मुस्लिम लीग को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया।

इस घटना से सारे पंजाब में मुस्लिम लीग के समर्थकों में भारी उत्साह छा गया था। 3 मार्च 1947 को लाहौर में असेम्बली हाल के बाहर हज़ारों की भीड़ मुस्लिम लीग जिंदा बाद और पाकिस्तान के नारे लगा रही थी। असेम्बली भवन में विधान सभा के हिन्दू-सिख सदस्यों की बैठक में इस गंभीर स्थिति पर विचार हो रहा था। उस बैठक में मास्टर तारा सिंह भी उपस्थित थे। मुस्लिम लीग के नेता विधान सभा के अकाली सदस्यों को मंत्रिमंडल में शामिल होने का निमंत्रण दे चुके थे, जिसे अकाली सदस्य अस्वीकार कर चुके थे।

मुस्लिम लीग की सरकार बनने की संभावना से पंजाब के हिन्दू-सिखों में गहरी हताशा व्याप गई थी। अभी पाकिस्तान के निर्माण की विधिवत् घोषणा नहीं हुई थी, किन्तु दीवार पर लिखे को सभी पढ़ सकते थे। बंगाल में मुस्लिम लीग की सरकार में सीधी कार्रवाई के दौरान जो भयंकर रक्तपात हुआ था, वह लोगों को अच्छी तरह

याद था। लोगी सरकार में वही सब कुछ पंजाब में भी दोहराया जाएगा इस आशंका से लोग भयभीत हो उठे थे।

पंजाब असेम्बली हाल से जब कांग्रेसी और अकाली सदस्य बाहर आए तो उन्होंने थोड़ी दूर खड़ी पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे लगाती हुई भीड़ को देखा। उनकी हताश और बढ़ गई। ऐसे समय में मास्टर तारा सिंह ने असेम्बली भवन की सीढ़ियों पर खड़े होकर नारा लगाया, 'काट के देंगे अपनी जान, मगर नहीं देंगे पाकिस्तान'। शेष सभी सदस्यों ने उनका साथ दिया। दोनों ओर से नारे-प्रति नारे लगने लगे। पुलिस और सेना ने स्थिति पर नियन्त्रण किया। पंजाब के गवर्नर ने स्थिति की गंभीरता को देखते हुए मुस्लिम लीग को सरकार बनाने का भेजा हुआ निमन्त्रण वापस ले लिया और गवर्नरी राज लागू कर दिया।

3 मार्च, 1947 की इस घटना और उसमें मास्टर तारा सिंह की भूमिका को लेकर बहुत सी भ्रान्तियां फैली हुई हैं। इस दृष्टि से श्री जी. डी. खोसला की पुस्तक, 'स्टेर्न रेक्रोनिंग' और श्री ए. एन. बाली की पुस्तक 'नाउ इट कैन बी टोल्ड' में दिया गया वर्णन तथ्यों के बहुत नजदीक है। इसमें कोई संदेह नही कि इस घटना के बाद पंजाब के हिन्दू-सिखों में अद्‌भुत रूप से उत्साह का संचार हुआ था और स्थिति का मुकाबला करने का उनका निश्चय अधिक मजबूत हो गया था।

लार्ड माउंटबेटन ने 24 मार्च, 1947 को दिल्ली पहुंचकर नए वाइसराय का कार्यभार संभाला। कुछ महीनों तक देश के विभिन्न पक्षों के नेताओं से बातचीत करने के बाद 2 जून को उन्होंने भारत के विभाजन की घोषणा की जिसे अगले दिन कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं ने स्वीकार कर लिया। सिख नेता इस विभाजन का लगातार विरोध करते रहे किन्तु उनकी आवाज़ नक्कार खाने में तूती की आवाज साबित हुई। उनके हाथ से बहुत कुछ जा रहा था। ऐसी स्थिति में उनके सामने एक ही रास्ता था कि अधिक से अधिक जो कुछ बचाया जा सके उसे बचाया जाए। उन्होंने मांग की कि यदि इस देश का बंटवारा होना ही है तो पंजाब का भी बंटवारा किया जाए। इसी समय बंगाल के बंटवारे की भी आवाज उठी। कांग्रेस ने भी इसका समर्थन किया।

मोहम्मद अली जिन्ना पंजाब और बंगाल का विभाजन स्वीकार करने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे और चाहते थे कि ये दोनों प्रान्त पूरे के पूरे पाकिस्तान का हिस्सा बनें। उन्होंने लार्ड माउण्टबेटन के सामने अनेक तर्क रखे। सिख नेताओं ने यह स्पष्ट कर दिया था कि यदि पंजाब के विभाजन की मांग को स्वीकार नहीं किया गया तो वे देश का विभाजन नहीं होने देंगे, चाहे उसके लिए उन्हें कितनी भी बड़ी कीमत क्यों न चुकानी पड़े। लार्ड माउण्टबेटन सिख नेताओं की इस मांग से सहमत थे और उन्होंने मिस्टर जिन्ना से स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया था कि यदि वे हिन्दुस्तान का बंटवारा चाहते हैं तो उन्हें पंजाब और बंगाल के बंटवारे की मांग स्वीकार करनी होगी। अन्यथा वे इस देश को अविभाजित रखने वाली कैबिनेट मिशन की योजना स्वीकार कर लें। आखिर मिस्टर जिन्ना ने बड़े भारी मन से इन दो प्रान्तों का विभाजन स्वीकार कर लिया।

इस देश को आजादी, इस देश के विभाजन की शर्त पर मिली और देश के विभाजन की सबसे अधिक कीमत सिख समुदाय को उठानी पड़ी। इसके बावजूद यदि उस समय के सिख नेता और सम्पूर्ण सिख समुदाय अनेक भ्रान्तिपूर्ण कथनों का शिकार बनाकर लांछित होता रहे तो इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा।

(दैनिक जागरण, 8-6-2000)

कश्मीर समस्या और भारतीय मुसलमान

एक और दो जुलाई को इस्लामाबाद में सम्पन्न हुए दक्षिण एशिया मीडिया सम्मेलन में मैं शामिल था। वहां के एक पत्रकार ने मुझसे पूछा कि आप कश्मीर समस्या के समाधान के सम्बन्ध में क्या सोचते हैं? मैंने कहा—1947 में देश के विभाजन के समय उस समय की सभी देशी रियासतों ने भारत अथवा पाकिस्तान में अपने आपको विलय कर लिया था। जम्मू-कश्मीर के महाराजा ने अपने राज्य को भारत में विलय करने के संधिपत्र विधिवत हस्ताक्षर किए थे। इसलिए यह राज्य भारत का अभिन्न अंग है, इसमें आपको संदेह क्यों है?

उस पत्रकार ने कहा कि कश्मीर मुस्लिम बहुल राज्य है। विभाजन के समय ऐसे सभी क्षेत्र जिनमें मुसलमानों की बहुसंख्या थी, पाकिस्तान का भाग बने थे। यही बात कश्मीर पर भी लागू होनी चाहिए थी। लेकिन आपके मुल्क ने कश्मीर पर जबरदस्ती कब्जा कर लिया।

मैंने उस पत्रकार को याद दिलाया कि जम्मू-कश्मीर के महाराजा हरीसिंह ने अपने राज्य को भारत में शामिल करने के संधि पत्र पर हस्ताक्षर अवश्य किए थे, किन्तु उस निर्णय पर मोहर तो कश्मीर के मुसलमानों ने लगाई थी। शेख अब्दुल्ला उस समय राज्य के सबसे बड़े नेता थे। उन्होंने ने ही पहल करके उस संधि की पुष्टि की थी। जबरदस्ती का सवाल कहां पैदा होता है। जबरदस्ती तो पाकिस्तान की है, जिसने आज जम्मू-कश्मीर के एक बहुत बड़े भाग पर कब्जा कर रखा है और शेष पर कब्जा करना चाहता है। विभाजन के समय शेख अब्दुल्ला और कश्मीर की मुस्लिम जनता को किसी ने उस बात के लिए मजबूर नहीं किया था कि वे भारत का अंग बनें। यह उनका अपना फैसला था।

उस पाकिस्तानी पत्रकार के आग्रह का मुख्य आधार यह था चूंकि कश्मीर मुस्लिम बहुल राज्य है इसलिए उसे पाकिस्तान का हिस्सा होना चाहिए, उसी तरह जैसे अविभाजित भारत के अन्य कई क्षेत्र हुए थे। बात घूम फिर कर उसी द्विराष्ट्रवाद के सिद्धान्त पर आकर टिक गई, जिस आधार पर इस देश का विभाजन हुआ था।

श्री मोहम्मद अली जिन्ना तथा अन्य सभी मुस्लिम लीग के नेताओं का मत था कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग राष्ट्र हैं। दोनों एक साथ मिलकर इस देश का शासन नहीं चल सकते। दोनों की धार्मिक मान्यताएं ही अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि उनकी संस्कृति, भाषा, इतिहास, परम्परा जीवन मूल्य सभी अलग-अलग हैं। इसलिए हिन्दुस्तान का बंटवारा होना चाहिए। मुसलमान अपने लिए एक अलग राष्ट्र का निर्माण करना चाहते हैं।

कांग्रेस और उसके नेताओं का कहना था कि धार्मिक मान्यताओं के भिन्न होते हुए भी इस देश के सभी समुदाय, वर्ग, भाषा-भाषी एक ही राष्ट्र के अंग हैं और उन्हें मिलजुलकर इस देश की सत्ता संभालनी चाहिए।

किन्तु स्थितियां ऐसी बन गईं कि कांग्रेस को दो राष्ट्रों वाले सिद्धान्त के सम्मुख घुटने टेकने पड़े, मुस्लिम लीग की बात माननी पड़ी और देश के उन भागों को जहां मुसलमानों की संख्या अधिक थी, काटकर एक अलग देश-पाकिस्तान बनाने को अपनी स्वीकृति देनी पड़ी।

यह विभाजन इस उपमहाद्वीप के इतिहास की सबसे बड़ी त्रासदी लेकर आया। अनेक भागों में भयंकर दंगे-फसाद हुए जिनमें कई लाख लोगों की बलि चढ़ गई। अथाह सम्पत्ति ध्वस्त हो गई या आग में जला दी गई और असंख्य लोगों को अपना घर-बार छोड़कर एक-भाग से दूसरे भाग में जाना पड़ा।

पाकिस्तान घोषित रूप से एक इस्लामी राज्य बन गया किन्तु भारत ने अपने आपको एक धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया और अपने सभी नागरिकों को धर्म, भाषा, नस्ल, क्षेत्र, जाति की विभिन्नताओं के स्वीकार करते हुए समान अधिकार दिए। भारतीय संविधान ने इसकी पूरी गारंटी दी।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में मुसलमानों की स्थिति सबसे विचित्र और विडम्बनापूर्ण रही। विभाजन के समय पाकिस्तान के घोषित क्षेत्र से हिंदुओं-सिखों का व्यापक पलायन हुआ। सम्पूर्ण पश्चिमी पंजाब में तो उनका सफाया ही हो गया। सिंध, सीमा प्रान्त और पूर्वी-पाकिस्तान (अब बांगला देश) से उनका निकलना निरन्तर जारी रहा। भारत से भी बहुत से मुसलमान पाकिस्तान के दोनों भागों में पलायन कर गये। पाकिस्तान से जो लोग इधर आए थे वे शुरू में शरणार्थी कहलाए, किन्तु धीरे-धीरे पुरुषार्थी बनकर इस देश में पूरी तरह समा गये, वे वहां मुहाजिर (शरणार्थी) कहलाए, किंतु आधी सदी से अधिक समय व्यतीत हो जाने के बावजूद वे वहां आज भी 'मुहाजिर' कहे और माने जाते हैं। पूर्वी पाकिस्तान में उन्हें बिहारी कहा जाता था क्योंकि अधिकतर बिहार से ही लोग उधर गये थे। 1971 में बंगलादेश बन जाने के बाद वहां की सरकार ने

उन्हें अपना नागरिक मानने से इनकार कर दिया, क्योंकि बंगलादेश के मुक्ति संग्राम के समय इन बिहारी मुसलमानों ने पश्चिमी पाकिस्तान के फौजी हुक्मरानों का साथ दिया था।

बंगलादेश बन जाने के लगभग तीन दशक बीत जाने के बाद भी लाखों बिहारी मुसलमान वहां कैम्पों में पड़े हुए नागरिकता विहीन नारकीय जीवन जी रहे हैं। पश्चिमी पाकिस्तान उन्हें स्वीकार करने को तैयार नहीं है। उसकी नज़र में वे बंगलादेशी नागरिक हैं। बंगलादेश में वे पाकिस्तान समर्थक लोग समझे जाते हैं।

भारतीय भागों से कई लाख मुसलमानों के पाकिस्तान चले जाने के बावजूद करोड़ों मुसलमानों ने स्वेच्छा से इसी देश में रहना पसंद किया। इस समय भारत में मुसलमानों की संख्या लगभग 15 करोड़ है जो पाकिस्तान के मुसलमानों से अधिक है।

ये मुसलमान भारत के नागरिक हैं, नागरिकता के सभी अधिकार इन्हें प्राप्त हैं। धार्मिक दृष्टि से इन्हें पूरी स्वतंत्रता है। उच्चतम सरकारी पदों पर इस वर्ग के लोगों की नियुक्ति होती रही है, आज भी है, किंतु इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इस समाज में अशिक्षा, गरीबी और बेरोजगारी का औसत अन्य किसी धार्मिक समुदाय की अपेक्षा अधिक है।

कुछ दिन पहले मुझ युवा मुसलमानों की एक देशव्यापी संस्था—'स्टुडेंट इस्लामिक आर्गगनाइजेशन आफ इंडिया' द्वारा नई दिल्ली में आयोजित एक संगोष्ठी में भाषण देने के लिए आमंत्रित किया गया था। संगोष्ठी का विषय था—'हम भारतीय मुसलमानों से क्या अपेक्षा है?' संगोष्ठी में लगभग 200 विद्यार्थी थे और कुछ अध्यापक/वरिष्ठ जन भी। वहां मैंने कहा कि मैं मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि मुस्लिम समाज में खुलापन आ रहा है और वे अपनी समस्याओं को सम्पूर्ण भारतीय परिप्रेक्ष्य में रखकर देखना-परखना चाहते हैं। मैंने इस बात की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया कि इस देश में समुदायों को अलगाव में जीने की आदत है अलग बस्तियां अलग स्कूल, अलग पहरावा, अलग खान-पान। मुसलमान विशेष रूप से ऐसी अलगाव भरी मानसिकता में जीने के आदी हैं। यदि उन्हें सचमुच देश की व्यापक समाज रचना के साथ मिलकर चलना है तो उन्हें अपने आपको इस अलगाव से बाहर लाना चाहिए।

मैंने एक सीधा प्रश्न उनके सामने रखा। मैंने उन्हें याद कराया कि इस देश का विभाजन द्विराष्ट्रवाद के सिद्धान्त पर मुस्लिम लीग ने करवाया था, किन्तु वह सिद्धान्त तो पाकिस्तान के जन्म के 24 वर्ष बाद ही झूठा पड़ गया जब पूर्वी पाकिस्तान ने अपनी भाषा (बांग्ला) की मर्यादा और उसके अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष छेड़ा और पश्चिमी पाकिस्तान से अपने आपको अलग कर लिया। मैंने कहा कि मैं यह मानकर चलता कि भारत में बसने वाले 15 करोड़ मुसलमान दो राष्ट्रों वाले सिद्धान्त को (अब) नहीं मानते हैं और यह मानते हैं कि सभी धर्मों के लोग अपनी धार्मिक आस्थाओं का पूरी तरह पालन करते हुए एक राष्ट्र के रूप में जीते हुए उसमें अपनी

सक्रिय भागीदारी निभा सकते हैं।

मैंने कश्मीर की बात भी उनके सामने रखी। कश्मीर भारतीय मुसलमानों के लिए एक बड़ी चुनौती है। यदि वहां पाकिस्तान के उसी पुराने तर्क को स्वीकार किया जाता है कि वहां मुसलमान बहुसंख्या में हैं, इसलिए उसे पाकिस्तान का अंग होना चाहिए तो भारत में रहने वाले पंद्रह करोड़ मुसलमान एक बहुत बड़े संदेह के घेरे में आ जाएंगे। यदि भारत में रहने वाले मुसलमान इस दो राष्ट्रों वाले सिद्धान्त को आगे बढ़कर नकारेंगे नहीं और पाकिस्तान के दावे का सक्रिय विरोध नहीं करेंगे तो सामान्यतः यह स्वीकार कर लिया जाएगा कि आधी सदी बीत जाने के बाद भी भारतीय मुसलमान इस मानसिकता से मुक्त नहीं हुए हैं कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग राष्ट्र हैं और वे साथ-साथ नहीं रह सकते।

इसमें कोई संदेह नहीं कि पांचवें दशक के प्रारंभिक वर्षों में जब पाकिस्तान बनाने का आंदोलन चल रहा था उत्तर प्रदेश और बिहार आदि के मुसलमानों ने उसमें बड़ी सक्रियता दिखाई थी, यह जानते हुए भी कि ये भाग पाकिस्तान का हिस्सा नहीं बनेंगे। विभाजन के बाद इस देश के बहुत बड़े जन भाग में यह धारणा व्याप्त रही है कि भारतीय मुसलमानों की वफादारी इस देश के साथ नहीं है, उनका झुकाव पाकिस्तान की ओर अधिक है। पिछले कुछ वर्षों में यह धारणा काफी कमजोर हुई है। मुसलमानों की युवा पीढ़ी अब इस देश के प्रति उतनी ही समर्पित दिखाई देती है, जितनी अन्य किसी धार्मिक समुदाय की, किन्तु कश्मीर की समस्या इस सारे किए-धरे पर पानी फेरने के लिए काफी है।

मैं समझता हूं कि कश्मीर की समस्या के साथ भारतीय मुसलमानों के व्यापक हित जुड़े हैं इसलिए उन्हें आगे बढ़कर अपनी जिम्मेदारी निभानी चाहिए और पाकिस्तान पक्षीय अलगाववादी तत्वों से यह स्पष्ट कहना चाहिए कि आप पाकिस्तान में खुश रहिए लेकिन कश्मीर सहित सभी भारतीय मुसलमानों पर रहम कीजिए क्योंकि हमारी और हमारी आनेवाली पीढ़ियों का भविष्य इस देश की मिट्टी के साथ जुड़ा है। आधी सदी पहले इस मिट्टी को जिस बेदर्दी से खून में गूंथा गया था। उसका फल हम चख चुके हैं अब हम उन काले दिनों को दोहराना नहीं चाहते हैं।

मैंने इस्लामाबाद में उस पाकिस्तानी पत्रकार से कहा था—"आप को कश्मीर के पचास लाख मुसलमानों की बड़ी चिंता है, सम्पूर्ण भारत में बसने वाले पंद्रह करोड़ मुसलमानों की कोई फिक्र नहीं है।

(दैनिक जागरण, 13-7-2000)

कश्मीर समस्याओं और जे. के. एल. एफ. का फार्मूला

जम्मू-कश्मीर लिबरेशन फ्रन्ट (जे. के. एल. एफ.) के अध्यक्ष जनाब अमानउल्ला खान ने 1-2 जुलाई, 2000 को इस्लामाबाद में हुए दक्षिण एशिया मीडिया सम्मेलन में एक पत्रक वितरित किया था—जे. के. एल. एफ. फार्मूला टु साल्व कश्मीर ईशू (जे.के.एल. एफ. का कश्मीर मुद्दे के हल का फार्मूला)। इस सम्मेलन में भाग लेने आए भारत, नेपाल, बगलादेश और श्रीलंका तथा पाकिस्तान के प्रतिनिधि तीन दिन तक इस्लामाबाद में रहे थे। अमानउल्ला खान तीनों दिन वहां उपस्थित थे और सभी प्रतिनिधियों से व्यक्तिगत रूप से मिल-मिलकर उन्हें अपने फार्मूले की प्रति दे रहे थे और कश्मीर समस्या के संबंध में अपना तर्क भी दे रहे थे। तीसरे दिन से मैरियट होटल की लॉबी में अपने दो-एक सहयोगियों सहित सारा दिन बैठे रहे और हर किसी को अपना फार्मूला समझाते रहे।

मुझे इस फार्मूले की प्रति उन्होंने पहले दिन ही दे दी थी और कई बार मुझसे मेरी प्रतिक्रिया जाननी चाही थी। मेरा उत्तर यही था कि दिल्ली पहुंचकर मैं आपके फार्मूले का अध्ययन करूंगा। यह सच भी है। दिल्ली वापस आकर ही मैंने इस फार्मूले को पढ़ा । इसकी प्रतियां उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव कोफी अन्नान सहित संसार भर के सभी राज्याध्यक्षों तथा महत्वपूर्ण व्यक्तियों को भेजी हैं।

इस फार्मूले का सारांश यह है। इस कार्य के लिए वे 11 सदस्यों की एक इंटरनेशनल कश्मीर कमेटी (आई.के.सी.) का गठन प्रस्तावित करते हैं। यह कमेटी पांच चरणों में पूरी योजना को कार्यान्वित करेगी। उनका कहना है पुराने जम्मू-कश्मीर राज्य, जो इस समय भारत और पाकिस्तान में विभाजित हैं, को संयुक्त करके प्रारम्भ में 15 वर्ष के लिए स्वतंत्र देश बनाया जाए, जो लोकतंत्र, संघीय और धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था

वाली सरकार द्वारा संचालित हो और जिसके भारत और पाकिस्तान, दोनों देशों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध हो। इसके लिए कश्मीर और अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय हो कि कोई भी देश, विशेषरूप भारत और पाकिस्तान उसकी सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करेंगे और कश्मीर के आंतरिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगे। कश्मीर इस बात की गारंटी देगा कि उसकी भूमि का किसी दूसरे के विरुद्ध इस्तेमाल नहीं होगा। जम्मू-कश्मीर के इस संयुक्तीकरण के 15 वर्ष बाद, वहां संयुक्त राष्ट्र संघ के निरीक्षण में एक जनमत गणना कराई जाएगी कि जिसमें कश्मीर के लोग यह निर्णय लेंगे कि वे कश्मीर को स्वतंत्र रखना चाहते हैं अथवा भारत या पाकिस्तान का एक भाग बनाना चाहते हैं। जनमत गणना का निर्णय सभी पक्षों को स्वीकार करना होगा। इससे कश्मीर समस्या का पूरा निदान निकल जाएगा।

इस फार्मूले में प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय कश्मीर समिति (आई.के.सी.) संयुक्त राष्ट्र संघ का महासचिव द्वारा गठित की जाएगी जिसमें उनके अतिरिक्त पी. 5 देशों का प्रतिनिधि जर्मनी, जापान, इस्लामिक कान्फरेंस का एक-एक गुट निरपेक्ष देशों के दो प्रतिनिधि होंगे, जो पांच चरणों में भारत और पाकिस्तान सरकारों के सहयोग से इन्हें कार्यान्वित करेंगे। पहले चरण में भारत, पाकिस्तान और कश्मीर के प्रतिनिधि एक अनुबंध पर हस्ताक्षर करेंगे। दूसरे चरण में भारत और पाकिस्तान की सरकारें कश्मीर के दोनों भागों से अपनी सेनाएं और नागरिक अधिकारी हटा लेंगे। जितने विदेशी आतंकवादी कश्मीर में हैं उन्हें उनके देशों में वापस भेज दिया जाएगा। तीसरे चरण में कश्मीर के सभी लड़ाकू संगठनों से तथा भारत द्वारा इनके प्रत्युत्तर में उभारे संगठनों से, उनके हथियार वापस ले लिए जाएंगे। इसके बाद ऐसे कश्मीरियों को उनके घरों में वापस लाया जाएगा जो 1988 के बाद अपना घर-बार छोड़कर जम्मू भारत और आजाद कश्मीर में शरणार्थी शिविरों में रह रहे हैं।

चौथे चरण में आई.के.सी. 1949 के युद्ध विराम के बाद कश्मीर में बंद हो गए आन्तरिक भागों को खोल देगी। पूरे राज्य में एक अन्तरिम सरकार गठित की जाएगी। जिसमें सभी क्षेत्रों, धर्मों और राजनीतिक विचारधारा भारत पक्षीय, पाकिस्तान पक्षीय और आजादी पक्षीय के लोगों का प्रतिनिधित्व होगा। यह आन्तरिक सरकार आई.के. सी. की सहायता करेगी। एक संविधान समिति आंतरिक संविधान तैयार करेगी जिसका आधार होगा—जनतन्त्र, गैर साम्प्रदायिक और संघीय। इस राज्य में पांच प्रान्त होंगे कश्मीर घाटी, जम्मू, लद्दाख, आजाद कश्मीर, गिलगिट-बाल्टिस्तान (हर प्रान्त के काफी आन्तरिक स्वायत्ता होगी। ऊपरी सभा में सभी प्रान्तों का एक जैसा प्रतिनिधित्व होगा और निचली सभा के सदस्यों की संख्या प्रत्येक प्रान्त की जनसंख्या के हिसाब से सानुपातिक होगी। चुनाव हर 4 या 5 वर्ष के बाद होंगे। पहली चुनी हुई सरकार बन जाने के बाद आई.के.सी. का काम लगभग समाप्त हो जाएगा।

पांचवे चरण में कश्मीर के फिर से संयुक्तीकरण के 15 वर्ष बाद संयुक्त राष्ट्र संघ के निरीक्षण में जनमत संग्रह होगा जो यह फैसला करेंगे कि कश्मीर राज्य अपनी

स्वतंत्रता बनाए रखे या भारत अथवा पाकिस्तान में से किसी का हिस्सा बने। यह निर्णय अन्तिम निर्णय होगा जो पक्षों को स्वीकार करना होगा। इससे समस्या हल हो जाएगी, जिसके कारण भारत-पाकिस्तान दो-बार खूनी जंग हो चुकी है और जिसके कारण एक करोड़ चालीस लाख कश्मीरी आधी सदी से यातनापूर्ण जीवन जी रहे हैं और हजारों लोग अपनी जान गंवा चुके हैं।

इसके बाद इस फार्मूले का दूसरा भाग शुरू होता है। इस फार्मूले को बनाने वालों की मान्यता है कि इस प्रकार कश्मीर की समस्या को हल करने से भारत और पाकिस्तान दोनों देशों का राष्ट्रीय अहं को कोई हानि नहीं होती। किसी में पराजित होने की भावना भी पैदा नहीं होती क्योंकि कश्मीर का जो भाग जिसके अधिकार में है, वह उसे दूसरे देश को नहीं देता। इसी के साथ दिया गया दूसरा तर्क बहुत रोचक है और ध्यान देने योग्य भी। क्योंकि यह फार्मूला मुस्लिम बहुमत वाले राज्य का वह भाग, जो आज भारत के कब्जे में है, मुस्लिम पाकिस्तान को नहीं सौंपता, इसलिए भारत की धर्मनिरपेक्षता न खंडित होती है, न उसे कोई हानि पहुंचती है और चूंकि यह फार्मूला मुस्लिम बहुमत राज्य के किसी भी भाग को भारत के अधीन रहने देता इसलिए यह पाकिस्तान की राष्ट्रीय विचारधारा को भी नहीं नकारता।

इस प्रकार यह फार्मूला इस बात को स्वीकार करता है कि भारत की राष्ट्रीय नीति धर्मनिरपेक्षता है और पाकिस्तान की राष्ट्रीय नीति मुस्लिमवादी। इस मुस्लिमवादी नीति का निष्कर्ष यह है कि भारत के जिस भाग में मुस्लिम बहुमत होगा वह भारत में नहीं रह सकता, उसे पाकिस्तान का भाग बनना चाहिए। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि यदि कल केरल या भारत के अन्य भाग में मुस्लिम बहुमत हो जाता है तो वह भारत में नहीं रहेगा, पाकिस्तान अथवा अन्य किसी मुस्लिम देश के साथ जुड़ जाएगा अथवा स्वतंत्र हो जाएगा।

इस थीसिस से इस देश की राष्ट्रीय राजनीति के सम्मुख कुछ गंभीर प्रश्न उभर आते हैं। 53 वर्ष पहले धर्म अथवा मजहब के आधार पर पाकिस्तान बन गया था और यही आधार पाकिस्तान की राष्ट्रीय राजनीति का बुनियादी सूत्र है। कश्मीर पर उसका दावा भी इसी आधार पर है। यदि यह दावा फिर से मान लिया जाता है तो भारत की राष्ट्रीय राजनीति की धज्जियां उड़ जाती हैं। इस समय भारत के दो राज्य ऐसे हैं जिनमें ईसाई धर्म को मानने वालों का बहुमत है। नये बनने वाले दो राज्यों, झारखंड और छत्तीसगढ़ आदिवासियों का बहुमत होगा। पंजाब में सिखों का बहुमत है। यदि कश्मीर के संबंध में मुस्लिम बहुमत वाले तर्क को स्वीकार कर लिया जाता है तो भारत के अन्य अनेक राज्यों के सम्मुख एक ऐसी मिसाल पैदा हो जाती है जो इस देश को विशृंखलित करने में सबसे अधिक प्रभावशाली भूमि का निर्वाह करेगी।

अमान उल्ला खान ने इस फार्मूले की प्रतियां इस्लामाबाद में हुए दक्षिण एशिया मीडिया सम्मेलन में खुले हाथों बांटी थीं और उनकी बातों से ऐसा लगता था कि उन्होंने कश्मीर समस्या के संबंध में ऐसा नायाब फार्मूला बनाया है जिसे पढ़कर सारी दुनिया

वाह-वाह करती हुई तालियां बजाने लगेगी। उनके मन में यह खुशफहमी भी पल रही थी कि इस फार्मूले को भारतीय मीडिया की तरफ से बहुत समर्थन प्राप्त होगा। शायद इसीलिए वे सम्मेलन में आए भारतीय प्रतिनिधियों से मिलने और बातचीत करने में बहुत उत्साह दिखा रहे थे।

इस फार्मूले को ध्यान से पढ़ने पर एक बात स्पष्ट होती है। अमान उल्ला खान के मन में समूचे जम्मू-कश्मीर (जिसमें पाकिस्तान अधिकृत भाग भी शामिल है) के संबंध में पूर्ण स्वतन्त्र कश्मीर का सपना पल रहा है जिसके भारत और पाकिस्तान—दोनों से मैत्रीपूर्ण संबंध होंगे। ऐसा सपना शायद शेख अब्दुल्ला के मन में भी था और महाराजा हरिसिंह के मन में भी।

यह बात निश्चित है कि भारत कश्मीर समस्या के संबंध में ऐसे किसी भी फार्मूले पर विचार नहीं कर सकता जिसमें द्विराष्ट्रवाद की बू आती हो। इस देश में सभी धर्मों, मतों, मजहबों, नस्लों और भाषाओं के लोग एक साथ रह रहे हैं और भविष्य में भी रहेंगे। ये सभी वर्ग इस देश में उभरी सांझी संस्कृति के वारिस हैं और निरन्तर उसका विकास कर रहे हैं।

यह बात मैं अपने एक पूर्व प्रकाशित लेख (दैनिक जागरण, 13 जुलाई, 2000) में लिख चुका हूं कि इस देश की राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप को बनाए रखने में भारतीय मुसलमानों की भूमिका बहुत अहम है। पाकिस्तान और कश्मीर के अलगाववादी तत्व यह समझते हैं कि दो राष्ट्रोंवाला सिद्धान्त अभी भी कारगर है। इसलिए मुस्लिम बहुल कश्मीर भारत का अंग बनकर नहीं रह सकता। भारत के मुसलमानों को उन्हें (और सारी दुनिया को) यह बताना है कि सारे भारत में 15 करोड़ से अधिक मुसलमान रहते हैं। वे इस समय धर्म निरपेक्ष सांझी संस्कृति के अंग हैं। उनकी दृष्टि में दो राष्ट्रों वाला सिद्धान्त पूरी तरह से दफन हो चुका है। उसे कब्र से निकालकर फिर से जिन्दा करने की कोई भी कोशिश उन्हें बहुत नुकसान पहुंचाएगी। इसलिए वे किसी भी मूल्य पर उस सिद्धान्त को कश्मीर समस्या के समाधान के लिए इस्तेमाल किए जाने का भरपूर विरोध करते हैं।

(दैनिक जागरण, 31-8-2000)

भाजपा को सभी वर्गों में समान रूप से आधार बनाना होगा

भारतीय जनता पार्टी ने हाल ही में नागपुर में हुई अपनी राष्ट्रीय परिषद् की बैठक में कुछ महत्वपूर्ण निर्णय लिये। इन निर्णयों में देश के अल्पसंख्यकों एवं दलित वर्गों को अधिक संख्या में अपने साथ जोड़ने तथा उनमें अपना आधार बढ़ाने का प्रयास करना विशेष महत्व रखता है। राष्ट्रीय परिषद् के समारोह में पार्टी के नवनिर्वाचित अध्यक्ष बंगारू लक्ष्मण ने यह बात स्वीकार की कि भारतीय जनता पार्टी अभी तक अल्पसंख्यकों, विशेषतौर पर मुसलमानों में तथा दलितों में अपना अच्छा प्रभाव नहीं बना सकी है।

दलितों में अपना समर्थन बढ़ाने के लिए इस वर्ष इस पार्टी ने विशेष ध्यान देते हुए एक दलित को अपनी पार्टी का अध्यक्ष निर्वाचित किया है। शुरू से ही भारतीय जनता पार्टी की एक विशेष छवि बनी रही है कि यह पार्टी उत्तर भारत के सवर्ण जातियों के व्यापारिक वर्ग की पार्टी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पिछले कुछ वर्षों में इस पार्टी की पकड़ दलित एवं पिछड़ी श्रेणी में बढ़ी है तथा इस काम के लिए इसके नेताओं ने विशेष प्रयास भी किए हैं। कल्याण सिंह, जो पिछड़ी श्रेणियों में से थे, को उत्तरप्रदेश जैसे विशाल राज्य का मुख्यमंत्री बनाना इस दिशा में किया गया पार्टी का एक प्रयास था। दलितों के लिए आरक्षित सीटों में भी भारतीय जनता पार्टी के उम्मीदवाद भारी संख्या में सफल होते रहे हैं, परन्तु इस वर्ग में इसे अधिक सफलता नहीं मिली। इसलिए कभी इसे उत्तर प्रदेश में मायावती का सहारा लेना पड़ता है तो कभी केन्द्र में राम विलास पासवान का।

दलितों में एक सूझवान एवं अच्छे व्यक्ति का पार्टी अध्यक्ष पद के लिए चुनाव करना बहुत बड़ा कदम है, परन्तु इतना ही काफी नहीं। दलित समाज के बारे में सवर्ण

हिन्दुओं की एक मानसिकता सदियों से बनी हुई है। इसे बदलना सहज कार्य नहीं। एक उदाहरण लें : कुछ समय पहले उत्तर प्रदेश में ही एक न्यायाधीश को एक स्थान से बदलकर दूसरे स्थान पर भेजा गया। उसके स्थान पर जो नया न्यायाधीश आया, उसने पहला काम वह किया कि अदालत वाले कमरे, उसकी मेज-कुर्सी, उसके चैम्बर को गंगाजल से धुलवाया तथा फिर वहां कार्य शुरू किया। असली बात यह थी कि बदलकर उस अदालत से तबादला होकर दूसरी जगह जाने वाला न्यायाधीश दलित जाति का था तथा वहां आने वाला सवर्ण हिन्दू था। यह एक मानसिकता है जो देश के पूरे समाज में घर कर चुकी है। सवर्ण हिन्दुओं की क्या बात करें, सिख भी इससे पूरी तरह नहीं बचे हैं। गुरु साहिबान तथा गुरवाणी के सभी उपदेशों के बावजूद ऊंच-नीच एवं छुआछूत की भावना से वे अभी तक पीछा नहीं छुड़ा सके।

ऐसी स्थिति में भारतीय जनता पार्टी का एक दलित को अपना अध्यक्ष निर्वाचित करना महत्वपूर्ण कदम है, परन्तु यहां भी विरोधाभास कुछ कम नहीं। अरुण शौरी को भारतीय जनता पार्टी ने टिकट देकर राज्यसभा का सदस्य बनाया तथा अब वह केन्द्रीय मंत्री मंडल में भी हैं। अरुण शौरी ने डॉ. अम्बेडकर के बारे में एक किताब लिखी है—Worshiping false god। यह पुस्तक न केवल डॉ. अम्बेदकर का अपमान करती है अपितु उन्हें एक बड़ा देशद्रोही सिद्ध करती है। आज इस देश का दलित समाज यदि किसी एक व्यक्ति के साथ सबसे अधिक नफरत करता है तो वह अरुण शौरी है। राज्यसभा में दलित सदस्यों द्वारा इस पुस्तक को फाड़कर अपना रोष प्रकट किया गया है। हाल ही में मुम्बई की एक सभा में जहां श्री शौरी ने बोलना था, उनके विरुद्ध व्यापक प्रदर्शन किया गया तथा उनके साथ हाथापाई भी हुई।

क्या भारतीय जनता पार्टी के नेताओं को इस बात का पता नहीं? पार्टी की राष्ट्रीय परिषद् की बैठक के समय प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने दीखियां स्थान पर जाकर डॉ. अम्बेडकर को अपनी श्रद्धांजलि दी। उनके साथ एक ऐसा व्यक्ति उनकी कैबिनेट का सदस्य है जो डॉ. अम्बेडकर का अपमान करता है। क्या इस सबके बावजूद दलितों का मन एवं उनका विश्वास जीता जा सकता है? अल्पसंख्यकों के बारे में भी यह बात कही जा सकती है। भारतीय जनता पार्टी की छवि एक हिन्दू पार्टी के रूप में बनी रही। कुछ वर्ष पहले राम मन्दिर का मुद्दा जिस प्रकार से इस पार्टी द्वारा उठाया गया था तथा बाबरी मस्जिद के ढांचे को गिराया गया था, उससे इस पार्टी की ऐसी छवि और भी गहरी हो गई थी। आम मुसलमान यह मानता है कि यह पार्टी मुस्लिम विरोधी है। यही बात ईसाइयों पर कुछ हद तक तथा सिखों के बारे में भी कही जा सकती है। यह कहने में भी कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि भारतीय जनता पार्टी ने अल्पसंख्यकों को निकट लाने के लिए कोई अच्छा प्रयास नहीं किया। शायद इस पार्टी के कुछ एक नेताओं को यह भ्रम रहा है कि वे केवल हिन्दुत्व की बात करके तथा हिन्दुओं का सहयोग लेकर सत्ता प्राप्ति की मंजिल पर पहुंच सकते हैं। इस देश में हिन्दू जनसंख्या 80 प्रतिशत से अधिक है, परन्तु इससे यह परिणाम

निकाल लेना कि सभी हिन्दू कभी भी एक ही झंडे के नीचे आकर किसी एक पार्टी का समर्थन करेंगे, वास्तविकता से मुंह मोड़ना होगा। दूसरी बात हिंदुओं में पिछड़ी श्रेणियों तथा दलितों की संख्या 70 प्रतिशत से अधिक है। जिन्हें सवर्ण जातियां कहा जाता है उनकी संख्या हिंदुओं में एक चौथाई भी नहीं।

दलितों में अपनी पकड़ मजबूत करने एवं मुसलमानों को निकट लाने का जैसा निर्णय इस पार्टी ने नागपुर के समारोह में किया है, वह सकारात्मक है। अधिकतर लोग इस निर्णय को संदेह की दृष्टि से देख रहे हैं। यह स्वाभाविक भी है। लोग पूछते हैं—क्या यह हृदय परिवर्तन है या केवल राजनीतिक चाल है। ये दोनों बातें मुझे अधिक महत्वपूर्ण प्रतोत नहीं होतीं। राजनीतिक पार्टियां धर्म मार्गी नहीं होतीं कि एक बार उस धर्म के अवतार, पैगम्बर या गुरु ने जो कह दिया तथा वह उसके धर्म ग्रन्थ का हिस्सा बन गया, वह पत्थर की लकीर बन गया। समूची राजनीति भौतिकवादी, विवशताओं एवं समझौतों से भरी हुई उचित अर्थों में 'सैक्यूलर' होती है। धर्म का नियंत्रण उस पर रह सके तो अच्छी बात है, परन्तु यह रहता नहीं, केवल इसका बहाना या दिखावा रह जाता है। जो देश अपने आपको इस्लामी देश होने का दावा करते हैं, वे इस्लामी सिद्धान्तों के अनुसार कितना चलने वाले होते हैं? जिस पंथक हितों वाली राजनीति का दावा पंजाब में होता रहा है, वह कितना पंथक रहा है, यह सब हम अच्छी तरह से जानते हैं।

राजनीति का मूलमंत्र सत्ता प्राप्ति होता है। इस मार्ग पर चलते हुए उसे अनेक समझौते करने आवश्यक हो जाते हैं। हम सभी जीवन में भी समझौते करते हैं। प्रत्येक समझौता बुरा होता है, यह बात भी ठीक नहीं। ज़िंदगी में किए गए अनेक समझौते हमें सुखद एवं संतुलित जीवनयापन करने का मार्ग भी बताते हैं। इस समय इस देश में जो मिली-जुली पार्टी शासन कर रही है (राजग), वह समकालीन समझौतों से बनी एक पार्टी है, परन्तु इससे अनेक अच्छी बातें उभरी हैं। आज से कुछ वर्ष पहले किसी ने सोचा नहीं था कि जार्ज फर्नांडीज, राम विलास पासवान, कुमार मंगलम, ममता बैनर्जी जैसे लोग अटल बिहारी वाजपेयी के साथ लाल कृष्ण आडवानी जैसे लोगों के साथ मिलकर संयुक्त सरकार का हिस्सा बनेंगे, भारतीय जनता पार्टी राम मन्दिर के मूद्दे को खटाई में डाल देगी तथा संविधान में धारा 370 को हटाने की मांग को छोड़ देगी।

भारतीय जनता पार्टी को दलितों तथा मुसलमानों में अपना आधार बढ़ाने के साथ-साथ दूसरे अल्पसंख्यकों की ओर ध्यान देने की भी आवश्यकता है। पिछले कुछ समय से ईसाई समुदाय पर जो हमले हुए हैं, उन्होंने इस वर्ग के लोगों में असुरक्षा की भावना पैदा कर दी है। यह बात सामने आ रही है कि गिरजाघरों तथा ईसाई पादरियों पर जो हमले हुए, उनके पीछे पाकिस्तान की गुप्तचर एजेंसी आई.एस.आई. का बड़ा हाथ रहा है। फिर भी दारा सिंह जैसे व्यक्ति जिसने लगभग डेढ़ वर्ष पहले उड़ीसा में आस्ट्रेलियन पादरी ग्राहम स्टूअर्ट स्टेंस तथा उसके दो पुत्रों को जिंदा जला दिया था, कुछ आतंकवादी संगठनों से जुड़ा हुआ था।

सिखों में भी भारतीय जनता पार्टी का कोई अच्छा आधार नहीं। छठे-सातवें दशक में जब पंजाब में भाषा-विवाद छिड़ा हुआ था, भारतीय जन संघ (भारतीय जनता पार्टी का पूर्व रूप) को आम नागरिक सिख विरोधी पार्टी के रूप में देखते थे, 1966 में पंजाब को राज्य का दर्जा मिलने के पश्चात् हालात में कुछ सुधार हुआ। कई बार जन संघ तथा अकालियों ने मिलकर सरकार भी बनाई। आज भी पंजाब में ऐसी ही सरकार है, परन्तु अब तक सिखों के साथ उसकी साझ केवल अकाली दल के माध्यम से है। यदि किसी कारणवश अकाली दल के साथ उसके संबंध बिगड़ जाएं तो इस साझ में दरारें पड़नी शुरू हो जाती हैं। पंजाब से बाहर सिखों की एक तिहाई संख्या (60 से 70 लाख) रहती है दिल्ली को छोड़कर जहां सिखों की संख्या 5 लाख है, अन्य कहीं भी अकाली दल का कोई ठोस आधार नहीं। इन सिखों में भारतीय जनता पार्टी अपना आधार पैदा कर सकती थी, परन्तु उसने नहीं किया। पार्टी के पास आज भी राष्ट्रीय स्तर का कोई सिख नेता नहीं।

भारतीय जनता पार्टी ने यदि देश के सभी वर्गों में अपना आधार बनाना है तथा केवल सवर्ण हिन्दुओं की पार्टी के रूप में बनी हुई अपनी छवि से ऊपर उठना है तो उसे सभी वर्गों के साथ सीधा सरोकार बनाना होगा। नागपुर में किया गया निश्चय सराहनीय है। देखना यह है कि बंगारू लक्ष्मण के नेतृत्व में यह पार्टी अपने निश्चय को व्यावहारिक रूप कैसे देती है।

(अजीत समाचार, 2-9-2000)

मुसलमानों के हाथों में है कुंजी

छह दशक पहले एक विचार इस देश में प्रचारित हुआ कि यहां रहने वाले दो बड़े धार्मिक समुदाय-हिंदू और मुसलमान दो अलग-अलग राष्ट्र हैं, उनका धर्म अलग है, सोचने का ढंग अलग है, वेश-भूषा अलग है। इसलिए वे एक साथ इस देश का शासन नहीं संभाल सकते। इस विचार को मोहम्मद अली जिन्ना ने दो राष्ट्रों का सिद्धांत कहा। उनकी संस्था 'मुस्लिम लीग' ने संपूर्ण देश में इसका प्रचार किया। उन्होंने मांग की, क्योंकि मुसलमान एक अलग राष्ट्र हैं इसलिए ब्रिटिश शासन उसी स्थिति में यहां से जाएगा, जब इस देश में से मुस्लिम बहुल क्षेत्रों को अलग करके मुसलमानों के लिए एक स्वतंत्र राज्य का निर्माण किया जाएगा। इस प्रस्तावित राज्य को उन्होंने पाकिस्तान नाम दिया। सन् 1940 में लाहौर में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान का प्रस्ताव पारित किया और केवल सात वर्षों में उसने अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया। देश का विभाजन हो गया। देश के अंदर दो बड़े राज्यों—पंजाब और बंगाल को भी विभाजित किया गया। संसार के नक्शे पर एक नया राष्ट्र उभर आया—पाकिस्तान।

भारत में उस समय सबसे बड़ी पार्टी कांग्रेस थी और उसका नेतृत्व गांधी जी के हाथों में था। कांग्रेस का यह मत प्रारंभ से ही था कि अलग-अलग धर्म होते हुए भी भारत के सभी धर्म (हिंदू-मुसलमान, सिख, ईसाई) एक ही राष्ट्र के अंग हैं। भारत मिली-जुली संस्कृति वाला देश है। सभी प्रकार की विभिन्नताएं होते हुए भी सभी भारतीय मिल-जुलकर स्वतंत्र भारत का शासन कार्य भली प्रकार चला सकते हैं। विभाजन के पूर्व और उस समय के इतिहास और सभी ऐतिहासिक दस्तावेजों की पड़ताल के पश्चात् लगता है कि अंग्रेज इस देश का विभाजन नहीं चाहते थे। वे इस देश का शासन इस देश के प्रतिनिधियों को सौंपकर जाना चाहते थे। 'कैबिनेट मिशन प्लान' इस दृष्टि से उनकी आखिरी कोशिश थी। केंद्र में कांग्रेस और मुस्लिम लीग

की मिली-जुली अंतरिम सरकार भी इस दिशा में एक कदम था। कैबिनेट मिशन की योजना को एक समय दोनों बड़ी पार्टियों—कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने स्वीकार भी कर लिया था। उस समय ऐसा लगा था कि शायद इस देश का विभाजन रुक जाएगा। किंतु बाद में मुस्लिम लीग ने उसे अस्वीकार कर दिया और विभाजन के अतिरिक्त कोई और चारा नहीं रहा। भारत ने द्विराष्ट्रवाद का सिद्धांत कभी स्वीकार नहीं किया था, किंतु पाकिस्तान इसी सिद्धांत के आधार पर बन गया। मुस्लिम लीग और उसके नेता मोहम्मद अली जिन्ना ने पूरे दावे से यह कहा कि उनका दो राष्ट्रों वाला सिद्धांत विजयी हो गया है। अपने-अपने आदर्शों के अनुरूप पाकिस्तान घोषित रूप से इस्लामी राज्य बना और भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य। पाकिस्तान से गैर मुस्लिम लगभग भगा दिए गए। जो बचे उन्हें नागरिकता के वे अधिकार प्राप्त नहीं हुए जो वहां के मुसलमान नागरिकों को प्राप्त हैं। इसके विरोध में संवैधानिक और कानूनी रूप से सभी नागरिकों, उनका धर्म, जाति, नस्लें और भाषा कुछ भी हो, को नागरिकता से एक जैसे अधिकार दिए गए हैं। यहीं से समस्या का दूसरा पहलू उभरता है। पाकिस्तान बनाने में सबसे सक्रिय भूमिका उन क्षेत्रों के मुसलमानों की थी जहां पाकिस्तान नहीं बनना था, जैसे उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र आदि। मुस्लिम लीग के शीर्षस्थ नेता मोहम्मद अली जिन्ना बंबई के थे और लियाकत अली खान उत्तरप्रदेश के। पाकिस्तान बनने के बाद एक वहां का गवर्नर जनरल बना, दूसरा प्रधानमंत्री। इन प्रदेशों के वे मुसलमान, जो पाकिस्तान बनाने का सपना अपनी आंखों में संजोए हुए थे, पाकिस्तान चले गए। फिर भी करोड़ों मुसलमान भारत में रह गए। पाकिस्तानी क्षेत्रों से जब गैर मुसलमान (हिंदू-सिख) अपना घर छोड़कर भाग रहे थे तो पाकिस्तानी नेता उन्हें रोकने का कोई प्रयास नहीं कर रहे थे। किंतु यहां से मुसलमानों ने जब पाकिस्तान की ओर जाना शुरू किया तो लगभग सभी भारतीय नेता गांधी, नेहरू, पटेल उन्हें बार-बार उनकी सुरक्षा का भरोसा दिला रहे थे और आग्रह कर रहे थे कि वे अपना घर-बार छोड़कर पाकिस्तान न जाएं।

उसी समय जम्मू-कश्मीर पर पाकिस्तान प्रेरित कबाइलियों का आक्रमण हुआ। इस क्षेत्र के शासक महाराजा हरिसिंह ने अपने राज्य का भारत में विधिवत विलय करने के लिए विलय के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर किए। कश्मीर के लोकप्रिय नेता शेख अब्दुल्ला ने उसकी पुष्टि की। प्रदेश को शासन की बागडोर उनके हाथों में सौंप दी गई। फिर जो कुछ हुआ, वह इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है। जम्मू-कश्मीर का भारत में विलय एक प्रकार से द्विराष्ट्रवाद की पराजय थी। यह सिद्धांत उस समय और भी खंडित हो गया जब पाकिस्तान बनने के 24 वर्ष बाद पूर्वी पाकिस्तान ने पश्चिमी पाकिस्तान से अपना नाता तोड़कर अपने आपको बंगलादेश नाम से एक स्वतंत्र राष्ट्र घोषित कर दिया। आज 53 वर्ष गुजर जाने के बाद भी जाने-अनजाने रूप में यह प्रश्न अपनी संगति नहीं खो सका है कि भारत में बसने वाले मुसलमानों ने क्या राष्ट्रवाद के सिद्धांत को नकार दिया है? क्या इस बात पर उसकी आस्था है कि भारत में रहने वाले सभी

धर्मों, वर्गों, जातियों के साथ वह समरस होकर एक राष्ट्र के रूप में सहज रूप से जीना उसके लिए संभव है?

द्विराष्ट्रवाद के सिद्धांत को मन में रखकर इस देश का कोई भी समुदाय यहां सहज होकर जी नहीं सकता। इस तथ्य को भारत में बसने वाला मुसलमान भी अच्छी तरह जानता है, किंतु कश्मीर की समस्या के साथ यह विचार किसी न किसी रूप में प्रारंभ से ही जुड़ा है। जम्मू-कश्मीर के भारत में विलय के पश्चात जो स्थिति उभरी थी उसमें भी इसके बीज निहित थे। उस समय भारत की 500 से अधिक देसी रियासतें बिना किसी विशिष्ट स्थिति के भारतीय संघ में शामिल हो गई थीं। जूनागढ़ और हैदराबाद जैसे राज्य भी कुछ अड़चनों के बाद भारत का अंग बन गये थे, किंतु जम्मू-कश्मीर के लिए विशेष प्रावधान किए गए थे। उसे अपना अलग संविधान बनाने, अपना अलग झंडा रखने, शासनाधिकारों को वजीरेआजम (प्रधानमंत्री) कहने, राज प्रमुख के पद को सदरे-रियासत पुकारने की सुविधा देने की सारी बातें अपने अंदर ऐसा विलगाव समाए हुए थीं, जिसके कारण केंद्र से उसका संबंध बड़े कच्चे धागे से बंधा हुआ दिखता था। उस समय प्रारंभिक एक-दो वर्षों में शेख अब्दुल्ला का भी जो बदला हुआ रुख दिखाई देने लगा था उससे लगता था कि यह कच्चा धागा भी टूट जाने के खतरे के निकट पहुंचता जा रहा है।

जम्मू-कश्मीर का भारत में विलय द्विराष्ट्रवाद की पराजय थी, किंतु उस राज्य के लिए कुछ विशेष प्रावधानों को रखना किसी पराजित व्यक्ति के मुह में कुछ जीवनदायी बूंदों को डालने जैसा था। आज इतना लंबा समय व्यतीत हो जाने के बाद भी यह समस्या गले की हड्डी बनी हुई है और हड्डी की चुभन तेज होती चली जा रही है। यह शायद उस समय की, इस देश के नेताओं की दुविधाग्रस्त मानसिकता का परिणाम है, किंतु उस समय भारत में रह गया मुसलमान तो शेष भारत का उसी प्रकार हिस्सा था, जैसे अन्य नागरिक। उसने भारत का देशभक्त नागरिक होने की घोषणा की थी। वह उस समय से लेकर आज तक इस बात को आग्रहपूर्वक क्यों नहीं करता रहा है कि भारत के मुसलमान दो राष्ट्रों का सिद्धांत नहीं मानते हैं और जम्मू-कश्मीर में भी इसे किसी रूप में स्वीकार किया जाना पसंद नहीं करते हैं। कुछ दिन पहले जमात-ए-इस्लामी की युवा शाखा-स्टूडेंट्स इस्लामिक आर्गनाइजेशन ऑफ इंडिया की एक कार्यशाला में लेखक को आमंत्रित किया गया था। विषय था—हम भारतीय मुसलमानों से क्या अपेक्षा रखते हैं। अन्य बातों के अतिरिक्त लेखक ने युवा वर्ग के उन प्रतिनिधियों से एक सीधा प्रश्न किया था जब जम्मू-कश्मीर में आतंकवादी, जिनमें बहुत बड़ी संख्या अफगानिस्तान से आधे भाड़े के आतंकियों की होती है, वहां के निर्दोष लोगों को अपनी गोलियों से भून देते हैं, तो आप उसका विरोध क्यों नहीं करते? अपना रोष क्यों नहीं व्यक्त करते? उपस्थित युवाओं में से एक ने उत्तर दिया—हम उनकी हिमायत नहीं करते हैं।

यही बात जनवरी 1948 में सरदार पटेल ने लखनऊ में मुसलमानों से कही थी, आप लोग सरहदी इलाके के कबाइलियों को लेकर पाकिस्तान द्वारा कश्मीर पर आक्रमण की खुले शब्दों में निंदा क्यों नहीं करते हैं? क्या आपका यह कर्तव्य नहीं है कि भारत पर किये गये आक्रमण की आप खुलकर निंदा करें? उस समय की कुछ बातें उन्होंने बड़े स्पष्ट रूप से कही थीं। मुसलमान कहते हैं कि वे देश के वफादार नागरिक हैं, इसलिए कोई उनकी वफादारी को शक की नज़रों को क्यों देखे, मैं कहूंगा, आप यह सवाल हमसे क्यों नहीं पूछते। अपनी आत्मा में झांक कर देखिए। इस संबंध में मैं स्पष्ट कहना चाहता हूं कि भारत के प्रति वफादारी की घोषणा मात्र इस संकट भरी स्थिति में उन्हें लाभ नहीं पहुंचाएगी। उन्हें अपनी घोषणा का व्यावहारिक प्रमाण भी देना होगा।

यदि इस अवधि में भारतीय मुसलमानों ने अपने दायित्व को ठीक से पहचाना होता और कश्मीर को लेकर अपने समाज में जागरूकता उत्पन्न की होती तो यह सवाल कब का हल हो गया होता। आज भी कश्मीर की समस्या, दो राष्ट्रों वाले सिद्धांत से जुड़ी हुई है। क्योंकि वहां मुसलमानों का बहुमत है इसलिए वह भारत का भाग बनकर नहीं रह सकता, उसे पाकिस्तान में शामिल होना चाहिए था अथवा एक आजाद मुल्क बन जाना चाहिए। यह वही तर्क है जो पाकिस्तान के निर्माता दिया करते थे।

अभी हाल ही में (एक-दो-जुलाई) इस्लामाबाद (पाकिस्तान) में दक्षिण मीडिया सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलन में भारत, बंगलादेश, श्रीलंका, नेपाल के अतिरिक्त पाकिस्तान के मीडिया से जुड़े बहुत से प्रतिनिधियों ने भाग लिया। उस सम्मेलन में भी कश्मीर का प्रश्न पूरी तरह छाया रहा। वहां एक पाकिस्तानी पत्रकार ने कहा 'कश्मीर पर भारत ने जबरदस्ती कब्जा कर रखा है।' कैसे पूछे जाने पर उसका उत्तर था—'वहां मुसलमान ज्यादा हैं। इसलिए उसे पाकिस्तान में आना चाहिए। क्या आप अभी यह मानते हैं कि जिस इलाके में मुसलमान ज्यादा होंगे उसे पाकिस्तान में जाना चाहिए। शायद इन सब लोगों को मालूम हो कि भारत में पंद्रह करोड़ से ज्यादा मुसलमान हैं। इतने तो पाकिस्तान में भी नहीं हैं। क्या इन सभी को पाकिस्तान ले जाएंगे? इसके अलावा एक अन्य बात भी स्पष्ट है कि 50 लाख कश्मीरी मुसलमानों की बड़ी चिंता करने वालों को भारत में बसने वाले 15 करोड़ मुसलमानों की कोई फिक्र नहीं है। वे शायद यह नहीं जानते कि यदि कश्मीर भारत से टूट जाता है तो भारतीय मुसलमानों का क्या हाल होगा? भारत में ऐसे लोगों की संख्या कम नहीं है जो आज भी मुसलमानों की वफादारी पर उंगली उठाते हैं। उस हालत में तो भारतीय मुसलमान सदा-सदा के लिए शक के घेरे में आ जाएंगे।

दरअसल जम्मू-कश्मीर भारत का अभिन्न अंग रहना, देश के हित में तो है ही, भारतीय मुसलमानों के हित में उससे भी अधिक हैं। कश्मीर भारत के धर्मनिरपेक्ष चरित्र की गारंटी है और भारतीय मुसलमानों को इस गारंटी की किसी भी कीमत पर कमजोर नहीं होने देना चाहिए। भारतीय मुसलमानों के नेताओं की इस संबंध में चुप्पी किसी

की समझ में नहीं आती। कश्मीर में पिछले दिनों आतंकवादियों ने एक गांव में 36 सिखों की निर्मम हत्या कर दी। जामा मस्जिद के इमाम सैयद अब्दुल्ला बुखारी, बिना सोचे समझे एकदम बोल पड़े यह काम खुद भारत सरकार ने करवाया है। जब हिजबुल मुजाहिदीन के हत्यारों द्वारा श्रीनगर में बहुत से निरपराध लोगों को मौत के घाट उतार दिया जाता है और इस संस्था का सुप्रीम कमांडर सैयद सलाहुद्दीन इस्लामाबाद से खुली धमकी देता है कि भारत के आजादी दिन को वह बर्बादी के दिन में बदल देगा, तो सैयद बुखारी सहित कोई भी मुसलमान नेता अपने मुंह नहीं खोलता। कश्मीर समस्या की कुंजी भारतीय मुसलमानों के हाथों में है। जिस दिन उनके नेता शुतुरमुर्गी आदत को छोड़कर अपनी बनाई रेत में से अपना मुंह निकाल कर वक्त की असलियत को पहचानेंगे, उस दिन भारतीय मुसलमान पाकिस्तान के हुक्मरानों से खुले शब्दों में कह देंगे कि हम दो राष्ट्रों वाले सिद्धांत को नहीं मानते हैं। हम भारत के नागरिक हैं। हमारा और हमारे आने वाली पीढ़ियों का भविष्य इस देश के साथ जुड़ा हुआ है। कश्मीर के मुसलमान भी, शेष भारत के मुसलमानों की तरह पूरे भारतीय हैं और 53 साल पहले वे दो राष्ट्रों वाले सिद्धांत को ठुकरा चुके हैं—उस दिन पाकिस्तान की दावेदारी की कमर टूट जाएगी।

(राष्ट्रीय सहारा, 20-9-2000)

दुविधाग्रस्त होकर राजनीति नहीं चल सकती

दुविधाग्रस्त होना एक मानसिक स्थिति है। संसार में असंख्य लोग इस स्थिति का शिकार होते हैं। शायद इन्हीं को लक्ष्य करके यह कहावत बनी होगी—दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम। सच बात तो यह है कि सारा झगड़ा ही माया और राम के बीच में है। माया सांसारिक उपलब्धियों—धन, शक्ति, सत्ता, सम्मान, सौंदर्य आदि की प्रतीक है और व्यक्ति सम्पूर्ण जीवन इनकी प्राप्ति के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों में गुजार देता है। राम आदर्श का प्रतीक है। व्यक्ति जीवन में कुछ महतर आदर्श स्थापित करता और इन आदर्शों की छाया में जीवन व्यतीत करने की बांधा रखता है। माया और राम साथ-साथ चल सकते हैं, एक-दूसरे के पूरक होकर। संसार के अधिसंख्य लोग यही प्रयास करते हैं, किंतु जहां ये एक-दूसरे के प्रतिद्वंद्वी बन जाते हैं और इसे चुनो या इसे चुनों की निर्णायक स्थिति आ जाती है वहां व्यक्ति की कठिन परीक्षा शुरू हो जाती है। मन दुविधाग्रस्त हो जाता है।

यह स्थिति व्यक्ति के जीवन में भी आती है और सामाजिक-राजनीतिक जीवन में भी। भारतीय जनता पार्टी इस समय शायद सबसे अधिक दुविधाग्रस्त राजनीतिक पार्टी है। 1951 में जब जनसंघ के रूप में डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने इसका गठन किया था तो उन्होंने एक ऐसे राजनीतिक दल की कल्पना की थी, जिसके द्वार देश के सभी नागरिकों के लिए खुले हों। इससे पहले वे हिंदू महासभा के शीर्षस्थ नेता थे। स्वतंत्रता के प्रथम दो वर्षों में भारत का जो संविधन बनाया गया था, जिसमें यह व्यवस्था की गई थी कि जाति, धर्म लिंग, भाषा या क्षेत्र का विभेद किए बिना सभी भारतीय नागरिकों को समान अधिकार दिए जाएंगे।

उन्हीं दिनों डॉ. मुखर्जी ने हिंदू महासभा के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि

संविधान में सभी नागरिकों को समान अधिकारों की व्यवस्था की गई है, इसलिए किसी भी राजनीतिक दल में धर्म के आधार पर कोई भेद-भाव नहीं बरता जा सकता और हिन्दू महासभा को सभी धर्मों के मानने वाले नागरिकों को अपना सदस्य बनाना चाहिए, तो उनका प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। इस पर उन्हें महासभा से अपना संबंध विच्छेद करने पर विवश होना पड़ा। यह बात 1950 की है। उस समय वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघ चालक श्री गोलवलकर से मिले। श्री गोलवलकर भी उनके इस विचार से सहमत थे कि राजनीतिक दलों को सभी धर्मों के माननेवालों के लिए अपने द्वार खोल देने चाहिए।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का उद्‌देश्य बिंदु 'हिंदू राष्ट्र' था, आज भी है, किन्तु भारतीय जनसंघ को, एक राजनीतिक दल के नाते अपने दायरे को चौड़ा करना पड़ा था। 1977 में जब जनता पार्टी बनी तो उसकी एक घटक पार्टी होने के नाते उसका दायरा स्वतः व्यापक हो गया। जनसंघ में अधिसंख्य नेता और कार्यकर्ता राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से ही आए थे। बाद में जब जनता पार्टी टूटी तो पूर्व जनसंघ ने अपने आपको भारतीय जनता पार्टी के रूप में गठित किया, जो बीस वर्ष की अवधि के बाद इस देश का इस समय सबसे बड़ा राजनीतिक दल है।

किन्तु एक दुविधा भाजपा में सदैव बनी रही। इस पार्टी ने अपने संवैधानिक स्तर पर देश के सभी नागरिकों के लिए अपने द्वार खुले रखे हैं किन्तु व्यवहार में वह गैर हिंदुओं को अपनी ओर आकर्षित करने में कभी सफल नहीं हुई। इसके अधिकांश नेताओं और कार्यकर्ताओं की पृष्ठभूमि रा. स्व. संघ है इसलिए हिन्दुत्व और 'हिन्दूराष्ट्र' की चर्चा करना और उस पर आग्रह करना संभवतः उनकी मानसिक बाध्यता है। इसके लिए वे तर्क भी देते हैं और कहते हैं कि हिन्दुत्व और भारतीयत्व में कोई अंतर नहीं है। दोनों पर्यायवाची हैं। भारतीय जनसंघ के दिनों में इसके एक शीर्षस्थ नेता बलराज मधोक यह कहते थे कि इस्लाम और ईसाइयत मात्र पूजा पद्धतियां हैं और वे उसी प्रकार एक सम्प्रदाय हैं जैसे वैष्णव, शैव, लिंगायत-अधिक से अधिक जैन, बौद्ध और सिख। बलराज मधोक ने एक समय मुसलमानों का भारतीयकरण करने की बात बड़े जोर-शोर से उठाई थी। वे उन्हें पूरी तरह भारतीय नहीं मानते थे।

भारतीय जनता पार्टी में यह दुविधा है। पार्टी के नये अध्यक्ष बंगारू लक्ष्मण कहते हैं कि पार्टी अल्पसख्यंकों, खासतौर से मुसलमानों का विश्वास अर्जित करने को प्राथमिकता देगी, दूसरी ओर पार्टी के महासचिव गोविंदाचार्य कहते हैं कि 'हिन्दुत्व' पार्टी के एजेंडे पर पूरी तरह है। ये दोनों बातें एक साथ कैसे चल सकती हैं? क्या ये बातें विरोधाभास से भरी हुई नहीं दिखाई देतीं? क्या इस विरोधाभास के रहते अल्पसंख्यकों का विश्वास अर्जित किया जा सकता है?

आधी सदी पहले डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने कुछ तथ्यों को स्वीकार किया था। पहली बात यह कि देश के सभी राजनीतिक दलों को अपने द्वार सभी धर्मों के मानने वालों के लिए खोलने चाहिए। यह मन्तव्य इस बात को स्पष्ट करता था कि

इस देश में हिन्दू मुसलमान, ईसाई आदि अनेक धर्मों के मानने वाले हैं और जिस नये दल का वे गठन करने जा रहे हैं उसमें इन सभी की सक्रिय भागीदारी आवश्यक है। जैसा मैंने पहले लिखा है कि उनके विचार से संघ के शीर्षस्थ नेता और कार्यकर्ता इस नये दल में सम्मिलित हुए थे। इससे यह भी स्पष्ट था कि नये दल का आधार भारतीयता था, हिन्दुत्व नहीं। इस सबके बावजूद यह पार्टी 'हिन्दूवादी' पार्टी के रूप में ही पहचानी जाती रही, आधी सदी व्यतीत हो जाने के बाद भी।

इसमें भी कोई संदेह नहीं कि अपने 'हिन्दुत्व' के आग्रह के कारण भाजपा ने, बहुत हद तक—राजनीतिक सफलताएं प्राप्त कीं। दिल्ली, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश गुजरात, हिमाचल प्रदेश जैसे राज्यों में उसकी सरकारें बनी और लोक सभा के पिछले दो चुनावों में उसके सांसदों की गिनती 180 की सीमा को पार कर गई। इस देश की राजनीतिक बनावट को देखकर यह लगता है कि भाजपा की यही सीमा है। वह इससे आगे नहीं जा पाएगी।

भाजपा के वरिष्ठ नेता भी संभवतः इस सीमा से परिचत हैं। केंद्र में शासन चलाने के लिए सत्ता दल के पास जितने सांसद होने चाहिए, भाजपा की संख्या उससे लगभग 100 पीछे है। यही कारण था कि पिछले चुनाव से पहले उसने कुछ दलों—समता पार्टी, तृणमूल, कांग्रेस, अकाली दल, नेशनल कान्फरेन्स, तेलगू देशम, जनता दल आदि के साथ मिलकर एक साझा मोर्चा बनाया—राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबंधन। इस गठबंधन में ऐसे नेता और कार्यकर्ता हैं जो भाजपा की घोषित नीतियों का सदा विरोध करते रहे हैं, किन्तु इन दलों के अपने सांसदों की संख्या उंगलियों पर गिनी जाने वाली है। पिछले कुछ वर्ष इस देश में राजनीतिक अस्थिरता के वर्ष रहे हैं। प्रधानमंत्री बार-बार बदले हैं और लोकसभा बहुत अल्प समय में ही भंग होकर देश पर नये चुनाव का अनावश्यक बोझ डालती रही है। सभी ओर यह स्वीकार किया जाता रहा है कि देश को स्थिर सरकार चाहिए। आज देश भी कोई भी एक ऐसा नहीं है, जो न भविष्य में उभरने की संभावना है, जो अकेले केन्द्र में अपनी सरकार स्थापित कर सके। आने वाले वर्षों में इस देश में अनेक दलों की मिली-जुली सरकारें ही बनेगी और ऐसी सरकारों के गठन में भाजपा की भूमिका सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहेगी।

चुनाव से पहले 'राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबंधन' का गठन बहुत महत्वपूर्ण और बुद्धितापूर्ण कदम था। इस स्थिति ने कुछ नंगी सच्चाइयां भी ला खड़ी की। भाजपा के एजेंडे के नीचे ये पार्टियां इकट्ठी नहीं हो सकती थीं। भाजपा के लिए अपनी कुछ नीतियों को स्थगित करना, जो मुस्लिम-विरोधी लगती थी, आवश्यक भी था और उसकी बाध्यता भी। आज भाजपा के कुछ पुराने समर्थकों को इस बात की शिकायत है उनकी पार्टी अपने आदर्शों से दूर हट गई है। अब न वह राम मंदिर बनाने की बात करती है, न धारा 307 हटाने की और न समान आचार संहिता की। यही राम (आदर्श) और माया (सांसारिकता) के तनाव की स्थिति उभरती है। इस संदर्भ में शायद लोग यह भूल जाते हैं कि राजनीति माया है। वह पूरी तरह लौकिक (सेक्यूलर) क्रिया है। ऐसी

क्रियाएं जड़ नहीं लचकीली होती हैं। इन्हें समझौते करने पड़ते हैं। जो ऐसा नहीं कर पाते वे या तो टूट जाते हैं अथवा परिदृश्य से हट जाते हैं।

भारतीय जनता पार्टी ने ऐसे समझौते किए और अपनी पार्टी का एजेंडा परे रखकर राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन का एक ऐसा एजेंडा तैयार किया जो सभी घटक दलों को स्वीकार था। यही कारण है कि आज जार्ज फर्नांडिस, शरद यादव, ममता बनर्जी, प्रकाश सिंह बादल, फारूख अब्दुल्ला, चंद्रबाबू नायडू और करुणानिधि भाजपा के नेताओं के साथ एक ही वाहन पर सवार हैं।

किन्तु श्री अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में बनी नई सरकार के इस कार्यकाल में भी दुविधा निरन्तर बनी रही है। संघ परिवार के अनेक सदस्य उन बातों को निरन्तर दुहराते रहे हैं, जिन्हें भाजपा की नीतियां समझा जाता रहा है। भाजपा नेता निरन्तर सफाई देते रहे हैं कि अब ये बातें हमारे एजेंडा पर नहीं हैं। केवल राज्यों का एजेंडा ही इस समय हमारा एजेंडा है। यही कारण है कि विपक्षी दल के नेता निरन्तर यह आरोप लगाते रहते हैं कि भाजपा कुछ भी कहे, उसका एक छिपा एजेंडा भी है।

भाजपा के राष्ट्रीय सम्मेलन, नागपुर में नये अध्यक्ष बंगारू लक्ष्मण ने इस बात पर विशेष आग्रह किया कि उन वर्गों, विशेषरूप से अल्पसंख्यकों, जिनमें भाजपा अपना अच्छा जनाधार नहीं बना सकी, को अपने साथ लाया जाएगा और पार्टी के कार्यकर्ता उनके बीच जाकर काम करेंगे। बंगारू लक्ष्मण की यह एक बहुत बड़ी तथा जोखिम भरी घोषणा है। इस घोषणा से पार्टी में पहले से ही व्याप्त दुविधा के बढ़ जाने की अधिक संभावना है।

इस दुविधा से निकलने के लिए भाजपा और संघ परिवार के अन्य सदस्यों को गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ यदि हिन्दू राष्ट्र का आदर्श अपने सामने रखना चाहता है तो रखे। विश्व हिन्दू परिषद यदि राम जन्मभूमि पर मंदिर बनाने की बात को स्थगित नहीं करना चाहती तो न करे। स्वदेशी जागरण मंच यदि अपने एजेंडा को जीवित रखना चाहता है तो जीवित रखे। ये सभी संगठन राजनीतिक संगठन नहीं हैं, इसलिए इनकी वैसी बाध्यताएं नहीं है जैसी किसी राजनीतिक दल की होती है।

भारतीय जनता पार्टी एक विशुद्ध राजनीतिक संस्था है। कोई इसकी घोषणा करे या ना करे, इस देश की राजनीति बिना सेक्यूलर नीतियां अपनाए नहीं चल सकती। जम्मू-कश्मीर में वर्षों पहले शेख अब्दुल्ला ने अपनी पार्टी—'मुस्लिम कान्फरेन्स' को 'नेशनल कान्फरेस' बनाकर उसके द्वार सभी धर्मों के लिए खोल दिए थे। पंजाब में शिरोमणि अकाली दल लम्बे समय तक सिखों का राजनीतिक दल बनकर काम करता रहा, किन्तु वहां भी धीरे-धीरे यह महसूस किया जाने लगा कि यदि इस दल को राजनीति में रहना है, सत्ता प्राप्ति की ओर अग्रसर होना है तो उसे अपना प्रसार गैर सिखों में भी करना चाहिय। यही कारण है कि कुछ वर्ष पहले उसने अपने द्वार गैर सिखों के लिए खोल दिए। मैं पहले ही लिख चुका हूं कि यह दृष्टि डॉ. श्यामा प्रसाद

मुखर्जी के पास थी और श्री गोलवलकर जी के भी।

श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कुछ दिन पहले ही कहा था कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भारतीय जनता पार्टी दो अलग-अलग संस्थाएं हैं। भारतीय जनता पार्टी की अलग पहचान है, अलग व्यक्तित्व है, अलग कार्यक्रम है और सोच भी अलग है।

'न माया मिली न राम' जैसी स्थिति उनके सम्मुख आती है जो माया और राम में घालमेल करते रहते हैं। जिन्हें माया और राम के कार्य क्षेत्रों की सम्यक् समझ है, उनमें दुविधा उत्पन्न नहीं होती और यह असंभावित नहीं कि उन्हें दोनों की प्राप्ति हो जाए।

(दैनिक भास्कर, 21-9-2000)

ऐसी बर्बरता हमें कहां ले जाएगी?

नवम्बर महीना आता है तो मुझ पर एक विचित्र प्रकार का अवसाद छा जाता है। 17 वर्ष पहले इसी महीने के प्रारंभिक तीन-चार दिनों में ऐसा अन्धड़ आया था जिसमें लाखों परिवारों की दशाब्दियों से जमी जड़ें उखड़ने लग गई थीं। सड़कों, गलियों में बर्बरता ने ऐसा नंगा नाच नाचना शुरू कर दिया था कि जिसके सामने विदेशी आक्रान्ताओं के बर्बर से बर्बर कृत्य भी फीके पड़ गए थे। निर्दोष और निरीह इक्का-दुक्का व्यक्तियों का उन्मादी भीड़ द्वारा पकड़ा जाना, उनके गले में जलते हुए टायर डालकर अथवा उन पर मिट्टी का तेल या पेट्रोल डालकर उन्हें ज़िंदा जलाना, उनके घरों और व्यापारिक प्रतिष्ठानों को लूटना और आग लगा देना—ये सब ऐसे कृत्य थे जिन्हें देश के अनेक भागों में सिख समुदाय के लोगों ने झेला था।

31 अक्टूबर 1984 को प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी की उनके दो सिख सुरक्षा गार्डों द्वारा निर्मम हत्या कर दी गई थी, परन्तु उसका खामियाज़ा एक पूरे समुदाय के लोगों को झेलना पड़ा था। इससे पहले भी ऐसी ही एक घटना हुई थी। 30 जनवरी, 1948 को नाथूराम गोडसे ने महात्मा गांधी की हत्या कर दी थी। नाथूराम गोडसे ब्राह्मण था, इसलिए कुछ ब्राह्मण विरोधी तत्वों द्वारा महाराष्ट्र में (विशेषरूप से पुणे में) सभी ब्राह्मणों के विरुद्ध उन्माद उत्पन्न किया गया था और कुछ स्थानों पर उन्हें नुकसान भी पहुंचाया गया था।

किन्तु जो कुछ नवम्बर 1984 में हुआ था वह सभी सीमाओं को पार गया था। तीन-चार दिनों में ही देश के कुछ भागों में पांच हजार से अधिक सिखों की हत्या कर दी गई थी। करोड़ों की सम्पत्ति लूटी और जलाई गई, हजारों परिवारों ने कैम्पों में शरण ली और लाखों परिवार अपना सब कुछ गंवा कर पंजाब की ओर चले जाने को वाध्य हो गये।

उन दिनों मैंने एक लेख लिखा था—'विश्वास की सभी चूलें हिल गई हैं'। हमारे

परिवार को पहले उन्नाव और फिर कानपुर में बसे आज पचहत्तर वर्ष से अधिक हो गए हैं। मेरा जन्म उन्नाव जिले में हुआ था। फिर शिक्षा-सुविधाओं के कारण पूरा परिवार कानपुर आ गया था। मूलतः पंजाबी होते हुए भी हम कानपुर की अवधी संस्कृति में पूरी तरह रच-बस गए थे और हमारे अंतरंग मित्र वर्ग में शामिल हो गए थे—वाजपेयी, मिश्रा, तिवारी, गुप्ता, माथुर और कटियार आदि। मेरा और मेरे भाई-बहनों का अधिक समय इन्हीं के मध्य गुजरता था। किन्तु 17 वर्ष पहले आए उस अन्धड़ में हमारा तिनका-तिनका उड़ गया था। मैं दिल्ली में था। कानपुर में हमारा जानी नुकसान तो नहीं हुआ था किन्तु जब मेरे भाई, बहन, भतीजे, भांजे शरणार्थी शिविरों से निकलकर घर वापस आए थे तो घर की सफाई करने के लिए उन्हें बुहारी भी पड़ोस से मांगनी पड़ी थी।

इस संदर्भ में मेरे मन में लगातार कुछ प्रश्न उभरते रहे हैं। एक प्रश्न तो इस देश की न्यायिक प्रक्रिया सम्बन्धी है। दोषी को दंड मिलना चाहिए, यह एक सर्वमान्य स्वीकृति नियम और कानून है। महात्मा गांधी की हत्या के अपराध में नाथूराम गोडसे और नारायण आप्टे को फांसी दी गई थी तथा अन्य 5 व्यक्तियों को आजीवन कारावास। श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या करने वाला एक दोषी बेअंत सिंह हत्या के समय ही अन्य सुरक्षा गार्डों द्वारा मौत के घाट उतार दिया गया था। बाद में इसी अपराधी में सहभागी होने के आरोप में सतवंत सिंह और केहर सिंह को फांसी पर लटका दिया गया था, किन्तु जिन लोगों पर कई हज़ार निर्दोष व्यक्तियों की हत्या का आरोप है और जिसकी संपुष्टि अनेक जांच आयोग और समितियां कर चुकी हैं, उनमें से आज इतने वर्ष बीत जाने के बाद भी कोई दंडित नहीं हुआ है। इन वर्षों की जद्दोजहद और निरन्तर प्रयासों के फलस्वरूप कुल 7 व्यक्तियों को धारा 302 के तहज सजा देने की घोषणा हुई है। मृत्युदंड किसी को भी अभी तक नहीं मिला है।

इस तथ्य की भी अनेक बार पुष्टि हुई है कि उन काले दिनों में दिल्ली के कुछ प्रमुख कांग्रेस नेताओं ने असामाजिक तत्वों को भड़काने, उन्हें लालच देकर नृशंस हत्याएं करवाने और उन्मादी भीड़ का नेतृत्व करने का कार्य किया था। 1987 में श्रीमती कुसुम लता मित्तल (आई. ए. एस.) ने सरकार को एक रिपोर्ट दी थी, जिसमें दिल्ली के 72 पुलिसकर्मियों की पहचान की गई थी जिन्होंने उस नरसंहार में अपने कर्तव्यों की अवहेलना करते हुए दंगाइयों की प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायता की थी। इस सरकारी रिपोर्ट के बावजूद किसी पुलिसकर्मी दण्ड नहीं दिया गया। 1985 में न्यायमूर्ति रंगनाथ मिश्र की अध्यक्षता में उन दंगों की जांच करने के लिए एक आयोग बनाया गया था। उस आयोग ने कानपूर के तत्कालीन जिलाधीश के कार्यों को अत्यन्त असंतोषजनक मानते हुए उसके विरुद्ध विभागीय कार्रवाई करने का आदेश दिया था। इतने वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद भी उस अधिकारी के विरुद्ध सरकार की ओर से कोई कदम नहीं उठाया गया।

1984 के दंगा पीड़ितों को दिये जाने वाले मुआवज़ों को लेकर भी देश की

विभिन्न राज्य सरकारों ने एक जैसा रवैया नहीं रखा है। लम्बे संघर्श के बाद दिल्ली की राज्य सरकार मृतकों के वारिसों को साढे तीन-तीन लाख रुपया मुआवज़ा देने के लिए सहमत हो गई। यह संतोष की बात है कि अधिसंख्य मामलों में यह मुआवज़ा दे दिया गया है।

मुआवज़ों को लेकर इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने उत्तर प्रदेश सरकार को यह आदेश दिया है कि उस नरसंहार के समय जो लोग मारे गये और जिनकी सम्पत्ति को हानि पहुंचाई गई उन्हें पूरा मुआवज़ा दिया जाए। कानपुर में दंगा पीड़ितों की सहायता के लिए बनी संस्थाओं ने उत्तर प्रदेश सरकार के दरवाज़े अनेक बार खटखटाए और आग्रह किया कि उच्च न्यायालय के आदेश के अनुसार सभी पीड़ितों को मुआवज़ा दे दिया जाए। मुआवज़ा देने के बजाय उत्तर प्रदेश सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय में इलाहाबाद न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील कर दी। सर्वोच्च न्यायालय ने उत्तर प्रदेश सरकार की अपील को खारिज करते हुए इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय को बरकरार रखा है, किन्तु प्रदेश की सरकार ने मुआवज़ा अभी तक नहीं दिया है।

ऐसी स्थिति में कुछ समय पहले सिख फोरम ने यह मांग की कि सरकार नवम्बर 1984 में हुए नरसंहार और विनाश को लेकर एक नया आयोग गठित करे जो उन सभी तथ्यों, परिस्थितियों और कार्यों की जांच करे जिनके कारण वैसी घृणास्पद घटनाएं हुई थीं। फोरम द्वारा आयोजित सभा में दिल्ली उच्च न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री राजेन्द्र सच्चर, पंजाब-हरियाणा उच्च न्यायालय मुख्य न्यायाधीश श्री रणजीत सिंह नरुला, सांसद मदन लाल खुराना, पूर्व सांसद के. एल. मलकानी, ले. ज. जगजीत सिंह अरोड़ा जैसे गण्यमान्य लोगों ने यह मांग की कि केन्द्र सरकार को ऐसा एक नया आयोग तुरन्त गठित करना चाहिए। राज्यसभा में श्री कुलदीप नैयर तथा अनेक सदस्यों ने भी यह प्रश्न उठाया। अंत में केंद्र सरकार ने ऐसा आयोग गठित करने का निर्णय लिया और 12 जून, 2000 को सर्वोच्च न्यायालय ने अवकाश प्राप्त न्यायाधीश श्री नानावती की अध्यक्षता में एक आयोग गठित कर दिया गया और दिल्ली के विज्ञान भवन के एक कक्ष में उसका कार्यालय भी स्थापित कर दिया। नानावती आयोग इन बातों की जांच-पड़ताल करेगा—

1. 31 अक्टूबर 1984 और उसके बाद राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली तथा देश के अन्य भागों में सिख समुदाय के लोगों को निशाना बनाकर जो आपराधिक हिंसा और दंगे हुए उनके कारणों और दंगों की जांच करना।

2. उन घटनाओं को क्रमबद्ध करते हुए उन तथ्यों की जांच करना जिनके कारण ऐसी हिंसा और दंगे हुए।

3. इस बात की जांच करना कि क्या ऐसे पाशविक अपराधों को रोका जा सकता था और क्या जिम्मेदार अधिकारियों और व्यक्तियों द्वारा अपना कर्तव्य निभाने में चूक अथवा असावधानी बरती गई है?

4. इस बात की जांच करना कि उस समय जो प्रशासकीय उपाय इस हिंसा

और दंगों की रोकथाम और उनसे निपटने के लिए किए गए थे क्या वे पर्याप्त थे?

5. ऐसे उपाय सुझाना जो न्याय की मांग को पूरा कर सकने में समर्थ हैं।

6. जांच के दौरान प्रासंगिक लगने वाली अन्य बातों पर भी विचार करना।

नानावती आयोग को अपना कार्य प्रारम्भ किए हुए एक वर्ष हो गया है। इस समय तक उसके सम्मुख लगभग 2200 हलफनामे दाखिल हो चुके हैं। हलफनामा दाखिल करने वालों में श्री मदनलाल खुराना, स्वामी अग्निवेश, सुश्री जया जैतली, ले. ज. जगजीत सिंह अरोड़ा, स. गुरबचन सिंह (पूर्व राजदूत), स. पतवंत सिंह, सुश्री मधु किश्वर जैसे व्यक्ति भी है।

आशा है यह आयोग कुछ महीनों में अपना काम पूरा करके अपनी रिपोर्ट दे देगा। संभव है कि इस रिपोर्ट के माध्यम से कुछ ऐसे तथ्य प्रकाश में आएं जो अभी तक अनजान हैं। यह भी संभव है कि परदों के पीछे छिपे कुछ और चेहरे सामने आ जाएं और कुछ चेहरों के नकाब उतर जाएं। नानावती आयोग से यह भी निवेदन किया गया है कि वह अपनी एक अंतरिम रिपोर्ट पहले दे दे जिससे उन लोगों को, खासतौर पर कानपुर में, शीघ्र ही उचित मुआवज़ा मिल जाए जिन्हें सरकार ने अभी वंचित रखा है।

इस सबके बावजूद कुछ मौलिक प्रश्न हमारे सामने खड़े रह जाएंगे। क्या हम सब यह अनुभव नहीं कर रहे हैं कि इस देश में बड़े ख़तरनाक ढंग का एक अपराधी भीड़-तंत्र विकसित हो गया है जो किन्हीं लोगों के इशारे पर सिर्फ एक शराब की बोतल और कुछ रुपए लेकर, किसी भी समुदाय के लोगों पर आक्रमण कर सकता है, लूट-पाट कर सकता है, आग लगा सकता है? आखिर 17 वर्ष पहले दिल्ली और कानपुर में यही तो यही हुआ था। इस अपराधी भीड़-तंत्र का निशाना कभी सिख बन सकते हैं, कभी मुसलमान, कभी ईसाई, कभी ब्राह्मण, कभी दलित, कभी कोई अन्य समुदाय। अपराधी लोगों को इस बात से कोई मतलब नहीं है कि उसका निशाना कौन-सा समुदाय है। उसका मतलब सिर्फ लूटना और हत्या करना होता है। यदि वह अपराधी तंत्र इसी प्रकार विकसित होता रहा और कुछ स्वार्थी तत्व उसका इसी प्रकार इस्तेमाल करते रहे तो इस देश में कोई भी व्यक्ति और कोई भी समुदाय सुरक्षित नहीं रहेगा।

मेरा ध्यान हत्या के बर्बर तरीकों की ओर भी जाता है। हत्या करना एक बात है, किन्तु किसी के गले में जलता हुआ टायर डालकर मारना, किसी पर मिट्टी का तेल छिड़ककर आग लगा देना और उसे जलता-चीखता हुआ देखकर तालियां बजाना और प्रसन्नता व्यक्त करना, बिल्कुल दूसरी बात है। बिहार में इन दिनों जो जातीय हत्याएं हो रही हैं, वे सिर्फ़ हत्याएं नहीं हैं। उनमें जिस प्रकार की क्रूरता का प्रदर्शन किया जा रहा है वह रोंगटे खड़े कर देने वाला है। गांवों में हथियारबंद भीड़ का जाना, तेज धारदार हथियारों से निरीह स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों की हत्या करना, उनके पेट फाड़कर, अंतड़ियों को बाहर निकाल देना, महिलाओं के स्तन काटकर उन्हें दीवारों पर गोबर की तरह थाप देना वहां की नृशंसता में शामिल हैं।

यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि नृशंसता, क्रूरता और बर्बरता आदिम समाज की प्रवृत्तियों तो हो सकती हैं, भारत जैसे संस्कृति-सम्पन्न देश में बसने वाले समाज की नहीं। क्या यह देश अपनी सभी सांस्कृतिक परम्पराओं को भूलकर आदिम मनोवृत्तियों की ओर बढ़ रहा है? ऐसी प्रवृत्ति को तो पाशविक भी नहीं कहा जा सकता। पशुओं का कोई भी वर्ग भीड़ का हिस्सा बनकर दूसरे पशुओं पर आक्रमण नहीं करता। यह कुकृत्य तो केवल मनुष्य ही कर सकता है।

देश में जब कभी भी सांप्रदायिक और जातीय विग्रह होता है, सभी प्रकार के असामाजिक तत्व आगे बढ़कर उसकी अगुवाई करना आरम्भ कर देते हैं। ऐसे दंगे-फसाद उनके लिए सुनहरा अवसर लेकर आते हैं क्योंकि अब राजनीतिक तत्व भी उनकी पीठ पर होते हैं इसलिए उन्हें प्रशासन, पुलिस और कभी-कभी न्यायिक संरक्षण और सुरक्षा भी प्राप्त हो जाती है और वे बेधड़क होकर मनमाने कृत्य करते और करवाते हैं और मूंछों पर ताव देते हुए सड़कों पर घूमते हैं, जैसे कह रहे हों—आओ, हमारा जो बिगाड़ सकते हो, बिगाड़ लो। हमें किसी की चिंता नहीं है। शांत और शिष्ट नागरिकों की भीड़ अपने सामने किसी व्यक्ति की निर्मम हत्या होती देखती है और चुपचाप खड़ी रहती है। ऐसे मामलों में हस्तक्षेप करके कोई भी अपने लिए खतरा उठाना नहीं चाहता।

क्या हम एक बर्बर समाज का निर्माण कर रहे हैं?

(दैनिक जागरण, 2-11-2000)

देश में एक नया राज्य पुनर्गठन आयोग बनाया जाए

पूरी वीसवीं शतीं में इस देश के राज्यों का पुनर्गठन होता रहा है। शती के प्रारंभिक वर्षों में अंग्रेज सरकार ने बंगाल से काटकर बिहार और उड़ीसा को नया प्रान्त बनाया था। अविभाजित भारत में ही पंजाब से सरहदी सूबे और बम्बई प्रदेश से सिंध को अलग किया गया था। सन् 1911 में जब ब्रिटिश भारत की राजधानी को कलकत्ता से हटाकर दिल्ली लाया गया था, तभी दिल्ली को भी पंजाब से अलग किया गया था।

भारत में प्रान्तों का गठन किसी सुविचारित आधार पर नहीं था। अंग्रेज जैसे-जैसे इस देश के शासकों को पराजित कर उनका प्रदेश अपने कब्जे में लेते थे, अपनी सुविधानुसार वे उसे एक प्रान्त या प्रेसीडेन्सी के रूप में गठित कर देते थे और उसका प्रशासन किसी गवर्नर या लेफ्टिनेंट गवर्नर को सौंप देते थे। लगभग 600 देशी रियासतें इन्हीं प्रान्तों के अंदर या आसपास बनी हुई थीं। उनमें राजा, नवाब और जागीदार राज्य तो करते थे किन्तु उनकी नकेल पूरी तरह उस ब्रिटिश एजेंट के हाथों में होती थी, जिसकी नियुक्ति अंग्रेज सरकार करती थी।

इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् इस देश में राजनीतिक जागरण उभरना शुरू हुआ तो इस बात पर भी विचार किया जाने लगा कि भावी भारत में प्रान्तों का गठन किस प्रकार और किस आधार पर किया जाएगा। 1917 को कलकत्ता में लोकमान्य तिलक ने इस बात पर आग्रह किया था कि वास्तविक प्रान्तीय स्वाधीनता के लिए भाषा के अनुसार प्रान्तों का निर्माण करना अत्यन्त आवश्यक है। तेलुगू भाषी आन्ध्रप्रदेश के निर्माण की बात सबसे पहले उठी थी। इसी वर्ष कांग्रेस महासमिति ने सिंध को भी पृथक राज्य मान लिया था, जो उस समय बम्बई प्रेसीडेन्सी का एक भाग था। कांग्रेस ने अपनी प्रान्तिक इकाइयों का गठन भाषा के आधार पर करना प्रारम्भ

कर दिया था। इसके परिणामस्वरूप जब ब्रिटिश सरकार के कुल नौ प्रान्त थे, कांग्रेस के संगठनात्मक दृष्टि से 22 प्रान्त बन गये थे।

किन्तु स्वाधीनता संग्राम के दौरान यह मुख्य मुद्दा नहीं था। मुख्य बात यह थी कि स्वाधीनता कैसे प्राप्त हो। 1947 में देश की स्वतंत्रता के पश्चात् यह प्रश्न फिर से उभर आया। सारे देश में यह आवाज़ उठने लगी कि अब देश को भाषा के आधार पर पुनर्गठित किया जाए। केन्द्र की कांग्रेस सरकार इस प्रश्न को टाल रही थी। कुछ लोग यह कह रहे थे कि इस आधार पर देश में राज्यों (प्रान्तों) के पुनर्गठित करने से देश की एकता और अखण्डता खतरे में पड़ जाएगी। दूसरा मत यह था कि इस प्रकार के गठन से देश की एकता और मजबूत होगी। आन्ध्र के लोग इस दृष्टि से सबसे अधिक सक्रिय थे। अपने मांग पूरी न होते देख तेलुगू नेता पोट्टी श्रीरामुलू ने आमरण अनशन प्रारम्भ किया और 58 दिन के अनशन के बाद 15 दिसम्बर, 1952 को उनकी मृत्यु हो गई। इस दुर्घटना के चार दिन पश्चात् प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने पृथक राज्य के रूप में आन्ध्रप्रदेश के निर्माण की घोषणा कर दी।

भाषा के आधार पर आन्ध्रप्रदेश की स्वीकृति के बाद सारे देश में भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की लहर चल पड़ी। समस्या के समाधान के लिए केन्द्र सरकार ने दिसम्बर 1953 के राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना की, जिसने 2 वर्ष में अपनी रिपोर्ट दे दी। उसके लगभग एक वर्ष बाद, सभी संवैधानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् 1956 में अधिसंख्य राज्यों का निर्माण हो गया। महाराष्ट्र और गुजरात 1960 में अस्तित्व में आए और पंजाब तथा हरियाणा 1966 में। इसी प्रकार असम से कटकर नागालैंड, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय और मिजोरम राज्यों का निर्माण बाद के कुछ वर्षों में हुआ।

भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के बाद बड़ी सांस्कृतिक इकाइयां तो बहुत सीमा तक संतुष्ट हो गईं, किन्तु छोटी सांस्कृतिक इकाइयां अपने-अपने क्षेत्रों की पहचान के लिए व्याकुल होने लगीं। उत्तरांचल, झारखंड और छत्तीसगढ़ के निर्माण की मांगे ऐसी ही मांगे थी। जो लम्बे संघर्ष के बाद पूरी हुई।

मेरे पास पं. राहुल सांस्कृत्यायन की सन् 1945 में प्रकाशित उनके चार लेखों की एक पुस्तिक–'आज की समस्याएं' की एक प्रति है। इसमें उनका एक लेख है–"पाकिस्तान और जातियों की समस्या" इस लेख में जातियों की पहचान का एक सूत्र देते हुए उन्होंने लिखा था–किसी आदमी की जाति पहचानने के लिए सबसे बड़ा चिह्न है उसकी भाषा। यह ऐसा चिह्न है जो सिर्फ हमारी भावुकता पर ही आधारित नहीं है, बल्कि हमारे जातीय उत्थान और पतन के साथ उसका घनिष्ठ संबंध है।

राहुल जी ने इस लम्बे लेख में पाकिस्तान सहित अनेक समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनका मत था कि जिस क्षेत्र को आज हम हिन्दी प्रदेश कहते हैं, वह भी अनेक जनपदों और वहां की भाषाओं को लेकर बना है। मैथिली, भोजपुरी, मगही, अवधी, ब्रज, कौशली, कौशिका, बुंदेलखंडी, कमायूंनी आदि भाषाएं ऐसे जनपदों

की भाषाएं हैं, जो वहां के लोगों की मातृभाषाएं हैं। राहुलजी का मत था कि इन सभी भाषाओं को (वे इन्हें उपभाषाएं या बोलियां मात्र नहीं मानते थे) इन प्रदेशों अथवा जनपदों के बच्चों की शिक्षा का माध्यम बनाना चाहिए। उन्होंने मातृभाषा की परिभाषा करते हुए लिखा था–''मातृभाषा की हमारी परिभाषा है, जिनके बोलने में अनपढ़ से अनपढ़ आदमी और बच्चा तक भी व्याकरण की गलती नहीं कर सके।''

इसी लेख में राहुलजी ने लिखा था–''अपनी मातृभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने का अधिकार हमारा वैसा ही जन्मसिद्ध अधिकार है, जैसा राजनीतिक स्वतंत्रता का।'' वे यह भी मानते थे कि–''हमारे देश में प्रान्तों का बंटवारा अभी तक शासकों के सुभीते के अनुसार हुआ था। अब उसे जनता के सुभीते के अनुसार करना चाहिए। हमें अपने इस विशाल देश को फिर से नये प्रान्तों और जनपदों में बांटना होगा। भारत की अखंडता मिट जाने का खेद यदि आपको हो रहा हो तो वह ठीक नहीं है।''

आज राहुल जी की सभी बातों से तो सहमत नहीं हुआ जा सकता। यदि इस देश की सभी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की बात स्वीकार कर ली जाए तो शैक्षिक अराजकता उत्पन्न हो जाएगी और इस देश में छोटी-बड़ी तीन सौ से अधिक भाषाएं अपना-अपना दावा पेश करने लगेगीं। भाषाओं को लेकर इस देश में आज भी समस्याएं कुछ कम नहीं हैं। जहां तक इस देश को सांस्कृतिक आधार पर राज्यों (राहुल जी के शब्दों में जनपदों) में पुनर्गठित करने की बात है उनकी बात मुझे बहुत हद तक सार्थक लगती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उत्तरांचल, झारखंड और छत्तीसगढ़ का निर्माण लगभग इसी आधार पर हुआ है। इन तीनों ही प्रदेशों की अपनी-अपनी भाषाएं होते हुए भी व्यापकरूप से हिन्दी ही यहां की आधिकारिक भाषा है और शिक्षा का माध्यम है। इसी आधार पर हिन्दी प्रदेश की कुछ अन्य सांस्कृतिक इकाइयों के बारे में सोचा जा सकता है।

अंग्रेजों ने उन्नीसवीं सदी में जब आज के उत्तरप्रदेश का गठन किया तो उसका नाम यूनाइटेड प्रोविन्स आफ आगरा एंड अवध रखा था। इसका अर्थ यह है कि उस प्रदेश में दो मुख्य सांस्कृतिक और भाषाई इकाइयां थीं–आगरा (ब्रज प्रदेश) और अवध। ये दोनों ही प्रदेश हमारी सांस्कृतिक थाती के आधार स्तम्भ हैं। अवध राम की क्रीड़ा भूमि है और ब्रज कृष्ण की लीला भूमि है। मध्य युग में अवधी और ब्रज में साहित्य की जो रचना हुई उसके बिना हिन्दी साहित्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ब्रजभाषा तो उन्नीसवीं शती तक भारत के बहुत बड़े भाग की साहित्य-सृजन की मुख्य भाषा थी, किन्तु खड़ी बोली हिन्दी के पसार और अनेक राजनीतिक स्थितियों के कारण ब्रज और अवधी दोनों ही हिन्दी की मुख्यधारा से टूट गईं और अतीत की भाषाएं बन गईं। क्या यह आवश्यक नहीं लगता कि उत्तर प्रदेश का पुनर्गठन करके ब्रज और अवध प्रदेश के अलग राज्य बनाएं जाएं जिससे इन दोनों प्रदेशों को अपनी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पहचान मिल सके।

यही बात मुझे मगध, भोजपुर (मल्ल प्रदेश), मैथिल (विदेह), बिहार में और बुंदेल

खंड (उत्तरप्रदेश), बघेल खंड और मालवा (मध्यप्रदेश) के संबंध में उचित लगती है।

कुछ वर्ष पहले तक यह माना जाता था कि देश में बड़े-बड़े राज्य होने चाहिए। पंजाब और हरियाणा के पुनर्गठन के समय यह प्रश्न बड़ी तीव्रता से उन पक्षों द्वारा उठाया गया था जो पंजाबी भाषी प्रान्त के बनाए जाने का विरोध कर रहे थे, किन्तु पंजाब और हरियाणा के बन जाने के बाद इन दोनों राज्यों (विशेष रूप से हरियाणा) ने जितनी प्रगति की उससे अब वही लोग यह कहने लग गए हैं कि देश में छोटे राज्यों का गठन किया जाना चाहिए। छोटे राज्यों की प्रगति की गति तीव्र होती है।

छठे दशक में भाषावार राज्यों के गठन के पश्चात् भी राज्यों का पुनर्गठन को कुछ उचित स्वरूप प्राप्त नहीं हुआ था। जनसंख्या की दृष्टि से उत्तर प्रदेश 17 करोड़ लोगों का प्रदेश रहा है और मिजोरम मात्र 9 लाख लोगों का। इस प्रकार असंतुलित विभाजन देश में अनेक समस्याएं उत्पन्न करता है। उत्तर प्रदेश से देश की लोक सभा के लिए जितने सदस्य चुने जाते हैं उनका थोड़ा-सा एक पक्षीय झुकाव देश की राजनीति में निर्णायक भूमिका निभाता है।

सांस्कृतिक जनपदों के निर्माण से देश में छोटे राज्यों का गठन होगा, उन प्रदेशों को अपनी अस्मिता प्राप्त होगी और वहां की भाषाओं को भी कुछ खुलापन मिलेगा जिससे वे अपना विकास कर सकेंगी।

इस देश में इस प्रकार की प्रवृत्ति को भी हतोत्साहित किया जाना चाहिए कि अब तक किसी भी मुद्दे पर जनान्दोलन द्वारा लम्बा संघर्ष नहीं किया जाएगा, जन और धन शक्ति की व्यापक आहुति नहीं दी जाएगी, राजनीतिक दबाव नहीं बनाया जाएगा तब तक सरकार उनकी मांग नहीं सुनेगी।

अच्छा हो कि केन्द्र सरकार देश में नये राज्यों के गठन के संबंध में गंभीर होकर विचार करे और उसके लिए एक नया राज्य पुनर्गठन आयोग बनाए।

(दैनिक जागरण, 23-11-2000)

शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंध कमेटी के चुनाव के कुछ निष्कर्ष हैं

पंजाब में शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के चुनाव में जो गहमागहमी दिखाई देती है, वह किसी भी प्रकार विधान सभा और संसद के चुनावों से कम नहीं होती। उसी प्रकार का धुआंधार प्रचार, एक-दूसरे पर दोषारोपण, स्तरहीन इश्तिहारबाजी और अपनी-अपनी जीत के बड़े-बड़े दावे।

शिरोमणि कमेटी का गठन 1925 में तत्कालीन पंजाब विधान सभा द्वारा पारित एक विधेयक द्वारा हुआ था, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यस्क सिख को यह अधिकार दिया गया था कि वह अपने क्षेत्र से एक प्रतिनिधि चुनकर कमेटी की साधारण सभा में भेजे। यह व्यवस्था तत्कालीन पंजाब क्षेत्र तक सीमित थी। यही कारण है कि वर्तमान शिरोमणि कमेटी के कार्यक्षेत्र में अविभाजित पंजाब के हरियाणा, चंडीगढ़ और हिमाचल प्रदेश के क्षेत्र शामिल हैं।

शिरोमणि कमेटी की साधारण सभा के लिए 170 सदस्यों का चुनाव होता है। इनमें से 50 क्षेत्र दोहरी सदस्यता के हैं जो 30 महिलाओं और 20 अनुसूचित जाति के लोगों के लिए आरक्षित हैं। इस प्रकार चुनाव 120 हलकों में होता है, जिनमें 110 हलके पंजाब में, 8 हरियाणा में, एक हिमाचल प्रदेश में और एक चंडीगढ़ में हैं। 170 निर्वाचित सदस्यों के अतिरिक्त 15 सदस्य साधारण सभा द्वारा नामजद किए जाते हैं। 5 तख़्तों के जत्थेदार भी साधारण सभा के पदेन सदस्य होते हैं, किन्तु इन्हें वोट देने का अधिकार नहीं होता।

शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंध कमेटी के 70 वर्ष के इतिहास में अधिसंख्य समय शिरोमणि अकाली दल का इस पर आधिपत्य रहा है। लम्बे समय तक मास्टर तारा सिंह का वर्चस्व कायम रहा था। अनेक बार विद्रोही अकाली, कांग्रेसी और वामपंथी

मिलकर उन्हें अपदस्थ करने का प्रयास करते रहे किन्तु कभी सफल नहीं हुए।

इस बार भी ऐसा ही हुआ। 8 वर्ष पूर्व हुए चुनाव में प्रकाश सिंह बादल के नेतृत्व वाला अकाली दल पूरी तरह विजयी रहा था। इस बार भी उनके सभी विरोधियों ने मिलकर पंथक मोर्चा बनाया। सिमरनजीत सिंह मान, रविंदर प्रेम सिंह, चंदूमाजरा, परमजीत सिंह सरना दल, अकाल तख़्त के पूर्व जत्थेदारभाई पूर्णजीत सिंह संत के समाज के मुखिया बाबा सर्वजीत सिंह बेदी जैसे दिग्गजों ने इस निश्चय के साथ अपना अभियान प्रारम्भ किया कि वे इस बार शिरोमणि कमेटी से प्रकाश सिंह बादल का दबदबा समाप्त करके रहेंगे। यही कारण था कि पंथक मोर्चे के नेताओं ने सिख जनता की मूलभूत समस्याओं, गुरुद्वारों की मर्यादा की रक्षा, सिख चुनावों में बढ़ता हुआ पतित होते जाने का रुझान, नशाखोरी की बढ़ती प्रवृत्ति को अधिक महत्व न देकर बादल और उनके परिवार के कथित भ्रष्टाचार को ही अपना मुद्दा बनाया।

प्रकाश सिंह बादल के विरोधियों के पास उनके विरुद्ध प्रचार का सबसे बड़ा औजार यह होता है कि उन्होंने सिख-पंथ के हितों को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भारतीय जनता पार्टी के हाथों में बेच दिया है। प्रकाश सिंह बादल और उनके साथियों के हाथों में अपने विरोधियों को पीटने के एकमात्र तर्क यह है कि ये सभी लोग कांग्रेस के पिट्ठू हैं। इनके माध्यम से कांग्रेस शिरोमणि कमेटी पर कब्जा करना चाहते हैं। यह वही कांग्रेस है जिसने 1984 में तोपों से गोले बरसाकर अकाल तख्त के भवन को ध्वस्त किया था। शिरोमणि अकाली दल (बादल) की ओर से पंजाबी समाचार पत्रों में टूटे हुए अकाल तख्त के चित्र सहित बड़े-बड़े विज्ञापन प्रकाशित कराए गए थे।

गत 70 वर्ष से शिरोमणि कमेटी में सदा ही अकाली सिख और कांग्रेसी सिख आमने-सामने रहे हैं। पंजाब के पूर्व मुख्यमंत्री प्रताप सिंह कैरों ने अपने कार्यकाल में इस बात का भरसक प्रयास किया था कि किसी प्रकार इस कमेटी पर छाई हुई अकाली प्रभुता को तोड़ा जाए। इस कार्य में उस समय वामपंथी विचारों के सिख नेताओं ने भी कैरों का साथ दिया था। प्रताप सिंह कैरों राजनीतिक स्तर पर अकाली दल को पछाड़कर पंजाब में कांग्रेस का वर्चस्व स्थापित करने में अवश्य सफल हुए थे, किन्तु शिरोमणि कमेटी के ऊपर से अकाली प्रभाव समाप्त करने के उनके मंसूबे कभी सफल नहीं हुए।

इस बार भी लगभग वैसा ही हुआ। कांग्रेस ने इस चुनाव में सीधे-सीधे कोई भाग नहीं लिया किन्तु इस बात का पूरा प्रयास किया कि पंथक मोर्चे के उम्मीदवार सफल हो जाएं। मोर्चे के 22 व्यक्ति इस चुनाव में सफल भी हुए।

इस बार के चुनाव में एक बात और देखने में आई। अकाली दल (बादल) और पंथक मोर्चे के अतिरिक्त अन्य अनेक संस्थाएं—दल खालसा, खालसा पंचायत, शिरोमणि खालसा दल—इस क्षेत्र में उतरीं। उन्होंने अपने उम्मीदवार खड़े किए। जोर-शोर से प्रचार भी किया, किन्तु इन संस्थाओं का एक भी सदस्य चुनाव नहीं जीत सका।

पंजाब में आज भी एक ऐसा वर्ग सक्रिय है जो सिखों के पृथक राजनीतिक

अस्तित्व और उनकी स्वतंत्र सत्ता की मानसिकता को सहेजे हुए है। यह वर्ग इस देश में सिखों की वर्तमान स्थिति को गुलामी जैसा मानता है।

लोकसभा के पिछले चुनाव के समय सिमरनजीत सिंह मान की बहुत-सी अपीलें पंजाबी समाचार पत्रों में प्रकाशित हुई थीं, जिसमें वे लिखते थे कि वे 'सिख नेशन' से अपील कर रहे हैं।

सिखों के संदर्भ में सिख धर्म, सिख पंथ, सिख कौम, जैसे शब्दों का प्रयोग होता रहता है, किन्तु 'सिख नेशन' का प्रयोग मैं कुछ समय से सिमरनजीत सिंह मान की अपीलों में पहली बार देख रहा हूं। हिन्दी (और पंजाबी में भी) इसे सिख राष्ट्र कहा जा सकता है, किन्तु मान ने इसके अंग्रेजी रूप 'नेशन' का प्रयोग करना ही ठीक समझा।

कोशों में नेशन शब्द की कुछ मिलती-जुलती अनेक व्याख्याएं मिलती हैं। इस शब्द के अर्थ का भी निरन्तर विकास हुआ है। स्वतंत्र भारत के संविधान में यह स्वीकृत हुआ कि अनेक प्रकार की धार्मिक, सांस्कृतिक, भाषाई, जातीय और नस्ली विभिन्नताओं के मध्य भारत एक राष्ट्र या नेशन है। यहां भाषाई अथवा क्षेत्रीय आधार पर अनेक उपराष्ट्रीयताएं (सब नेशनलटीज) तो हैं, किन्तु सभी का राष्ट्र या नेशन एक ही है।

सिमरनजीत सिंह मान सिखों के लिए 'नेशन' शब्द का प्रयोग किस अर्थ में करते हैं, इसे वही जानते हैं, किन्तु इससे जो ध्वनि निकलती है उसमें अलगाव के वे सभी तत्व दिखाई देते हैं जो 15-20 वर्ष पहले पंजाब में उभरे थे।

इस बार के शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के चुनाव में ऐसे तत्व भी अपनी सम्पूर्ण सक्रियता के साथ शामिल हुए किन्तु पंजाब की सिख जनता ने उन्हें पूरी तरह नकार दिया। शिरोमणि कमेटी की पिछली आम सभा में सिमरनजीत सिंह मान के नेतृत्व वाले शिरोमणि अकाली दल (अमृतसर) के 6 सदस्य थे। इस बार उनकी संख्या घटकर केवल 2 रह गई। मान इस बार संगरुर से लोकसभा का चुनाव भी हार गए। पिछली संसद में वे इसी क्षेत्र से चुने गए थे।

स. प्रकाश सिंह बादल को पंजाब में उदार विचारों और नीतियों का प्रतीक माना जाता है। भारतीय जनता पार्टी के साथ उनके गठबंधन की जहां एक और कांग्रेस की ओर से आलोचना होती है, वहीं कट्टरपंथी विचारों के लोग इसी कारण उनकी खूब निंदा करते हैं, किन्तु शिरोमणि कमेटी के चुनाव में दो-तिहाई बहुमत प्राप्त करके उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि पंजाब की सिख जनता कट्टरपंथियों की समर्थक नहीं है, वह अपने प्रदेश में फिर से उस उग्रवाद को पनपने नहीं देना चाहती है जिसका कटु अनुभव उसे हो चुका है।

किन्तु सिख बुद्धिजीवियों के मन की एक प्रश्न सदा कुरेदता रहता है कि शिरोमिण गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी जैसी धार्मिक संस्था के लिए क्या इस प्रकार की निर्वाचन प्रणाली उपयुक्त है? संसार में शायद ही किसी धर्म के अनुयायियों ने अपने धर्म स्थानों के प्रवन्ध के लिए ऐसी व्यवस्था बनाई हो। इसमें कोई संदेह नहीं कि सभी धर्मों के पवित्र स्थानों की व्यवस्था में अनेक प्रकार का अनाचार और भ्रष्टाचार उभर

आता है और ऐसी प्रवृत्तियों पर नियंत्रण रखने के लिए अनेक बोर्ड, ट्रस्ट प्रबंध समितियां बनाई जाती हैं, किन्तु जैसी व्यवस्था शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंध कमेटी के गठन के लिए है, वैसी संभवतः संसार में कहीं नहीं है।

शिरोमणि कमेटी का लगभग तीन सौ करोड़ का बजट हैं। ऐतिहासिक गुरुद्वारों के रख-रखाव के अतिरिक्त कमेटी की ओर से अनेक कॉलेज, स्कूल और हस्पताल चलाए जाते हैं। इस दृष्टि से और भी महत्वपूर्ण कार्य किए जा सकते हैं, किन्तु इस प्रकार की कटुता उत्पन्न होती है, सारा समाज धड़ों में विभक्त हो जाता है, चुनाव में जीत के लिए भ्रष्ट उपाय अपनाए जाते हैं वह सभी की चिंता का कारण है।

अनेक बुद्धिजीवियों का मत है कि ऐसी निर्वाचन-प्रणाली का कोई विकल्प अवश्य ढूंढ़ना चाहिए।

(दैनिक जागरण, 30-11-2000)

क्या राजीव-लोंगोवाल समझौता अभी सार्थक है?

उत्तरांचल के राज्यपाल स. सुरजीत सिंह बरनाला ने कुछ दिन पूर्व यह बात कही कि पंद्रह वर्ष पूर्व तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी तथा उस समय शिरोमणि अकाली दल के अध्यक्ष संत हरचंद सिंह लोंगोवाल के बीच जो समझौता हुआ था, उसे लागू किया जाना चाहिए, क्योंकि वह आज भी वहुत संगत है और उससे उन मुद्दों का समाधान हो सकता है जो इतना लम्वा समय बीत जाने के बाद भी पंजाब और हरियाणा के बीच गले की हड्डी बने हुए है।

समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले दोनों व्यक्ति आज हमारे बीच नहीं है। समझौते के बीस दिन बाद ही संत लोंगोवाल की हत्या कर दी गई थी। लगभग 6 वर्ष बाद राजीव गांधी एक आतंकवादी साजिश का शिकार हो गए। जिन समस्याओं को लेकर अकाली दल ने 1981 में धर्मयुद्ध मोर्चा शुरू किया था, जिसके विकृत होते गये स्वरूप के कारण पंजाब अनेक वर्षों तक आतंक, अलगाव और हिंसा की भयंकर त्रासदी में जिंदगी और मौत की लड़ाई लड़ता रहा। राजीव गांधी के बाद प्रधानमंत्री बने पी. वी. नरसिंह राव ने गद्दी संभालते हुए यह घोषणा की थी कि वे राजीव लोंगोवाल समझौता लागू करेंगे। तत्कालीन गृहमंत्री शंकरराव चव्हाण ने संसद में भी इसी प्रकार की घोषणाएं की थीं किन्तु इस सम्बन्ध में कोई प्रगति नहीं हुई।

यह समझौता लागू क्यों नहीं हुआ, इस प्रश्न पर विचार करने से पहले, एक बार इस समझौते को याद कर लेना बेहतर रहेगा।

इस समझौते में कुल 11 अनुच्छेद थे—

1. मारे गये निर्दोष लोगों को मुआवजा

1-8-82 के बाद किसी भी कार्रवाई में मारे गये निर्दोष लोगों को अनुग्रह राशि की अदायगी के साथ ही साथ सम्पत्ति के नुकसान के लिए मुआवजा दिया जाएगा।

2. सेना में भरती

देश में सभी नागरिकों को अधिकार है कि वे सेना में भरती हो सकें। उनके चुनाव की कसौटी योग्यता (मैरिट) ही रहेगी।

3. नवम्बर (1984) की घटनाओं की जांच

जस्टिस रंग नाथ मिश्रा आयोग, जो दिल्ली के नवम्बर (1984) में हुए दंगे फसादों की जांच कर रहा है, के कार्यक्षेत्र को बढ़ाकर बोकारो और कानपुर भी शामिल किए जाएंगे।

4. सेना से बर्खास्त किए गये लोगों की पुनर्वास

आपरेशन ब्लू स्टार के बाद अपनी बैरकें छोड़ देने वाले जिन फौजियों को बरखास्त किया गया है उन सभी के पुनर्वास और लाभप्रद रोजगार के लिए प्रयत्न किए जाएंगे।

5. अखिल भारतीय गुरुद्वारा कानून

भारत सरकार अखिल भारतीय गुरुद्वारा बिल बनाने के लिए विचार करने पर सहमत है। इस सम्बन्ध में कानून शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी तथा अन्य सम्बन्धित पक्षों से सभी संवैधानिक आवश्यकताएं पूरी कर लेने के बाद पेश किया जाएगा।

6. लटके हुए केसों का निपटारा

6-1 :—पंजाब में सशस्त्र सेनाओं के लिए विशेष अधिकारी सम्बन्धी कानून से सम्बन्धित नोटीफिकेशन वापस ले लिया जाएगा। मौजूदा विशेष अदालतें केवल निम्नलिखित किस्म के केसों की सुनवाई ही करेंगी।

अ. युद्ध छेड़ना

आ. हाईजेकिंग (हवाई जहाज अगवा करना)

6-2. शेष सभी केस आम अदालतों के हवाले कर दिए जाएंगे। इस सम्बन्ध में, जरूरी कानून, यदि आवश्यक हो तो संसद के इसी सत्र में पेश किया जाएगा।

7. क्षेत्रीय दावे

7-1. चंडीगढ़ का कैपिटल प्रोजेक्ट क्षेत्र पंजाब के हवाले किया जाएगा। कुछ साथ लगते क्षेत्र, जो पहले हिन्दी या पंजाबी क्षेत्रों के हिस्से थे और केन्द्र शासित प्रदेश

में शामिल किए गए थे, पंजाब को और हरियाणा को दिए जाएंगे। सम्पूर्ण सुखना झील चंडीगढ़ के भाग में रखी जाएगी और वह पंजाब को दी जाएगी।

7-2. श्रीमती इंदिरा गांधी का सदैव यह विचार रहा है कि जब चंडीगढ़ पंजाब को दिया जाएगा तो पंजाब के कुछ हिन्दी-भाषी क्षेत्र हरियाणा को दिए जाएं। एक आयोग भी गठित किया जाएगा जो निश्चित करेगा कि चंडीगढ़ के बदले पंजाब के हिन्दी-भाषी कौन से क्षेत्र हरियाणा को दिए जाने चाहिए। यह निश्चित करने के लिए जिन सिद्धान्तों को आधार बनाया जाएगा वे हैं भौगोलिक संलग्नता, भाषा और गांव एक इकाई। आयोग को अपनी रिपोर्ट 31 दिसम्बर, 1985 तक देनी होगी, जो दोनों पक्षों को माननी होगी। इस आयोग का काम इन पहलू तक ही सीमित होगा और यह आम सीमा सम्बन्धी दावों से अलग होगा, जिनके साथ एक अन्य आयोग, जिसका उल्लेख पैरा क. 7-4 में किया गया है, निपटेगा।

7-3. चंडीगढ़ को वास्तविक ढंग से पंजाब को सुपुर्द करने और उसके बदले हरियाणा को क्षेत्र देने का काम साथ-साथ ही 26 जनवरी, 1986 को किया जाएगा।

7-4. पंजाब और हरियाणा की सीमाओं को पुनर्निधारित करने के लिए दावे और प्रतिदावे हैं। सरकार इन मामलों पर विचार करके रिपोर्ट देने के लिए एक और आयोग बनाएगी। इस आयोग के निर्णय सम्बन्धित राज्यों को स्वीकार करना अनिवार्य होगा। इसके काम का आधार होगा—एक गांव को एक इकाई के रूप में मानना, भाषा की एकरूपता और भौगोलिक संलग्नता।

8. केन्द्र-राज्य सम्बन्ध

8-1. शिरोमणि अकाली दल का कहना है कि आनन्दपुर साहब प्रस्ताव पूरी तरह भारतीय संविधान के ढांचे में है और यह केन्द्र राज्य सम्बन्धों की इस प्रकार व्याख्या करता है कि हमारे एकात्मक संविधान के सही अर्थों में संघीय लक्षण उभर सकेंगे और इस प्रस्ताव का उद्देश्य राज्यों को अधिक स्वायत्ता देना है जिससे देश की एकता और अखंडता मजबूत हो, क्योंकि अनेकता में एकता हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व की आधारशिला है।

8-2. उपरिलिखित को ध्यान में रखते हुए, आनन्दपुर साहब प्रस्ताव जहां तक केन्द्र राज्य सम्बन्धों से सम्बन्धित है, सरकारिया आयोग को भेजा जाता है।

9. नदी जल का बंटवारा

पंजाब, हरियाणा और राजस्थान के किसानों को रावी-व्यास सिलसिले से 1-7-1985 को जितना पानी मिल रहा है कम से कम उतना पानी मिलता रहेगा। उपयोग में लाए जा रहे पानी पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उपयोग में आ रहे पानी की पुष्टि ट्रिब्यूनल द्वारा की जाएगी, जिसका उल्लेख नीचे पैरा 9-2 में किया गया है।

9-2. शेष नदियों के पानी के सम्बन्ध में और हरियाणा के दावों के फैसले के लिए एक ट्रिब्यूनल बनाया जाएगा, जिसकी अध्यक्षता सर्वोच्चय न्यायालय का एक

न्यायाधीश करेगा। इस ट्रिब्यूनल का फैसला छह महीने के अंदर हो जाएगा जो दोनों पक्षों का मानना पड़ेगा। इससे सम्बन्धित सभी कानूनी और संवैधानिक कार्रवाइयां जी से की जाएंगी।

9-3. एस. वाई. एल. (सतलज-यमुना लिंक) नहर का निर्माण चालू रहेगा। यह नहर 15 अगस्त 1986 तक पूरी कर ली जाएगी।

10. अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व

अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा सम्बन्धी वर्तमान निर्दोष राज्यों के मुख्यमंत्रियों को फिर से भेजे जाएंगे। (प्रधानमंत्री सभी मुख्यमंत्रियों को लिखेंगे।)

11. पंजाबी भाषा की उन्नति

केन्द्र सरकार पंजाबी भाषा की उन्नति के लिए कुछ कदम उठाएगी।

ये ग्यारह मुद्दे उस समझौते की मुख्य बातें थीं। इस समझौते को पंजाब के उग्रवादी तत्वों ने उसी समय नकार दिया था, किन्तु अकाली दल सहित भारत के सभी राजनीतिक दलों ने इसका स्वागत किया था। सबसे बड़ी बात यह कि पंजाब की जनता ने इसे पंजाब में शान्ति और सद्भाव के नये अध्याय की शुरुआत मानते हुए इसे अपना भरपूर समर्थन दिया था।

इस समझौते के तुरन्त बाद (25 सितम्बर, 85) पंजाब में विधान सभा के चुनाव कराए गए थे। उग्रवादी तत्वों ने इस चुनाव का बहिष्कार करने की घोषणा की किन्तु लोगों ने उनकी घोषणाओं और धमकियों की चिंता ने करते हुए चुनाव में बढ़-चढ़कर भाग लिया था।

इस समझौते की सबसे अधिक कीमत अकाली दल के अध्यक्ष संत हरचंद सिंह लोंगोवाल ने चुकाई। समझौते का विरोध करने वाले उग्रवादी तत्वों ने समझौता होने के बीस दिन बाद ही उनकी हत्या की दी। शान्ति और सद्भाव के लिए उन्होंने अपने प्राणों की आहुति दे दी।

संत लोंगोवाल की हत्या, बहिष्कार के आह्वान, वातावरण में भय तथा चुनाव से केवल दो दिन पहले सात स्थानों पर बम फटने के बावजूद विधानसभा के 115 स्थानों के लिए 842 और लोकसभा के 13 स्थानों के लिए 74 प्रत्याशियों द्वारा चुनाव लड़ा जाना तथा 62 प्रतिशत से अधिक मतदाताओं का मतदान करना इस बात का प्रमाण था कि पंजाब की जनता लोकतंत्र में पूर्ण विश्वास रखते हुए लोकतांत्रिक ढंग से ही अपनी समस्याओं का समाधान चाहती थी।

किन्तु केन्द्र सरकार ने पंजाब के लोगों की इस भावना का सकारात्मक उत्तर नहीं दिया। राजीव-लोंगोवाल समझौते के अनुसार सबसे पहला काम चंडीगढ़ को पंजाब में शामिल किया जाना था। यह विवाद लगभग पिछले दो दशकों से अधिक समय से लटका था। 1966 में जब पंजाब, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश बनाने के लिए आयोग गठित किया गया था तो वह चंडीगढ़ के संबंध में एकमत निर्णय नहीं कर

सका था, इसलिए उसे केन्द्र शासित प्रदेश घोषित करके पंजाब और हरियाणा, दोनों राज्यों की राजधानी बना दिया गया था। अकाली दल की लगातार मांग यह रही थी कि चंडीगढ़ को पंजाब में शामिल किया जाए। इस सम्बन्ध में उसके दो तर्क थे–

1. चंडीगढ़ को पंजाब की राजधानी के रूप में कल्पित किया गया था। चंडीगढ़ को लाहौर की कमी पूरी करनी थी। इस देश में राज्यों के पुनर्गठन के समय मूल राज्य से पृथक होने वाले राज्यों ने अपनी नई राजधानियां बनाईं। गांधी नगर, भोपाल, बंगलौर, त्रिवेन्द्रम, ईटा नगर आदि राजधानियां इसी प्रकार बनीं। इसी आधार पर नये बने राज्य हरियाणा को अपनी अलग राजधानी बनानी चाहिए।

2. अकाली दल का दूसरा तर्क यह था कि चंडीगढ़ का निर्माण खरड़ तहसील के उन गांवों को उजाड़कर किया गया था जो 1949 का बने सच्चर फार्मूले के हिसाब से संयुक्त पंजाब के पंजाबी भाषी क्षेत्र का हिस्सा थे। इसलिए चंडीगढ़ को पंजाब में ही रहना चाहिए।

चंडीगढ़ को पंजाब में शामिल कराने के लिए 17 दिसम्बर, 1966 में अकाली दल के तत्कालीन अध्यक्ष संत फतेह सिंह ने आमरण शुरू किया। कुछ दिन बाद उस समय के लोकसभा के अध्यक्ष स. हुकुम सिंह प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी का यह संदेश लेकर अमृतसर पहुंचे कि प्रधानमंत्री ने इस विवाद का मध्यस्थ बनाना स्वीकार कर लिया है और आश्वासन दिया है कि चंडीगढ़ पंजाब को दे दिया जाएगा। इस आश्वासन के आधार पर संत फतेह सिंह ने अपने अनशन समाप्त कर दिया था।

तीन वर्ष गुजर गये। श्रीमती गांधी ने इस संदर्भ में कोई कदम नहीं उठाया और स. हुकम सिंह द्वारा भेजा गया आश्वासन एक अर्थहीन शब्द बनकर रह गया। केन्द्र सरकार की इस अपेक्षा भरी नीति से तंग आकर पंजाब के एक वयोवृद्ध नेता दर्शन सिंह फेरुमान ने चंडीगढ़ को पंजाब में शामिल करने के लिए 15 अगस्त, 1968 से आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया और 74 दिन के अनशन के बाद 27 अक्टूबर 1969 को उनकी मृत्यु हो गई। 2 नवम्बर, 1969 को संत फतेह सिंह ने कहा कि उन्होंने केन्द्र सरकार के आश्वासन की लम्बी प्रतीक्षा कर ली है। यदि 26 जनवरी, 1970 तक चंडीगढ़ को पंजाब में शामिल नहीं किया तो वह उस दिन से आमरण अनशन प्रारम्भ करेंगे और 1 फरवरी को आत्मदाह कर लेंगे।

संत फतेह सिंह के इस कदम के बाद केन्द्र सरकार ने 29 जनवरी 1970 को घोषण की कि चंडीगढ़ को पंजाब में मिला दिया जाएगा। उसके बदले में फिरोजपुर ज़िले की फाजिल्का तहसील का भाग और अबोहर पुलिस थाना क्षेत्र को हरियाणा में शामिल कर दिया जाएगा। चूंकि इन दोनों क्षेत्रों की हरियाणा के साथ भौगोलिक संलग्नता नहीं है इसलिए मुक्तसर तहसील के कन्दू खेड़ा गांव से लगभग एक फर्लांग चौड़ा गलियारा भी हरियाणा को दिया जाएगा।

दो प्रदेशों के मध्य गलियारा देने की बात अपने आप में उचित नहीं थी। भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन संबंधी आयोग ने छठे दशक में ही यह बात बड़े

स्पष्ट रूप से कही थी कि भाषावार राज्य बनाते समय भौगोलिक संलग्नता को ध्यान में रखा जाए और गलियारों और छित्राशों को स्वीकार नहीं किया जाए।

इस बात पर चंडीगढ़ प्रश्न फिर लटक गया। उसके बाद पंजाब में चाहे अकाली सरकार आई हो या कांग्रेसी सरकार, किसी ने भी फाजिलका और अबोहर की कीमत पर चंडीगढ़ लेना स्वीकार नहीं किया। यह तो था ही कि इन क्षेत्रों की हरियाणा के साथ भौगोलिक संलग्नता नहीं है, यह क्षेत्र (फाजिल्का, अबोहर) कपास की दृष्टि से बड़ा उपजाऊ क्षेत्र है। पंजाब की कोई भी पार्टी इसे पंजाब से बाहर नहीं जाने देना चाहती थी।

इस प्रश्न को लेकर अकाली दल ने 1982 में फिर आन्दोलन शुरू किया।

जुलाई, 1985 में चंडीगढ़ के प्रश्न पर राजीव-लोगोंवाल समझौते में कहा गया था कि चंडीगढ़ के प्रश्न पर राजीव-लोगोंवाल समझौते में कहा गया था कि चंडीगढ़ के बदले में हरियाणा को पंजाब का हिन्दी-भाषी कुछ क्षेत्र दिया जाएगा। भौगोलिक संलग्नता और गांव की इकाई उसका आधार होगी।

इस कार्य के लिए केन्द्र सरकार ने जस्टिस मैथ्यू को नियुक्त किया कि वे यह बताएं के चंडीगढ़ के बदले में पंजाब के कौन-से क्षेत्र हरियाणा को दिए जाएं।

फाजिल्का-अबोहर विवाद के सम्बन्ध में सभी को मालूम था। मैथ्यू कमीशन को तत्कालीन पंजाब सरकार की सहायता से ऐसे क्षेत्र को नामांकित करना चाहिए था जो भौगोलिक दृष्टि से हरियाणा से जुड़े हुए होते। लेकिन मैथ्यू कमीशन अपने दल-बल सहित फाजिल्का-अबोहर क्षेत्र में पहुंच गया। वहां उसने जनमत संग्रह कराया, जो अपने आप में एक नई (और खतरनाक) परम्परा थी। कंटूखेड़ा फिर गले की हड्डी बन गया। मैथ्यू साहब ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि फाजिल्का-अबोहर के 83 गांव हिन्दी भाषी हैं, किन्तु हरियाणा से वे भौगोलिक दृष्टि से जुड़े नहीं हैं क्योंकि बीच में एक गांव कंटूखेड़ा पंजाबी भाषी है। इसलिए मैं इन गांवों को हरियाणा को देने की सिफारिश नहीं कर सकता।

जस्टि्स मैथ्यू ने सरकार के सामने हथियार डाल दिये और कहा कि सरकार इस सम्बन्ध में निर्णय लेने के लिए दूसरा आयोग गठित करे।

केन्द्र सरकार ने इसके बाद जस्टिस वेंकटरमैया को इस कार्य के लिए नियुक्त किया। वेंकटरमैया ने फैसला दिया कि चंडीगढ़ के बदले में पंजाब हरियाणा को 70,000 एकड़ जमीन दे दे। उन्होंने यह नहीं बताया कि यह जमीन पंजाब के किस क्षेत्र से दी जाएगी तत्कालीन बरनाला सरकार ने गांव की इकाई, भाषा और भौगोलिक संलग्नता को ध्यान में रखते हुए चंडीगढ़ के बदले में जो गांव हरियाणा को देने का निश्चय किया था, उसका क्षेत्रफल 45,000 एकड़ था। शेष 25,000 एकड़ जमीन कौन-सी होगी, इसका निर्णय कोई नहीं कर सका था।

26 जनवरी, 1986 निकल गई। राजीव-लोंगोवाल समझौते की इमारत 11 में सिर्फ़ एक मुद्दे (7-2) पर ही डगमगा गई और धीरे-धीरे पूरी तरह लड़खड़ाकर धराशायी

हो गई शेष सारे मुद्दे जैसे के तैसे रह गये। पंजाब में लोकतान्त्रिक ढंग से चुनी गई सरकार के मुख्यमंत्री सुरजीत सिंह बरनाला प्रधानमंत्री के निवास स्थान के निरन्तर चक्कर लगाते रहे, किन्तु समझौते को वे एक इंच भी आगे नहीं बढ़ा सके। समझौते की असफलता से पंजाब के उग्रवादी तत्व प्रसन्न हुए। वे इसे असफल हुआ ही देखना चाहते थे। इस कार्य में राजीव-सरकार की ढुलमुल नीति ने उनकी सहायता की।

समझौते की असफलता के कारण पंजाब की जनता में निराशा और हताशा बढ़ गई थी। इससे उग्रवादी तत्वों के हौसले भी बढ़े थे और पंजाब में आतंक और हत्याओं का दौर तेज हो गया था। बरनाला सरकार चक्की के दो पाटों के बीच फंस गई थी। राजीव-लोंगोवाल समझौते के लागू न होने से आम लोगों में उसकी साख गिर गई थी। अकाली दल में फूट पड़ जाने से बरनाला अल्पमत में आ गई और उसे सत्ता में बने रहने के लिए कांग्रेस की मदद लेनी पड़ी थी। तभी हरियाणा विधानसभा के चुनाव आ गये। इस चुनाव में अपना राजनीतिक लाभ लेने के लिए केन्द्र सरकार ने मई 1987 में बरनाला सरकार को बर्खास्त कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जो लगभग 5 वर्ष तक बना रहा। इसके लिए केन्द्र सरकार को कितनी ही बार संविधान में संशोधन करना पड़ा।

श्री पी. वी. नरसिंह राव की सरकार लगातार कहती रही कि राजीव-लोंगोवाल समझौता लागू किया जाएं।

अब यह समझौता अकाल मौत कर चुका है। राष्ट्रीय स्तर पर इस प्रकार के किसी भी समझझैते की मौत अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है, नेता आते-जाते रहते हैं। सरकारें भी बदलती रहती हैं, किन्तु यदि किसी भी देश की सरकार अपने समझौतों, अपने वायदों को इस प्रकार नकारती रही तो न केवल सरकार की विश्वसनीयता नष्ट होगी पूरा राष्ट्र ही लांछित हो जाएगा। पंद्रह वर्ष-पूर्व राजीव-लोंगोवाल समझौता इसी प्रकार की एक त्रासदी हैं।

(दैनिक जागरण, 11-1-2001)

अब जेहाद में बदल रही है, कश्मीर की समस्या

कश्मीर समस्या से जुड़े कट्टरवादी उग्र गुटों ने अब इस बात को विशेष आग्रह से कहना शुरू कर दिया है कि कश्मीर की समस्या राजनीतिक नहीं है, वह धार्मिक समस्या है। जमायत-ए-इस्लामी के पूर्व अध्यक्ष अलीशाह गिलानी, जो कश्मीर को पाकिस्तान में मिलाए जाने के कट्टर हिमायती हैं, इस बात की स्पष्ट घोषणा की है कि हम कश्मीर को पूरी तरह मुसलमानों की धार्मिक समस्या मानते हैं। कश्मीर पर 'हिन्दू' भारत ने कब्जा कर रखा है। कश्मीर को उससे आजाद कराना है। इसलिए वे उन जेहादियों की भरपूर प्रशंसा करते हैं जो पाकिस्तान अथवा संसार के किसी भी भाग से कश्मीर में आकर अधर्मी (भारत) के विरुद्ध स्वधर्म (इस्लाम) के लिए संघर्ष कर रहे हैं।

कश्मीर में ही एक वर्ग यह मानता है कि कश्मीर की समस्या कश्मीर को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में देखने वालों की राजनीतिक समस्या है। वे पुरानी जम्मू-कश्मीर रियासत को (जिसमें पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर का क्षेत्र भी शामिल है) एक आजाद देश के रूप में देखना चाहते हैं। इसलिए वे इस्लामियत की बजाए कश्मीरियत की बात पर अधिक बल देते हैं। हाशिम कुरैशी इस गुट के नेता हैं।

किन्तु पाकिस्तान स्थित हिजबुल मुजाहिदीन के नेता सैयद सलाहुद्दीन का कहना है कि कश्मीरियत की अवधारणा हमारे लिए कोई महत्व नहीं रखती। हम कश्मीर को भारत की गुलामी से आजाद कराना चाहते हैं। इसके लिए हम सभी इस्लामी देशों की सहायता से 'जेहाद' छेड़ रहे हैं। सभी जेहादी हमारे मित्र हैं।

जब से कश्मीर की समस्या उत्पन्न हुई है, इसे एक राजनीतिक समस्या के रूप में ही देखा गया है। इस संदर्भ में भारत और पाकिस्तान में जितने युद्ध हुए, जितनी वार्ताएं हुईं, संयुक्त राष्ट्र की इस सम्बन्ध में जो भी भूमिका रही, संसार भर के देशों

ने इसमें जो अपनी रुचि प्रदर्शित की—उस सबमें राजनीतिक परिप्रेक्ष्य सदा सर्वप्रमुख रहा। कभी इसे इस्लामी और गैर इस्लामी नजरिये से नहीं देखा गया। भारत-पाकिस्तान के बीच के युद्ध को भी कभी जेहाद का नाम नहीं दिया गया था। अब कश्मीर की समस्या को जेहाद कहा जा रहा है।

जेहाद अरबी शब्द है जिसका अर्थ है धर्म (इस्लाम) के लिए अधर्मियों से युद्ध। यह एक मध्ययुगीन अवधारणा है। इस्लाम की राजनीतिक शक्ति को धर्म का आधार पूरी तरह प्राप्त था। उस समय तक राष्ट्र और राष्ट्रीयता की भावना का पूरी तरह विकास नहीं हुआ था। इस्लाम जिन भी क्षेत्रीय अथवा कबायली वर्गों—(तुर्क, पठान, मुग़ल) के माध्यम से किसी अन्य देश में आक्रमणकारी बनकर गया, वहां उसे धार्मिक रूप भी देने का प्रयास हुआ। उसे इस्लामी और गैर इस्लामी शक्तियों के बीच हुआ युद्ध भी कहा गया। इस्लाम के पक्ष में गैर इस्लामी शक्तियों से लड़ने वाला व्यक्ति केवल एक सैनिक ही नहीं था, वह एक जेहादी था, जो केवल एक सैनिक ही नहीं होता था, वह धर्म सैनिक होता था। इसी तर्ज़ पर ईसाइयों में एक शब्द प्रचलित हुआ था—क्रूसेड। मध्ययुग में जब मुसलमानों ने ईसाइयों के अनेक धर्म स्थानों पर अपना अधिकार जमा लिया था तो ईसाइयों ने मुसलमानों के विरुद्ध जो संघर्ष किया उसे 'क्रूसेड' नाम दिया। तीन सौ पूर्व गुरु गोबिन्द सिंह ने जब मुग़ल शासकों के विरुद्ध अपने संघर्ष को आरम्भ किया तो उसे 'धर्मयुद्ध' कहा 'धर्मयुद्ध' भी लगभग इसी अर्थ को व्यक्त करता था और जेहाद का उत्तर था।

किन्तु जेहाद, क्रूसेड और धर्मयुद्ध जैसी अवधारणाएं मध्ययुगीन स्थितियों की परिचायक हैं, जब विभिन्न वर्गों के बीच युद्ध धर्म समुदायों के बीच के युद्ध बन जाया करते थे। जब से राज्य, देश ओर राष्ट्र की अवधारणाओं ने विकास करना शुरू किया तब से युद्ध राज्यों, देशों और राष्ट्रों के बीच होने लगे। बीसवीं सदी के दो विश्व युद्ध भौगोलिक इकाइयों के बीच हुए थे न कि धार्मिक इकाइयों के बीच। भारत और पाकिस्तान के बीच पिछले पचास वर्षों में जो भी युद्ध हुए वे दो देशों के बीच के युद्ध थे न कि हिन्दू (भारत) और मुसलमान (पाकिस्तान) के बीच के युद्ध थे, किन्तु कुछ लोगों को झटपट मध्ययुगीन मानसिकता में चले जाने में बिल्कुल देर नहीं लगती। पाकिस्तान के राज नेता जुल्फिकार अली भुट्टो भी भारत-पाकिस्तान के मध्य के विरोध भाव को प्रायः एक हजार वर्षो के हिन्दू-मुस्लिम मतभेद और विरोध में फैला दिया करते थे।

कश्मीर को लेकर भी आज यही हो रहा है। अब कश्मीर की (कथित) आजादी के लिए लड़ने वाले लोग कश्मीरी स्वतंत्रता सेनानी नहीं हैं, वे सब जेहादी कहलाने लगे हैं और इस संघर्ष में अब सभी इस्लाम धर्मावलंबियों का आह्वान किया जा रहा है कि वे इस जेहाद में भाग लें, क्योंकि वह विधर्मी भारत के विरुद्ध लड़ा जा रहा है।

एक रिपोर्ट के अनुसार प्रतिवर्ष ब्रिटेन में रहने वाले 900 मुसलमानों को वहां

के कट्टरपंथी इस्लामी संगठनों द्वारा आतंकवादी प्रशिक्षण के लिए पाकिस्तान भेजा जाता है जिससे वे कश्मीर में चल रहे जेहाद (पवित्र युद्ध) में भाग ले सकें। कश्मीर के आतंकवादियों की मदद के लिए वहां के मुसलमानों ने पांच करोड़ रुपए जमा कर लिए हैं। ऐसे जेहादियों में से कुछ ने बताया कि उन्हें पाकिस्तान में मशीनगन चलाने, बम बनाने और युद्ध में काम आने वाले सभी उपकरणों के प्रयोग करने का प्रशिक्षण दिया गया था। भारतीय सैनिकों को मारना ही अब उनका प्रमुख दायित्व है।

पाकिस्तानी नेता चाहते हैं कि अब कश्मीर की समस्या को कश्मीर या पाकिस्तान तक ही सीमित न रहने दिया, इसे पूरी इस्लामी दुनिया की समस्या बना दिया जाए। वे यह जानते हैं कि गत 53 वर्षों में इसे दो देशों, भारत और पाकिस्तान, के मध्य की एक राजनीतिक समस्या के रूप में ही देखा गया, जिसका पाकिस्तान को कोई लाभ नहीं हुआ। वे अब यह चाहते हैं कि इस प्रश्न को पाकिस्तान का नहीं, सारी दुनिया में रहने वाले मुसलमानों का जज्बाती प्रश्न बना दिया जाए और इसे सभी मुसलमानों के सम्मुख 'होली वार' (पवित्र युद्ध) के रूप में प्रस्तुत किए जाए। कुछ हद तक वे अपनी इस मंशा में सफल हुए हैं। जेहाद के नाम पर पाकिस्तान में कट्टरपंथी संगठनों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही है, जो भारत से सीधे-सीधे युद्ध करके इस समस्या का समाधान करना चाहते हैं। लश्करे तय्यबा का मुखिया हाफिज़ सईद अहमद जनरल परवेज़ मुशर्रफ से बड़े गुस्से से यह पूछता है कि कारगिल की जंग के समय वहां से पाकिस्तानी फौज़ पीछे हटाने की इजाज़त उसे किसने दी।

इसी जेहाद के नाम पर अफगानिस्तान के कितने ही सैनिक आज कश्मीर में कोहराम मचाए हुए हैं। ब्रिटेन में बसने वाले कट्टर इस्लामी संगठन जन और धन दोनों लेकर इस 'पवित्र युद्ध' में शामिल हो रहे हैं। देखना यही है कि संसार के अन्य इस्लामी देश इसे किस हद तक जेहाद मानते हैं और पाकिस्तानी कुचक्र का शिकार बनते हैं?

कितनी विचित्र स्थिति है। इस्लाम धर्म को मानने वाला मुजाहिद जब गैर इस्लामी ताकत से इस्लाम की रक्षा के लिए लड़ता है तो इसे जेहाद मानता है और अपने आपको जेहादी कहता है, किन्तु भारत के विरुद्ध छेड़ा गया यह जेहाद केवल हिंदुओं के विरुद्ध नहीं है। वह तो उन 15 करोड़ से अधिक मुसलमानों के भी खिलाफ है, जो भारत के नागरिक हैं। यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय मुसलमानों की संख्या पाकिस्तान में बसने वाले मुसलमानों से ज़्यादा है, जो अपने आपको इस्लामियत का झंडाबरदार समझता है। क्या पाकिस्तान के 11 करोड़ मुसलमान भारत के 15 करोड़ मुसलमानों के खिलाफ जेहाद छेड़ेंगे? क्या पाकिस्तानी मुसलमान भारतीय मुसलमानों को भी उसी प्रकार विधर्मी मानते हैं जैसे हिंदुओं को?

कश्मीर की समस्या ने बिल्कुल नया आयाम ग्रहण कर लिया, जब इसे कट्टर आतंकवादी संगठनों ने राजनीति की परिधि से निकालकर धर्म की परिधि में घसीट लिया। यह कितना अदूरदर्शी और आत्मघाती कदम है, इसकी शायद वे पहचान नहीं

कर रहे हैं। इस्लामी जेहाद का यह नारा भारतीय मुसलमानों के लिए कितना घातक सिद्ध होगा, इसका शायद वे अनुमान नहीं लगा पा रहे हैं।

पाकिस्तान में रहने वाले जेहादियों के सरगना सैयद सलाहुद्दीन ने एक पत्रिका को हाल ही में दिए एक साक्षात्कार में कहा है कि हमारा यह फैसला है कि हम कश्मीर की इस जंग को कश्मीर से बाहर, भारत के अन्य भागों में ले जाएंगे। हम सारे भारत में अपनी आतंकवादी गतिविधियों का विस्तार करेंगे। हम किसी भी स्थिति में कश्मीर पर भारत का प्रभुत्व स्वीकार नहीं करेंगे। हम अच्छी तरह जानते हैं कि भारत पूरी तरह घिर चुका है। यह अन्तिम युद्ध है। भारत अब अधिक दिन तक प्रतिरोध नहीं कर सकेगा। वह अब कश्मीर की जंग को अधिक समय तक नहीं चला सकेगा।

कश्मीर को लेकर अब लम्बा संघर्ष प्रारम्भ हो गया है। इसके शान्तिपूर्ण समाधान की अब कोई संभावना नहीं नज़र आती। पाकिस्तान इसे मध्ययुग के धार्मिक जनून में बदलना चाहता है। इस प्रश्न को लेकर पाकिस्तान में जिस प्रकार का उन्माद पैदा किया जा रहा है, वह किस दिन इस सम्पूर्ण तनाव को खूनी युद्ध में परिवर्तित कर देगा, कहा नहीं जा सकता।

ऐसे समय में, भारतीय मुसलमानों की जिम्मेदारी बहुत बढ़ जाती है। मैं जानता हूं कि इस देश का कोई भी मुसलमान पाकिस्तान के जेहादी उन्माद का समर्थन नहीं करेगा। वह नहीं चाहेगा कि कोई भी कट्टरतावादी संगठन उन्हीं के देश के विरुद्ध ऐसा उन्माद फैलाए, जिसके वे अंग हैं। किन्तु यह भी सच है कि उन्हें बहुत मुखर होकर इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करने होंगे और अपने सभी संगठनों के माध्यम से पाकिस्तान को यह बताना होगा कि ऐसा कोई भी जेहाद इस्लाम की मान्यताओं के सर्वथा विरुद्ध है और वे अपनी पूरी शक्ति से इसका मुकाबला करेंगे।

(दैनिक जागरण, 1-2-2001)

कश्मीर में सिखों पर हमले क्यों हो रहे हैं?

श्रीनगर में छह सिखों की फिर हत्या कर दी। पहले चट्टी सिंह पुरा में आतंकवादियों ने 36 सिखों की हत्या की दी थी। फिर कुछ समय बाद इन हत्यारों ने जम्मू-कश्मीर राजमार्ग पर कश्मीर वादी में आवश्यक माल ले जा रहे ट्रकों को रोककर चालकों और उनके सहायकों को रोककर उन पर अंधाधुंध गोलियां चलाई गईं। इसमें 5 चालक तथा 6 सहायक मारे गए थे, जो अधिसंख्य सिख थे।

कश्मीरी आतंकवादी, जिन्हें पड़ोसी देश पाकिस्तान का पूर्ण समर्थन प्राप्त है और अफगानिस्तान से आए भाड़े के हत्यारे इनके साथ बड़ी संख्या में लगे हुए हैं, अब कश्मीर से सिखों को पूरी तरह निकालना चाहते हैं। इससे पहले वे कश्मीरी पंडितों के साथ यही कर चुके हैं।

इन आतंकवादियों की रणनीति क्या है, इस पर विचार करने से पहले कश्मीर के इतिहास की संक्षिप्त सी जानकारी हमारे लिए उपयोगी हो सकती है।

प्राचीन काल से ही कश्मीर वैदिक, बौद्ध और शैव धर्मों का केन्द्र रहा है। कल्हण कवि के संस्कृत काव्य 'राजतरंगिणी' के यह प्रदेश सुविख्यात है। सन् 1346 तक वहां हिन्दू शासन था। अंतिम हिन्दू शासक उद्यान देव की हत्या के बाद वहां मुसलमानों का शासन स्थापित हुआ। उस समय तक उत्तर भारत के अनेक भागों में मुस्लिम शासन स्थापित हो चुका था। सोलहवीं सदी में मुगल बादशाह अकबर ने वहां मुगल शासन स्थापित किया। अठारहवीं सदी के मध्य में अफगान आक्रांता अहमदशाह अब्दाली ने इसे मुगलों से छीन लिया और कश्मीर अफगानिस्तान का एक सूबा बन गया। सन् 1819 में लाहौर के सिख शासक महाराजा रणजीत सिंह ने यहां के अफगान सूबेदार को पराजित करके कश्मीर को अपने राज्य में मिला लिया। 1846 ई. में प्रथम अंग्रेज

सिख युद्ध में सिखों की पराजय के बाद जम्मू के डोगरा राजा गुलाब सिंह ने इसे एक करोड़ में अंग्रेजों से खरीद लिया और इस प्रकार 'जम्मू-कश्मीर' राज्य अस्तित्व में आया और यहां डोगरा शासन स्थापित हुआ जो 1947 तक बना रहा।

इस प्रदेश की नैसर्गिक सुंदरता के कारण मुगल बादशाह जहांगीर को यह प्रदेश बहुत पसंद था। वह यहां प्रायः आया करता था। यह उक्ति जहांगीर की ही है कि संसार में कहीं स्वर्ग है तो वह कश्मीर ही है।

इसी समय सिखों के छठे गुरु गुरु हरिगोबिंद भी कश्मीर आए थे। श्रीनगर में उनके आगमन की स्मृति में एक प्रसिद्ध गुरुद्वारा बना हुआ है। नौवें गुरु, गुरु तेगबहादुर के पास सन् 1675 में मट्टन (कश्मीर) की संस्कृत पाठशाला के आचार्य प्र. कृपा राम के नेतृत्व में कश्मीरी पंडितों का एक प्रतिनिधि मंडल आनन्दपुर साहिब में आकर उनसे मिला और उन्हें वहां के सूबेदार इफ्तिखार खान के अत्याचारों की दर्द भरी दास्तान सुनाई जो लोगों को धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य कर रहा था। इस प्रकार के अत्याचार के विरुद्ध गुरु तेगबहादुर ने दिल्ली आकर अपनी शहादत दी थी।

महाराजा रणजीत सिंह के शासन काल में कश्मीर में सिखों की आबादी बढ़ी। उस समय बलात् धर्म परिवर्तित हुए बहुत से लोगों ने सिख धर्म स्वीकार कर लिया था।

कश्मीर के लोगों की यह शिकायत बहुत हद तक ठीक है कि गत 6 सौ वर्षों में कश्मीर पर कश्मीरियों का कभी शासन नहीं रहा। पहले तुर्कों ने फिर मुगलों ने, फिर अफगानों ने, फिर सिखों ने और फिर एक सौ वर्षों तक जम्मू के डोंगरा शासकों ने कश्मीर को अपने अधिकार में रखा। डोगरा शासन काल में शासनतंत्र, शिक्षा, व्यापार उद्योग और जागीदारदारी आदि सभी आर्थिक-सामाजिक सूत्रों पर हिंदुओं का वर्चस्व था। कश्मीर की आम मुसलमान जनता शोषण और गरीबी में पिसती रही।

1930 के दशक में शेख अब्दुल्ला ने वहां मुस्लिम कान्फ्रेंस की स्थापना की। शेख अब्दुल्ला इस संगठन को सम्पूर्ण देश में व्याप्त भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आंदोलन के अनुरूप चलाना चाहते थे, इसलिए 1939 में मुस्लिम कांफ्रेंस को नेशनल कांफ्रेंस के रूप में बदल दिया गया। जम्मू-कश्मीर राज्य में जनता का उत्तरदायी शासन स्थापित करने के लिए यह एक व्यापक आन्दोलन था जो धीरे-धीरे जनता में लोकप्रिय होता चला गया और 1947 में इसी संगठन ने अब्दुल्ला के नेतृत्व में राज्य कर शासन-सूत्र संभाला।

किन्तु बाद की घटनाओं ने कश्मीर की समस्या को कहीं अधिक पेचीदा बना दिया। जिस आधार पर देश का विभाजन हुआ था, उसके अनुरूप मुस्लिम बहुल कश्मीर पाकिस्तान का और हिन्दू बहुल जम्मू-भारत का अंग बन जाते तो किसी को अनहोनी बात नहीं लगती, किन्तु वहां विचित्र प्रकार की स्थितियों ने जन्म ले लिया। जम्मू-कश्मीर के महाराजा हरि सिंह अपने राज्य को पूर्व का स्वीटजरलैंड बनाकर एक स्वतंत्र देश की कल्पना करने लगे। मोहम्मद अली जिन्ना और उनकी मुस्लिम लीग का प्रभाव इस

क्षेत्र पर उतना स्थापित नहीं हुआ, जितना देश के अन्य राज्यों में जिन्ना अब्दुल्ला पर अपने करिश्माई व्यक्तित्व का जादू नहीं चला पाए। शेख अब्दुल्ला, जवाहर लाल नेहरू के चहेते बन गये थे। स्वयं नेहरू जी मूलतः कश्मीरी होने के कारण इस प्रदेश से अपना भावात्मक लगाव महसूस करते थे।

जम्मू-कश्मीर का भारत में विलय यदि उसी प्रकार और उन्हीं शर्तों पर हुआ होता जैसा सरदार पटेल ने देश की अन्य देसी रियासतों के साथ किया था तो भी इस प्रदेश को लेकर वैसी समस्याएं न उभरती जैसी आज विद्यमान हैं, किन्तु वैसा भी नहीं हुआ। विलय के पश्चात, प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने शेख अब्दुल्ला को प्रसन्न करने के लिए जम्मू-कश्मीर को ऐसा विशेष दर्जा दिया जैसा देश के अन्य किसी राज्य को नहीं दिया गया था। इस राज्य को अपना प्रधान चुनने, अपना अलग संविधान बनाने, अपना ध्वज अलग रखने, भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र बाहर रहने आदि ऐसी अनेक बातों का अधिकार दे दिया गया जिसने उन धागों को बहुत कमजोर कर दिया जो उसे शेष भारत के साथ जोड़ते थे। जम्मू-कश्मीर के शासन-प्रमुख को प्रधानमंत्री कहा जाता था, जबकि शेष भारत में उन्हें मुख्यमंत्री कहा गया। इस स्थिति का परिणाम यह हुआ कि शेख अब्दुल्ला भी कश्मीर को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में देखने की कल्पना करने लगे।

बाद का इतिहास सभी जानते हैं। शेख अब्दुल्ला से नेहरू जी का मोहभंग होना, उनकी (शेख अब्दुल्ला की) बर्खास्तगी का लम्बा दौर, कश्मीर को स्वायत्तता देने वाली कुछ धाराओं की समाप्ति, मुख्यमंत्री के रूप में शेख साहब की वापसी, इंदिरा गांधी के शासन काल में राज्य की चुनी हुई सरकारों के साथ खिलवाड़ और फिर पाकिस्तान प्रेरित आतंकवादी और अलगाववादी गतिविधियों की निरन्तर बढ़ोतरी आदि सभी बातें गत कुछ दशकों में घटित हुई हैं।

कश्मीर ने पाकिस्तानी शासकों को प्रारम्भ से ही मुश्किल में डाला हुआ है। यह तर्क कि मुस्लिम बहुल कश्मीर को पाकिस्तान का एक भाग होना चाहिए उन्हें अत्यन्त स्वाभाविक और जायज लगता है। यह सोचकर कि मुस्लिम जनता उनका साथ देगी, पाकिस्तानी शासकों ने, पाकिस्तान निर्माण के दो महीने बाद ही सीमा प्रान्त के कबाइलियों द्वारा कश्मीर पर आक्रमण भी करा दिया था और कबायली देश में अपने सुशिक्षित अफसरों से उनका नेतृत्व भी कराया था। यदि भारतीय सेनाओं को श्रीनगर पहुंचने में कुछ समय लग जाता तो पूरा कश्मीर हाथ से निकल जाता, किन्तु उस आक्रमण का इतना लाभ तो पाकिस्तान मिला ही कि आज भी कश्मीर कर 2/5 भाग उसके अधिकार में है।

सिखों को लेकर भी पाकिस्तान की मानसिकता अनेक विचित्रताओं और विरोधाभासों से भरी हुई है। वह सिखों को अपना सबसे बड़ा शत्रु मानता है और सिखों को वह विश्वास भी दिलाता है कि वह उनका सबसे बड़ा मित्र और हित चिंतक है। विभाजन के समय पश्चिमी पंजाब में हिंदुओं-सिखों का बुरी तरह कत्लेआम हुआ था। प्रतिक्रिया

स्वरूप लगभग उसी प्रकार का काम पूर्वी पंजाब के मुसलमानों के साथ भी हुआ था। आज भी पाकिस्तान में सिखों द्वारा पूर्वी पंजाब में मुसलमानों पर किए गये आक्रमणों की दर्दभरी कहानियां याद की जाती हैं। पाकिस्तान के शासक यह भी मानते हैं कि यदि सिखों को किसी प्रकार भारत के विरुद्ध कर दिया जाए तो भारत विरोधी मंसूबों में उसे बड़ी सफलता मिल सकती है। इसीलिए वह भारतीय पंजाब में सिखों के अलगाववादी तत्वों को हमेशा प्रोत्साहित करता रहता है किन्तु इस दृष्टि से उसे कभी विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। हां, यह अवश्य हुआ है कि जब भी भारत-पाकिस्तान में युद्ध की स्थिति आई है, पाकिस्तान को सिख सेनाएं सदैव आगे खड़ी दिखाई दी हैं। कश्मीर पर कबाइलियों के आक्रमण के समय श्रीनगर हवाई अड्डे पर सबसे पहले सिख रेजीमेंट उतरी थी। 1965 के युद्ध में पश्चिमी सीमा पर युद्ध की कमान ले. ज. हरबख्श सिंह के हाथ में थी, और 1971 के युद्ध में पूर्वी सीमा की कमान ले. ज. जगजीत सिंह अरोरा के हाथ में थी, जिन्होंने 90 हजार से अधिक पाकिस्तानी सैनिकों के हथियार डलवाकर उनसे आत्मसमर्पण करवाया था।

कश्मीर में पाकिस्तान द्वारा प्रेरित आतंकवादियों की योजना बहुत स्पष्ट है। वे पूरी तरह कश्मीर की वादी को हिन्दू विहीन कर देना चाहते हैं। इस योजना में वे बहुत हद तक कामयाब हो गये हैं। आज कश्मीर में बहुत थोड़े हिन्दू रह गये हैं। बड़ी संख्या में वे अपने राज्य को छोड़कर पड़ोसी राज्यों में चले जाने को बाध्य हो गये हैं।

ये आतंकवादी यह भी चाहते हैं कि कश्मीर से भारत का सम्पर्क टूट जाए। विभाजन से पहले कश्मीर में जाने के जितने भी मार्ग थे, वे उसी प्रदेश में से होकर जाते थे, जो आज पाकिस्तान में हैं। विभाजन के बाद भारत ने नए मार्ग का निर्माण किया है, किन्तु स्थिति आज भी बहुत संतोषजनक नहीं है। जम्मू तक पहुंचने में तो कोई कठिनाई नहीं होती किन्तु जम्मू-कश्मीर राजमार्ग पर यदि कोई व्यवधान आ जाए तो कश्मीर का सड़क संपर्क भारत से टूट जाता है। पाकिस्तान का प्रयास सदैव यह रहा है कि किसी प्रकार वह कश्मीर की ओर जाती भारत की सप्लाई लाइन को तोड़ दे।

शेष भारत और कश्मीर का सड़क संपर्क कायम रखने में सिख ट्रांसपोर्ट और सिख ट्रक ड्राइवरों की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। सभी प्रकार की आपूर्ति का काम ट्रकों के जरिए भारतीय पंजाब से निकलकर ही होता है। कश्मीर के अंदर भी सिख ट्रांसपोर्ट ही सप्लाई लाइन को बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आतंकवादी इन ट्रक मालिकों और चालकों का बल तोड़ना चाहते हैं। चट्टी सिंह पुरा में रहने वाले सिख ट्रान्सपोर्ट व्यवसायी कश्मीर के अंदर की सप्लाई लाइन कायम किए हुए थे, इसलिए उन पर आक्रमण किया गया। पंजाब के ट्रक चालक कश्मीर से बाहर का संपर्क सूत्र कायम रखते हैं, इसलिए हाल में उनकी हत्या की गई। उद्देश्य यही है कि कश्मीर में बसने वाले सिख इतने डर जाएं कि वे अपना काम-धंधा छोड़कर भाग

जाएं और कश्मीर के बाहर के ट्रक चालक इतने आतंकित हो जाएं कि वे माल लेकर राज्य में जाने से इनकार कर दें।

आज कश्मीर वादी में ही सिखों की संख्या एक लाख से अधिक है। यदि ये भी वहां से निष्क्रमण करने के लिए बाध्य किए जाते हैं तो न केवल वहीं की सामाजिक संरचना टूटती है, वहां की आर्थिकता और सुरक्षा पर भी गहरा असर पड़ता है और आतंकवादी मन्सूबे अपने उद्देश्य में बड़ी सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

असल में पाकिस्तान प्रेरित ये आतंकवादी कश्मीर में सिखों का मनोबल तोड़ना चाहते हैं। श्रीनगर में मारे गए सिख इसी प्रक्रिया का अंग है। चट्टी सिंह पुरा और ड्राइवरों की हत्या से इस मनोबल पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा था। वहां के सिखों ने आतंकवादी दबाव में आकर ने अपने धंधों में कोई परिवर्तन किया है। न ही वहां से निष्क्रमण के प्रति कोई हफरा-तफरी दिखाई है और श्रीनगर से जो समाचार मिले हैं उनसे लगता है कि वहां के सिखों में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया है और इस सबके प्रति उन्होंने तीव्र रोष प्रकट किया है। मेरे मन में एक और शंका भी पैदा हो रही है। पंजाब में विशेष रूप से अमृतसर में कश्मीरी मुसलमान बड़ी संख्या में रहते हैं। यदि इस समस्या ने साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया तो इसका परिणाम कहीं इन बेगुनाह लोगों को न भुगतना पड़ जाए।

कश्मीरियों को, जैसा कि मैं लिख चुका हूं, यह शिकायत रही है कि सदियों से कश्मीर पर गैर कश्मीरी ही शासन करते आए हैं। विडम्बना यह है कि आज की आतंकवादी गतिविधियों में भी सक्रिय भूमिका गैर-कश्मीरियों की है। पाकिस्तान प्रेरित अधिससंख्य आतंकवादी पश्चिमी पंजाबी हैं अथवा सरहदी सूबे के पठान हैं। भाड़े के आतंकवादी अफगानिस्तान से आते हैं और भारतीय सेना की गोलियों का शिकार बनते हैं। शेख अब्दुल्ला ने उन्हें कश्मीरियत का अहसास कराया था। भारत इस भावना की रक्षा करना चाहता हैं, किन्तु पाकिस्तान मजहब की आड़ लेकर इस अहसास को भारत के विरुद्ध जेहाद के रूप में बदलना चाहता है।

(दैनिक जागरण, 8-2-2001)

उन्माद जब सिर पर चढ़कर बोलता है

धर्म का नाम कई बार मनुष्य को कितने अंधे उन्माद से भर देता है, इसका सबसे ताजा उदाहरण पेश कर रही है अफगानिस्तान की कट्टर इस्लामी तालिबानी सरकार। उन्माद जब सिर पर चढ़ जाता है तो वह एक विक्षिप्त हाथी की भांति तोड़-फोड़ शुरू कर देता है और जो भी सामने पड़ जाता है वह उसकी विक्षिप्तता का शिकार बन जाता है। धार्मिक उन्माद विक्षिप्त हाथी के उन्माद से अधिक खतरनाक होता है, क्योंकि यह उन्माद अपने साथ एक तर्क भी गढ़ लेता है और सीना फुलाकर कहता है कि मैं जो कुछ कर रहा हूं, वह सर्वथा उचित तो है ही, पुण्य का काम भी है।

अफगानिस्तान की तालिबान इस्लामी मिलीशिया के सैनिक इस समय पूरे अफगानिस्तान में बुद्ध मूर्तियों को तोड़ने में लगे हुए हैं। इन मूर्तियों में भगवान बुद्ध की दो हजार वर्ष पुरानी वे विशाल मूर्तियां भी हैं जिनकी ऊंचाई और 50 और 35 मीटर है। संसार के किसी भी भाग में बुद्ध की इतनी बड़ी मूर्तियां नहीं हैं। संसार भर के कला प्रेमी और प्राचीन वस्तुओं के संरक्षण के आतुर लोग इन ऐतिहासिक धरोहरों को बचाने के लिए पुकार कर रहे हैं, किन्तु उन्मादग्रस्त लोगों पर कुछ भी असर नहीं हो रहा है। यह आदेश उन्हें अपने प्रमुख धर्माचार्य मुल्ला उमर द्वारा प्राप्त हुआ है। मुल्ला उमर का कहना है कि दुनिया के लोग कुछ भी कहें, उन्हें तो ये मूर्तियां तोड़नी हैं, चाहे इसके लिए तोपों और टैंकों का ही सहारा क्यों न लेना पड़े, क्योंकि ये मूर्तियां काफिरों द्वारा निर्मित हुईं जो इनकी पूजा करते हैं।

एक समय भगवान बुद्ध का संदेश संसार के अनेक देशों में पहुंचा था। गांधार प्रदेश (आज का अफगानिस्तान) तो सांस्कृतिक दृष्टि से भारत का ही एक अंग था। धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी इसी प्रदेश की थी। उसी समय बुद्ध का संदेश आज के

पाकिस्तान से होता हुआ ईरान तथा अन्य अरब देशों में पहुंचा। उन्हीं दिनों इन क्षेत्रों में बुद्ध मूर्तियों का निर्माण प्रारंभ हुआ और वर्तमान गजनी, बमियान, हेरात, जलालाबाद और कान्धार आदि क्षेत्रों में कुछ मूर्तियां बनीं। इन्हीं में खड़े हुए बुद्ध की 50 मीटर लम्बी मूर्ति भी है जो संसार में खुले आकाश में बनी सबसे वड़ी मूर्ति है। अफगानिस्तान के बल्ख नामक स्थान में बने बौद्ध मठों की यात्रा का उल्लेख प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेन सांग ने भी किया है। इस्लाम का उद्‌भव एक मूर्तिपूजा विरोधी धर्म के रूप में अरब प्रदेश में सातवीं शती में हुआ। इसमें बुत परस्ती सबसे बड़ा कुफ्र बन गई। लगता है अरबी का बुत शब्द भी बुद्ध से विकृत होकर बना। इसका अर्थ यह भी है कि इस्लाम के आगमन तक अरब प्रदेश में बहुत सी बुद्ध मूर्तियां बन गई थीं और जनजीवन में उनका गहरा प्रभाव था। गत तेरह सौ वर्षों में, जहां-जहां इस्लाम गया और पूरी तरह छा गया वहां बुत परस्त तो नहीं रहे, किन्तु बुत बने रहे। इस्लाम की यात्रा कठोर अनुदारता से सहज उदारता की रही है। इराक की बजाय ईरान में वह बगंलादेश और इंडोनेशियों में अधिक उदार हैं। बगंलादेश में बांग्ला भाषा, उसकी लिपि, उसकी संस्कृत शब्दावली, उसकी पृष्ठभूमि इस्लामी मान्यताओं के साथ चलने में बाधक नहीं बनती। इंडोनेशिया में किसी पुरुष का नाम सुकर्ण होना और किसी महिला का नमा मेधावती होना उनके मुसलमान होने में कोई अड़चन नहीं डालता।

अफगानिस्तान का इतिहास संघर्ष, आक्रमण, रक्तपात और आपसी कलह से भरा हुआ इतिहास है। गजनी के सुलतान महमूद से अफगानों के भारत पर आक्रमण का सिलसिला एक हजार वर्ष पूर्व प्रारंभ हुआ था, जो आठ सौ वर्षों तक निरंतर चलता रहा। इन वर्षों में भी कभी किसी आक्रान्ता या शासक ने यह नहीं सोचा कि अपने प्रदेश से वह बौद्ध धर्म की ऐतिहासिक धरोहरों को मिटा दे। औरंगजेब के शासनकाल तक काबुल मुगल साम्राज्य का ही एक भाग था। पठानों के विद्रोह को दबाने के लिए औरंगजेब के राजपूत सेनापति, जोधपुर के राजा जसवन्त सिंह को उसी प्रदेश में अपने प्राण गंवाने पड़े थे। अफगानिस्तान में सदा ही हिन्दू-सिखों की बड़ी संख्या रहती रही है। शासकों के परिवर्तन के बावजूद अफगानिस्तान में लम्वे समय तक इन पर कोई संकट नहीं आया।

कट्टरपंथी तालिबान के सत्ता में आने से पूर्व काबुल, कंधार, जलालाबाद आदि नगरों में बसने वाले गैर मुसलमान बिना किसी भय के वहां रहते थे। कपड़े और सूखे मेवे के व्यापार में उनका पूरा प्रभाव था। अपने धर्म स्थानों में अपनी रीति के अनुसार पूजा-पाठ करने में भी कोई रुकावट नहीं थी। अफगानिस्तान के सरकारी दफ्तरों में भी हिन्दू-सिख कर्मचारी बड़ी संख्या में काम करते थे, किन्तु किस इस्लामी देश में किस दिन तख्ता पलट हो जाएगा और मजहब के नाम पर जुनून उभारने वाली ताकतें सत्ता पर कब्जा करके किस दिन सारे उदारता भरे माहौल को मजहबी कट्टरता से सराबोर कर देंगी, यह कोई नहीं जानता। कुछ दशक पहले ही ईरान प्रगति, शिक्षा, आधुनिक तकनीक, विज्ञान और कला में संसार के अन्य देशों से होड़ लेने लगा था,

किन्तु एक अयातुल्ला खुमैनी ने आकर उदार जीवन पद्धति की धज्जियां उड़ाकर किस प्रकार सारे देश को कठमुल्लेपन के अंधेरे में धकेल दिया, यह हमने अपनी आंखों से देखा है। आज अफगानिस्तान में भी यही हो रहा है। कट्टरतावादी जमात तालिबान ने देश के अधिकांश भाग पर अधिकार कर लिया है। उदारतावादी, प्रगतिशील और वैज्ञानिक सोच वाली शक्तियां या तो नष्ट कर दी गई हैं या पीछे धकेल दी गई हैं। अब काबुल, कंधार या जलालाबाद जैसे नगरों में लड़कियों का शिक्षा प्राप्ति के लिए भी घरों से बाहर निकलना मुश्किल हो गया है। इस्लाम के नाम पर तालिबान सैनिक किसी पर भी, किसी भी प्रकार के आरोप का लांछन लगाकर उसकी दुर्गति कर सकते हैं। हिन्दू-सिख अल्पससंख्यक जो पीढ़ियों से वहां रह रहे थे और वहां के पूरे नागरिक थे—अपना देश छोड़कर भागने को मजबूर हो गए हैं। इसी के साथ लाखों अफगान (मुसलमान) नागरिक शरणार्थी बनकर पाकिस्तान और भारत जैसे देशों में भटक रहे हैं। पाकिस्तान में भी अनेक प्राचीन बौद्ध स्मृतियां हैं। वहां के सभी संग्रहालयों में बुद्ध की प्राचीन मूर्तियों के साथ प्राचीन हिन्दू-सिख स्मृतियां सुरक्षित हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ों में प्राप्त सिंधु घाटी सभ्यता के प्राचीन अवशेषों से मानव सभ्यता की प्राचीनता पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ा था। ये दोनों स्थान आज पाकिस्तान में हैं और पाकिस्तान के विद्वान इन्हें अपनी अमूल्य धरोहर मानते हैं। गत वर्ष जुलाई मास में जब पाकिस्तान के एक प्रमुख समाचार पत्र समूह की ओर से इस्लामाबाद में दक्षिण एशिया मीडिया सम्मेलन आयोजित हुआ था, मुझे भी उसमें भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ था। सम्मेलन के अंतिम दिन पाकिस्तान सरकार की ओर से हमें तक्षशिला (अब टैक्सला) की यात्रा के लिए ले जाने का प्रबंध किया गया। हमारे साथ दक्षिण एशिया के देशों से आए अनेक पत्रकार थे। तक्षशिला प्राचीन काल में एक प्रमुख विश्वविद्यालय था। चाणक्य जैसे मनीषियों ने वहां अध्यापन कार्य किया था और चंद्रगुप्त मौर्य जैसे इतिहास पुरुषों ने वहां शिक्षा प्राप्त की थी। उस स्थान पर प्राचीन बौद्ध स्मारक आज भी सुरक्षित हैं। यह पर्यटन स्थल है, इसलिए स्थानीय लोग बड़ी सुंदर बुद्ध मूर्तियां बनाते हैं और पर्यटकों को बेचते हैं। मैं भी एक बड़ी सुंदर मूर्ति यहां से लाया था।

पाकिस्तान में इस समय कट्टरता की जो लहर आई हुई है उसे देखते हुए यह भय उत्पन्न होता है कि कहीं वहां भी ऐसी तोड़-फोड़ न शुरू हो जाए। जहां बौद्ध अवशेषों के साथ ही हिन्दू मंदिर और सिख गुरुद्वारे हैं। महाराजा रणजीत सिंह के काल से सम्बन्धित बहुत सी स्मृतियों को लाहौर के किले में एक संग्रहालय के रूप में सुरक्षित रखा गया है। प्रतिवर्ष संसार के अनेक भागों से बहुत से पर्यटक इन स्थानों को देखने और अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए जाते हैं।

अफगानिस्तान की तालिबान सरकार ने जो कार्य प्रारम्भ किया है वह उसकी अंधी धर्मान्धता का भौंड़ा प्रदर्शन तो है ही, दक्षिणी-पूर्वी एशिया के अनेक देशों, जहां बौद्ध धर्म के असंख्य अनुयायी हैं, की भावनाओं को गहरी ठेस पहुंचाने वाला कार्य है। सह अस्तित्व आज के संसार का मूलमंत्र है। आज के संसार में अधिसंख्य देश

बहुधर्मी हैं और लगभग सभी धर्म बहुराष्ट्रीय हैं। आज न कोई धर्म अलगाव की भावना लेकर जी सकता है, न कोई देश, किन्तु अफगानिस्तान की तालिबान हुकूमत विश्व बिरादरी के सरोकारों की उपेक्षा करती हुई जो कुकृत्य कर रही है उससे यह पूरी तरह अलग-थलग पड़ जाएगी। इस्लामी देशों में भी उसे अपने इस कार्य के समर्थक नहीं मिलेंगे। तालिबान शासक यदि मध्ययुगीन बर्बरता में जीना चाहते हैं तो जिएं, किन्तु बर्बरता का अंत भी बर्बरता द्वारा होता है, इतिहास की इस सीख को कौन भुला सकता है।

(दैनिक जागरण, 8-3-2000)

क्या पाकिस्तान तालिबान के रास्ते पर जाएगा?

अफगानिस्तान की तालिवान सरकार ने सभी प्रकार के हथियारों का प्रयोग करके अपने देश की अनेक सदियों पुरानी भगवान बुद्ध की मूर्तियों को नष्ट कर दिया। सम्पूर्ण संसार में उनके इस कृत्य की निंदा की गई किन्तु उनके सबसे बड़े नेता मुल्ला मोहम्मद उमर ने इसे इस्लामी सिद्धान्तों और विश्वासों की रक्षा का बहुत बड़ा कारनामा माना और किसी की भी बात मानने से साफ इनकार कर दिया। संसार के किसी भी इस्लामी राज्य ने तालिबानों के इस कार्य का समर्थन नहीं किया। पाकिस्तान के कुछ कट्टरपंथी संगठनों को यदि छोड़ा जाए तो वहां की सरकार तथा जनता ने भी इस कार्य को अच्छा नहीं समझा है।

किन्तु पाकिस्तान में ऐसे तत्वों की कमी नहीं है जो अपने देश में भी तालिबानों जैसी स्थिति उत्पन्न करना चाहते हैं। अस्सी के दशक में जब रूसी सैनिकों ने अफगानिस्तान की राजनीति में हस्तक्षेप किया था और वहां अपनी सेनाएं भेज दी थीं तो पाकिस्तान में भी भय और असुरक्षा की भावना गहरी उतर गई थी। भारत और रूस (तत्कालीन सोवियत संघ) आपस में बहुत मैत्रीभाव रखते हैं और इनमें सामरिक दृष्टि से आपसी समझौता भी है, यह बात पाकिस्तानी शासकों को बहुत परेशान करती थी। उस समय इस बात की भी बहुत चर्चा थी कि भारत-पाकिस्तान में फिर एक बड़ा युद्ध होने वाला है। 1971 में इन दोनों देशों के बीच हुए युद्ध में पाकिस्तान की बड़ी बुरी पराजय हुई थी। उस सदमे से वह देश अभी उबरा भी नहीं था कि रूसी सेनाएं अफगानिस्तान में आ घुसीं थीं। पाकिस्तानी शासकों को लग रहा था कि यदि भारत से फिर युद्ध शुरू हो गया तो उनका देश रूस और भारत की सेनाओं के बीच चक्की के दो पाटों में फंसे हुए अनाज के दानों की तरह पूरी तरह पिस जाएगा।

उसी समय अफगानिस्तान में कट्टरपंथी तालिबान शक्ति का उदय हुआ। पाकिस्तान ने अपना पूरा समर्थन इन्हें दिया। अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियां कुछ इस प्रकार बनीं कि रूसी सेनाओं को अफगानिस्तान से बाहर निकलना पड़ा। वहां के गृह युद्ध में उदार शक्तियां निरन्तर पीछे हटती गईं और कट्टरपंथी तालिबान भारी पड़ते गए। आज 80 प्रतिशत से अधिक भाग पर तालिबानों का अधिकार है।

तालिबानों ने डॉ. नजीबुल्ला और रूस समर्थक शक्तियों के विरोध में जेहाद का नारा लगाया था और इस आधार पर वहां वे धार्मिक भावनाएं उभारने में सफल हुए थे। आज पाकिस्तान में कट्टरपंथी तत्व इसी नारे को अपना सबसे बड़ा हथियार बना रहे हैं। कश्मीर की समस्या को वे भारत-पाकिस्तान के बीच की राजनीतिक समस्या नहीं मानते हैं। उनके लिए यह इस्लामी और गैर इस्लामी शक्तियों के बीच एक धार्मिक संघर्ष है, इसलिए यह जेहाद है जो इस्लाम के हितों के संरक्षण के लिए अधर्मियों या विधर्मियों से लड़ा जा रहा है। इस कार्य के लिए वे सारी दुनिया के इस्लामी राज्यों और संगठनों को एकजुट होकर सहयोग करने के लिए अपील कर रहे हैं। अनेक देशों के इस्लामी संगठन उनकी सहायता भी कर रहे हैं।

अफगानिस्तान की तालिबानी ताकतों का जन्म और पोषण पाकिस्तान में हुआ था। उन्हें जेहाद का नारा भी पाकिस्तान से मिला था। पाकिस्तान पहला (और शायद एकमात्र) देश है जिसने वहां की तालिबान सरकार को मान्यता दी है। आज भी कश्मीर में पाकिस्तानी और कश्मीरी आतंकवादियों के साथ बड़ी संख्या में अफगानिस्तान के कट्टरपंथी भाड़े के सैनिक लड़ रहे हैं। इसलिए इस आशंका को निर्मूल नहीं कहा जा सकता कि किसी दिन पाकिस्तान की कट्टरपंथी शक्तियां शासन के सभी सूत्र अपने हाथ में ले लें और उसे एक दूसरा अफगानिस्तान बना दें।

स्थिति यह है कि जनरल परवेज़ मुशर्रफ का सैनिक शासन तालिबानों और पाकिस्तानी जेहादियों के बीच फंसा हुआ है। यदि वह इन तत्वों की हां में हां नहीं मिलाता तो उसे अपने देश के कट्टरपंथियों के आक्रोश का शिकार बनना पड़ता है। भारत सरकार की ओर से कश्मीर में युद्ध विराम की जो घोषणाएं की गई हैं उनके प्रति मुशर्रफ सरकार ने कुछ सकारात्क रुख दिखाया है और सीमा पर पाकिस्तान की ओर से होने वाली गोलाबारी कुछ कम हुई है, किन्तु जेहादियों ने भारत की ओर से प्रदर्शित इस सद्भाव को पूरी तरह नकार दिया है और अपनी आतंकवादी गतिविधियों को बढ़ा दिया है।

पाकिस्तान में ऐसे जेहादियों के 18 ग्रुप हैं। इन्होंने मिलकर एक संगठन बनाया है—मुत्ताहिदा जेहाद कौंसिल। यह कौंसिल किसी प्रकार के युद्ध विराम को नहीं मानती। दोनों देशों के संवाद में भी उसका विश्वास नहीं है। ये तत्व कश्मीर को पूरी तरह भारत से अलग करना चाहते हैं, जिसे वे कश्मीर की आजादी कहते हैं। इसके लिए वे कश्मीर में उसी युद्ध प्रक्रिया को अपना रहे हैं जैसी तालिबानों ने डॉ. नजीबुल्ला और बुरहानुद्दीन की सरकारों के विरुद्ध अपनाई थी।

आतंकवादी संगठन-लश्कर-ए-तोइबा के प्रमुख हाफिज मोहम्मद सईद ने हाल ही में दिए एक वक्तव्य में स्पष्ट कहा था कि हम पाकिस्तान सरकार की आज्ञा मानने के लिए वाध्य नहीं हैं। इस बात का प्रमाण उस समय मिला जब कुछ महीने पहले इस्लामाबाद में 'आल पार्टी पाकिस्तान रेलिजियस पार्टीज कान्फ्रेंस' हुई। पाकिस्तान में कट्टरपंथियों द्वारा हथियारों के खुले प्रदर्शन पर कोई रोक-टोक नहीं है। पाकिस्तान सरकार चाहती है कि इस प्रकार के प्रदर्शन पर रोक लगाई जाए। इस कान्फ्रेंस ने इस बात को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया। वहां की धार्मिक कट्टरपंथी संस्थाओं की मान्यता है कि सभी प्रकार के हथियारों का खुला प्रदर्शन और उनका इस्तेमाल जेहाद की भावना के अनुकूल है। ऐसे जेहादी चार देशों को अपना शत्रु मानते हैं—अमेरिका, भारत, रूस और इस्राइल। इनके खिलाफ जेहाद छेड़ने और चालू रखने को वे अपना धार्मिक कर्तव्य समझते हैं। वे मानते हैं कि यह जेहाद उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो जाती, अर्थात् ये शत्रु देश जेहादियों के सम्मुख घुटने नहीं टेक देते या नष्ट नहीं हो जाते। इस कार्य में वे पाकिस्तान सरकार का सहयोग चाहते हैं, परन्तु उनका यह भी कहना है कि यदि सरकार सहयोग नहीं देती है तो हम इसके विना भी यह संघर्ष जारी रखेंगे।

एक समय अफगानिस्तान से रूसी (सोवियत) लाल सेनाओं को बाहर निकालने के लिए पाकिस्तान, सउदी अरब ओर अमेरिका ने मिलकर तालिबानों को खूब प्रोत्साहन दिया था और धन तथा अस्त्र-शस्त्रों से उनकी पूरी सहायता की थी। तालिबानों के सभी प्रशिक्षण केन्द्र भी पाकिस्तान में ही थे। अफगानिस्तान के गृह युद्ध में पाकिस्तानी सेना के अधिकारियों ने तालिबानों को अपना नेतृत्व भी दिया था। आज वही तालिबान पूरी तरह भस्मासुर बन गए हैं। स्वयं पाकिस्तानी शासन अपने देश में उनकी बढ़ती हुई परछाई से बहुत आशंकित होता दिखाई दे रहा है।

आज पाकिस्तान में ऐसे गणित मदरसे हैं जिनमें मुजाहिदीनों (विधर्मियों से लड़ने वाले योद्धाओं) को नियमित प्रशिक्षण दिया जाता है। इन मदरसों में विदेशों (विशेष रूप से ब्रिटेन) से बहुत से जेहादी जनून के लोग यहां आते हैं। इस समय ये कट्टरपंथी पाकिस्तान के सेना में घुसने का भी प्रयास कर रहे हैं और कुछ हद तक उसमें कामयाव भी हुए हैं। पाकिस्तान की नौकरशाही में भी कट्टरवादियों का प्रभाव बढ़ता चला जा रहा है। बहुत से अवकाश प्राप्त सैनिक अधिकारी और सरकारी अफसर मुल्लाओं और जेहादियों के साथ जुड़ गए हैं। एक बात और ध्यान देने योग्य है। इस समय पास्तिान में मुसलमानों के दो सम्प्रदायों-सुन्नी और शिय्यों का आपसी संघर्ष बहुत बढ़ा हुआ है दोनों सम्प्रदायों के कट्टरपंथी गुट मौका मिलते ही एक-दूसरे पर गोलियों की बौछार शुरू कर देते हैं प्रायः यह भी होता है कि जब शिया अपनी मस्जिदों में नमाज अदा कर रहे होते हैं तो सुन्नी कट्टरपंथियों का एक गुट आकर उन पर गोलियां चलाकर बहुत से लोगों को मार डालता है। इसी प्रकार की कार्रवाई शिया आतंकी गुट भी करते हैं।

संसार में सुन्नी मुसलमानों की गिनती शियाओं से कहीं ज्यादा है। ईरान एक शिया देश है, शेष इस्लामी देशों में सुन्नियों का वर्चस्व है। अफगानिस्तान का तालिबान आन्दोलन मुख्य रूप से सुन्नी आन्दोलन हैं इसलिए वहां की शिया अल्पमत जनसंख्या ईरान से लगते अफगानी प्रदेश की ओर चली गई है, जहां अभी तालिबानी नहीं पहुंचे हैं। पाकिस्तान में सुन्नियों की गिनती अस्सी प्रतिशत से अधिक है और वे शियाओं से घृणा करते हैं, साथ ही ईरान से भी। कुछ दिन पूर्व एक सुन्नी कट्टरपंथी ने ईरान के एक राजनयिक की हत्या कर दी थी, क्योंकि वह शिया था। पाकिस्तान की एक अदालत ने उस अपराधी के लिए मौत की सजा सुनाई है। इस बात को लेकर वहां के सुन्नियों में बहुत रोष है। अब पाकिस्तान में कट्टरपंथी सुन्नियों द्वारा यह मांग भी उठाई जाने लगी है कि शियाओं को अहमदियों की तरह ही गैर मुसलमान घोषित कर दिया जाए और पाकिस्तान को एक सुन्नी राज्य के रूप में स्वीकार किया जाए।

पाकिस्तान और कश्मीर के सभी कट्टरवादी इस्लामी संगठन मूलतः सुन्नी संगठन हैं। इसीलिए अफगानी तालिबानों से इनका गहरा ताल-मेल है। लश्कर-ए-तोइबा, जैश-ए मोहम्मद, अखवान-उल-मुस्लिमीन आदि जेहादी जमातें भी सुन्नी जमाते हैं।

धार्मिक कट्टरता जब बढ़ती है, तब उसकी कोई सीमा नहीं रहती। पाकिस्तान का उदाहरण सामने है। पहले इस कट्टरता का शिकार वहां के हिन्दू-सिख बने। फिर ईसाइयों की बारी आ गई और किसी न किसी बहाने वे पीड़ित किए जाने लगे। फिर, अपने आपको मुसलमान मानने वाले 'अहमदिया' सम्प्रदाय के लोग निशाने पर आ गए। अमहदिये, आम मुसलमानों से इस नुक्ते पर अलग हैं कि आम मुसलमान हजरत मोहम्मद को आखिरी पैगम्बर मानते हैं, जबकि अहमदिये मिर्जा गुलाम अहमद (जो पंजाब के गुरदासपुर जिले के एक गांव कादियां में 1835 ई. पैदा हुए थे) को हजरत मोहम्मद के बाद का एक पैगम्बर मानते हैं। पाकिस्तान के पहले विदेश मंत्री सर जफरुल्ला खान एक अहमदिया मुसलमान थे। कट्टरपंथी तत्वों को लगा कि यह हजरत मोहम्मद की अवमानना है कि कोई व्यक्ति अपने आपको उनके समकक्ष माने। कट्टरपंथियों द्वारा यह भी कहा गया कि अहमदियों की मान्यताएं इस्लाम के विरुद्ध हैं, इसलिए इन्हें मुसलमान न मानकर गैर मुसलमान घोषित किया जाए। कट्टरपंथियों ने अहमदिया समुदाय के लोगों को भी बुरी तरह पीड़ित किया। वहां की सरकार ने उनकी बात मानकर अहमदिया समुदाय को गैर मुसलमान मानते हुए एक अल्पसंख्यक वर्ग मान लिया।

अब बारी शियों की आ गई है।

धार्मिक उन्माद को लड़ने के लिए कोई न कोई शत्रु चाहिए। जब एक शत्रु समाप्त हो जाता है तो दूसरे शत्रु की निर्मिति कर ली जाती है अफगानिस्तान के तालिबानों के सम्मुख अब वहां कोई शत्रु नहीं रह गया था। अफगानिस्तान का जो छोटा-सा क्षेत्र उनके अधिकार में नहीं है उसकी सीमाएं एक ओर ईरान और दूसरी ओर रूस से एक साथ टक्कर ले सकें। उनका यह संतोष भी कम नहीं है कि

अफगानिस्तान का मुख्य भाग उनके अधिकार में है, किन्तु उन्माद की भूख मिटाने के लिए एक शत्रु चाहिए चाहे वह हजारों वर्ष पुरानी पत्थर की मूर्ति ही क्यों न हो।

पाकिस्तानी धार्मिक उन्माद के सामने स्पष्ट शत्रु है। अमेरिका, रूस और इस्राइल शत्रुओं की सूची में हैं, पर सबसे बड़ा शत्रु भारत है जिसके अधिकार क्षेत्र में कश्मीर है।

ये सभी तथ्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि पाकिस्तान में आने वाले दिनों में कट्टरपंथी शक्तियां बढ़ेंगी। पाकिस्तान की सरकार उन्हें रोक नहीं पाएगी। पाकिस्तान की उदार, प्रगतिशील और भारत के साथ सद्‌भावपूर्ण वातावरण में जीने की इच्छा रखने वाली जनता मूक बनकर यह सब कुछ देखती रहेगी। वहां निकट भविष्य में ऐसी जनतान्त्रिक सरकार आने की कोई संभावना नहीं दिखती जो बातचीत द्वारा भारत से यह समस्या सुलझाने की पहल कर सके।

मुझे लगता है कि पाकिस्तान के अंदर बढ़ती हुई धार्मिक कट्टरता और भारत के प्रति उसके उग्र रूप के कारण भारत पाकिस्तान के साथ लम्बे तनाव और संघर्ष के दौर में आ गया है। पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति, अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी से उसका निरन्तर बढ़ता हुआ अलगाव, इस्लामी कट्टरतावाद के विरुद्ध जागरूक होते जाते संसार के अनेक देश जैसी बातें पाकिस्तान को अपनी नीतियों को नियन्त्रित करने के लिए कुछ बाध्य कर सकती हैं। किन्तु धार्मिक उन्माद कहीं भी, किसी भी धर्म में तर्क की अपेक्षा आवेश से अधिक संचालित होता है। इसलिए इस कठोर संभावना को तो सामने रखना ही चाहिए कि अब पाकिस्तान तेजी से तालिबानों के रास्ते पर आगे बढ़ेगा।

(दैनिक जागरण, 15-3-2001)

कितनी सरलता से भड़काए जा सकते हैं दंगे

भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' में एक घटना का उल्लेख है। देश के विभाजन से पहले इस देश के अनेक भागों में साम्प्रदायिक दंगे भड़क चुके थे। बंगाल में मुस्लिम लीग की सरकार के समय अगस्त, 1946 में लीग की ओर से सीधी कार्रवाई दिन मनाया गया और कलकत्ता में साम्प्रदायिक दंगा भड़क उठा था और तीन दिन में ही पांच हजार व्यक्ति मारे गए थे तथा पंद्रह हजार आहत हुए। प्रतिक्रिया स्वरूप बिहार तथा देश के अन्य भागों में दंगे प्रारम्भ हो गए थे, किन्तु अभी तक पंजाब शान्त था। कुछ निहित स्वार्थों वाली शक्तियां वहां भी दंगा शुरू करवाना चाहती थीं, इसलिए किसी व्यक्ति से एक सुअर मरवाकर लाहौर की एक मस्जिद के आगे फिकवा दिया जाता है। मुस्लिम समुदाय को भड़काने के लिए इतना काफी था। फिर सारा पंजाब साम्प्रदायिक आग में धू-धूकर जलने लगता है।

दो दशक पहले जब पंजाब में हिन्दुओं और सिखों के मध्य वैमनस्य के बीज बोये जा रहे थे, निहित स्वार्थों ने वहां भी कुछ ऐसा ही खेल-खेलना शुरू कर दिया था। एक दिन कुछ श्रद्धालुओं को अमृतसर के हरिमंदिर के सरोवर में कुछ सिगरेटों के टुकड़ें तैरते हुए दिखाई दिए। सिखों के लिए इससे बढ़कर हरिमंदिर का अपमान नहीं हो सकता था। दूसरे ही दिन एक हिन्दू धर्म स्थान पर गोमांस के कुछ टुकड़े मिले। वातावरण को विषाक्त करने के लिए इतना बहुत था। अमृतसर में ऐसा वातावरण बन गया जैसा पहले कभी नहीं बना था। दोनों पक्षों की उत्तेजित भीड़ एक-दूसरे पर हमले करने लगी। अमृतसर स्टेशन पर हरिमंदिर (स्वर्ण मंदिर) का एक बहुत सुंदर माडल रखा हुआ है। उत्तेजित भीड़ ने उस माडल को नष्ट-भ्रष्ट करके अपना गुस्सा निकाला।

कानपुर हिन्दू-मुस्लिम दंगों के लिए सदा ही अगली कतार का शहर माना जाता रहा है। मेरे बचपन और युवावस्था की बहुत सी यादें इस शहर से जुड़ी हुई हैं। 1931 में इसी शहर में गणेशंकर विद्यार्थी जैसा साधु पुरुष, भड़के हुए दंगे के मध्य साम्प्रदायिक सद्भाव स्थापित करने के प्रयास में शहीद हो गया था। विभाजन से पहले के दिन मुझे याद आते हैं। शायद ही कोई वर्ष ऐसा बीता हो जब साम्प्रदायिक दंगों की आग में कानपुर न झुलसा हो। मूलगंज का चौराहा दंगा-स्थल का केन्द्रीय बिंदु था। चौराहे पर ही एक मस्जिद है। राम लीला की सवारी बाजे-गाजे के साथ वहां से निकलती थी। नमाज अदा करने का वक्त होता था। बाजों की आवाज नमाज में खलल डालती थी। रामलीला की शोभा यात्रा पर मस्जिद से गुम्मेवाजी शुरू हो जाती थी और दंगा भड़क उठता था।

यह स्थिति विभाजन तक बनी रही। विभाजन के कारण कुछ मुस्लिम परिवार पाकिस्तान चले गये और पश्चिमी पंजाब और सिंध से बहुत विस्थापित लोग कानपुर में आवसे। ऐसे शरणार्थी, पंजाबियों और सिंधियों में से बहुत से लोगों ने उन क्षेत्रों में अपना काम-धंधा जमाया जो मुस्लिम बहुल था। यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है कि जिस कानपुर को साम्प्रदायिक दंगों के लिए बहुत बदनाम शहर माना जाता था, आजादी के बाद के वर्षों में (1992 से पहले) वहां कोई बड़ा दंगा नहीं हुआ। जबकि देश के अनेक भागों में रांची, अहमदाबाद, अलीगढ़, मेरठ, वाराणसी, भागलपुर, भिवंडी, मुंबई, औरंगाबाद, हैदराबाद, मुरादाबाद, जलगांव आदि अनेक बार दंगे हुए।

इस बार कानपुर ने सभी रिकार्ड तोड़ दिये। कई दिन तक वहां दंगाई पुलिस पर भारी रहे। थानों और चौकियों पर हमले हुए और ऐसी भी स्थिति आई जब सिपाहियों को वहां से भागना पड़ा। पुलिस और दंगाइयों के बीच हुई गोलीवारी ने तो पूरा युद्ध का दृश्य उत्पन्न कर दिया। पहले कभी किसी दंगे में बमों का इस्तेमाल हुआ हो, ऐसा मुझे याद नहीं आता। दंगाइयों ने इस बार पुलिस से जिस तरह जमकर मोर्चा लिया और दो-एक बार पुलिस को पीछे धकेल दिया उससे तो यह नहीं लगता कि यह किसी तात्कालिक उत्तेजना से उपजा अनायास दंगा था। इतने बम, इतनी बंदूकें, इतनी गोलियां इकट्ठी करने में लंबा समय लगता है, खासतौर से जब यह सब कुछ गुप्त और गैरकानूनी ढंग से जमा करना हो।

कानपुर के दंगों में क्या हुआ? किस सम्प्रदाय के कितने लोग मारे गए या जख्मी हुए, कितने मंदिरों और मस्जिदों को नुकसान पहुंचाया गया, कितने घर जले, कितनी दुकानें लूटी गईं, इस सबका विवरण देना मेरा उद्देश्य नहीं है। यह सभी कुछ अखबारों में छप चुका है। मैं कुछ बुनियादी बातें करना चाहता हूं, खासतौर पर अपने मुसलमान भाइयों से। प्रारम्भ में ही उन्हें मैं एक बात कहना चाहता हूं कि मैं उनका मित्र, हमदर्द और शुभचिंतक हूं। मैं यह चाहता हूं कि वे इस देश में सुख, शान्ति और सम्मान के साथ जिएं।

यह बात तो सभी स्वीकार करते हैं कि कानपुर में यह दंगा दिल्ली में कथित

रूप से कुरान मजीद की प्रति को जलाए जाने की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ। मैं दिल्ली में रहता हूं और मुझे इस दुष्कृत्य के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिली। इस कृत्य के विरोध में उठे कुछ स्वर मुझे अवश्य सुनाई दिए थे। वर्तमान सरकार ने भी इस काम की निंदा की थी। बहुत-सी बातों पर जरूरत-बेजरूरत बोलने वाले जामा मस्जिद के शाही इमाम ने भी इस सम्बन्ध में कोई ऐसी भड़काऊ बात नहीं कही कि यहां कानपुर जैसे हालात पैदा हो जाते। मैं यह नहीं कहना चाहता हूं कि कुरान मजीद को जलाने जैसी कोई दुर्घटना दिल्ली में नहीं हुई। इस देश में ऐसे लोग है जो इस प्रकार का घिनौना काम कर सकते हैं। पंजाब में अमृतसर और पटियाला से भी ऐसी ही खबरें आई हैं, किन्तु इस प्रकार की घटनाओं के प्रति किसी भी समुदाय को किस प्रकार का रवैया अपनाना चाहिए? इसमें कोई संदेह नहीं कि सबसे पहला दायित्व सरकार का है। पुलिस की सतर्कता और सरकार की ओर से बिना किसी विलम्ब के सख्त कदम उठाने से स्थिति को काबू में रखा जा सकता है। अमृतसर और पटियाला की घटना के बाद पंजाब पुलिस ने जो तत्परता दिखाई और दोषियों की धर-पकड़ शुरू हुई उससे वहां के हालात नहीं बिगड़े।

दूसरी ओर अपने धर्म के पवित्र ग्रन्थ की बेअदबी से आहत समुदाय की प्रतिक्रिया क्या हो? पंजाब में अनेक मुस्लिम संगठनों ने सभाएं कीं मौन जुलूस भी निकाला और अपना विरोध प्रकट किया। किसी भी जनतान्त्रिक देश में इसी प्रकार विरोध व्यक्त किया जाता है। ऐसा नहीं होता कि दुर्घटना की तस्वीरों को भड़काऊं नारों के साथ पोस्टरों के रूप में छापकर लोगों को उत्तेजित किया जाए, मस्जिदरों में लाउडस्पीकर लगाकर धार्मिक उत्तेजना उत्पन्न की जाए, फिर भीड़ बनाकर सड़कों पर उतर आया जाए और दूसरे सम्प्रदाय के निर्दोष लोगों की हत्या करना, उनकी दुकानों को लूटना और जलाना, उनकी या सरकारी सम्पत्ति को बर्बाद करना शुरू कर दिया जाए और शान्ति स्थापना के लिए आई पुलिस पर बमों और गोलियों की बारिश शुरू कर दी जाए। कानपुर में ऐसा ही हुआ।

मैं सोचता हूं कि इस देश में साम्प्रदायिक दंगे कराना कितना आसान है। खरीदे हुए चार शरारती आदमी कभी कुरान जलाकर, कभी गीता का अपमान कर, सभी गुरु ग्रंथ साहब की बेअदबी कर बड़े मजे से अगणित निर्दोष लोगों की मौत के मुंह में झोंक सकते हैं, करोड़ों की सम्पत्ति का स्वाहा कर सकते हैं, किसी भी स्थान का जीवन अस्त-व्यस्त कर सकते हैं और असंख्य लोगों का जीवन गहरी असुरक्षा से भर सकते हैं।

क्या कोई भी सभ्य और शिष्ट समाज इतना अंधा और विवेकहीन हो सकता कि उसे कुछ लोग इतनी जल्दी गुमराह करने में कामयाब हो जाएं?

मैं अपने मुसलमान भाइयों के नेताओं से कुछ सीधी बातें करना चाहता हूं। आप भारत में बसने वाले 15 करोड़ से अधिक मुसलमानों का क्या और कैसा भविष्य बनाना चाहते हैं? यह बात सभी जानते हैं कि शिक्षा, रोजगार, व्यापार, उद्योग-धंधे

आदि में मुस्लिम समाज बहुत पिछड़ा हुआ समाज है। वह बहुत धीरे-धीरे, बड़ी मेहनत करके और देश के बहुसंख्यक समाज से अपना मेल-जोल बढ़ाकर अपने बच्चों के लिए दो रोटी का इन्तजाम करता है और अपना जीवन-स्तर सुधारता है। ऐसा कोई भी दंगा उन्हें फिर पीछे धकेल देता है और बरसों से की जा रही कोशिशों पर पानी फेर देता है। क्या मुसलमानों की अगुवाई करने वाले लोग इस नजरिये से कभी नहीं सोचते?

इतिहास की यादें बड़ी मीठी भी होती हैं और बहुत कड़ुवी भी। सूफी संतों ने इस देश में हिन्दू-मुस्लिम भाईचारे की मीठी स्मृतियां हमारे बीच छोड़ी थीं। शेख फरीद की रचनाएं चार सौ वर्ष पहले गुरुग्रंथ साहब में इसलिए शामिल की गई थीं कि उनके माध्यम से इस देश का लोक-जीवन अपनी पूरी समग्रता से अभिव्यक्त होता था। इसलिए शेख फरीद मुसलमानों और गैर-मुसलमानों में समान से आदर के पात्र बन गये। कड़ुवी यादें ये हैं कि कुछ बादशाहों ने इस देश के बहुसंख्यक हिन्दू समाज पर जुल्म किए, उन्होंने धर्म-स्थानों को नष्ट किया। उन्हें जबरदस्ती धर्म बदलने के लिए मजबूर किया जिन सिखों ने शेख फरीद, भाई मरदाना, हजरत मियांमीर, पीर बुद्धूशाह जैसे फकीरों को अपना अंतरंग साथी बना लिया था, उन्हीं को कुछ बादशाहों के अन्यायपूर्ण रवैये के खिलाफ तलवार उठानी पड़ी थी।

अपने आपको हिन्दुस्तानी मुसलमानों का हितरक्षक होने का दावा करने वाले मुसलमानों के नेता, इन्हें सूफी फकीरों की राह पर ले जाना चाहते हैं कि जालिम बादशाहों की राह पर? ये लोग इस देश के सभी धर्मों, मजहबों, सम्प्रदायों, जातियों का एक समरस समाज बनाना चाहते हैं अथवा इन्हें मुतवातिर टकराव की राह पर रखना चाहते हैं?

इस्लामी सोच के दो शब्दों की चर्चा मैंने अक्सर सुनी है। इस सोच के अनुसार संसार के सभी देश दो हिस्सों में बंटे हुए हैं—दारुस्सलाम और दारुल हर्ब। दारुस्सलाम शांति का स्थान है। वह स्वर्ग या बिहिश्त जैसा होता है, इसलिए कि वहां इस्लामी हुकूमत होती है। दारुल हर्ब उस देश को कहते हैं जहां गैर-इस्लामी हुकूमत होती है और वहां का शासक मुसलमानों को उनके धार्मिक कर्म नहीं करने देता। यह एक मध्ययुगीन परिभाषा है, जो आज के युग में नई परिभाषा ले चुकी है। मुसलमान बड़ी संख्या में भारत में तो रहते ही हैं, ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, चीन, मारिशस आदि देशों में भी रहते हैं। इन देशों में कहीं हिंदुओं का बहुमत है, कहीं ईसाइयों का और कहीं बौद्धों का, किन्तु ये सभी देश अब धर्मतांत्रिक (Theocratic) देश नहीं हैं। यहां बसने वाले हर नागरिक को, मुसलमानों को भी, अपना धर्म पालन करने, धार्मिक क्रियाएं करने और वहां के शासन तंत्र में भाग लेने का पूरा अधिकार है। क्या इन देशों को दारुल हर्ब कहा जाएगा? क्या इन्हें दारुस्सलाम की पुरानी परिभाषा में बदला जा सकता है? क्या आज के जनतांत्रिक युग में कोई विशुद्धरूप से दारुस्सलाम अथवा दारुल हर्ब देश हो सकता है?

पाकिस्तान का उदाहरण हमारे सामने है। वह पूरी तरह एक इस्लामी राज्य है,

इसलिए दारुस्सलाम है। लेकिन क्या वहां स्वर्ग अथवा बिहिश्त जैसी स्थिति है? पहले भारत के अनेक भागों से वहां गए मुसलमानों (मुहाजिरों) को कराची आदि स्थानों पर जिस तरह गोली का निशाना बनाया गया और अब वहां सुन्नी और शिया मुसलमान जिस तरह का खूनी खेल खेल रहे हैं, क्या वह दारुस्सलाम के लक्षण हैं?

मैं समझता हूं कि इन सभी प्रश्नों पर आज के पढ़े-लिखे चिंतनशील मुसलमानों को खुलकर विचार करना चाहिए और पुरानी मान्यताओं की नई परिभाषा करनी चाहिए।

कानपुर में हुए दंगों के लिए स्टूडेंट्स इस्लामिक मूवमेंट ऑफ इंडिया (सिमी) की भड़काऊ नीतियों को जिम्मेदार ठहराया जा रहा है। मुझे आश्चर्य होता है कि पढ़े-लिखे मुसलमान नौजवानों की संस्था भी किसी सवाल पर ऐसा रुख और रवैया अपनाती है जो स्वयं मुसलमानों के लिए ही बहुत नुकसानदेह साबित होता है। कानपुर के दंगों के जब पूरे आंकड़े सामने आएंगे तो पता लगेगा कि इसमें मुसलमानों का ही जानी और माली नुकसान ज़्यादा हुआ। पिछले 50 वर्षों में इस देश में जितने साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं उनमें मुसलमानों को ही अधिक हानि उठानी पड़ी है। कारण बहुत स्पष्ट हैं। ऐसे दंगे अब हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच बहुत कम होते हैं। ज्यादातर दंगे पुलिस और मुसलमानों के बीच हो जाते हैं। कानपुर में पहले ही दिन अतिरिक्त जिलाधीश सी. पी. पाठक का दंगाइयों की गोली से मारा जाना और भीड़ द्वारा थानों-चौकियों पर हमला होना, किसी भी तन्त्र में पुलिस को उत्तेजित करने के लिए पर्याप्त होता है। सीधे-सीधे सत्ता से टकराना किसी भी समुदाय के लिए समझदारी का काम नहीं होता। नासमझी कुछ लोग करते हैं, उसका खामियाजा निरीह और बेकसूर लोगों को भुगतना पड़ता है।

मैं नहीं जानता कि भोली-भाली मुसलमान जनता को धर्म के नाम पर भड़काने वाले लोगों का मकसद क्या होता है? ओसामा बिन लादेन जैसे कट्टरपंथी आतंकवादी के गैर मुसलमानों के खिलाफ़ 'जेहाद' छेड़ने के टेप लोगों को सुनाना, तालिबान को अपना आदर्श मानकर पेश करना, सीधे-सीधे इस देश के बहुसंख्यक वर्ग को चुनौती देना है। मुझे उस दिन बहुत ही अफसोस हुआ जब मैंने अखबार में यह समाचार पढ़ा कि उत्तरप्रदेश के स्टूडेंट्स इस्लामिक मूंवमेंट आफ इंडिया (सिमी) के अध्यक्ष हुमाम अहमद ने अफगानिस्तान में तालिबानों द्वारा बुद्ध प्रतिमाओं को तोड़ने की घटनाओं को जायज करार दिया, क्योंकि बुतपरस्ती इस्लाम का हिस्सा नहीं है।

इससे अधिक अहमकाना कोई बयान नहीं हो सकता। बुतों का होना और बुतपरस्ती करना दो बिल्कुल अलग-अलग बातें हैं। अफगानिस्तान में बुद्ध की दो हजार साल पुरानी मूर्तियां तो थीं, किन्तु उनकी पूजा करने वाला तो वहां कोई था नहीं। ऐसी स्थिति में बुतपरस्ती या मूर्ति पूजा का सवाल कहां पैदा होता है? क्या इससे यह मतलब निकाला जाए कि मुस्लिम शासन काल में भारत में जो मंदिर या मूर्तियां तोड़ी गईं वह भी जायज काम था? क्या ऐसे बयान इस देश में रहने वाले विभिन्न धर्मों

के लोगों में आपसी दुर्भाव नहीं पैदा करते हैं?

सिमी का उद्देश्य है, मुसलमान नौजवानों को इस्लाम के विषय में बताना और कुरआन के संदेश के प्रति शिक्षित करना। यहां तक कोई बुराई नहीं है। यह अधिकार इस देश में सभी धर्मों के लोगों को है, किन्तु सिमी के उद्देश्यों में यह भी है कि किसी भी प्रकार के दमन का आक्रमक ढंग से मुकाबला करना।

दमन अथवा अन्याय का विरोध करना तो समझ में आता है, किन्तु आक्रामक होकर विरोध करने का क्या यह अर्थ है जो अभी कानपुर में हुआ है? यदि यह बात है तो मानना चाहिए कि ऐसे लीडर भारतीय मुसलमान को इस देश में शान्ति और सुख से जीने नहीं देना चाहते हैं और चाहते हैं कि वह सदा दंगों के दरवाजे पर दस्तक देता रहे।

(दैनिक जागरण, 29-3-2001)

उन्माद में बदलता धर्म का उत्साह

धर्म की अनेक शास्त्रीय परिभाषायें हैं किन्तु उसकी प्रचलित, सर्वस्वीकृत और व्यावहारिक परिभाषा उसे किसी विशिष्ट पूजा-पद्धति से जोड़ देती है। यह पूजा-पद्धति उसकी एक आचार-संहिता बना देती है। उसका एक (या अधिक) धर्म-ग्रन्थ बन जाता है जिसमें उसके प्रवर्तक अवतार, गुरु, पैगम्बर, मसीहा तथा अन्य महापुरुषों के कथन संग्रहीत होते हैं। उनके अपने तीर्थ-स्थान बन जाते हैं, वेशभूषा तक निर्धारित हो ज़ाती है। इस प्रकार फिर कोई धर्म सार्वभौम नहीं रहता, सर्वजनग्राही भी नहीं होता, क्योंकि उसी के समानान्तर अनेक पूजा-पद्धतियां संसार में प्रचलित होती हैं। हर पूजा-पद्धति किसी विशिष्ट धर्म, रिलीजन अथवा मजहब के नाम से जानी जाती है। लगभग प्रत्येक धर्म के अनुयायियों में अपने धर्म के प्रति उत्साह होता है। उस विशिष्ट धर्म के धर्मपुरुष चाहते हैं कि उनके धर्म का प्रचार हो, संसार के अधिक से अधिक लोग उस धर्म द्वारा निर्धारित पूजा-पद्धति को अपनाएं, उसकी आचार-संहिता के अनुसार अपना जीवन ढालें और अपनी पहचान स्थापित करें।

प्राचीनकाल से ही अपने धर्म के प्रचार के प्रति उत्साही लोग देश-विदेश की यात्राएं करके अपना संदेश दूर-दूर तक पहुंचाने का प्रयास करते थे। एक समय वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए संसार के अनेक भागों में गए संन्यासियों के स्पष्ट चिन्ह् आज भी इंडोनेशिया (विशेष रूप से जावा) कम्बोडिया, लाओस, मलेशिया आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में मिलते हैं। बौद्ध संन्यासियों के धर्म-प्रचार का उत्साह उन्हें संसार के अनेक भागों में ले गया। लोग उनसे प्रभावित हुए। वहां पहले से स्वीकृत पूजा-पद्धति के स्थान पर बौद्ध पूजा-पद्धति स्वीकार कर ली गयी। कई देशों मे नई पूजा-पद्धति तो स्वीकार कर ली गयी, किन्तु पूर्व पद्धति को भी बनाए रखा गया। जापान का प्राचीन धर्म शिन्टो था। प्रारंम्भ में बौद्ध धर्म के आगमन का कुछ विरोध भी हुआ।

फिर दोनों में सामंजस्य हो गया। आज जापान में बौद्ध और शिन्टो होना एक-दूसरे का विरोधी होना नहीं है। आम लोग बौद्ध भी हैं और साथ ही साथ शिन्टो भी हैं। व्यापक रूप से धर्म प्रचार ईसाइयत और इस्लाम के प्रचार के माध्यम से हुआ। ईसाई मिशनरी संसार के कोने-कोने में गए। वहां भी गए जहां का जीवन पूरी तरह आदिवासी प्रकृत आस्थाओं में जकड़ा हुआ था। ईसाई मिशनरी वहां ईसा मसीह का संदेश लेकर पहुंचे। सेवा उनके प्रचार का मुख्य साधन था। इस्लाम पहले अरब के व्यापारियों के माध्यम से संसार के अनेक भागों में पहुंचाया गया। जब वह ईरान की प्राचीन संस्कृति के साथ समन्वित हुआ तो सूफी विचारधारा का जन्म हुआ। सूफी फकीर जहां भी गए, इस्लाम का संदेश लेकर गए।

धर्म प्रचार के क्षेत्र में ईसाइयत और इस्लाम के आने के पश्चात् कुछ नई विधियां भी आ गईं? वैदिक और बौद्ध धर्म का प्रचार संन्यासियों और भिक्षुओं के माध्यम से हुआ था। उनकी दिशा पूरी तरह सकारात्मक थी। राजनीतिक आकांक्षाएं, साम्राज्य-विस्तार, भय, प्रलोभन और धर्म परिवर्तन के लिए शक्ति का प्रयोग उनकी प्रचार-पद्धति का अंश नहीं था। ईसाइयत और इस्लाम ने अपने प्रचार के लिए इन बातों का उपयोग करने से कभी गुरेज नहीं किया। उनकी मानवीय सेवा, मनुष्य की समता में विश्वास, सभी के प्रति भातृत्व भाव बहुत कुछ वैदिक और बौद्ध संन्यासियों जैसे थे, किन्तु धर्म परिवर्तन के लिए बल प्रयोग और प्रलोभन बिल्कुल नए आयाम थे। धर्म-प्रचार का बहुत-सा काम उन सत्ता लोलुप लोगों ने अपने जिम्मे ले लिया जिनके एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में बाइबिल अथवा कुरआन होती थी। 15वीं सदी में जब वास्कोडिगामा भारत के पश्चिमी तट पर आया तो उसने वहां अपना उपनिवेश भी स्थापित किया और लोगों से बलात् धर्म परिवर्तन भी कराया। मुसलमान आक्रमणकारी और बादशाह यह काम निरन्तर करते रहे।

कोई धर्म कब और किन स्थितियों में सम्प्रदाय, पंथ अथवा मजहब होने की प्रक्रिया में पड़ जाता है, इसका अध्ययन कम रोचक नहीं है। जब तक किसी धर्म के अनुयायियों में धर्म-प्रचार का उत्साह रहता है उस समय तक अधिक संकट नहीं उपस्थित होता। ऐसी स्थितियों में अधिकतर सामंजस्य अथवा समन्वय हो जाता है। जापान का उदाहरण मैंने ऊपर दिया ही है। भारत में भी ऐसा होता रहा है, किन्तु जब अपने धर्ममत का आग्रह बढ़ जाता है, उसके मुकाबले में दूसरा धर्म झूठा, सत्य से भटका हुआ, ईश्वर और मानव विरोधी घोषित किया जाता है और किसी भी तरह दूसरे धर्म के मानने वालों को सही रास्ते पर लाने (जबरदस्ती भी) का तर्क विकसित कर लिया जाता है तो घोर संकट शुरू हो जाता है। धर्म के नाम पर सदियों से मानव-जाति जिस त्रासदी को झेलती आ रही है वह इसी मानसिकता का परिणाम है। यही वह बिन्दु है जहां उत्साह उन्माद में बदल जाता है। आज भी धर्म के नाम पर हमारे चारों ओर जो वातावरण है वह उत्साहजनित कम, उन्मादजनित अधिक है।

जब एक धर्म के लोग दूसरे धर्म के मानने वालों की राह में रोड़े अटकाते हैं,

उन्हें उनकी धार्मिक क्रियाएं नहीं करने देते, उन पर आक्रमण करते हैं, उनकी हत्या करते हैं, उनकी संपत्ति की लूटपाट करते हैं और उन्हें उनके मानवीय अधिकारों से वंचित करते हैं तो वह धर्म का उत्साह नहीं होता, उसका उन्माद होता है। धर्म के प्रति उत्साह का सबसे बड़ा लक्षण यह विचार है कि मेरे उत्साह के कारण किसी अन्य मतावलम्बी को कष्ट तो नहीं होता? उसकी भावना तो आहत नहीं होती? उसे, उसकी अशक्तता का अहसास तो नहीं कराया जाता? मुंबई में कुछ वर्ष पहले तक हिन्दू-मुस्लिम तनाव का एक कारण यह होता था कि जुम्मे की नमाज के वक्त नमाजियों की भीड़ मस्जिद की सीमा से बाहर चलती हुई सड़क को भी घेर लेती थी। इससे आम लोगों को बड़ी असुविधा होती थी। हिन्दुओं पर उसकी प्रतिक्रिया हुई। गणेश पूजन अथवा दुर्गा पूजा के लिए वे भी सड़कें घेरने लगे। तनाव बढ़ने लगा। दो-चार दंगे भी हो गए। आखिर सरकार को आदेश देना पड़ा कि ऐसी सभी क्रियाएं मस्जिद या मंदिर की परिसीमा में ही की जाएं।

मेरे मोहल्ले में एक गुरुद्वारा है। किसी गुरुपर्व से पहले गुरुद्वारों के प्रबन्धक भीड़-भाड़ वाली लम्बी सड़क पर अगणित लाउडस्पीकर लगा देते हैं और अनवरतरूप से उस पर पाठ और कीर्तन का प्रसारण करते हैं। रैन सभाई कीर्तन भी होते हैं, जो सारी रात चलते हैं। इन दिनों विद्यार्थी अपनी पढ़ाई नहीं कर पाते, वृद्धों और बीमारों को ठीक से नींद नहीं मिल पाती। लोग मन ही मन कोसते हैं, पर कुछ नहीं कर पाते। वातावरण के प्रदूषण की हम बहुत चिंता करते हैं, किन्तु ध्वनि-प्रदूषण के विषय में कुछ नहीं सोचते, जो कम खतरनाक नहीं होता।

भगवती जागरणों की तो बारह महीने धूम मची रहती है, विशेषरूप से नवरात्र के दिनों में। किसी आम रास्ते को घेरकर शामिआने लगा देना, मां भगवती की मूर्ति स्थापित कर देना और फिर रात भर में मां शेरांवाली का वाद्ययंत्रों के साथ गुणगान होना आम बात है। ऐसे जागरणों के लिए भी लाउडस्पीकरों का भरपूर उपयोग किया जाता है। इस बात की बिल्कुल चिंता नहीं की जाती कि इससे आम लोगों को कितनी कष्टदायी यातना भुगतनी पड़ती है। इस देश में वर्ष भर में निकलने वाले जुलूसों, शोभा यात्राओं और नगर कीर्तनों का भी अध्ययन किया जाना चाहिए। बहुत सोर साम्प्रदायिक दंगों की जांच-पड़ताल के बाद यह निष्कर्ष निकले हैं कि इनका प्रारंभ किसी न किसी जुलूस के बहाने होता रहा है। मोहर्रम के ताजिए निकलें, रामलीला या रथ यात्रा की शोभा यात्राएं हों या गुरुपर्व का नगर कीर्तन हो, एक छोटी-सी उत्तेजक बात भीड़ को भड़का देती है। उस समय जुलूस के साथ चलती भीड़ प्रतिपक्षी वर्ग की दुकानों को लूटने, आग लगाने का काम करती है अथवा शहर की छोटी-छोटी सड़कों-गलियों में फंसे हुए लोग उस मोहल्ले के लोगों के पत्थरों और गोलियों के शिकार बन जाते हैं।

किसी समय ऐसे जुलूसों, शोभा यात्राओं और नगर कीर्तनों की कुछ सार्थकता और उपयोगिता रही होगी, आज इनका क्या उपयोग है? इनके कारण किसी भी नगर का सामान्य जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। दिल्ली जैसे महानगरों में हजारों लोग अपने

गंतव्य तक पहुंचने के लिए घंटों इधर-उधर भटकते फिरते हैं और उस समुदाय को कोसते हैं जिसने उसका आयोजन किया होता है। ऐसे जुलूस किसी समय अनुयायिओं के उत्साह को व्यक्त करते होंगे। आज वे केवल उन्माद के प्रतीक बनकर रह गए हैं। उत्साह और उन्माद के बीच बड़ी पतली विभाजन रेखा है। यही कारण है कि बहुत पढ़े-लिखे, बुद्धिजीवी, धर्मपरायण लोग भी अपने धर्म के प्रचार के लिए, उसकी महत्ता स्थापित करने के लिए, उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए बहुत उत्साह से ऐसे काम करते हैं जो उत्साह का घेरा लांघकर उन्माद के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं। हिंदू संतों, धर्माचार्यों की एक धर्म संसद है। हिन्दू धर्म के संबंध में कुछ निर्णय लेने के लिए इसे सर्वोच्च संस्था के रूप में मान्यता दी जा रही है। मुसलमानों, ईसाइयों, सिखों में भी ऐसी संस्थाएं हैं। ऐसी संसदें/संस्थाएं अपने-अपने क्षेत्रों में काम करती हैं। कई बार इनके निर्णय ऐसे भी होते हैं जो दूसरे धर्मावलम्बियों के लिए रुचिकर ही नहीं होते, बल्कि उन्हें अपने मत के विरोधी लगते हैं। ऐसी संस्थाओं में कोई आपसी संवाद नहीं है। ये एक-दूसरे की विरोधी और प्रतिद्वंद्वी जैसी दिखती हैं। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हम इस देश में एक ऐसी व्यापक धर्म-संसद बनाएं जिसमें सभी धर्मों, सम्प्रदायों, पंथों, मजहबों के धार्मिक मुखिया शामिल हों और सामूहिक रूप से, सौहार्द्र भरे वातावरण में, सहिष्णुता और सहअस्तित्व की भावना के आधार पर इस मुद्दे पर खुले ढंग से विचार करें कि धर्म का उत्साह क्या है और धर्म का उन्माद क्या है। ऐसे मामलों में सरकार अधिक से अधिक सार्वजनिक रूप से लाउड स्पीकारों के प्रयोग और सड़कों पर शामियाने लगाकर किसी भी तरह के जागरण, जगराता और रैन सभाई कीर्तनों पर प्रतिबंध लगा सकता है, किन्तु उत्साह और उन्माद के बीच में अंतर को स्पष्ट किए बिना सामाजिक समरसता और सौजन्य स्थापित नहीं किया जा सकता।

(दैनिक जागरण, 19-4-2001)

सांस्कृतिक संकट से जूझ रहा है पाकिस्तान

पाकिस्तान के बुद्धिजीवियों को पिछले कुछ वर्षों से एक प्रश्न बार-बार कुरेदता है कि उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि क्या है? मनुष्य जिस धरती पर सदियों से रहता चला आ रहा हो वहां उसकी जड़ें बहुत गहरी चली जाती हैं और वहां उसकी कुछ मान्यताएं, रीतियां, परम्पराएं, विश्वास निर्मित हो जाते हैं जो सामूहिक रूप से उस धरती में एक संस्कृति को विकसित कर देते हैं। संस्कृति को धर्म प्रभावित अवश्य करता है किन्तु वह अविछिन्न रूप से धर्म के साथ जुड़ी हुई नहीं होती है। संस्कृति सीधे-सीधे धरती से जुड़ी होती है और धर्म का सीधा सरोकार लोगों के पारलौकिक और लौकिक आस्थाओं और विश्वासों से होता है। यही कारण है कि विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोगों की सांझी संस्कृति हो सकती है और सांझा धर्म मानने वालों की विभिन्न संस्कृतियां हो सकती हैं।

जब भी एक धरती पर बसने वाले लोग दूसरी धरती पर जाकर बसते हैं तो सांस्कृतिक संकट प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु यह संकट कुछ पीढ़ियों की टकराहट भरी स्थिति से बाद सामंजस्य उत्पन्न कर लेता है और सांझी संस्कृति विकसित होना प्रारम्भ हो जाती है। जब एक धर्म किसी दूसरे देश में जाता है तो वह अपनी धार्मिक मान्यताओं के साथ ही स्थानीय संस्कृति की विशेषताएं भी स्वीकार कर लेता है। बौद्ध धर्म संसार के अनेक देशों में गया, किन्तु कहीं भी उसका उन देशों की संस्कृतियों से कोई टकराव नहीं हुआ। श्रीलंका की अधिसंख्य जनता बौद्ध है और जापान की भी। धार्मिक मान्यताओं की समरूपता के बावजूद दोनों देशों की संस्कृतियां अपने-अपने वैशिष्ट्य के साथ जीती और विकसित होती रही है।

ईसाई धर्म की स्थिति भी ऐसी ही है। संसार के कितने ही देशों में ईसाई

धर्मावलम्बी हैं, किन्तु केरल के ईसाइयों की संस्कृति का रोम के ईसाइयों की संस्कृति से दूर-दूर का भी वास्ता नहीं है।

पाकिस्तान की अपनी समस्या है। इस देश का निर्माण धार्मिक विभेद के कारण हुआ, सांस्कृतिक विभेद के कारण नहीं। पंजाब, सिंध, सरहदी सूबा, बलोचिस्तान और बंगाल में मुसलमान, हिन्दू, सिख सादियों से एक साथ रह रहे थे। उनमें धार्मिक विभिन्नताएं भीं, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत सांझा थीं। पंजाब में लोहड़ी, बैसाखी, वसंत जैसे त्योहार सभी पंजाबियों द्वारा समान रूप से मनाये जाते थे। असंख्य लोक परम्पराएं एक जैसी थीं। आज की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है।

विभाजन के कारण पाकिस्तान में उन मुसलमानों की भी वड़ी संख्या वहां पहुंची जो दिल्ली, उत्तर प्रदेश, विहार, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र जैसे क्षेत्रों के निवासी थे। इनकी सांस्कृतिक परम्पराएं पंजाबियों, पख़्तूनों, सिंधियों और बंगालियों से बहुत अलग थीं। इनमें केवल धर्म अथवा मज़हब की समानता थी। पाकिस्तान के दो भागों—पश्चिमी और पूर्वी—में भी कोई सांस्कृतिक समरूपता नहीं थी। तीस वर्ष पूर्वी पाकिस्तान का समूचे पाकिस्तान से टूट कर अलग हो जाना, इस सांस्कृतिक विभेद के कारण ही हुआ था।

आज के पाकिस्तान का 66 प्र. श. क्षेत्र (पश्चिमी) पंजाब है। अपनी सांस्कृतिक जड़ों को पहचानने की तड़प भी इन्ही लोगों में अधिक है। इनमें विचार का मुद्दा यह है कि इस क्षेत्र में इस्लाम को आए तो कुल एक हजार वर्ष ही हुए हैं, किन्तु जो क्षेत्र पाकिस्तान में है उसका इतिहास तो कई हज़ार वर्ष पुराना है। सिंधु घाटी की सभ्यता और हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो जैसे अवशेष पाकिस्तान में ही हैं। क्या वे इस सभ्यता के वे वारिस नहीं है? क्या इस्लाम ग्रहण कर लेने मात्र से उनका सम्बन्ध उस संस्कृति और सभ्यता से टूट जाता है जो उनके इस्लाम ग्रहण करने से पूर्व यहां उभरी हुई थी?

पंजाब का प्राचीन नाम सप्तसिंधु अर्थात् सात नदियों का प्रदेश था। इन सात नदियों में संयुक्त पंजाब की पांच नदियां तथा सिंधु और सरस्वती नदियां थीं। प्राचीन आर्य संस्कृति का विकास इसी प्रदेश में हुआ था। इसी प्रदेश में वेदों की रचना हुई थी। आज भी इस प्रदेश की भाषा पंजाबी पर वैदिक संस्कृत की गहरी छाप है।

सप्तसिंधु का सत्तर प्रतिशत से अधिक भाग आज के पाकिस्तान में है। रावल पिंडी के आस पास के क्षेत्र को पठोहार कहा जाता है। यहां बोली जाने वाली पंजाबी (पठोहारी) के असंख्य शब्द सीधे वैदिक संस्कृत से जुड़े दिखाई देते हैं। इस्लाम के प्रभाव के कारण इस भाषा में अरवी, फारसी के बहुत से शब्द आ गए, किन्तु बोल-चाल की भाषा में उन शब्दों का ही बाहुल्य है जो वैदिक संस्कृत से निकली हैं। सिंधी तथा पश्तों जैसी भाषाओं की स्थिति भी ऐसी ही है।

पाकिस्तान की जनता अपनी इन सांस्कृतिक परम्पराओं से जुड़ी हुई है, किन्तु इस्लामी कट्टरपंथी उन्हें महमूद ग़जनवी और मोहम्मद गोरी से पीछे नहीं ले जाना चाहते और इन आक्रान्ताओं से पूर्व के सांस्कृतिक इतिहास को हिन्दू इतिहास कह कर वे

भुला देना चाहते हैं। यह स्थिति पाकिस्तान के इतिहासकारों, बुद्धिजीवियों और लोकजीवन के अध्येताओं के सम्मुख गहरा संकट उत्पन्न कर देती है। जब वे इस्लाम पूर्व की संस्कृति और सभ्यता से अपना नाता जोड़ना चाहते हैं तो उन्हें मुल्लाओं के आक्रोश का सामना करना पड़ता हैं। यदि वे कट्टरपंथियों के आदेशों का पालन करते हैं तो उन्हें अपनी सम्पूर्ण विरासत को एक हज़ार वर्षों की परिधि में सीमित कर देना पड़ता है, जिसे सही सोच वाला कोई भी बुद्धिजीवी सहज ही स्वीकार नहीं कर पाता।

आज पाकिस्तान के बुद्धिजीवियों में यह विवाद बार-बार छिड़ता है कि झेलम नदी के तट पर यूनानी हमलावर सिकन्दर से लोहा लेने वाले राजा पोरस (पुरू) को अपना पूर्वज स्वीकार करें या नहीं? आठवीं सदी के प्रारम्भ में सिंध के राजा दाहिर को पराजित कर सिंध पर अरबों का शासन स्थापित करने वाला मुहम्मद-इब्न-कासिम उनका आर्दश है अथवा अपने राज्य की रक्षा में शत्रु से युद्ध करते हुए मृत्यु प्राप्त करने वाला राजा दाहिर उनका नायक है?

इस देश के बहुत से त्योहारों का सम्बन्ध ऋतु परिवर्तन और लोक-जीवन से है। कालान्तर में उनके साथ कुछ धार्मिक कथाएं भी जुड़ गईं। पंजाब की लोहड़ी (मकर संक्रान्ति) का त्योहार शरद ऋतु की समाप्ति का सूचक है। इस दिन लोग अपने घरों के सामने आग जलाकर उसमें खील, मूंमफली, मखाने, रेवड़ी आदि डालते हैं। खूब हर्षोल्लास होता है, ढोल बजते हैं और लोग एक दूसरे को लोहड़ी की बधाई देते हैं। यह पूरी तरह मौसम का त्योहार है इसलिए सभी धर्मों और वर्गों के पंजाबी इसे धूम-धाम से मनाते हैं।

इस अवसर पर कुवांरी लड़कियां घर-घर जाकर कुछ धन तथा सामग्री इकट्ठा करती हैं और पंजाब के एक लोक नायक दुल्ला भट्टी के गीत गाती हैं, जो स्त्रियों को मान-मर्यादा की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहता था। दुल्ला भट्टी एक राजपूत मुसलमान था, जिसकी वीरता के गीत अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

वसंत भी इसी प्रकार नई ऋतु के आगमन का त्योहार हैं। महाराजा रणजीत सिंह के काल में यह त्योहार पंजाब में बहुत लोकप्रिय हो गया था। पाकिस्तानी पंजाब के लोग आज भी इसे उत्सव के रूप में बड़े उत्साह से मनाते हैं। पाकिस्तान की कट्टरपंथी ताकतों ने बार बार यह घोषित किया कि वसंत एक हिन्दू त्योहार है, इसलिए इसे नहीं मनाना चाहिए किन्तु वहां के लोगों ने तर्क दिया कि यह मौसम के परिवर्तन का त्योहार है, उसी प्रकार जैसे लोहड़ी और बैसाखी है, इसलिए इसे गैर इस्लामी कहना ग़लत है। यह धरती से जुड़ा उत्सव है। इसकी अपनी एक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने कट्टरपंथियों के तर्क को स्वीकार नहीं किया। आज भी लाहौर में इस त्योहार को जितने उत्साह से मनाया जाता है उतना भारत के किसी भाग में नहीं मनाया जाता।

पाकिस्तान में सांस्कृतिक संकट के अधिक शिकार वे लोग हुए हैं जो भारत के विभिन्न भागों से निकलकर पाकिस्तान में गए थे इनमें अधिसंख्य लोग गंगा-यमुना

संस्कृति के लोग हैं और इनका सांस्कृतिक मन इस क्षेत्र की अपनी परम्पराओं से निर्मित हुआ है। इन्होंने वहां जाकर अपने-आपको वहां की सांस्कृतिक इकाइयों के अनुरूप नहीं बनाया इसलिए वहां के किसी भी वर्ग से इनका तादात्म्य स्थापित नहीं हुआ। पाकिस्तानी क्षेत्रों से जो हिन्दू-सिख इस ओर आए थे शायद यही कारण है कि इन्हें उस समय 'शरणार्थी' नाम का जो शब्द मिला था, वह कुछ वर्षो बाद अलोप हो गया, किन्तु इधर से गए मुसलमान वहां अभी भी मुहाज़िर (शरणार्थी) बने हुए हैं और उन्होंने अपने लिए इस शब्द को सहर्ष स्वीकार कर लिया है।

इनकी मुश्किल यह है कि न ये पंजाबी हैं, न सिंधी है, न पश्तों हैं, बंगाली हैं-जो वहां की सांस्कृतिक इकाइयां हैं। पांच दशक पहले ये अपनी धरती से उखड़कर वहां गए थे। इतना लम्ब समय बीत जाने के बाद भी वे पूरी तरह उखड़े हुए हैं। इनका सांस्कृतिक संकट बहुत गहरा है। इन्हें पाकिस्तान से सिर्फ उनका मज़हब जोड़ता है, संस्कृति नहीं।

एक बात मुझे याद आती है। कुछ वर्ष पूर्व मैं पाकिस्तान गया था। वहां मुझे इस्लामाबाद में एक सरकारी अधिकारी मिले। उनकी बातचीत और लहज़े से मुझे लगा, ये गंगा-यमुना के किसी क्षेत्र से यहां आए हैं। मैंने उनसे पूछा–आप कहां के रहने वाले हैं? उन्होंने उत्तर दिया–मैं उन्नाव का हूं। जब मैंने उन्हें बताया कि मेरा जन्म भी उन्नाव जिले में हुआ था और शिक्षा कानपुर में, तो वे एकदम विचलित हो गए। अपनी कुर्सी से उछलकर वे मेरी ओर बढ़े और मुझसे लिपट गए। उस समय उनकी आंखों में आंसू थे।

मज़हब को आधार बनाकर वे पाकिस्तान चले गए थे। संभव है मज़हबी तृप्ति उन्हें वहां मिली हो, किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से उनमें जो खालीपन आ गया था, वह लम्बी अवधि बीत जाने के बाद भी नहीं भरा। ऐसा लगता है कि इस अभाव को लेकर वे हमेशा व्याकुल रहे।

मैं मानता हूं कि व्यक्ति का सांस्कृतिक लगाव उसके धार्मिक लगाव से कहीं अधिक गहरा होता है। धर्म परिवर्तन कर लेने से व्यक्ति अपनी परम्पराओं से उतना नहीं टूटता जितना वह अपने सांस्कृतिक परिवेश से दूर होकर टूटन का अहसास करता है। पाकिस्तान के व्यक्ति की समस्या यह है कि इस्लाम को स्वीकार करता हुआ भी वह न तो अरबी बन सकता है, न तुर्की बन सकता है, न ईरानी बन सकता है। उसे पाकिस्तानी बन कर रहना है, किन्तु पाकिस्तान सिर्फ एक मज़हब नहीं है, उसकी अपनी एक संस्कृति भी है। उसका इतिहास न मोहम्मद-इब्न-कासिम से शुरू होता है, न महमूद ग़जनवी से, न मोहम्मद गोरी से। इनमें से कोई भी उस धरती से सम्बन्ध नहीं रखता था, जिस पर पाकिस्तान बना। ये उस धरती पर हमलावर बन कर आए थे और उसे लूट-पाट कर वापस चले गये थे। सिंधु घाटी सभ्यता, तक्षशिला का विश्वविद्यालय, सिकन्दर की आंधी को रोकने वाला राज पोरस, महमूद ग़जनवी से टकराने वाले राजा जयपाल और आनन्दपाल, शेख बाबा फरीद और गुरु नानक, तथा आठ सौ वर्षो से

लगातार दर्रा खैबर के रास्ते हिन्दुस्तान में आने वाले तुर्क, मंगोल, अफगान, मुग़ल, ईरानी आक्रमणकारियों से हिन्दुस्तान के उस भाग को, जिसका अस्सी प्रतिशत आज पाकिस्तान है, सुरक्षित करके सांझे राज्य को जन्म देने वाला महाराजा रणजीत सिंह—यह सब कुछ पाकिस्तान के इतिहास और संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। इन्हें भूलकर पाकिस्तान मात्र एक इस्लामी राज्य तो रह सकता है, एक पुष्ट सांस्कृतिक इकाई नहीं बन सकता।

पाकिस्तान के बुद्धिजीवी अपने इस सांस्कृतिक संकट को समझते हैं और इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि किस प्रकार पाकिस्तान की केवल मज़हबी पहचान ही न बने, उसकी अपनी सांस्कृतिक पहचान भी बने।

इसी छटपटाहट का नतीजा है कि हाल में ही पाकिस्तान में राजा पोरस के नाम से एक संस्था बनी है जो अपनी सांस्कृतिक जड़ों को बहुत पीछे जाकर खोजना चाहती है।

(दैनिक जागरण, 17-5-2001)

इस्लाम मूलतः इतना अनुदार नहीं जितना तालिबान सोचते हैं

अफगानिस्तान की तालिबान सरकार ने हिन्दुओं के लिए 'ड्रेस कोड' की घोषणा करके फिर से, जैसे इस घोषणा को दोहराया है कि कट्टर इस्लामी देश में गैर मुसलमानों को न केवल दूसरे-तीसरे दर्जे का नागरिक बनकर रहना होगा, बल्कि अपने माथे पर यह खुदवाना होगा कि मैं अत्यन्त निरीह प्राणी हूं और जीवित रहने के लिए पूरी तरह आपकी कृपा पर निर्भर करता हूं।

संसार के सभी देशों में किसी न किसी धर्म विशेष के लोगों का बहुमत होता है और दूसरे धर्म के मानने वाले लोग अल्पमत में होते हैं। यदि किसी उन्माद में आकर बहुमत धर्म वाले लोग अल्पसंख्यकों के लिए ऐसे 'ड्रेस कोड' की घोषणा कर दें तो सोचिए संसार का क्या हाल हो जाएगा? स्वयं इस्लाम को मानने वाले अगणित और गैर इस्लामी देशों में बड़ी मात्रा में रहते हैं। यदि ऐसा कोई कानून वहां लागू हो जाए तो उनका क्या होगा? तालिबान इस्लाम की जैसी व्याख्या कर रहे हैं, जिस बर्बर ढंग से उसे अपने देश में लागू कर रहे हैं, क्या सचमुच उसे इस्लाम की मान्यताओं और सिद्धान्तों का सही रूप माना जा सकता है?

पिछले कुछ वर्षों में विभिन्न धर्मों में अपने प्रचार के लिए विभिन्न भाषाओं में साहित्य प्रकाशन का रुझान बढ़ा है। ईसाई मिशनरी तो यह काम लंबे समय से करते आ रहे हैं। अब इस्लाम को मानने वालों में भी यह भावना बढ़ी है कि उन्हें अपनी बात को अरबी, फारसी और उर्दू तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए, उसे हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में प्रकाशित और वितरित करना चाहिए। पिछले कुछ वर्षों में इस्लामी साहित्य प्रकाशन, मधुर संदेश संगम जैसी प्रकाशन संस्थाओं ने पवित्र कुरआन के सुगम

हिन्दी अनुवाद के साथ ही हजरत मोहम्मद की जीवनी तथा अन्य बहुत-सी ऐसी पुस्तकें प्रकाशित की हैं और कर रहे हैं, जिनसे इस्लाम को समझने में बड़ी सहायता प्राप्त होती है। इन्हीं प्रयासों के माध्यम से दिल्ली से 'कान्ति' नामक मासिक पत्रिका निकलती है, जिसमें इस्लाम, उसकी परम्पराओं और मान्यताओं सम्बन्धी बहुत-सी सामग्री होती है।

सामान्यतः अन्य धर्मों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान बहुत अधूरा और सुनी-सुनाई बातों पर आधारित होता है। इस स्थिति की सबसे विचित्र बात यह है कि प्रायः किसी विशेष धर्म को मानने वाले लोग भी अपने धर्म या मजहब को सही ढंग से नहीं जानते। लोग प्रायः उतना ही जानते हैं जितना वे अपने घर में सीखते हैं अथवा उनके धर्म के पुजारी, मुल्ला, पादरी आदि उन्हें अपने ज्ञान से बताते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण यह है विभिन्न धर्मों, मतों और विचारधाराओं में खंडन-मंडन की प्रवृत्ति तो है आपसी संवाद की स्थिति नहीं है।

इन दिनों मैंने इस्लामी विद्वान सैयद हसन अली नदवी का वह भाषण पढ़ा जो उन्होंने संसार के धर्मों की विश्व संसद में सितम्बर 1994 में शिकागो में दिया था। ठीक सौ वर्ष पहले स्वामी विवेकानंद ने इसी नगर में हिन्दू धर्म पर दिए अपने भाषण से सभी को चमत्कृत कर दिया था।

इस भाषण में सैयद नदवी ने इस्लाम की कुछ बातों को रेखांकित किया है। उनके अनुसार इस्लाम का मानवता को सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख संदेश एक ईश्वर में पूर्ण विश्वास है। हजरत मोहम्मद के जन्म के समय सम्पूर्ण अरब जगत असंख्य कबीलों में बंटा हुआ था। सभी कबीलों के अपने-अपने देवता थे। कबीले आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे। सभी अरबों को एकसूत्र में बांधने, उनमें सामाजिक और राजनीतिक एकता स्थापित करने के लिए हजरत मोहम्मद ने एकेश्वरवाद का संदेश देते हुए कहा कि एक अल्लाह ही सबका पिता है और हम सभी उसकी संतान हैं। वही सर्वशक्तिमान है। उसका मुकाबला अन्य कोई देवी-देवता नहीं कर सकता। वह हम सभी पर अपने करम (दया) की वर्षा करता है।

इस्लाम की दूसरी विशेषता सभी मनुष्यों की बंधुता और समानता है। हजरत मोहम्मद से पहले लोग जाति, वर्ग, कबीलों, में बुरी तरह बंटे हुए थे। कुछ लोग अपने आपको उच्च या सामंती कुल का होने का अभिमान करते थे और आम लोगों को गुलामों जैसा समझते थे। हजरत मोहम्मद ने संसार को पहली बार मानवीय एकता का क्रांतिकारी संदेश दिया। उन्होंने ईश्वर की एकता और मनुष्य मात्र की समता पर अपनी मोहर लगा दी। विभिन्न लोगों और विभिन्न जातियों के मध्य शांति, प्रगति, मैत्री और सहयोग का भवन उसारने के लिए इन दो बातों का आधार होना चाहिए। एक ईश्वर की संकल्पना मानवीय एकता का आध्यात्मिक पहलू है और सभी मनुष्यों में बंधुता का भाव उन्हें सांसारिक एकता के धरातल पर ले आता है।

अपने भाषण में सैयद नदवी ने यह बताया कि इस्लाम के पैगंबर ने मानवीय गरिमा की अवधारणा को किस प्रकार चरितार्थ किया। जिस युग में और जिस प्रदेश में इस्लाम का उदय हुआ था, इन्सान से अधिक पीड़ित और अपमानित कोई नहीं था। उसका कोई मूल्य नहीं था। उसकी इज्जत अथवा गरिमा का तो कोई प्रश्न ही नहीं था। हजरत मोहम्मद ने इन्सान को अल्लाह की सबसे उत्तम रचना बताया और कहा कि अल्लाह के बाद उसका दर्जा सबसे ऊपर है। धरती की सभी नियामतें अल्लाह ने इन्सान के लिए बनाई हैं। उन्होंने कहा कि सभी इन्सान खुदा के परिवार का हिस्सा हैं और खुदा को वही इन्सान सबसे प्यारा लगता है जो दूसरों की भलाई करता है।

इस्लाम की ये सभी मान्यताएं अत्यन्त मानवीय हैं और शायद ही किसी को इनसे मतभेद हो, किन्तु सदियों से इस्लाम का जो रूप लोगों के सामने आया है वह तो इन मान्यताओं से अधिक मेल नहीं खाता। आज सारे संसार में इस्लामी कट्टरतावाद (इस्लामिक फंडमेन्टलिज्म) की चर्चा है। पूर्व में फिलिपाइन्स और इंडोनेशिया से लेकर पश्चिम में स्पेन तक इतनी अनुगूंज सुनाई देती है और अनेक देशों के राजनीतिकर्मी इसे भविष्य के एक बहुत बड़े खतरे के रूप में देख रहे हैं।

इस देश में इस्लाम दो स्रोतों से आया। एक स्रोत मोहम्मद-इब्न-कासिम, महमूद गजनवी, मोहम्मद गौरी आदि आक्रमणकारियों का था। इनके लिए ही कहा गया कि इनके एक हाथ में तलवार और दूसरे में कुरआन होती थी। इन आक्रमणकारियों की जब यहां हकूमत स्थापित हो गई तो उनमें ऐसे सुलतान और बादशाह उभर आए जो मानवीय समता के इस्लामी सिद्धान्तों को पूरी तरह भुलाकर गैर मुसलमानों के साथ न केवल भेदभाव वाला व्यवहार करने लगे, बल्कि उनके धर्म स्थानों को तोड़ने, वहां मस्जिदें बनवाने, उनका बलात् धर्म परिवर्तन करने में लग गए। जिन्होंने उनकी बात नहीं मानी उन्हें मनमाने ढंग से मौत के घाट उतारने लगे।

यहां इस्लाम एक अन्य स्रोत से भी आया। यह स्रोत सूफी दरवेशों और फकीरों का था। ये अपने साथ इस्लाम की वह मानवीय परम्परा लेकर आए थे जो हज़रत मोहम्मद का अभीष्ट था। इन्होंने भारत के जनमानस से अपना गहरा संपर्क स्थापित किया। देश की भाषा में लोगों से संवाद किया। मलिक मोहम्मद जायसी, कुतबन, मज्झन जैसे कवियों ने अवधी में ऐसे प्रेमाख्यान लिखे जो सभी लोगों में स्वीकृत और लोकप्रिय हुए। शेख फरीद, निजामुद्दीन औलिया, मीआंमीर जैसे सूफी दरवेशों का उपदेश सुनने मुसलमानों के साथ गैर मुसलमान भी बड़ी संख्या में जाते थे। आज भी इनकी दरगाहों पर मन्नत मांगने, धागा बांधने, चद्दर चढ़ाने वालों में गैर मुसलमानों की काफी गिनती होती है।

इन सूफी संतों ने भी इस्लाम का प्रचार किया, किन्तु इन्होंने किसी को तलवार नहीं दिखाई, किसी का सिर कलम नहीं करवाया, किसी धर्म स्थान को ध्वस्त करने की इजाजत नहीं दी। इनके प्रेमभाव और समतामूलक व्यवहार के कारण जितने लोगों

ने इस्लाम स्वीकार किया उतने लोगों ने सुलतानों-बादशाहों के जुल्मों के कारण नहीं।

प्राचीन काल से ही धर्म और राजसत्ता साथ-साथ चलते रहे हैं। धर्म का काम राजसत्ता को नियंत्रित करने का था। राजसत्ता कहीं अनैतिक होकर अत्याचार और दमन के मार्ग की ओर न चल पड़े इसलिए धर्म का अंकुश रखने की व्यवस्था बनाई गई थी, किन्तु हुआ उसके विपरीत। राजसत्ता समय मिलते ही धर्म के नैतिक मूल्यों पर हावी हो जाती रही है। उस समय राजसत्ता पर नज़र गड़ाने वाला राजपुरुष अपने स्वार्थ के लिए धर्म अथवा मजहब का इस्तेमाल करना शुरू कर देता है और अपने खरीदे हुए पुरोहितों, मुल्लाओं, पादरियों से अपने अनुकूल धर्म की परिभाषाएं करवाता है, फतवे दिलवाता है और स्वयं को धर्म-रक्षक के रूप में पेश करता है।

मध्यकाल में ईसाई संसार में कुछ इसी प्रकार का खेल बहुत खुलकर खेला गया। धर्म की आड़ में चर्च ने अपने आपको इतना शक्तिशाली बना लिया था कि राज्य-व्यवस्था के सभी निर्देश उसके द्वारा दिए जाने लगे। तभी वहां यह अनुभव किया गया कि चर्च और स्टेट को अलग-अलग किया जाना चाहिए। इसी प्रयास में से 'सेक्युलरिज्म' की अवधारणा को जन्म मिला।

आज ऐसा लगता है कि इस्लाम में से उदारचेता सूफी फकीरों की परंपरा जैसे समाप्त हो गई है। सूफी संतों की दरगाहएं तो हैं। वहां जाने वाले श्रद्धालुओं की संख्या भी कम नहीं है। उनका यशोगान भी पूरी तरह होता है किन्तु इंसानियत का पैगाम देने वाला शेख फरीद निजामुद्दीन औलिया अथवा हजरत मिआंमीर जैसा कोई पुरुष सामने नहीं दिखाई देता। सारा खेल उनके हाथों में है जो मूढ़ कट्टरता को अपना मजहब समझते हैं और संकीर्ण राजनीति को इस्लाम की सेवा का सबसे बड़ा माध्यम मानते हैं।

अफगानिस्तान में तालिबान जो कुछ कर रहे हैं वह यह सिद्ध करता है ऐसे मजहब परस्त लोगों का उस इस्लाम से कुछ लेना-देना नहीं है, जिसे हजरत मोहम्मद ने अपने समय की अत्यंत विषम स्थितियों में सोचा था। आश्चर्य उस समय होता है कि जब यह दिखता है कि वर्तमान मुस्लिम जागरूक समाज में भी वह आत्म-मंथन नहीं हो रहा है, जो संभवतः आज के भारतीय मुसलमान की सबसे बड़ी ज़रूरत है।

(दैनिक जागरण, 31-05-2001)

नमन करने योग्य है तमिलनाडु की जनता

तमिलनाडु की जनता को प्रणाम करने को मन करता है। यह जनता अपने मन में जब किसी की मूर्ति बैठा लेती है तो बस बैठा ही लेती है। जिस किसी को अपना देवता अथवा देवी मान लेती है, उसे उसके गुण दोषों की चिंता किए बग़ैर अपने मन मंदिर में बैठाए रखती है। ऐसी अनन्य भाव भक्ति क्षेत्र के लिए अनहोना नहीं है। देश की नित्य बदलती राजनीतिक मान्यताओं में भी यह संभव हो सकता है, इसे तमिलनाडु की जनता ने सिद्ध कर दिया है।

तीन दशक से अधिक हो गए हैं। स्व. अन्नादुराई से तमिलनाडु में द्रविड़ अस्मिता को जैसा उभार दिया था, वह निरन्तर बना रहा है, उसी प्रकार जैसे पश्चिमी बंगाल में वामपंथी दलों की एक बार जो पकड़ सत्ता पर बनी, उसे फिर कोई ताकत शिथिल नहीं कर सकी। तमिलनॉडु में द्रविड़ चेतना को वहन करने का दायित्व किस प्रकार सिनेमा जगत से सम्बद्ध लोगों के हाथों में चला गया, इसका अध्ययन भी अपने आप में कम रोचक नहीं है। अन्नादुराई के जीवन काल में ही करूणानिधि उनके उत्तराधिकारी के रूप मे उभर आए थे। वे तमिल फिल्मों के वड़े मान्य पटकथा लेखक थे। तमिल राजनीति और तमिल फिल्मी हस्तियां एक-दूसरे की पूरक हो गईं।

इसी समय द्रविड़ राजनीति में एम. जी. रामचंद्रन का आगमन हुआ। एम. जी. आर. अपने समय में तमिल फिल्मों के सुपर स्टार थे। उनके लिए सुपर स्टार शब्द भी छोटा है। हिन्दी फिल्मों में सुपर स्टार एक बड़ा स्टार होता है, उसकी कीमत करोड़ों में पहुंच जाती है और दर्शक उसकी एक झलक पाने के लिए वेताव रहते हैं। तमिल फिल्मों का सुपर स्टार पूजा की वस्तु बन जाता है। उसके दर्शक नहीं, भक्त होते हैं

जो उसे किसी भी देवता से कम नहीं मानते।

एम. जी. आर. द्रविड़ राजनीतिक में अन्नादुराई के कारण आए। इस बीच अन्नादुराई चल बसे। द्रविड़ मुनेत्र कषगम के अध्यक्ष करुणानिधि बने। एम. जी. आर. अन्नादुराई के नीचे तो रह सकते थे। करुणानिधि के नीचे होना उनके देवत्व को बड़ी चुनौती थी। उन्होंने टी. एम. के से टूट कर अपनी अलग पार्टी बना ली ए. डी. एम. के. (अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कषगम) इस तरह द्रविड़ राजनीति में दो पार्टियां दो व्यक्तित्वों के प्रभामंडल के इर्द-गिर्द मंडराने लगी। एम. जी. आर. का प्रभा मंडल करुणानिधि के प्रभामंडल से कहीं ज्यादा प्रभा युक्त था। स्वाभाविक था कि सत्ता भी उन्हीं के प्रभामण्डल की ओर मुड़ जाती ।

हमारे देश की राजनीति सिद्धान्तों के आधार पर नहीं, व्यक्तियों के आधार पर चलती है। राजनीति सिद्धान्त की नहीं, व्यक्ति की पिछलगुआ बन कर जीती है।

व्यक्तियों की टकराहट से नई-नई पार्टिया जन्म लेती हैं और प्रायः यह भी होता है कि व्यक्ति के परिदृश्य से हटते ही, पार्टी की नैया बुरी तरह डगमगाने लगती है। इस देश में समाजवादी विचार वाली पार्टियों का नित्य बनना-बिगड़ना व्यक्तित्वों के टकराव की जीवन्त दास्तान है।

1988 में एम. जी. रामचंद्रन की अचानक हुई मृत्यु के बाद ए. डी. एम. के. में उत्तराधिकारी की जंग शुरू हुई। एम. जी. आर. की पत्नी जानकी रामचंद्रन की नेतृत्व के लिए दावेदारी को एम. जी. आर. की तमिल फिल्मों की लोकप्रिय अभिनेत्री जयललिता ने चुनौती दी। रामचंद्रन के जीवन काल में ही जयललिता उनकी उत्तराधिकारिणी के रूप में उभरने लगी थीं। उस समय वे अपने पथ निदेशक (एम. जी. आर.) की कृपा से राज्य सभा की सदस्य बन गई थीं। धीरे-धीरे पार्टी में उनकी नम्बर दो की स्थिति निर्विवाद हो गई थी। इसलिए जानकी अम्मा को पीछे ढकेलकर पार्टी का नेतृत्व संभालने में उन्हें अधिक समय नहीं लगा था।

तमिलनाडु की राजनीति से कांग्रेस का वर्चस्व समाप्त होते ही सत्ता-संघर्ष में करुणानिधि की डी. एम. के. और एम. जी. आर. की ए. डी. एम. के. दो ही पक्ष रह गए थे। सैद्धान्तिक दृष्टि से दोनों पक्षों में कोई अंतर नहीं था, न आज है। संघर्ष दो व्यक्तियों में है। पहले करुणानिधि और रामचंद्रन में था। अब करुणानिधि और जयललिता में है।

किन्तु दोनों व्यक्तित्वों में एक बड़ा अन्तर है। करुणानिधि को तमिल जनता में वैसा देवत्व कभी नहीं मिला जैसा एम. जी. आर. को मिला था और फिर जयललिता को प्राप्त हुआ। जयललिता अपने अनुयायियों, प्रशन्सकों, समर्थकों के लिए केवल एक भूतपूर्व चुलबुली फिल्म अभिनेत्री ही नहीं हैं। न ही वे इंदिरा गांधी या ममता बजर्नी की तरह केवल राजनेत्री हैं। वे उनके लिए साक्षात देवी हैं, आदि पराशक्ति की अवतार हैं।

पिछली बार जब वे तमिलनाडु की मुख्यमंत्री थी, उनका 46 वां जन्म दिन मनाया गया था। उस अवसर पर तमिलनाडु में जो कुछ हुआ था, वह उनके 'देवीत्व' को पूरी तरह प्रमाणित करता है। उनके श्रद्धालुओं ने विभिन्न धर्म-स्थानों पर जाकर उनकी दीर्घ-आयु के लिए प्रार्थनाएं की थीं। अनेक भक्तों ने एक मंदिर से दूसरे मंदिर तक की, कई-कई किलोमीटर की दूरी को धरती पर साष्टांग-दंडवत लेट-लेट कर पूरा किया था। उनके मंत्रियों ने पूजा के लिए निर्मित रथों को, घोड़ों या बैलों के स्थान पर, स्वयं अपने कंधों पर रस्सी बांधकर खींचा था और मंदिरों में जाकर गोदान किया था उनकी दीर्घायु और उत्तरोत्तर सफलता के लिए।

वर्षगांठ वाले दिन 46 स्थानों पर 46000 पौधे लगाए गए थे, 46000 बच्चों को मुफ्त स्कूली पुस्तकें दी गई थीं, खेतों में काम करने वाली 46000 स्त्रियों को खेती के औज़ार दिये गए थे। बहुत से कैदी जेलों से रिहा कर दिये गए थे। उस दिन सारे तमिलनाडु में सार्वजनिक अवकाश घोषित किया गया था। उनकी पार्टी के अनेक कार्य कर्ताओं ने इसे पवित्र दिन मानकर, इस दिन अपना या अपने परिवार में किसी का विवाह सम्पन्न कराया था, जयललिता मंत्रिमंडल की एक महिला मंत्री ने अपने सिर पर दूध से भरा पात्र लेकर अपनी नेत्री की दीर्घायु और सफलता के लिए पूरे जलूस के साथ 100 मंदिरों में जाकर पूजा-अर्चना की थी।

उसके कुछ दिन पहले चेन्नई के एक सार्वजनिक सभागार में एक वाद-विवाद का आयोजन किया गया था। विषय था महिषी जयललिता की लोकप्रियता का कारण उनका बुद्धिमती होना है अथवा उनकी कार्यकुशलता है। राज्य मंत्रिमंडल के सदस्यों की दो टीमें थीं। एक के अगुवा थे कानून मंत्री के. ए. कृष्णास्वामी और दुसरी के खाध मंत्री आर. एम. वीरप्पन। वितमंत्री वी. आर. नेदूचेरियन इसके संयोजक और निर्णायक थे।

अपने इष्टदेव अथवा इष्टदेवी को लेकर भक्तों में इस बात की होड़ होती है कि कौन स्तुति करने में सभी को पछाड़कर आगे निकलता है। मंत्रियों में भी यही होड़ लगी हुई थी। कुछ इस बात पर आग्रह कर रहे थे कि जयललिता अत्यन्त बुद्धिमती हैं। यही गुण उनकी संचालक शक्ति है। कुछ कह रहे थे कि वह अत्यन्त सुयोग्य हैं और किंसी भी कार्य को सम्पन्न करने की उनमें अद्‌भुत निर्णय शक्ति है।

निर्णायक ने बुद्धिमता वाली टीम को विजयी घोषित करते हुए कहा कि महान क्रान्तिदर्शी नेत्री देवी जयललिता की महानता का कारण उनके द्वारा लिये गए सुदृढ़ निर्णय अवश्य हैं किन्तु ये सभी निर्णय उनकी गहरी सूझ-बूझ और बुद्धिमता के कारण ही संभव हुए हैं।

क्या आज तक इस देश में किसी नेता अथवा नेत्री को ऐसी अटूट भक्ति प्राप्त हुई है, जैसी सुश्री जयललिता के लिए तमिलनाडु में प्रदर्शित की जाती है?

बड़े से बड़े देवता अथवा देवी को कुछ दुर्दिन भी देखने पड़ते हैं। कुछ दिन

उन्हें भी सत्ता से दूर रहने का कष्ट झेलना पड़ा, किन्तु उन्होंने मुख्यमंत्री पद के अपने पिछले कार्यकाल (1991-1996) के दौरान ऐसे काम किए जो किसी भी देवता या देवी के बस की बात नहीं थे। ऐसा कार्य, पौराणिक शब्दों में, केवल आसुरी शक्तियां ही कर सकती थीं। उनके खिलाफ एक दर्जन से अधिक आपराधिक मामले अदालतों में चल रहे हैं। अनेक मामलों में उन्हें जुर्माना और एक, दो और तीन वर्ष की सश्रम कारावास की सज़ा भी सुनाई जा चुकी है। बलिहारी है अपनी न्याय प्रणाली की कि अनेक सज़ायाफ्ता लोग उच्च न्यायालय अथवा सर्वोच्च न्यायालय में अपील दायर कर देते हैं, जहां वर्षों तक मामला लटका रहता है और अपराधी सारी व्यवस्था को अगूंठा ही नहीं दिखाता, बल्कि लोकतंत्र की सीढ़ी पर खड़े होकर सभी को ललकारता है और अपने सिर पर राज मुकुट भी रख लेता है।

एक बार अखबारों में वह सूची छपी थी कि आयकर अधिकारियों ने जब उनके निवास स्थान पर छापा मारा था, तो उन्हें क्या-क्या मिला था। सोना, चांदी, हीरे, जवाहारात, नकदी आदि चीज़ों को छोड़ भी दिया जाए तो उनके पास एक हज़ार से अधिक साड़ियां और सात सौ से अधिक सैड़लों का होना, किसी भी गरीब राज्य की नेत्री होने के सभी तर्कों के साथ खुला बलात्कार करना लगता है।

जयललिता की भ्रष्ट्रता की दास्तान सभी को पता है। तमिलनाडु की जनता ने यह सब कुछ जानते हुए भी प्रंचड बहुमत देकर उन्हें जिताया और सारी नैतिकताओं की धज्जियां उड़ाते हुए उन्हें मुख्यमंत्री की गद्दी पर सुशोभित कर दिया, यह बात बड़ी अविश्वसनीय सी लगती है, किन्तु ऐसा हो गया है। इसीलिए इस प्रदेश की जनता को नमन करने का मन करता है।

मेरे एक सहकर्मी थे। वे उस धार्मिक सम्प्रदाय के अनुयायी थे, जिसका धर्म गुरु सारे संसार में अपने रहन-सहन और ऐश परस्ती के लिए बहुख्यात था। एक बार मैंने उनसे पूछा—आप ऐसे व्यक्ति को अपना रहनुमा और धर्म गुरु मानते हैं जो व्यक्ति रात-दिन ऐश में डूबा रहता है, अधिक समय यूरोप में गुजारता है, धार्मिकता के कोई चिह्न उसमें दूर-दूर तक दिखाई नहीं देते। अपने धर्म गुरु को ऐसा जीवन जीते देखकर आपको अटपटा नहीं लगता, मन में वितृष्णा या विरोध का भाव उत्पन्न नहीं होता?

उनका उत्तर बहुत स्टीक था। वे बोले-हम उन्हें भगवान और खुदा की तरह मानते हैं। खुदा क्या करता है, कैसा जीवन जीता है, उसका रहन-सहन क्या है, वह क्या खाता-पीता है, कितनी स्त्रियों से सम्बन्ध रखता है-यह देखना हमारा काम नहीं है हम दुनियावी लोग उनके किसी काम पर, किसी व्यवहार पर टिप्पणी करने का अधिकार नहीं रखते। ऐसा सोचना भी हमारे लिए पाप है।

जब ऐसा भक्ति भाव हो तो किसी प्रकार के तर्क की कोई गुंजाइश नहीं रहती। लगता है तमिलनाडु की जनता भी अपनी देवी, आदि पराशक्ति, महिषी जयललिता के सम्बन्ध में ऐसा ही सोचती है। भ्रष्ट्राचार, गबन, हेराफेरी, रिश्वत, काला धन, सफेद

धन, टैक्स चोरी जैसी बातें दुनियावी लोगों के लिए होती हैं, देवता अथवा देवियों के लिए नहीं। वे इन सब बातों से बहुत ऊपर होते हैं। हम कौन हैं यह प्रश्न उठाने वाले कि उनके पास कितनी सम्पत्ति है, वह उन्होंने कैसे प्राप्त की है, उसे प्राप्त करने के ढंग नैतिक थे या अनैतिक थे। हम तो केवल इतना जानते हैं कि अम्मा (जयललिता) हमारी अराध्या है, हम सब उनके अनन्य अनुयायी हैं।

तमिल जनता का मानस उस राजतंत्र जैसा दिखता है जहां राजा ईश्वर की भांति कभी कोई ग़लती नहीं करता।

(दैनिक जागरण, 14-06-2001)

क्या कुछ कर सकती है धर्मान्धता

धर्मान्धता और साम्प्रदायिकता में मुझे सदा एक ऐसी राक्षसी प्रवृत्ति नज़र आई है जो पहले दूसरों को खाती है फिर अपनों को खाना शुरू कर देती है। यही कारण है कि पहले जो झगड़े दो विभिन्न धर्मों अथवा सम्प्रदायों के मध्य शुरू होते हैं, फिर उसी धर्म के अन्दर बने, थोड़ा-बहुत मतभेद रखने वाले सम्प्रदायों के मध्य प्रारम्भ हो जाते हैं। कोई भी इसका अपवाद नहीं है। इस देश में वैष्णव, शैव, बौद्ध, जैन आदि अनेक धर्ममत और सम्द्राय प्राचीनकाल से आपस में लड़ते-झगड़ते रहे हैं। यूरोप में ईसाई धर्म के दो सम्प्रदाय कैथोलिक और प्रोंटेस्टेन्ट मध्य युग में आपसी खूनी लड़ाई में जूझते रहे हैं। जापान में कई बौद्ध सम्प्रदाय एक-दूसरे के जानी दुश्मन होने का सबूत देते रहे हैं। मुसलमानों में सुन्नियों और शियाओं के बीच की रंजिश लगभग उतनी ही पुरानी है जितना स्वयं इस्लाम का इतिहास है। मनुष्य की प्रज्ञा इन व्याधियों से मुक्ति पाने का प्रयास करती रही है। धर्म क्षेत्र में हमारे संत यह उपदेश देते रहे हैं कि विभिन्न पंथ और मजहब ईश्वर तक पहुंचने के लिये अलग-अलग मार्ग हैं। मनुष्य किसी भी नाम से उस परमसत्ता का स्मरण करे कैसी भी पूजा पद्धति अपनाए कैसा भी रूप धारण करे किसी भी धर्मग्रंथ पर अपनी आस्था रखे, इससे कोई अंतर नहीं आता, क्योंकि सभी का गन्तव्य एक ही है। अलग-अलग रास्तों से चलकर मनुष्य जिस मंजिल तक पहुंचता है, वह सब के लिए समान है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए संत·कबीर ने कहा था—

बेद कतेब कहो मत झठे,
झूठा सो जो न विचारे।

सहिष्णुता, समन्वय और सह अस्तित्व की अवधारणाओं पर चिंतनशील महापुरुषों

ने इसीलिए आग्रह किया कि मनुष्य समाज आपसी मतभेदों, आग्रहों, विवादों के रहते हुए भी एक-दूसरे के साथ सुख और शान्ति से रह सके। भारत और पाकिस्तान के मतभेदों को ही देखें। लगभग एक हजार वर्ष से हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच साढ़े पांच दशक पहले इस बात पर सहमति नहीं हो सकी कि अंग्रेजों द्वारा इस देश को छोड़ देने के पश्चात वे आपस में मिलकर इस देश का शासन चलाएंगे।

मुसलमानों की बहुसंख्या इस मत के पक्ष में चली गई कि इस देश में मुस्लिम बहुल आबादी वाले क्षेत्रों को अलग करके उनका अलग राष्ट्र बना दिया जाए। यह समस्या ऐसी नहीं थी जिसके लिए ऐसा भयानक खून-खराबा होता जैसा देश के विभाजन के समय हुआ था, किन्तु ऐसा हुआ। सारे सोच, विचार और चिंतन के ऊपर घृणा, हिंसा और रक्तपात हावी हो गया और देखते-देखते संस्कृति और सभ्यता का दावा करने वाले इंसान ने हैवानियत का अभूतपूर्व इतिहास रच दिया। पाकिस्तान का निर्माण सहिष्णुता, समन्वय और सह अस्तित्व के सभी मूल्यों को ताक पर रख कर हुआ था। धर्मान्धता की राक्षसी प्रवृत्ति ने परायों (गैर मुसलमानों) का जी भर कर भक्षण किया था। प्रायः कहा जाता है कि जिन्न को बोतल से निकालना तो आसान बात है, किन्तु उसे फिर से बोतल में बंद करना बहुत मुश्किल काम है। धर्मान्धता की राक्षसी प्रवृत्ति भी तो ऐसी ही जिन्न है स्वच्छन्द घूमती इस राक्षसी प्रवृत्ति को अपनी भूख शान्त करने के लिए कोई न कोई शिकार नित्य चाहिए। जब पराये न हों तो अपने ही सही। मुसलमानों में एक सम्प्रदाय है, अहमदिया। इसे कादियानी भी कहा जाता है, क्योंकि इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक मिर्जा गुलाम अहमद पंजाब के गरदास पुर जिले के कदियां गांव में पैदा हुए थे। और वहीं से उन्होंने अपने विचारों का प्रचार प्रारम्भ किया था। अहमदिया फिरके के लोग मिर्जा गुलाम अहमद को अपना रसूल या नबी मानते हैं।

आम मुसलमानों का विश्वास ह कि हजरत मोहम्मद आखिरी नबी थे। वे यह तो मानते हैं कि उनसे पहले संसार में अनेक नबी-पैगम्बर आए थे, लेकिन अल्लाह ने हजरत मोहम्मद को आखिरी नबी बनाकर भेजा था। अब उनके बाद और कोई नबी या पैगम्बर नहीं आएगा। मिर्जा गुलाम अहमद उन्नीसवीं सदी के अंत में जन्मे थे। मुसलमान उन्हें एक दरवेश या औलिया तो मान सकते हैं, हजरत मोहम्मद की बराबरी करने वाला एक नबीं नहीं। इतनी मतभिन्नता होते हुए भी, अहमदिये सदा अपने आपको मुसलमान मानते रहे, कुरआन मजीद पर उनकी पूरी आस्था है, हजरत मोहम्मद को वे अल्लाह का रसूल मानते हैं। उसमें सिर्फ इतना जोड़ते हैं कि मिर्जा गुलाम अहमद उनसे आगे के नबी हैं और उन्हीं के संदेश को आगे बढ़ाने के लिए अल्लाह ने उन्हें धरती पर भेजा है। परम्परागत विश्वासों वाले मुसलमानों ने अहमदियों को कभी पसंद नहीं किया, किन्तु बीसवीं सदी के मध्य यह नापसंदगी आक्रोश में नहीं बदली थी। सर जफरुल्ला खान पाकिस्तान के पहले विदेश मंत्री थे और कश्मीर समस्या को उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में बड़ी कुशलता से उठाया था। वे एक बड़े सम्मानित न्यायाधीश थे और अंग्रेजी सरकार ने उन्हें 'सर' की उपाधि से सम्मानित

किया था। सर जफरुल्ला खान अहमदिया थे। पाकिस्तान (विशेष रूप से पश्चिमी भाग) से जब हिन्दुओं-सिखें का लगभग सफाया हो गया तो कट्टरपंथियों की नजर अहमदियों की ओर मुड़ी।

सारे पाकिस्तान में अहमदिये उनके गुस्स का शिकार बनने लगे। उन पर आक्रमण शुरू हो गए, उनकी हत्याएं होने लगीं और कट्टरपंथियों द्वारा यह मांग की जाने लगी कि अहमदिया संम्प्रदाय के लोग मुसलमान नहीं हैं। कट्टरपंथी तत्वों ने पाकिस्तान सरकार पर यह दबाव डाला कि अहमदिया समुदाय को गैर मुसलमान घोषित कर दिया जाए और सारे मुल्क में उनकी वही स्थिति बना दी जाए जो अन्य अल्पसंख्यक समुदायों की है। आखिर पाकिस्तान की सरकार को कट्टरपंथियों के सामने झुकना पड़ा। जुल्फिकार अली भुट्टो के शासन काल में अहमदियों को गैर मुसलमान घोषित कर दिया गया। आज पाकिस्तान में अहमदिया समुदाय की स्थिति वैसी ही बदतर है जैसी अन्य अल्पसंख्यकों-हिन्दुओं, सिखों और ईसाइयों की हैं धर्मान्धता की कोई सीमा नहीं होती। उसे किसी भी कारण से जितना प्रश्रय मिलता है वह उतनी ही पनपती जाती है। मुश्किल यह है कि आज तक पाकिस्तान में किसी सरकार में इतनी हिम्मत नहीं हुई कि वह इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाए। यूं भी कहा जा सकता है कि आज पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान जैसे कुछ अन्य इस्लामी देशों में कट्टरतावादी धर्मान्धता अपने पूरे उभार पर है।

अफगानिस्तान की तालिबान सरकार ने तो ऐसी धर्मान्धता में अपने आपको पूरी तरह कैद कर दिया है। पाकिस्तान में आज जितने जेहादी संगठन हैं उतने पहले कभी नहीं रहे। इस समय ये जेहादी संगठन दो तरफ अपनी नज़रें गड़ाए हुए हैं। इनकी तीखी नजर भारत की ओर है, जिसे पूरी तरह नेस्तनाबूत करने और दिल्ली के लाला किले पर पाकिस्तानी झंडा फहराने के इरादे ये वक्त-बेवक्त प्रकट किया करते हैं। अधिक आश्चर्य की बात यह है कि स्वयं पाकिस्तान के अंदर ही शिया तबके के मुसलमान इन्हें अपने दुश्मन दिखाई देते हैं। पिछले कुछ वर्षो में सुन्नी और शिया मुसलमान पाकिस्तान में पूरा खूनी खेल खेल रहें हैं। संसार भर में मुसलमान मोटे तौर से दो सम्प्रदायों में बंटे हुए हैं। सुन्नी अधिक हैं और शिया कम हैं।

पाकिस्तान का सारा आन्दोलन ही मुख्यतः सुन्नी आन्दोलन था। आज पाकिस्तान में लगभग अस्सी प्रतिशत मुसलमान सुन्नी हैं। वहां शिया अपनी हालत अहमदियों जैसी नहीं बनवाना चाहते हैं। इसलिए उन्होंने भी अपने उग्र संगठन उसी तरह बना लिए हैं, जैसे सुन्नी कट्टरपंथियों ने बनाए हैं। ये संगठन एक-दूसरे तबके के लोगों पर उस समय भी आक्रमण करते हैं और गोलियों से भून देते हैं जब वे अपनी-अपनी मस्जिदों में नमाज अदा कर रहे होते हैं। एक-दूसरे तबके के धार्मिक नेता सदा कट्टरपंथियों की गोलियों के निशाने पर रहते हैं। एक-दूसरे तबकों के पारिवारिक और सामाजिक समारोह भी इस भय से ग्रसित रहते हैं कि कब दूसरे तबके के कट्टरपंथी आकर उन पर गोलियों की बौछार शुरू कर देंगे, किन्तु पाकिस्तान से, अप्रत्याशित रूप से कुछ ऐसी बातें सुनने को मिल रही हैं जो धर्मान्धिता के इस गहन कुहासे में प्रकाश की

सुनहरी किरण जैसी लगती हैं। कुछ दिन पहले ही पाकिस्तान के सैनिक प्रशासक जनरल परवेज मुशर्रफ ने वहां के जेहादी संगठनों को लताड़ लगाते हुए कहा कि उन्हें ऐसे उन्माद भरे नारे नहीं लगाने चाहिए और ऐसे आधारहीन इरादे नहीं जताने चाहिए जिससे सारे संसार में पाकिस्तान की छवि बिगड़ती हो और उसे एक आतंकवादी देश घोषित करने की बात को बढ़ावा मिलता हो। मैं समझता हूं कि जनरल मुशर्रफ पहले पाकिस्तानी शासक हैं जिन्होंने धर्मान्ध जेहादी संगठनों को ऐसी कड़ी ताड़ना दी है। जनरल मुशर्रफ ने अपने वक्तव्य में सबसे महत्वपूर्ण बात यह कही है कि जब भी पाकिस्तानी जेहादी संगठन भारत के खिलाफ ऐसी बातें करते हैं, भारत में बसने वाले पंद्रह करोड़ (पाकिस्तान से अधिक) मुसलमानों की मुश्किलें बहुत बढ़ जाती हैं। यह बहुत अच्छी बात है कि किसी पाकिस्तानी शासक को भारतीय मुसलमानों की चिंता भी सताई है। पाकिस्तानी शासक को भारतीय मुसलमानों की चिंता भी सताई है। पाकिस्तान की ओर से, उसके शासकों अथवा कट्टरपंथी संगठनों द्वारा जब इस्लाम के नाम पर जेहाद छोड़ने, भारत को नेस्तनाबूत करने, लाल किले पर पाकिस्तानी झंडा लहराने की बात की जाती है तो भारतीय मुसलमान बड़े संकट की स्थिति में पड़ जाता है और अनायास ही अपराधबोध का शिकार होने लगता है। कश्मीर में हुर्रियत संगठन के कुछ नेताओं ने भी बहुत अच्छी बात कही है। उन्होंने आतंकवादी संगठनों से कहा है कि उन्हें अपनी गतिविधियों के लिए मस्जिदों का सहारा नहीं लेना चाहिए। ऐसा करने से मस्जिदों की पवित्रता नष्ट होती है शायद ऐसी बात भी पहली बार कही गई है। आतंकवादी और उग्रवादी गतिविधियों के लिए धर्म स्थानों को कार्य स्थली बनाने के जो दुष्परिणाम निकलते हैं उन्हें हम कुछ वर्ष पहले पंजाब में देख और भुगत चुके हैं। यदि मुस्लिम नेताओं में यह चेतना उत्पन्न हो रही है कि धर्मस्थानों को ऐसी गतिविधियों का केन्द्र नहीं बनाया जाना चाहिए तो निश्चित ही यह प्रगतिवादी सोच की एक अच्छी मिसाल है।

एक बात बिल्कुल निश्चित है धर्मान्धता और साम्प्रदायिकता की राक्षसी प्रवृत्ति की पकड़ आम लोगों पर कभी मजबूत नहीं होती। आम लोग सहिष्णुता, समन्वय और सह अस्तित्व के मंत्र को जितनी अच्छी तरह जानते और पहचानते हैं उतना वे लोग नहीं जो धर्म के ठेकेदार होते हैं। पाकिस्तान की जनता भारत की जनता से बहुत प्यार करती है। पाकिस्तान की नई पीढ़ी के लिए भारत वैसा ही एक स्वप्निल देश है जैसे भारत की नई पीढ़ी के लिए यूरोप या अमेरिका है। मैंने पाकिस्तान के नौजवानों को यह कहते और महसूस करते सुना और देखा है कि आखिर हम कब तक कश्मीर समस्या के बन्धक बन कर रहेंगे? यदि यह समस्या और अगले पचास वर्ष में हल नहीं होगी तो क्या हम लगातार दिल्ली या बम्बई को देखने को तरसते रहेंगे? क्या ताजमहल और मुइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह हमारी पहुंच से सदा बाहर बनी रहेंगी? प्रश्न यही है कि क्या धर्मान्धिता की राक्षसी प्रवृत्ति को बोतल में कैद किया जा सकता हैं?

(दैनिक जागरण, 21-6-2001)

भारत पाक :
संस्कृति के अन्तर्सम्बन्ध

राजनीति के साथ सत्ता जुड़ी होती है। धन, ऐश्वर्य, प्रभुता सत्ता के माध्यम से व्यक्ति को प्राप्त होने वाली सांसारिक उपलब्धियां है। सत्ता रहित उपलब्धियों से मनुष्य का मन इतना उच्छृंखलता नहीं होता, जितना सत्ता पाकर होता है। इसके लिए वह कुछ भी कर सकता है, अपने निकटतम परिजनों के जीवन से भी वह खेल सकता है, खून की नदियां बहा सकता है, नरमुंडों के अम्बार खड़ा कर सकता है।

किन्तु संस्कृति तो संस्कार करती है। मनुष्य को बेहतर मनुष्य बनाती है, उसमें करुणा, दया, सहयोग और परदुखकातरता जैसे भावों को जन्म देती है, उनकी अभिवृद्धि करती है। प्रारम्भ से ही संसार का संचालन राजनीति करती रही है किन्तु मनुष्य में मनुष्यता की समझ राजनीति द्वारा नहीं संस्कृति द्वारा उत्पन्न होती है।

लगभग चार दशक पहले मैंने एक कहानी लिखी थी—पानी और पुल। विभाजन के 14 वर्ष बाद मेरी मां पंजा साहब तीर्थ के दर्शन करने के लिए उस ओर जाती है जिसे आज पाकिस्तान कहा जाता है। विभाजन के समय राजनीति ने जिस साम्प्रदायिक उन्माद से सारे वातावरण को दूषित कर दिया था, वह बहुत कुछ टूट चुका था। हमारे गांव के रेलवे स्टेशन पर जब गाड़ी रुकती है तो राजनीति की घृणा से उबरे उस गांव के लोग (मुसलमान) आधी रात को उस स्टेशन पर हाक लगा रहे थे कि क्या इस गाड़ी में कोई सराई (हमारे गांव सराय आलमगीर का संक्षिप्त नाम) का व्यक्ति भी है! उस समय उनके हाथों में तलवारें,. बरछे या धुरियां नहीं थीं। उनके हाथों में बादाम, किसमिस और छुहारों की छोटी-बड़ी पोटलियां थीं। राजनीति को पीछे छोड़ती हुई संस्कृति ऊपर उभर आई थी।

हिमालय की पर्वतमालाओं से लेकर हिन्द महासागर तक और काठियावाड़ से लेकर असम की असंख्य जनजातियों तक, अनेक विविधताओं से भरा हुआ हिन्दुस्तान एक देश था। इसमें एक सांझी संस्कृति विकसित हो गई थी। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से हजारों वर्ष पुराने जो अवशेष प्राप्त हुए थे, उसने पूरे देश को अपनी समृद्ध प्राचीन संसकृति का परिचय कराया था।

अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थितियों में, उससे कहीं अधिक दुर्भाग्यपूर्ण ढंग से, इस देश का विभाजन हो गया। उस समय ऐसा लगा था कि राजनीति-प्रेरित धर्मान्धता ने सभी सांस्कृतिक मूल्यों को तहस-नहस कर दिया है। राजनीति के हाथों बुरी तरह पिटी हुई संस्कृति किसी कोने में बैठी हुई रो-रोकर अपनी आंखें लाल कर रही है।

विभाजन के 35 वर्ष बाद, 1982 में मैं अपने कुछ मित्रों के साथ पाकिस्तान के जिला शेखपुरा के एक गांव 'जंडियाला शेरखान' में पंजाबी के अत्यन्त लोकप्रिय सूफी कवि सैयद वारिसशाह के उर्स में शामिल होने के लिए गया था। हमारे पाकिस्तानी मित्रों ने वहां हमारा जैसा अतिथि सत्कार किया था, वह कभी न भूल सकने वाली यादगार है। उस गांव में उर्स वाले दिन सारी रात 'हीर' गाई जाती है, जिसमें हजारों लोग शामिल होते हैं। वहीं एक बूढ़ी औरत ने मेरे कंधों पर अपना स्नेहसिक्त हाथ फेरते हुए कहा था, वे दिन कितने अच्छे थे जब हम मिल-जुलकर रहते थे—ओं किन्ने चंगे दिन सन जदों असीं रल के हिन्दे हुंदे सां।

वहीं पाकिस्तान के सुप्रसिद्ध पंजाबी कवि उस्ताद दामन की ये पंक्तियां भी हमें सुनाई गई थीं—

लाली अक्खियां दी पई दस्सदी ए,
रोये तुसीं बी हो, रोये असी बी हां।

(आंखों की लाली यह बता रही है कि आप भी बहुत रोये है, हम भी बहुत रोये हैं)

पिछले 54 वर्षों में भारत और पाकिस्तान के मध्य चार युद्ध हो चुके हैं—दो कश्मीर की सीमाओं में और दो बड़े स्तर पर। यह स्थिति बिल्कुल महाभारत जैसी है। कौरव और पांडव आपस में भाई भी हैं और शत्रु भी है। जब तक भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और स्वयं भगवान कृष्ण किसी प्रकार इनमें संस्कृति प्रेरित भातृत्व को बनाए रखने में सफल होते हैं, इनकी समृद्धि बनी रहती है। जब सत्ता-उन्मादी दुर्योधन यह कह देता है कि मैं सुई की नोक बराबर धरती भी अपने चचेरे भाइयों को देने को तैयार नहीं हूं तो संस्कृति मुंह के बल धरती पर गिर जाती है और राजनीति कौरवों और पांडवों का लगभग विनाश कर देती है।

भारत और पाकिस्तान की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है। दोनों देशों के संस्कृतिकर्मी जानते हैं कि राजनीति हममें कितनी भी दरारें क्यों न डाल दें, इस विशाल भूभाग के सांस्कृतिक सूत्र एक-दूसरे के साथ पूरी तरह गुंथे हुए हैं। इस देश का प्राचीन

विश्वविद्यालय तक्षशिला भी पाकिस्तान में है। गुरुनानक का जन्म स्थान ननकाना साहब (जिला शेखूपुरा) और निर्वाण स्थान करतारपुर दोनों ही पाकिस्तान में है। वेदों की रचना जिस भूभाग पर हुई, झेलम के किनारे जिस पौरवराज (पोरस) ने विदेशी आक्रान्ता अलक्खेंद्र (सिकन्दर) का वीरतापूर्वक सामना किया था, वह क्षेत्र भी पाकिस्तान में है।

और इस ओर सांस्कृतिक अन्तर्सम्बन्धों की तो अनन्त कड़ियां है। ख्वाजा मुइउद्दीन चिश्ती की दरगाह अजमेर में और हजरत निजामुद्दीन औलिया की दरगाह दिल्ली में है। अमीर खुसरो, से लेकर रघुपति सहाय फिराक गोरखपुरी तक की उर्दू काव्यधारा के सभी महत्वपूर्ण चिह्न इस धरती पर सुरक्षित हैं। आगरा का ताजमहल, फतेहपुर सीकरी, हैदराबाद की चार मीनार इसी धरती पर हैं।

पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी के नेता और पाकिस्तान की सेनेट के पूर्व सदस्य श्री ऐतज़ाज़ अहसन ने हाल में ही एक पुस्तक लिखी है—द इंडस सागा। इस पुस्तक की पाकिस्तान में बड़ी चर्चा है। श्री अहसन ने लिखा है कि पाकिस्तान सिंधु (इंडस) नदी द्वारा सिंचित भूमि पर बसा हुआ है। इसी नदी के तट पर वेदों की रचना हुई थी। पाकिस्तान उन्हें अंगीकार नहीं कर सकता। हमें कृष्ण और इन्द्र जैसे देवताओं को भी अस्वीकार नहीं करना चाहिए। इससे इस्लाम प्रदूषित नहीं होता।

इस्लाम का जन्म अरब प्रदेश में हुआ था, किन्तु उसका प्रसार संसार के अनेक देशों में हुआ। इन देशों ने धर्म के रूप में इस्लाम को स्वीकार किया किन्तु उसका समन्वय अपनी भूमि की संस्कृति से कर लिया। ईरान में सांस्कृतिक दृष्टि से इस्लाम का जो रूप है वह अरब में नहीं है। इंडोनेशिया में तो उन्होंने इस्लाम ग्रहण करने के बावजूद अपने प्राचीन सांस्कृतिक नाम सुरक्षित रखे हुए हैं। सुकर्णो, सुहात्रों, सुकर्णपुत्री मेधावती जैसे नाम सर्व साधारण में प्रचलित और पूरी तरह स्वीकृत नाम हैं।

इस देश में भी अरबी इस्लाम का स्थानीय संस्कृति से बहुत दूर तक समन्वय हुआ। सच तो यह है कि इस देश में अरबी इस्लाम बहुत सीमित दायरे में रहा, व्यापक रूप से जो इस्लाम यहां फैला वह ईरान से आया फारसी इस्लाम था। तेरहवीं-चौदहवीं सदी में फारसी के प्रसिद्ध शायर अमीर खुसरो ने पंजावी, खड़ी बोली, व्रज, राजस्थानी और हरयानी भाषाओं के शब्दों से एक नई बोली विकसित की जिसे उन्होंने हिन्दवी कहा और इसमें रचना भी की।

भारत और पाकिस्तान, इन दोनों ही देशों के सांस्कृतिक अन्तर्सम्बन्धों को सबसे अधिक बल सूफी काव्य से मिलता है। दोनों ही पंजाबों में वारिसशाह बुल्लेशाह, सुलतान बाहू, हाशिम और कादर यार बहुत लोकप्रिय हैं। मलिक मोहम्मद जायसी, कुतबन, मंझन और उस्मान जैसे अवधी के कवियों ने सदियों तक इस देश के बहुत बड़े भूभाग के निवासियों को उनकी धार्मिक मान्यताओं की विभिन्नता के बावजूद, रससिक्त रखा है।

एक बार लाहौर में आयोजित एक संगोष्ठी में वहां के मेरे एक मित्र और संस्कृतिकर्मी सैयद सिब्तुल हसन जैगम ने बड़े दावे से कहा था, बाबा नानक जितने

हमारे हैं, उतने आपके नहीं हैं। उनका जन्म भी यहीं हुआ था और जीवन के अंतिम वर्ष भी उन्होंने यही बिताए थे। उन पर हमारा हक आपसे कहीं ज़्यादा है।

मैंने उस समय यही कहा था—मैं जैग़म साहब की भावना का आदर करता हूं, किन्तु देश के विभाजन के बावजूद हम अपने गुरुओं, संतों, पीरों को न बांटे तो अच्छा है। ये सभी संस्कृतिकर्मी लोग थे। राजनीतिकों द्वारा बनाई सीमाओं में इन्हें बांधकर हम इनके साथ भयंकर अन्याय करेंगे। ये लोग संस्कृति के वाहक हैं, संस्कृति के अन्तर्सम्बन्धों को जोड़ने वाले हैं।

पाकिस्तान के राष्ट्रपति जनरल परवेज़ मुशर्रफ का भारत आना और भारत के प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी से संवाद करना बहुत अच्छी बात है। राजनीति यदि दो पक्षों के बीच में आए हुए तनाव को कुछ कम कर दे और आपसी संवाद को बढ़ावा दे तो सेनाओं को बैरकों में रहने का सुख मिलता है, व्यापारियों-उद्योगपतियों को अपने क्षेत्रों का विस्तार करने का अवसर मिलता है, किन्तु इसका सबसे अधिक और सबसे सार्थक लाभ संस्कृतिकर्मियों को मिलता है। एक ओर पंजा साहब, ननकाना साहब और कटासराज की यात्राएं आसान हो जाती हैं तो दूसरी ओर भारत भर में फैली हुई सूफी औलियों की दरगाहों पर श्रद्धाभरी चादरें चढ़ाने की अगणित आकांक्षाएं तृप्ति पाती हैं।

कुछ वर्ष पहले जब पाकिस्तान के मशहूर शायर अहमद फराज यहां आए थे तो उन्होंने अपनी एक नज़्म में कहा था—

तुम्हारे देश में आया हूं दोस्तों अबके,
न साजो नग़मा की महफिल न शायरी के लिए
अगर तुम्हारी अनाही का सवाल है तो,
चलो मैं हाथ बढ़ाता हूं दोस्ती के लिए

इस भावना का आदर करते हुए भारत के जाने-माने शायर अली सरदार जाफरी ने कहा था—

तुम आओ यूं गुलशने लाहौर से बरदोश,
हम आएं सुबहे बनारस की रोशनी लेकर
फिर उसके बाद यह पूछें कि कौन दुश्मन है?

केवल भारत-पाकिस्तान की जनता ही नहीं, सारे संसार के लोग आज इस बात की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे हैं कि भारत और पाकिस्तान की सरकारों के मुखिया आपस में बातचीत करके क्या कोई ऐसा रास्ता निकालने में सफल हो पाएंगे जो अनेक उलझी हुई राजनीतिक समस्याओं के बावजूद दोनों देशों के सांस्कृतिक अन्तर्सम्बन्धों की सही और सार्थक पहचान कर सकने की दिशा में कुछ पहल कर सके।

(दैनिक जागरण, 12-7-2001)

पंजाब में भटकाव की राजनीति बार-बार उभरती है

गत कुछ दशकों में पंजाब की राजनीति में भटकाव लाने का प्रयास कुछ लोग निरन्तर करते रहे हैं। इस समय इस कार्य की बागडोर वर्षों तक विदेशों में रहे जगजीत सिंह चौहान ने अपने हाथों में ले ली है। कुछ महीने पहले जब वे लम्बे समय बाद भारत लौटे थे तो इस बात पर विवाद छिड़ गया था कि इतने वर्षों तक देश के बाहर रह कर स्वतन्त्र सिख-राज्य 'खालिस्तान' का आंदोलन चलाने वाले इस व्यक्ति को भारत वापस आने देना चाहिए था या नहीं। भारत वापस आ कर जब उनसे खालिस्तान सम्बन्धी कुछ प्रश्न पूछे गए तो उन्होंने बड़े विचित्र प्रकार के उत्तर दिए। कहा कि खालिस्तान तो एक बड़ा पवित्र शब्द है। लोगों ने इसकी बड़ी ग़लत व्याख्या कर दी है।

जगजीत सिंह चौहान ने 'खालिस्तान' की खालसा शब्द के साथ जोड़कर उसे समानार्थी बनाने का बड़ा मानसिक व्यायाम किया, यह जानते हुए भी कि लोग इस बात को भली प्रकार जानते हैं कि तीन सौ वर्ष पहले गुरु गोबिंद सिंह ने जिस खालसा अनुशासन की स्थापना की थी उसका उद्देश्य और मन्तव्य वह नहीं था जो 'खालिस्तान' की मांग करने वाले कुछ भ्रमित लोगों का है। खालसा पंथ की स्थापना अधर्म और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए किया गया था। इस संघर्ष में पूरा देश उनके साथ था इसका प्रमाण यह है कि सबसे पहले जिन पांच व्यक्तियों ने गुरु गोबिन्द सिंह के सम्मुख अपने सिर अर्पित किये थे उनके एक दयाराम लाहौर का खत्री, दूसरा हस्तिनापुर (मेरठ) का जाट धर्मदास, तीसरा जगन्नाथ पुरी (उड़ीसा) का कहार हिम्मत राय, चौथा द्वारका (गुजरात) का धोबी मोहकचंद और पांचवा बीदर का नाई साहबचंद

था। ये पांच प्यारे संपूर्ण भारत का प्रतिनिधित्व तो करते ही थे, इनमें अधिसंख्य पिछड़े और दलित वर्ग के होने के नाते देश की बहुसंख्यक जनता के भी प्रतिनिधि थे। खालिस्तान की मांग तो गुरु गोविन्द सिंह के आदर्शों के एकदम विपरित इस देश को विघटित करने की मांग है।

आठवें दशक में पंजाब के कुछ लोगों ने यह कहना शुरू किया 'सिख एक अलग कौम है।' 'कौम' शब्द अरबी भाषा का है जिसे अनेक अर्थों में व्यवहार में लाया जाता है। यह शब्द जाति, वंश, समुदाय बिरादरी का अर्थ भी देता है और पाकिस्तान में इसका प्रयोग राष्ट्र के अर्थ में भी होता है। जहां तक वर्ग, धर्म और बिरादरी का सवाल है, इस बात का कोई विवाद नहीं रहा है कि सिख एक अलग कौम हैं, किंतु जिन्होंने यह बात उठाई थी उनके मन में पाकिस्तान के निर्माता मोहम्मद अली जिन्ना का यह विचार पल रहा था कि अविभाजित भारत में बसने वाले दो प्रमुख समुदाय-हिन्दू और मुसलमान दो अलग कौमें अथवा दो अलग राष्ट्र हैं। इसी आधार पर उन्होंने भारत में बसने वाले मुसलमानों के लिए एक पृथक राष्ट्र की मांग की थी।

पाकिस्तान बन अवश्य गया, किंतु मुसलमान एक अलग कौम है इस बात की पुष्टि नहीं हुई। यदि यह सिद्धान्त तर्क संगत होता तो पूर्वी पाकिस्तान टूटकर अलग राष्ट्र बंगलादेश न बनता। आज भी पाकिस्तान में पंजाबियों, सिंधियों, बलोचियों और पख़्तूनियों को अलग-अलग कौम माना जाता है। अब मुहाज़िरों के नेता अल्ताप हुसैन यह मांग कर रहे हैं कि मुहाज़िरों को पाकिस्तान में एक अलग कौम के रूप में स्वीकार किया जाए।

जिन्होंने पंजाब में यह बात उठाई थी उनकी मंशा भी यही था कि संसार के सम्मुख यह बात रखी जाए कि सिख एक अलग राष्ट्र हैं और खालिस्तान की मांग उसी तरह की मांग है जैसी पाकिस्तान की थी। इस बात को यहां के कुछ भ्रमित अकाली नेताओं ने तो उठाया ही था, इसे सबसे ज्यादा हवा विदेशों में बसने वाले कुछ भविष्य (हीन) दृष्टाओं ने दी थी। इनमें अमेरिकावासी गंगा सिंह ढिलों और इंग्लैंडवासी जगजीत सिंह चौहान सबसे आगे थे।

इस एक बात ने पंजाब को वर्षों तक संकट के घने काले बादलों से घेरे रखा। विदेशों में बसने वाले सिख बुरी तरह भ्रमित हुए। अशांति के उस दौर में केवल पंजाब में ही पच्चीस हज़ार से अधिक लोग मारे गए। जितनी सम्पत्ति नष्ट हुई उसका कोई हिसाब नहीं।

किन्तु पंजाब की जनता (विशेष रूप से सिख जनता) ने खालिस्तान की मांग को पूरी तरह ठुकरा दिया। उसने गुरु गोविन्द सिंह के स्वप्नों से खिलवाड़ किया जाना पसंद नहीं किया। परिणाम स्वरूप खालिस्तानी अलगाववाद से प्रेरित आतंकवाद समाप्त हुआ और पंजाब देश की मुख्यधारा में लौट आया।

किन्तु पंजाब की राजनीति में अकाली धड़ों की राजनीति इतनी विषम है कि

इससे प्रेरित होकर असंतुष्ट गुटों के नेता विचित्र प्रकार के सिद्धांत और विचार लोगों के सामने रखते हैं। ऐसा ही एक सिद्धान्त लगभग सात वर्ष पहले सं. प्रकाश सिंह बादल के अकाली दल के विरोधी अकाली धड़ों के नेताओं ने लोगों के सामने रखा था, क्योंकि यह सिद्धान्त अमृतसर में अकाल तख़्त की सरपरस्ती में बनाया गया था इसलिए इसे अमृतसर घोषणा पत्र कहा गया।

इस घोषणापत्र में कुछ विचित्र-सी बातें कहीं गई थीं। सबसे विचित्र बात यह कि भारत एक राष्ट्र नहीं है, अनेक राष्ट्रीयताओं से बना हुआ एक उपमहाद्वीप है। सिख इस उपमहाद्वीप में एक अलग राष्ट्र है। दूसरी बात यह कि इस देश में संघीय (फेडेरल) ढांचा नहीं, महासंघीय ढांचा (फनफेडेरल) चाहिए।

जब मैंने अमृतसर घोषणापत्र को पढ़ा तो मेरी पहली प्रतिक्रिया यह थी कि इस घोषणापत्र को जिन लोगों ने तैयार किया है, उन्हें राजनीति शास्त्र में प्रयुक्त होने वाले शब्दों, उनके अर्थों, वर्तमान संसार के विभिन्न देशों, प्रचलित शासन प्रणालियों आदि की रत्ती भर भी जानकारी नहीं है। बाद में मुझे पता लगा कि पंजाब के कुछ विश्वविद्यालयों के बुद्धिजीवियों ने यह घोषणापत्र तैयार किया था। कोई घोषणापत्र इतना अधकचरा और अविवेकपूर्ण हो सकता है, इसकी कल्पना करना भी दूभर है।

उस समय मैंने इस घोषणापत्र के संबंध में कुछ लेख पंजाबी समाचार पत्रें में लिखे थे और इसकी सभी भ्रान्तियों को लोगों के सामने रखा था। भारत एक उपमहाद्वीप नहीं एक राष्ट्र है। इसका अपना एक संविधान है सम्पूर्ण संसार में इसकी स्वीकृति एक राष्ट्र के रूप में है। दो-चार व्यक्तियों के कहने से इस राष्ट्र का चरित्र तो नहीं बदल जाएगा। यदि कोई ऐसा सोचता है तो निश्चित ही वह मूर्खों के संसार में जीता है।

भारत की शासन प्रणाली संघीय (फेडेरल) शासन प्रणाली है। हमारा संविधान इस कथन से आरम्भ होता है कि भारत राज्यों का एक संघ होगा। संसार के अनेक देशों में संघीय शासन-प्रणाली है। अमेरिका, कनाडा, रूस, स्वीटजरलैंड, पाकिस्तान आदि अनेक देश ऐसे हैं, इन देशों में अलग-अलग राज्य (स्टेट्स) होते हैं। उनकी विधान सभाएं होतीं हैं, उनका मुख्यमंत्री होता है। सभी राज्य मिलकर केन्द्र सरकार का गठन करते हैं। एक केन्द्र और राज्यों में यह विवाद और खींचातानी चलती रहती है कि कितने और कौन से अधिकार केन्द्र के पास होने चाहिए और कितने राज्य सरकारों के पास।

जब कुछ स्वतन्त्र राष्ट्र आपस में मिलकर कुछ समझौते करते हैं तो उनसे एक महासंघ (कनफेडेरशन) बनता हे। इस कनफेडेरशन के सदस्य कुछ विषय सुरक्षा, मुद्रा, संचार व्यवस्था आदि महासंघ की केन्द्रीय सामति को सौंप देते है। यह बात महासंघ में शामिल स्वतन्त्र राष्ट्रों के आपसी समझौतों पर निर्भर करती हैं डॉ. राम मनोहर लोहिया यह बात प्रायः कहते थे कि भारत पाकिस्तान-नेपाल-भूटान, श्रीलंका, बर्मा

(म्यांमार) आदि देशों को अपना एक महासंघ बना लेना चाहिए। आज भी अनेक राजनेता यह अभिलाषा व्यक्त करते रहते हैं। महासंघ के सदस्य अपनी प्रभुसत्ता का समर्पण नहीं करते हैं और वे जब चाहें संघ की सदस्यता से अलग हो सकते हैं।

मुझे आज इस बात की प्रसन्नता है, संतोष भी हैं, कि अमृतसर घोषणापत्र कुछ ही महीनों में अपनी मौत आप मर गया। संभवतः इसमें कुछ योगदान मेरा भी था।

अब जगजीत सिंह चौहान फिर कुछ वैसी ही अविवेकपूर्ण बातें कर रहे हैं। हाल में समाचार पत्रों के नई दिल्ली में एक संवाददाता सम्मेलन में बोलते हुए उन्होंने कहा कि खालिस्तान का आन्दोलन आज भी चल रहा है और उस समय तक चलता रहेगा जब तक सिखों को एक अलग राज्य नहीं मिल जाएगा। उनका कहना है कि वर्तमान भारतीय संविधान को बदलकर उसके स्थान पर एक नया संघीय ढांचा लाया जाना चाहिए। इस स्थिति में सिख भारतीय राष्ट्र के अन्तर्गत रहने की बात सोच सकते हैं। चौहान चाहते हैं कि भारत को अमरीकी ढंग से नया नाम दिया जाए–'संयुक्त राज्य भारत'। वे यह भी कहते हैं कि हाल ही बने यूरोपीय संघ की तरह दक्षिण एशिया का एक महासंघ बन जाए।

जगजीत सिंह चौहान अपने आपको भारतीय नागरिक मानते हैं, यद्यपि उनके पास ब्रिटेन का पासपोर्ट है। वे चाहते हैं कि उन्हें भारतीय पासपोर्ट मिल जाए, किन्तु भारत आने के बाद से ही वे जैसी उट-पटांग और अनर्गल बातें करे रहे हैं उससे तो यही लगता कि पंजाब में उनकी उपस्थिति वहां की राजनीति को फिर से भटकाव की ओर ले जाने में ही सहायक होगी।

(दैनिक जागरण, 30-08-2001)

साख का संकट गहरा गया है

उर्दू का एक शेर है–

कारवां लुटा मताए कारवां जाता रहा।
कारवां के दिल से अहसासें जियां जाता रहा।

अर्थ है–कारवां लुट गया। कारवां की सारी पूंजी चली गई। कोई बात नहीं। अफसोस इस बात का है कि कारवां के दिल से अपने नुकसान का अहसास भी जाता रहा।

इस देश की स्थिति भी लगभग ऐसी ही है। यहां हमारी साख का कारवां हर दिन लुटा जाता है तीन दिन तक हम एक लुटे हुए मुसाफिर की तरह हाय-तौबा मचाते हैं। चौथे दिन हम सब कुछ भूल जाते हैं और बड़ी विरक्तिपूर्ण मुद्रा बनाकर कहने लगते हैं–यह संसार तो काजल की कोठरी हैं। इसमें कितना भी सयाना, कितना भी ईमानदार व्यक्ति जाए, उसे काजल की एक लकीर तो लग ही जाती है–

काजर की कोठरी में कितनी ही सयानो जाए,
एक लीक काजर की लागिहै, पै लागिहै।

इस स्थिति में इतना अंतर अवश्य आया है कि पहले सफेद कपड़ों पर एक धब्बा लगता था और वह भी किसी को शर्मसार करने के लिए पर्याप्त होता था। आज पूरा कुरता (या साड़ी) काले धब्बों से भर जाए तो भी व्यक्ति की मुद्रा का तीखापन कम नहीं होता। वह बड़ी शान से, माथा ऊंचा करके, सार्वजनक रूप से बड़बोले वक्तव्य देता हुआ, काले धब्बों के लिए नए तर्क गढ़ता हुआ सभी ओर विचरण करता है। लज्जा जैसी कोई भी बला उसे किसी भी तरफ से स्पर्श नहीं करती है।

एक बार सुप्रसिद्ध न्यायविद नानी पालकीवाला ने अपने एक साक्षात्कार में कहा था—"यदि मैं एक अपराधी होता तो मैं सचमुच अपनी सरगरमियों का क्षेत्र अन्य किसी देश को बनाने की अपेक्षा भारत को बनाता, क्योंकि मैं जानता हूं यहां मेरा कुछ नहीं बिगड़ता। जिस रफ्तार से हम चल रहे हैं उससे तो यही लगता है कि हम बहुत शीघ्र इस देश को चोरों (भ्रष्टाचारियों) का अड्डा बना देगें।"

सामाजिक और वैयाक्तिक दृष्टियों से जब मूल्य टूटते हैं तो उनकी अपनी शैली होती है। प्रारम्भ में टूटते हुए मूल्यों से मन में कुछ धिक्कार का भाव उपजता है। अगली स्थिति वह है जब व्यक्ति के सम्मुख लोकलाज प्रमुख हो उठती है और बहुत से काम वह सिर्फ इसलिए नहीं करता कि लोग क्या कहेंगे। उसके बाद पुलिस और कानून का भय उसे रोकता है।

अंतिम स्थिति में व्यक्ति एकदम निर्लज्ज हो जाता है और सभी काम बड़े धड़ल्ले से करता है क्योंकि वह जानता है कि उसके विरूद्ध जो लहर उठी है, वह दो चार दिन में शान्त हो जाएगी। जो पैसा मैंने बना लिया है (किसी भी तरह) वह मुझे मेरी राजनीतिक शक्ति को उभारने में बहुत सहायक होगा। यदि मेरे हाथों में शक्ति होगी तो सत्ता की दौड़ में मेरी भी पूछ होगी। उस समय नैतिकता, पारदर्शिता, प्रामाणिकता की बड़ी-बड़ी बातें करने वाले नेताओं को मेरे सहयोग की जरूरत होगी। उस समय उन्हें याद नहीं रहेगा कि मेरे नाम के साथ कौन से घोटाले जुड़े हुए है।

पिछले दिनों डाट काम ने सारे देश में सनसनी पैदा कर दी थी, दूसरे शब्दों में तहलका मचा दिया था। इसने एक खास बात उजागर की है कि जितना बड़ा घोटाला रक्षा सौदों में हो सकता है उतना अन्य किसी क्षेत्र में नहीं। भारत प्रतिवर्ष अपनी सुरक्षा आवश्यकताओं के लिए सत्तर हजार करोड़ रुपये खर्च करता है। कारगिल युद्ध के पश्चात इस बात की और अधिक आवश्यकता अनुभव की गई कि देश के पास सीमाओं की सुरक्षा के लिए आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्र होने चाहिए। तहलका टीम ने अपनी खोजों के आधार पर जो रहस्योद्घाटन किए हैं उससे लगता है कि प्रत्येक-प्रतिरक्षा सौदा घोटाले और रिश्वत खोरी के काले धुएं से घिरा होता है। इसमें राजनेता शामिल होते है।, सेना अधिकारी होते हैं, सरकार अपराधशाही लिप्त होती है और ऐसे सौदों के प्रभावशाली दलाल होते हैं। यदि यह मान लिया जाए कि ऐसे सौदों में 10 से 15 प्र. श. की दलाली और रिश्वतखोरी होती है तो यह रकम अरबों में पहुंच जाती है।

तहलका द्वारा किए गए रहस्योद्घाटनों में एक शब्द बार-बार सुनाई दिया 'लालच' (ग्रीड)। नीचे से लेकर ऊपर तक (या ऊपर से नीचे तक) हर व्यक्ति किसी भी तरह कुछ धन बटोर लेने के लालच से बुरी तरह से ग्रस्त है। सेना में मेजर से लेकर मेजर जनरल तक, दफ्तरों में सेक्शन आफीसर से लेकर सचिव तक हर व्यक्ति यही पूछता है कि मुझे क्या देते हो? कितना देते हो? हर व्यक्ति बिकाऊ दिखता है। इनकी परख करने वाला दलाल केवल यह देखता है कि किसी कितनी कीमत लगानी है।

सबसे विचित्र और हास्यास्पद स्थिति राजनेताओं की है। देश की एक लोकप्रिय पत्रिका ने पांच बड़े नगरों—दिल्ली, कोलकत्ता, मुबंई, चैन्नई और बंगलौर में एक सर्वेक्षण किया। उसमें लोगों से पूछा गया कि राजनेता, सैनिक अधिकारी, अफसरशाही में से अधिक भ्रष्ट कौन है? सभी नगरों में लोगों की राय लगभग एक जैसी थी। 85 प्र. श. से नब्बे प्र. श. तक ने कहा था कि राजनेता सबसे अधिक भ्रष्ट हैं। कैसी दयनीय स्थिति है। देश का सारा शासन तंत्र राजनेताओं के हाथ में है और जनता में उनकी साख इतनी गिरी हुई है। यदि नेता भ्रष्ट हैं तो शासन तंत्र चलाने वाले-चपरासी से लेकर सचिव तक इस माया जाल से अछूते कैसे रहेंगे? सेना के विषय में अभी तक लोगों की धारणा बहुत साफसुथरी और सकरात्क रही है। एक सामान्य सैनिक से लेकर उच्चतम अधिकारी तक के लिए लोगों के मन सम्मान का भाव होता है और उनकी कुर्बानियों के लिए लोग सत्कार से भरे होते हैं, किन्तु तहलका डाट काम ने उनकी इस छवि को गहरी चोट पहुंचाई है।

बात में राजनेताओं की कर रहा था। तहलका के टेप पर करोड़ों लोगों ने भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष बंगारू लक्ष्मण को एक लाख रुपये किसी से लेते और उसे अपनी मेज़ की दराज़ में रखते हुए देखा। उनका कहना है कि यह धन उन्होंने पार्टी फंड के लिए लिया था, अपने लिए नहीं।

यह पार्टी फंड क्या चला है? एक समय केन्द्रीय मंत्रिमंडल के सदस्य सुखराम के घर पर साढ़े तीन करोड़ से अधिक की नकद धनराशि निकली थी। जब उनसे पूछा गया था तो उनका उत्तर था—यह तो पार्टी फंड का रुपया है। नागरवाला कांड को आज लोग भूल गए हैं। उस समय श्रीमती इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री थीं। एक व्यक्ति स्टेट बैंक के मुख्यालय में आता है। वहीं लगे एक पब्लिक बूथ से इंदिरा गांधी की आवाज़ बनाकर बैंक के उच्च अधिकारी से बात करता है और साठ लाख से अधिक की रकम बिना किसी प्रकार की औपचारिकता निभाए थैले में भर कर ले जाता है। इंदिरा गांधी ने स्टेटे बैंक के लाकर में बिना हिसाब-किताब का कितना रुपया रखा हुआ था कोई नहीं जानता, किन्तु था तो वह भी पार्टी फंड ही। जब पी. वी. नरसिंह राव प्रधानमंत्री बने थे, उस समय कांग्रेस पार्टी के पास पूर्ण बहुमत नहीं था उस समय बहुमत बनाने के लिए झारखंड मुक्ति मोर्चा के नेताओं की खरीद पर तीन करोड़ रुपये खर्च हुए थे। यह धन किस फंड से दिया गया था? श्री नरसिंह राव और उनके मंत्रिमंडल के सहयोगी बूटा सिंह पर इस मामले को लेकर मुकदमा भी चला। निचली आदालत ने उन्हें इस रिश्वतखौरी के लिए दोषी भी पाया है। यह रुपया भी तो पार्टी फंड के नाम पर ही जमा किया गया होगा।

भारत ही संभवतः संसार का एक देश है जिसमें पिछले वर्षों में कितने ही घोटाले हुए है, उनका भेद भी खुला है, दोषी नामंकित भी हुए हैं, किन्तु आश्चर्य की बात है कि आज तक किसी भी बड़े राजनेता को दंडित नहीं किया गया है। सुखराम का

क्या बिगड़ गया? जयललिता पर भ्रष्टाचार और घोटाले के कितने ही मामले हैं। तमिलनाडु की अनेक अदालतों में चले मुकदमों में उन्हें दोषी भी पाया गया है। निर्वाचन आयोग ने उन्हें चुनाव लड़ने के लिए आयोग्य पाया, किन्तु उनकी पार्टी-ए. डी. एम. के. को प्रबल बहुमत मिला और वे तमिलनाडु की मुख्यमंत्री बन गई।

कुछ वर्ष पहले एक समाचार पत्र ने कुछ चर्चित की सूची प्रकाशित थी—1992 का प्रतिभूतियों का घोटाला-पांच हज़ार करोड़ रुपये, 1994 का चीनी घोटाला छह सौ पचास करोड़ 1995 का चारा घोटाला छह सौ करोड़, 1995 का हाउसिंग घोटाला सत्रह करोड़ रुपये, 1995 का हवाला घोटाला पैंसठ करोड़, झारखंड मुक्ति मोर्चे का रिश्वत घोटाला तीन करोड़, 1996 का यूरिया घोटाला एक सौ तैंतीस करोड़, 1996 का चिकित्सा संयत्र घोटाला एक हज़ार करोड़, और 1996 का ही टैलीकाम घोटाला बारह सौ करोड़। हवाला केस को छोड़कर किसी अन्य घोटाले को दिन का प्रकाश नहीं मिला।

1997 में स्वीटजर लैंड के एक अधिकारी ने बताया था कि भारतीय राजनेताओं और व्यापारियों के स्विश बैंकों के गुप्त खातों में चालीस हज़ार करोड़ रुपये जमा हैं। पिछले तीन-चार वर्षो में यह रकम और बढ़ गई होगी। भ्रष्टाचार और घोटालों के मामले में हमने कीर्तिमान स्थापित किया है। एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ट्रान्सपेरेन्सी इंटरनेशनल, ने भ्रष्टाचार के मामले में संसार के 90 देशों में भारत का स्थान 73 वां निर्धारित किया है। अपने देश और संस्कृति पर गर्व करने वालों के लिए इतना संतोष कम नहीं है कि संसार के कम से कम 13 देश तो ऐसे हैं जो हमसे भी ज्यादा भ्रष्ट है।

हाल में तहलका के माध्यम से रिश्वत के रूप में महिलाओं के इस्तेमाल की चर्चाएं चली हैं उन्होंने हमारे सभी जैतिक मूल्यों की धज्जियां उड़ा दी हैं। पहली बार जब इन घटनाओं का उद्घाटन हुआ था, उस समय ग्रीड (लालच) भी जुड़ गया है।

आज की अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि आज़ादी के बाद से निरन्तर हमारे सार्वजनिक मूल्यों का क्षरण होता गया है। जीवन में महत्व रखने वाली संस्थाएं की प्रतिष्ठा लगातार नीचे गिरती चली गई है। अब राष्ट्रपति पद की वह गरिमा नहीं है, राज्यों के राज्यपाल बहुत बार केन्द्र सरकार के इशारों पर नाचने वाली कठपुतलियों जैसे लगते हैं। संसद और राज्यों की विधान सभाएं बिल्कुल बाजारू किस्म की हुल्लड़बाजी का अड्डा बनी दीखती हैं। सांसद या विधायक बनने के लिए अपराधी तत्वों की सहायता आम बात है। अब तो ऐसे तत्व इन विधान मंडलों के सदस्य चुने आते हैं और लगातार कानून और व्यवस्था की छज्जियां उड़ाते घूमते हैं। सबसे बड़ी बात कि साख का गहरा संकट उत्पन्न हो गया है।

(दैनिक जागरण, 6-9-2001)

बिना चेहरे वाला शत्रु

जो स्थितियां इस समय उत्पन्न हो गई हैं, वे सारे संसार के लिए अभूतपूर्व हैं। मनुष्य का इतिहास युद्धों-संघर्षों से भरा हुआ इतिहास है। आमतौर पर यह कहा जाता है कि इतिहास और कुछ नहीं राजाओं का एक-दूसरे पर आक्रमण, राज्य विस्तार की इच्छा और उसके लिए संघर्षों की एक लंबी कहानी मात्र है। इसमें सामान्य जनता की सीधे-सीधे कोई बड़ी जिम्मेदारी नहीं रही, किन्तु होता यह रहा है कि युद्धों में कुछ सौ या कुछ हजार सैनिक मारे जाते है, उसके मुकाबिले निरीह और निरुपाय जनता लाखों की गिनती में पीड़ित होती रही हैं। आक्रमणकारी सेनाएं जब किसी दूसरे राज्य में घुमती थीं तो मार्ग में पड़ने वाले खेत-खलिहानों को उजाड़ती जाती थीं, गांवों को आग लगाती जाती थीं और लोगों की धन-सम्पत्ति को लूटना उन्हे अपने सैनिक-कर्म का एक हिस्सा लगता था। मध्ययुग में तो बहुत से शासक अपने नियमित-अनियमित सैनिकों को वेतन या तो देते ही नहीं थे, या नाममात्र का देते थे। उनकी सेना में लोग लूट-पाट के लोभ से ही भरती होते थे। इसकी सैनिकों को खुली छूट होती थी। यही उनकी जीविका का मुख्य साधन होता था।

युग बदल गया है। अब राजाओं की नहीं राष्ट्रों की सेनाएं होती हैं। उनका नियमित प्रशिक्षण होता है, उनका निश्चित वेतन होता है और शत्रु की सीमाओं में भी उन्हें वह कुछ करने की छूट नहीं होती, जो मध्ययुग में हुआ करता था।

इस युग में युद्ध की भी कुछ नैतिकताएं हैं, उनकी भी कुछ सीमाएं हैं। इसके बावजूद कि आज के युद्धों में भी बहुत से निर्दोष और निरुपाय व्यक्ति मारे जाते हैं, विश्व समुदाय ने मिलकर कुछ मान्यताएं निश्चित की हैं। इनके अनुसार नागरिक बस्तियों पर आक्रमण नहीं किए जाते हैं, धर्म स्थानों, विद्या केंद्रों, अस्पतालों आदि को भी निशाना नहीं बनाया जाता। यदि शत्रु सैनिकों को बंदी बनाया जाता है तो उनके साथ भी मानवीय व्यवहार किया जाता है शत्रु के मृत सैनिकों की लाशों को पूरे सम्मान

के साथ शत्रु पक्ष को सौंप दिया जाता है। युद्ध जैसे क्रूर कर्म में क्रूरता न बरती जाए यह अपेक्षा सभी पक्षों से की जाती है।

किन्तु इस समय जो युद्ध शुरू हो गया है, उसके रंग-ढंग बहुत अनजाने और अनोखे हैं। शत्रु बहुत व्यापक है। सारे संसार में उसका जाल फैला हुआ है, किन्तु यह कोई राष्ट्र या राज्य नहीं है, हालांकि इसे कुछ राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त है। आतंकवाद नाम के इस शत्रु का कोई चेहरा नहीं है, किन्तु किन्हीं व्यक्तियों के माध्यम से दिखने वाले चेहरे बहुत भयावह हैं। उदाहरण के लिए आतंकवाद का प्रतीक बनकर जो चेहरा इस समय सारे संसार में बहुचर्चित है, ओसामा बिन लादेन के सैन्य प्रमुख और अलकायदा के तीसरे प्रमुख नेता मोहम्मद आसेफ ने एक चेतावनी जारी की है कि यदि अफगानिस्तान में कोई अमेरिकी सैनिक तालिबानों के हाथ चढ़ जाता है तो उसे सड़कों और गलियों में घसीट-घसीटकर मारा जाएगा। यदि अमेरिकी सैनिकों की लाशें मिलीं तो उन्हें भी सड़कों पर घसीटा जाएगा।

ऐसी बात आज संसार का कोई भी सभ्य राज्य नहीं करेगा, किन्तु संसार छह दशक पहले के वे दिन भी नहीं भूला है जब एक राष्ट्राध्यक्ष इतना क्रूर हो गया था कि उसने कुछ ही वर्षों में साठ लाख यहूदियों की गैस चेंबरों में डालकर उनकी हत्या करवा दी थी। द्वितीय विश्व युद्ध के समय जर्मनी के तानाशाह हिटलर जर्मनी का शासक था।

आज की स्थिति एक बात में बहुत अलग है। हिटलर जर्मनी का शासक था। द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी पराजित हुआ। हिटलर की मृत्यु के बाद उसका नाजीवाद समाप्त हो गया। ओसामा बिन लादेन का न कोई राज्य है, न वह कहीं का शासक है। जिस आतंकवाद का वह मुखिया है उसकी जड़ें अनेक देशों में फैली हुई हैं और दुर्भाग्य से उसे विश्वभर में फैले हुए इस्लाम और उसकी विचारधारा से जोड़ा जा रहा है। ऐसी आवाजें कमजोर नहीं हैं जो यह घोषित करती हैं कि यह इस्लाम की धार्मिक लड़ाई (जेहाद) है जो 'काफिरों' के साथ लड़ी जा रहा है।

ऐसी स्थिति में यदि आज ओसामा बिन लादेन जीवित नहीं रहता तो यह लड़ाई समाप्त नहीं होगी। नाजीवाद दूसरे हिटलर को जन्म नहीं दे सका, किन्तु ये आतंकवादी जिस विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने का दावा करते हैं, उसमें से कितने ही ओसामा बिन लादेन पैदा किए जा सकते हैं।

इस आतंकवाद का इस समय सबसे बड़ा शत्रु अमेरिका है और जेहाद के उन्मादी बार-बार यह कह रहे हैं कि अमेरिका को नेस्तनाबूद करना उनके जीवन का परम उद्देश्य है। वे बड़े विश्वास से कहते हैं कि जिस प्रकार दो दशक पहले सोवियत संघ, अफगानिस्तान से युद्ध करके टुकड़े-टुकड़े हो गया, उसी प्रकार इस युद्ध के परिणाम स्वरूप अमेरिका भी टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा।

किन्तु यह बात अमेरिका तक ही सीमित नहीं है। इस आतंकवाद का दूसरा बड़ा शत्रु भारत है। अह कैदा के एक प्रवक्ता ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है कि

कश्मीर उनके एजेंडा पर है। ओसामा ने अमेरिका को चेतावनी दी है कि यदि वह कश्मीर में 'हिंदुओं' की मदद करेगा तो उसे उससे भी अधिक गंभीर परिणाम भुगतने पड़ेंगे जो 11 सितम्बर को न्यूयार्क, वाशिंगटन आदि में आतंकी हमले के कारण भुगतने पड़े थे।

लश्करे तोयबा और जैशे मोहम्मद जैसे जेहादी संगठन जो कश्मीर में सक्रिय हैं, ऐसी चेतावनी अनेक बार दे चुके हैं कि वे भारत के अनेक भागों में वैसी ही कार्रवाइयां करेंगे, जैसी अमेरिका में हुई हैं। कुछ दिन पहले श्रीनगर में कश्मीर विधान सभा भवन के सामने जैशे मोहम्मद के आतंकियों ने जो कुछ किया था वह इस बात की अग्रिम भूमिका जैसा था।

यह स्थिति भी कम चिंतनीय नहीं है कि इस संघर्ष को ये तथाकथित इस्लामी आतंकवादी वर्तमान और उसके समकालीन संदर्भों में न रखकर इतिहास की गलियों में घसीट ले जाना चाहते हैं। उन्हें यह सारा संघर्ष एक ओर इस्लाम और ईसाइयत के बीच दिखाई देता है तो दूसरी ओर इस्लाम और हिन्दुत्व के बीच संसार में ऐसे अनेक देश हैं जहां सभी धर्मों के लोग एक साथ रहते हैं। कहीं एक धर्म को मानने वालों का बहुमत है, कहीं दूसरे धर्म को मानने वालों का। ब्रिटेन का उदाहरण लें। परम्परा से वहां के राजा अथवा रानी को 'डिफेन्डर आफ फेथ' (धर्म का संस्थापक) कहा जाता है। यह देश प्रोस्टेन्ट ईसाइयों का देश कहा जाता रहा है। आज यह सिर्फ ईसाइयों का देश नहीं है। वहां जाकर बसे लाखों मुसलमानों, हिन्दुओं, सिखों, अफ्रीकियों, चीनियों को वहां नागरिकता के पूरे अधिकार मिल गए हैं। वे चुनावों में सक्रिय मतदाता हैं और ब्रिटेन के शासनतंत्र में पूरे सहभागी हैं। पश्चिम और पूर्व के अनेक देशों की स्थिति भी ऐसी ही है।

किन्तु इस संघर्ष को यदि धर्मों/सभ्यताओं के मध्य का संघर्ष मान लिया जाए तो संसार के असंख्य देश धार्मिक समुदायों के मध्य आपसी लड़ाई के केन्द्र बन जाएंगे। ईसाई बहुल देशों में मुसलमान खतरे में पड़ जाएंगे और मुस्लिम बहुल देशों में गैरमुसलमानों के सिर पर भयंकर असुरक्षा की तलवार लटक जाएगी। इस बीच नाइजीरिया, इंडोनेशिया, फिलीपीन्स तथा कुछ पश्चिमी देशों में ऐसे संघर्षों के उभरते हुए रूप को देखा जा सकता है।

इस परिदृश्य में भारत की स्थिति हमारी विशेष चिंता का कारण है। भारत में सभी धर्मों के लोग रहते हैं और भारतीय संविधान ने उन्हें पूरे नागरिक अधिकार दिए हैं। देश के अल्पसंख्यक समुदायों में मुस्लिम समुदाय की गिनती सबसे अधिक है। ये सभी हिन्दुस्तानी हैं। इस कारण ऐसी अपेक्षा की जानी चाहिए कि ये सभी इस देश के राष्ट्रीय हितों की रक्षा में पूरी तरह इस देश के साथ हैं।

किन्तु पैन (सर्व) इस्लामिक अभियान में भारत एक काफिर देश है, इसलिए उससे इस देश के राष्ट्रीय हितों का टकराव होगा ही। यदि इस देश का मुसलमान अपने आपको इस सर्व-इस्लामी अभियान के साथ जोड़ता है तो वह भारत के राष्ट्रीय

हितों के विरुद्ध खड़ा हो जाएगा। सिमी जैसी संस्थाएं दिल्ली के शाही इमाम सैयद अहमद बुखारी आठ वर्ष पूर्व मुंबई में व्यापक बम विस्फोट कराने के पीछे खड़े तत्व, हाल में ही हैदराबाद सहित अनेक शहरों में ओसामा बिन लादेन के समर्थन में हुए प्रदर्शन इस बात के प्रमाण हैं कि इस देश में पैन-इस्लामी अभियान का स्वप्न देखने वालों की कमी नहीं है।

यह भी बड़े संतोष की बात है कि मुस्लिम समुदाय का चिंतनशील बुद्धिजीवी वर्ग इस ख़तरे की महसूस करने लग गया है। पिछले दिनों भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश ए. एम. अहमदी, प्रख्यात अभिनेत्री और सांसद शबाना आजमी तथा अनेक बुद्धिजीवियों ने शाही इमाम जैसे व्यक्तियों की घोर भर्त्सना की। शबाना आजमी ने तो यह भी कहा कि शाही इमाम जो कह रहे हैं वह न केवल अत्यन्त घृणास्पद है, बल्कि भारतीय मुसलमानों के लिए बहुत नुकसानदेह है। जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय में राजनीति शास्त्र के प्राध्यापक प्रो. जेड. एम. खान ने अपने एक वक्तव्य में कहा कि इस देश में सैकड़ों मस्जिदे हैं और उनमें सैकड़ों इमाम हैं। अहमद बुखारी भी उन अगणित इमामों में से सिर्फ़ एक इमाम हैं और वे भारतीय मुसलमानों का बिल्कुल प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सर्व-इस्लामी अभियान का जो प्रयास शुरू हो गया है और उसे जिस प्रकार के क्रूर आतंकवाद का जामा पहनाया जा रहा है, वह आने वाले दिनों में संपूर्ण संसार के लिए एक बड़ा खतरा बनकर उभरेगा। इस देश को यह संकट कहीं अधिक गंभीररूप में झेलना होगा। कश्मीर में सक्रिय सभी आतंकवादी संगठन केवल पाकिस्तान और कश्मीर तक ही सीमित नहीं हैं। वे सर्व-इस्लामी अभियान का हिस्सा हैं। लश्करे तोयबा जैसे संगठनों को ओसामा बिन लादेन से अपनी कार्रवाइयों के लिए बेहिसाब दौलत मिलती है और आजकल इस संगठन के लोग बड़ी संख्या में अफगानिस्तान जाकर अपने नेता की सुरक्षा कर रहे हैं।

यद्यपि आज सह संकट अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले चुका है, फिर भी इस देश के लिए यह लड़ाई बहुत लम्बी है। इस समय आतंकवाद पर किसी भी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय दबाव इस देश के लिए लाभकारी हो सकता है, किन्तु इस देश को यह लड़ाई अपने बलबूते पर ही लड़नी पड़ेगी। उसके लिए अपने साधन, अपना मनोबल, अपनी सैन्यशक्ति और अपनी एक जुटता ही सहायक होगी।

विजयदशमी आ गई है। इस समय विजय का संकल्प ही इस समूचे देश का संकल्प है।

(दैनिक जागरण, 25-10-2001)

यह संकट राष्ट्रों के मध्य है या धर्मों के मध्य?

अफगानिस्तान में हो रहे युद्ध ने सम्पूर्ण संसार के सम्मुख कुछ विचित्र से प्रश्न खड़े कर दिए हैं। यह युद्ध अमेरिका और अफगानिस्तान के बीच है? या यह अमेरिका के इस संकल्प का परिणाम है कि वह आतंकवाद को समाप्त करके रहेगा क्योंकि इन्हीं आतंकवादियों ने 11 सितम्बर को अमेरिका सहित सारे संसार को हिला दिया था? अथवा यह एक हज़ार वर्ष पहले के ईसाई-इस्लाम के संघर्ष का विस्तार है? ओसामा बिन लादेन ने अब इसमें हिंदुओं को भी जोड़ दिया है। इस्राइल और फिल्सतीनियों के बीच के लंबे संघर्ष को इस्लामी संसार सदा ही यहूदियों और अरबी मुसलमानों के बीच का संघर्ष मानता रहा है।

ओसामा बिन लादेन ने अपने ताजे वक्तव्य में अमेरिका को यह चेतावनी दी है कि वह कश्मीर में हस्तक्षेप करके 'हिन्दुओं' की सहायता न करे, नहीं तो उसे उसी प्रकार के आत्मघाती दस्तों की कार्रवाइयों का सामना करना पड़ेगा जैसे सितम्बर मास में करना पड़ा था।

सारे संसार में और भारत में भी बहुत से इस्लामी संगठन इसे इस्लाम पर आक्रमण मान रहे हैं और 'काफिरों' से लड़ने के लिए जेहाद की घोषणा कर रहे हैं। संसार के कई देशों में मुसलमानों और ईसाइयों में दंगे शुरू हो गए हैं। नाईजीरिया का उदाहरण सबसे ताजा है। वह मुस्लिम बहुसंख्यक अफ्रीकी देश है। वहां ईसाइयों पर हमले हुए हैं। इंडोनेशिया और फिलीपीन्स में इस्लाम-ईसाई संघर्ष लंबे समय से चला आ रहा है। रूसी गणराज्य में चेचन्या राज्य में मुसलमान बहुसंख्यक हैं। वहां रूसी सेनाओं चेचन्या के मुस्लिम अलगाववादियों के बीच वर्षों से टकराव चल रहा हैं।

ऐसी स्थिति में यह संभावना भी व्यक्त की जा रही है कि कहीं यह संकट संसार में अनेक सभ्यताओं/धर्मों के संघर्ष के रूप में नहीं विकसित होने जा रहा हैं?

इन स्थितियों के संदर्भ में भारत की स्थिति अपना अलग महत्व रखती है संयुक्त भारत अनेक धर्मों का एक मिला-जुला देश था। पाकिस्तान बन जाने के बाद भारत में मुसलमानों की संख्या बहुत घट गई, फिर भी आज उनकी संख्या देश की कुल जनसंख्या का 15 प्रतिशत से अधिक है। हमारा विशेष सरोकार इस बात से है कि अफगानिस्तान पर अमेरिकी आक्रमण को भारतीय मुसलमान किस दृष्टि से देख रहा है और किस रूप में वह अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहा है।

इस दृष्टि से सबसे उग्र और महत्वपूर्ण प्रतिक्रिया दिल्ली की जामा मस्जिद के शाही इमाम सैयद अहमद बुखारी की है। यह कहना आसान नहीं है कि शाही इमाम कितने बड़े मुस्लिम समुदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनकी आवाज को किस हद तक हिन्दुस्तानी मुसलमानों की आवाज कहा जा सकता है। वे एक ऐतिहासिक मस्जिद के इमाम हैं और जिस क्षेत्र में वे रहते हैं उसमें मुसलमानों की काफी गिनती है। इसलिए वे चाहें तो कुछ हजार मुसलमानों को जामा मस्जिद के सामने जमा कर सकते हैं और कितनी भड़काऊ बातें कर सकते हैं।

इन दिनों जो बातें उन्होंने कही हैं उनमें से कुछ की ओर हम ध्यान दे सकते हैं। पहली बात कि अफगानिस्तान पर अमेरिकी आक्रमण इस्लाम पर आक्रमण है। दूसरी बात ओसामा बिन लादेन किसी प्रकार भी दोषी नहीं है। वह मुसलमानों का होरी है, उनका आदर्श है। तीसरी बात कि अमेरिकी पर जो आक्रमण हुआ, वह अमेरिका की अपनी करनी का फल है। अल्लाह ने उसके प्रति अपना गुस्सा दिखाया है। चौथी बात, इस्लाम की रक्षा के लिए जेहाद किया जाना बहुत जरूरी है। पांचवीं बात कि वे भारत सरकार को भी यह चेतावनी दे रहे हैं कि यदि सरकार अमेरिका को अपने बेस दिए, या अन्य किसी प्रकार उसकी सहायता की तो उसे इसके गंभीर परिणाम भुगतने पड़ेंगे।

शाही इमाम की इस धमकी का आधार क्या है? इमाम के पास कोई फौज तो है नहीं कि वे भारत सरकार पर हमला बोल देंगे। ऐसे आतंकी संगठन इस देश में अवश्य हैं जो उनके इशारे यहां वैसे ही कारनामे कर सकते हैं, जैसे ओसामा बिन लादेन के साथियों ने अमेरिका में किए हैं। क्या इमाम की धमकी इस ओर इशारा करती है? क्या इस देश का एक नागरिक अपने ही देश की एक लोकतांत्रिक सरकार को ऐसी धमकी दे सकता है? क्या यह खुल्लमखुल्ला देशद्रोह नहीं है?

प्रत्येक देश की सरकार अपने राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखकर अपनी नीतियों का निर्धारण करती है। पाकिस्तान का उदाहरण सामने हैं। पाकिस्तान एक घोषित इस्लामी देश है। वहां के लोगों की ओसामा बिन लादेन और अफगानिस्तान पर अमेरिकी आक्रमण के प्रति कैसी धारणा है, इसका अनुमान पाकिस्तान के अनेक भागों में हो रहे प्रदर्शनों से लगाया जा सकता है, किन्तु परवेज़ मुशर्रफ और उनकी सरकार

ने अपने राष्ट्रीय हित में अमेरिका का समर्थन करने का निर्णय लिया। पाकिस्तान ने कम से कम दो हवाई अड्डों को अमेरिकी की सैनिक गतिविधियों के लिए दे दिया है। अहमद बुखारी ने पाकिस्तान की सरोकार को कितनी बड़ी चुनौती दी?

इस समय यह बात इस देश के हित में है कि अमेरिका द्वारा आतंकवाद के विरुद्ध चलाए अभियान का वह पूरी तरह समर्थन करे और उसकी सफलता के लिए उसकी जैसी भी हो, सहायता करे। कारण बहुत स्पष्ट हैं। ऐसे ही आतंकवाद से यह देश पिछले अनेक दशकों से लड़ रहा है। कश्मीर में पाकिस्तान से होकर घुमने वाले बहुत से भाड़े के आतंकी अफगानी होते हैं। अमेरिका आज जो झेल रहा है, उसे यह देश लंबे समय से झेलता रहा है। ऐसी स्थिति में अमेरिका जैसी एक महाशक्ति यदि एक ऐसे आतंकवाद, जो विश्व व्यापी रूप धारण करता जा रहा है, के विरोध में अनेक देशों को एक मंच पर लाने का प्रयास कर रहा है, हमें देश में सीमा पार से उकसाए जा रही आतंकी गतिविधियों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए इस प्रयास का सहभागी बनना चाहिए। यह हमारे राष्ट्रीय हित में है।

किन्तु शाही इमाम जैसे कुछ व्यक्ति इस देश के मुसलमानों को न इस देश के साथ समरस होने देना चाहते हैं, न ही उन्हें यहां के राष्ट्रीय हितों के साथ जोड़ना चाहते हैं कि उन्हें इस बात की बिल्कुल चिंता नहीं है कि किस प्रकार कश्मीर में सरगम आतंकवादी, वहां के विधान सभा भवन के आगे विस्फोट करके लगभग 40 बेगुनाह लोगों की जान ले लेते हैं। उनकी चिंता अफगानिस्तान है। वहां पर हुए अमेरिकी आक्रमण को वे इस्लाम पर हुआ आक्रमण मानते हैं।

इस दृष्टि से भारतीय मुसलमानों की ओर से कुछ सकारात्मक बातें भी हुई हैं, जिनकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। दिल्ली के मौलाना वहीदुद्दीन खान, उन इस्लामी विद्वानों में हैं जो इस्लाम की व्याख्या उस तंग नजरिए से नहीं करते हैं जैसे शाही इमाम और उनके जैसे कुछ लोग करते हैं। हाल में ही उन्होंने जो वक्तव्य दिया था। उसमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि अमेरिका की ओर से अफगानिस्तान पर किया गया आक्रमण इस्लाम पर आक्रमण नहीं है। पूर्व सांसद सैयद शहाबुद्दीन ने भी बड़े जोरदार शब्दों में यह कहा ओसामा बिन लादेन कौन होता है जेहाद का नारा देने वाला। उसे यह अधिकार किसने दिया है?

कुछ दिन हुए दिल्ली में—आतंकवाद के खिलाफ भारतीय मुसलमान-विषय पर कुछ प्रबुद्ध मुसलमानों का एक सम्मेलन हुआ था। इस सम्मेलन में बोलते हुए भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश एम. एम. अहमदी ने कहा कि शाही इमाम के उत्तेजक भाषण किसी प्रकार की अच्छाई पैदा करने की बजाए संकट ही अधिक पैदा करते हैं। उन्होंने कहा कि यह वह समय है जब हमें एक जुट होना चाहिए। हम हिंदुस्तानी पहले हैं और अंत में भी हिंदुस्तानी हैं। जिस ढंग की बातें इमाम जैसे लोग कर रहे हैं, उसके लिए हमें बाद में पछताना पड़ेगा। शहीद मेंहदी ने कहा कि मुसलमानों की ओर से वे लोग भड़काऊ ढंग से बोल रहे हैं जो वास्तव में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं।

अभिनेत्री और सांसद शबाना आजमी ने शाही इमाम को बुरी तरह फटकार लगाई। उन्होंने कहा कि इमाम जो कुछ कह रहे हैं वह बहुत घृणास्पद और हानिकारक है। उन्होंने इमाम की इस भूमिका को भी चुनौती दी कि वे भारतीय मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जामिया मिलिया इस्लामिया में राजनीति शास्त्र के प्रोफेसर जेड. एम. खान ने अपने एक वक्तव्य में कहा कि शाही इमाम को जेहाद का ऐलान करने का कोई हक नहीं है। देश में हज़ारों मस्जिदें हैं, जिनमें हजारों इमाम हैं। अहमद बुखारी केवल एक इमाम हैं। उनके साथ लगा 'शाही' शब्द कोई अर्थ नहीं रखता अब न शाह रह गए हैं। उनके दिल लद गए हैं। जाने-माने इतिहासकार मुशीरुल हसन ने इमाम अहमद बुखारी की देश में सांप्रदायिक विद्वेष फैलाने के प्रयासों की भरपूर निंदा की है। उन्होंने चेतावनी दी कि जिस प्रकार के जेहाद की आवाज जामा मस्जिद से उठाई जा रही है उससे देश के विभिन्न वर्गों में सांप्रदायिक तनाव बढ़ेगा। इमाम को ऐसी हरकतों से बाज आना चाहिए।

इमाम अहमद बुखारी और उन जैसी सोच वाले लोगों के इरादों के विरुद्ध भारतीय मुसलमान विद्धानों और बुद्धिजीवियों की आवाज़ का उठना बहुत अच्छा लक्षण है संसार पर इस समय जो संकट आया हुआ है वह न सभ्यताओं का संकट है न धर्मों की लड़ाई है। कुछ अतिवादी मुस्लिम नेता इसे संसार भर में फैले हुए मुसलमानों का संकट बनाने में लगे हुए हैं और इसे ईसाइयों, यहूदियों और हिन्दुओं के विरुद्ध होने वाले संघर्ष का रूप देने का प्रयास कर रहे है। इनका प्रयास है कि वर्तमान संकट को पिछले एक हज़ार वर्षों के इतिहास की गलियों में ले जाया जाए और सारे संसार को मध्ययुगीन मानसिकता की गिरफ्त में ले जाया जाए।

इस दृष्टि से भारतीय मुसलमानों की भूमिका सबसे अहम है। आज के संसार के उभरने वाले संकटों का कारण धर्म नहीं है। इसमें विभिन्न देशों के अपने राष्ट्रीय और आर्थिक हित अन्तर्निहित हैं। इन्हीं इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। राष्ट्रीय हितों में धर्म अथवा मजहब की भूमिका महत्वपूर्ण नहीं होती। जब हम भारतीय हितों की बात करते हैं तो उसमें सभी धर्मों और वर्गों का हित समाहित होता है। किन्हीं भी स्थितियों में भारतीय मुसलमानों और पाकिस्तानी अथवा अफगानों के राष्ट्रीय हित एक जैसे नहीं हो सकते, चाहे सभी का मज़हब एक हो। गत आधी सदी में भारत और पाकिस्तान के मध्य कितने ही युद्ध हुए हैं। उन्हें हिन्दुओं मुसलमानों के बीच युद्ध मानना बड़ी विकृत सोच का परिचायक हैं। ये दो देशों के बीच के युद्ध थे, जिनमें भारतीय और पाकिस्तानी मुसलमानों की प्रतिवद्धताएं और उन्हें हित अलग-अलग थे।

वर्तमान संकट को यदि इस दृष्टि से न देखा और परखा गया तो यह बड़े विकृत रूप में हमारे सम्मुख खड़ा हो जाएगा।

(राष्ट्रीय सहारा, 26-10-2001)

इस युग में जिहाद और क्रुसेड अपनी सार्थकता खो चुके हैं

ओसाम बिन लादेन ने हाल में ही लिखे अपने एक पत्र में पाकिस्तान के मुसलमानों से यह आग्रह किया है कि वे 'ईसाई क्रुसेड' से इस्लाम की रक्षा करें।

क्रुसेड इस्लामी शब्द जिहाद का जवाब है। ओसामा बिन लादेन और उसी विचार के बहुत से इस्लामी सक्रिय लोग इस युद्ध को दो देशों में मध्य का युद्ध न मान कर एक हज़ार वर्ष में फैले हुए इस्लाम-ईसाई युद्ध का विस्तार मानते हैं। वे इसे विधर्मियों के प्रति जिहाद की सज्ञा देते है। जिहाद अरबी का शब्द है, जिसका कोशीय अथ्र है 'धर्म के लिए बुराइयों से, सामाजिक विषमता से, गरीबी-भुखमरी और अशिक्षा के विरुद्ध लड़ने को जिहाद कहा जाता है।

अंग्रेजी शब्द क्रुसेड लैटिन के 'क्रक्स' शब्द से निकला है, जिसे 'क्रास' कहते है। ईसा मसीह को क्रास (सूली) पर चढ़ा कर मृत्युदंड किया गया था। इस स्मृति में 'क्रास' ईसाइयों के लिए अत्यन्त श्रद्धा का प्रतीक चिह्न है। श्रद्धालु ईसाई इस क्रास को सदैव गले में लटकाए रखते है।

फिलस्तीन प्राचीन काले से यहूदियों और ईसाईयों की पवित्र भूमि रहा है। इन दोनों धर्मों और इनके प्रवर्तकों का जन्म इसी प्रदेश में हुआ था। ईसाई को यहीं सूली पर लटकाया गया था। येरुसलम इस क्षेत्र का सबसे प्राचीन नगर है, जिसमें यहूदियों और ईसाइयों की प्राचीन यादगारें हैं।

सातवीं सदी के प्रारम्भ में मुसलमानों ने इस नगर तथा फिलिस्तीन पर अपना अधिकार कर लिया। उन्हीं दिनों में खलीफा उमर ने एक प्राचीन यहूदी मंदिर के खंडहर पर एक मस्जिद का निर्माण किया। इसी सदी के अंत में खलीफा अब्दुल मलिक ने इसी मस्जिद का विस्तार कर के अलअस्का मस्जिद बनाई। यह मस्जिद आज इस्लामी

संसार में मक्का और मदीना के बाद सबसे अधिक पवित्र और महत्वपूर्ण मानी जाती है।

सातवीं सदी के पश्चात येरुशलम सहित फिलस्तानी के पूरे क्षेत्र पर अरबों का राज्य स्थापित हो गया था तथा अधिकांश जनसंख्या ने अरबी संस्कृति और भाषा सहित इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। यहूदी संसार के अनेक भागों में बिखर गए थे और ईसाई धर्म पश्चिमी यूरोप की सीमाओं में जाने को बाध्य हो गया था।

किन्तु यहूदियों, विशेष रूप से ईसाईयों में, अपनी पवित्र भूमि की अरबी मुसलमानों से मुक्त कराने की भावना सुलगती रही थी। ग्यारहवीं सदी में इस भावना ने क्रुसंड का रूप धारण किया तथा अरबों से अशस्त्र सैनिक संघर्ष प्रारम्भ किया। इस संघर्ष को क्रुसेड (धर्मयुद्ध) का नाम मिला। क्रुसेड के लिए जाने वाले ईसाई सैनिक कपड़े के बने 'क्रास' को अपनी छाती पर पड़े वस्त्र पर टांक लेते थे। जो सैनिक युद्ध से वापस आते थे उनकी पीठ पर वैसा ही कपड़े का बना क्रास सिला हुआ होता था।

इस प्रकार जिहाद और क्रुसेड कई सदियों तक आपस में टकराते रहे।

क्रुसेड का प्रारम्भ ईसाई धर्मगुरु पोप के नेतृत्व में हुआ। धर्म के नाम पर लड़े जाने वाले युद्धों में आम तौर पर यही होता है कि लड़ने वाले सैनिकों को शहीद हो जाने की स्थिति में स्वर्ग, जन्नत और हैवेन में अपने इष्टदेव के सानिध्य में अत्यन्त सुखी जीवन जीने का भरोसा मिलता है और जीवित रहने पर सांसारिक समृद्धि की उपलब्धियों का लाभ दिया जाता है। मध्ययुगीन यूरोप में अपने आपको 'ईसा का सिपाही' मानने वाले लोग यह मानते थे कि 'क्रुसेड' में भाग लेकर वे न्याय और पवित्र उद्देश्य की प्राप्ति संघर्ष कर रहे हैं।

इन्हीं दिनों एक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि पश्चिमी एशिया में तुर्क बहुत शक्तिशाली बन कर उभरने लगे। ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ में मध्य एशिया से तुर्क कबीले के लोग जो इस्लाम स्वीकार कर चुके थे अरब में आए। प्रारम्भ में बगदाद के खलीफाओं ने इन्हें अपनी सेना में भाड़े के सिहाहियों के रूप मे भर्ती किया, किन्तु कुछ ही समय में इनकी सैकिन शक्ति बहुत बढ़ गई और राजनीति में भी इनका दबदबा स्थापित हो गया। इसी सदी के मध्य में उन्होंने बगदाद में से अरबी खलीफा को अपदस्थ करके 'खिलाफत' को अपने अधिकार में ले लिया। इस प्रकार तुर्की मुस्लमान ग्यारहवीं सदी के अंत तक फिलस्तीन और येरुशलम पर अपना अधिकार स्थापित करने में सफल हो गए थे।

तुर्को/ मुस्लमानों से अपनी पवित्र भूमि को मुक्त कराने के उद्देश्य से ईसाइयों द्वारा पहला क्रुसेड सन् 1096 से 1099 तक चला। यूरोप के अनेक ईसाई सामन्त इसमें अपनी सेनाओं के साथ शामिल हुए। इन्हें इस अभियाान में आशिंक सफलता मिली। सन् 1099 में ईसाइयों ने येरुशलम पर अधिकार कर लिया और वहां बाडलन के गोडफ्रे को राजा बना कर गददी पर बैठा दिया। ईसाइयों के ऐसे आठ क्रुसेड सन् 1270 तक चलते रहे, जिसमें वे कभी सफल होते थे, कभी असफल ।

सन् 711 से 1492, लगभग 8 सौ वर्षों तक यूरोप में स्पेन में जो क्रुसेड चलता रहा है, उसका इतिहास में बहुत महत्व है। आठवीं सदी के प्रारम्भ में मुसलमानों की सेना ने अफ्रीका की ओर से स्पेन पर आक्रमण किया और स्पेनी ईसाइयों को पराजित कर उन्होंने लगभग सारे स्पेन पर अधिकार कर लिया। स्पेनी लोग उत्तरी अफ्रीका के मुसलमानों को मूर्स कहते थे। इनका स्पेनी भूमि पर लगभग 7 सौ वर्षों तक आधिपत्य जमा रहा।

मूर्स के खिलाफ स्पेनी ईसाइयों का क्रुसेड ग्यारहवीं सदी में प्रारम्भ हुआ। उत्तरी स्पेन में बचा हुआ एक छोटा-सा ईसाई राज्य इस क्रुसेड का केन्द्र बिन्दु बना। उस समय स्पेन के ईसाइयों का धर्म⁄वेश इतना बढ़ा कि उन्होंने देश के उत्तरी और केंद्रीय से मूर्स को खदेड़ना प्रारम्भ कर दिया। ईसाइयों और मुसलमानों के बीच यह संघर्ष लगभग चार सौ वर्षों तक चलता रहा। जनवरी 1492 में स्पेनी क्रूसेड ने पूर्ण सफलता प्राप्त कर ली और स्पेन सहित पूरे यूरोप से मुस्लिम प्रभुत्व की समाप्ति हो गई।

इस्लामी संसार में जिहाद शब्द भी विधर्मियों से अपने धर्म की रक्षा का अर्थ देता है किन्तु प्रारंभ में अरबों ने जो अभियान चलाए वे धर्म प्रचार और राज्य विस्तार के लिए थे। इसी अभियान के अन्तर्गत अरबी, तुर्की, पठान, मुगल कबीलों के लोगों ने, जिन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था एक ओर यूरोप की तरफ बढ़े थे, दूसरी ओर भारत तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया की तरफ। ये अभियान जिहाद नहीं थे। ये तो इस्लाम के विजय अभियान थे। महमूद गजनवी का सोमनाथ के मंदिर पर आक्रमण करके उसका भंजन करना जिहाद नहीं था। इसके पीछे मंदिर की सम्पत्ति को लूटना और मूर्ति भंजन करके अपने धार्मिक उत्साह को प्रदर्शित करना था। इसी प्रकार शहाबुद्दीन गोरी के पृथ्वीराज चौहान से युद्ध करना अथवा बाबर का इब्राहीम लोधी और राणा सांगा से युद्ध करना भी जिहाद नहीं था। वह विशुद्ध रूप से लूटपाट और राज्य विस्तार की आकांक्षा से प्रेरित था।

जिहाद शब्द उस समय सार्थकता ग्रहण करता है जब इस्लाम को किसी विधर्मी शक्ति से खतरा पैदा हो जाता है। इसका एक ज्वलंत उदाहरण महाराजा रणजीत सिंह के समय का है। अठारहवीं सदी के अंत और उन्नीसवीं सदी का प्रारम्भ होते-होते पंजाब में पिछले सात-आठ सौ वर्ष से जमी हुई अफगान और मुगल सत्ता टूटने लगी और इसका स्थान सिख सत्ता ने लेना प्रारम्भ कर दिया। इस्लामी सत्ता के टूटने और विधर्मी सत्ता के उत्तरोत्तर शक्तिशाली होते जाने से भारत के अनेक कट्टरपंथी मुसलमान बहुत परेशान हो रहे थे। इस समय तक पंजाब के पश्चिमी भाग, मुलतान, पेशावर, कश्मीर आदि क्षेत्रों में मुस्लिम बहुमत बन चुका था। महाराजा रणजीत सिंह का राज्य इन सभी क्षेत्रों पर पूरी तरह स्थापित हो गया और इन प्रदेशों के मुसलमान शासकों ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। बहुत से कट्टरपंथियों को यह सहन करना मुश्किल हो गया था कि जिस प्रदेश पर आठ सौ वर्ष तक मुसलमानों का शासन रहा था, साथ ही जिस क्षेत्र में उनकी संख्या भी अधिक थी, उस पर विधर्मियों (काफिरों)

का राज्य स्थापित हो जाए।

यह स्थिति पूरी तरह जिहाद के अनुकूल स्थिति थी। उत्तरप्रदेश के रायबरेली में सन् 1786 में जन्में सैयद अहमद खान ने इस जिहाद का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। उसने सारे देश की यात्रा की, मक्का शरीफ जाकर हज किया और सिखों के विरुद्ध जिहाद छेड़ने के लिए यह 1826 में अपने कुछ मुरीदों सहित सिंधु, बलोचिस्तान होता हुआ अफगानिस्तान पहुंचा। वहां से वह पेशावर आया और नौशहरा में उसने अपना केंद्र बना लिया।

उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त में उसके जिहादी अभियान को वहां के पठान कबीलों का व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ और हजारों की गिनती में लोग उसके झंडे के नीचे इकट्ठे हो गए। पठान कबाइलियों के मध्य उसका प्रभाव और लोकप्रियता इतनी बढ़ गई कि लोग उसे 'सैयद बादशाह' कहकर पुकारने लगे।

लगभग 5 वर्ष तक सैयद अहमद खान बरेली का सिख राज्य के विरुद्ध जिहादी अभियान बड़ी तीव्रता से चलता रहा। अनेक भीषण युद्ध हुए। अंत में सन् 1831 में बालाकोट नामक स्थान पर महाराजा रणजीत सिंह के पुत्र कुंवर शेर सिंह की अगुवाई में सिख सेना का जिहादियों के साथ जो युद्ध हुआ उसमें जिहादी सेना पूरी तरह पराजित हुई। सैयद अहमद खान बरेलवी और उनके विश्वस्त साथियों सहित सैकड़ों पठान उस युद्ध में मारे गए।

ओसामा बिन लादेन और उसकी तरह सोचने वाले लोगों को भी आज स्थिति भी उसी प्रकार की दिखाई देती है। वे समझते हैं कि आज उनका युद्ध अमेरिका जैसे एक देश से नहीं, पूरे ईसाई समुदाय से हो रहा है। इसी तरह उनकी सोच है कि कश्मीर में वे भारत से नहीं, हिन्दुओं से युद्ध कर रहे हैं। जिहाद की पूरी परिकल्पना में विधर्मी आते हैं, विदेशी नहीं आते हैं, इसलिए बार-बार जिहाद और क्रूसेड को ऐसे लोग याद करते हैं।

परन्तु वर्तमान संकट को मध्ययुगीन जिहाद और क्रुसेड का चश्मा लगा कर देखना स्थितियों को सही परिप्रेक्ष्य में न देखकर भारी भूल करना है। वर्तमान संघर्ष देशों के मध्य तो हो सकता है, यह किसी भी प्रकार धर्मों के मध्य नहीं है। इस संघर्ष में कथित रूप से ईसाई देश अमेरिका की सहायता अनेक इस्लामी देश कर रहे हैं। पाकिस्तान ने अमेरिका को अपने अनेक हवाई अड्डों के उपयोग की सुविधा दी है। टर्की जैसा इस्लामी देश अमेरिका की सहायता के लिए अपनी सशस्त्र सेनाएं भेज रहा है। स्वयं अफगानिस्तान में उत्तरी गठबंधन की मुसलमान सेनाएं अमेरिका की सहायता से तालिबान सेनाओं से युद्ध कर रही हैं। तो फिर कौन किसके खिलाफ जिहाद या क्रुसेड कर रहा हैं?

आज जिहाद अथवा क्रुसेड की बात अपने आपको और असंख्य लोगों को भुलावा देना और गुमराह करना है। बीसवीं सदी में दो विश्वयुद्ध हुए। ये कुछ देशों के अपने राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों को लेकर लड़े गए युद्ध थे। इनमें जिहाद या क्रूसेड

जैसी कोई परिकल्पना नहीं थी।

इसलिए संसार का कोई भी समझदार देश अथवा समुदाय ओसामा बिन लादेन की इस बात को गंभीरता से नहीं लेगा कि ईसाइयों के क्रुसेड से इस्लाम की रक्षा के लिए जिहाद छेड़ना हर मुसलमान का फर्ज बनता है।

(दैनिक जागरण, 8-11-2001)

भ्रष्टाचार की खोपड़ी को बालों से पकड़ना होगा

इस समय संसार में ऐसी अनेक वृत्तियों को सवैधानिक और कानूनी मान्यता प्राप्त होती जा रही है जिन्हें केवल कुछ वर्ष पहले तक वज्र बुराई माना जाता था। वेश्यावृत्ति को कानूनी मान्यता सदैव ही प्राप्त रही है, किन्तु समलैंगिकता को किसी भी समाज ने कभी स्वीकार नहीं किया। अब स्थिति बदल गई है। पश्चिम के अनेक देशों ने इसे कानूनी मान्यता दे दी है। अब दो पुरुष या दो स्त्रियां आपस में विवाह कर सकते हैं और साथ-साथ जीवन व्यतीत कर सकते हैं। इसी प्रकार इच्छा मृत्यु और कारुण्य हत्या (मर्सीकिलिंग) को भी मान्यता दिलाने का प्रयास अनेक देशों में हो रहा है।

लगता है कि अब घूसखोरी और भ्रष्टाचार को भी इस श्रेणी में शीघ्र ही स्थान प्राप्त हो जाएगा। वेश्यावृत्ति की भांति ही भ्रष्टाचार और घूसखोरी भी संभवतः मनुष्य के साथ आदिकाल से जुड़ी हुई है, किन्तु आज वह जितनी व्यापक है, सर्वग्राही है, सर्वस्वीकृत है उतना शायद पहले कभी नहीं था। विचित्र स्थिति यह है कि इस वृत्ति को जितना नीचे से प्रारम्भ करें उतनी ही कम है और जितना ऊपर बढ़ते जाएं उतनी अधिक होती चली जाती है। एक साधारण क्लार्क पांच-दस रुपए लेकर काम कर देता है किन्तु एक बड़ा अधिकारी लाखों से कम की बात नहीं करता। एक छुटभैया नेता हजार-दो हजार नकद और एक 'बोतल' लेकर खुश हो जाता है किन्तु बड़ा नेता जिस घोटाले से जुड़ता है उसमें अब लाख और करोड़ महत्व नहीं रखते हैं, अब बात कई सौ करोड़ की होती है।

देश का कौन-सा भाग ऐसा है, जिसमें कोई अच्छी नौकरी पाने के लिए अच्छी खासी रकम रिश्वत के रूप में नहीं देनी पड़ती। पुलिस विभाग में सिपाही लगना हो

तो कम से कम दो लाख रुपए, सरकारी स्कूल में अध्यापक लगना हो, कोई साधारण सी सरकारी नौकरी लेनी हो, कोई टेंडर मंजूर कराना हो, अपना कोटा बढ़वाना हो, सरकारी क्षेत्र में पुस्तकें बेचनी हों, दफ्तरों से स्टेशनरी अथवा अन्य किसी वस्तु का आर्डर लेना हो—सबके रेट बंधे हुए हैं। सभी धंधों में दलाल (टाउट) बैठे हुए हैं। उनकी सेवाएं लीजिए। वे तुरत-फुरत आपका काम कर देंगे। आप द्वारा की गई 'सेवा' ऊपर तक पहुंचेगी।

सभ्य और सुसंस्कृत समाज का गुण यह है कि वह हर बुरे काम के लिए साधारण लोगों में प्रचलित फूहड़ शब्द को भी अच्छा, सुसंस्कृत और सम्मानित शब्द से विभूषित कर देता है। रंडीबाजी से वेश्यावृत्ति और फिर देह व्यापार ऐसी ही शब्दावली है। अब दलाली को 'लाएजनिंग' कहा जाता है, सूदखोरी फाइनैंसिंग बन गई है, घूसखोरी अब सेवाफल (सर्विस चार्ज़ेज) कहलाती है।

राजनीतिक क्षेत्र में इस कार्य-व्यापार के लिए बहुत कुशल तंत्र विकसित कर लिया गया है। इस क्षेत्र में आने वाला व्यक्ति अनंत महत्वाकांक्षाएं लेकर आता है। जन-संपर्क साधने, वरिष्ठ नेताओं की कृपादृष्टि अर्जित करने, चुनाव का टिकट पाने, चुनाव लड़ने और फिर कहीं जाकर विधायक या सांसद बनने का सुयोग आता है। इस मंजिल तक पहुंचने के लिए वह अपनी श्रम शक्ति तो लगाता ही है, धन-शक्ति का भी निवेश करता है। यह उसका 'इनवेस्टमेंट' होता है। हर व्यापारी अपनी पूंजी का पूरा लाभ लेता है और उसे निरन्तर बढ़ाने का प्रयास करता है। राजनीतिककर्मी भी यही करता है। यदि वह सांसद है तो वह सरकार से बहुत से लाभ स्वयं लेता है और कितनों को दिलवाकर अपना 'सेवाफल' प्राप्त करता है।

एक मुख्यमंत्री की मैंने एक बात सुनी है। इन्हें अपनी गद्दी बचाए रखने के लिए विधायकों का हर हाल में समर्थन चाहिए होता है। विधायक इस 'सेवा' का मुआवजा न चहे यह कैसे हो सकता है? आख़िर उसे इस स्थिति तक आने के लिए बहुत कुछ लगाना पड़ा था। विधायकों की 'सेवा' करने के लिए उन्होंने बहुत-सी योजनाएं भी बनाई हैं और कोटे भी तय किए हैं।

उनके राज्य में पुलिस में भर्ती होने वाले सिपाही को किसी दलाल की मार्फत दो लाख रुपए देने पड़ते हैं, तभी उसका चुनाव होता है। मुख्यमंत्री सहित यह बात सभी को मालूम है। यह धनराशि कहां और कैसे वितरित होती है, यह भी किसी से छिपा हुआ नहीं है। मुख्यमंत्री ने हर विधायक को 4-4 सिपाही भर्ती करवा लो, आठ लाख की घूस से लो। विधायकों को ऐसे और भी कई कोटे मिले हुए हैं। मुख्यमंत्री का यह पूरा प्रयास रहता है कि हर विधायक की न केवल भरपाई हो, बल्कि वह इतना धन अवश्य कमा ले, जिससे अगला चुनाव आसानी से लड़ सके।

इन दिनों केन्द्रीय उत्पाद शुल्क विभाग घूसखोरी को लेकर भरपूर चर्चा में है। एक कहावत है—जितना बड़ा सिर होगा, उतनी ही बड़ी उसकी पीड़ा होगी। यह विभाग भी बड़ा है, इसका लेन-देन भी बड़ा है, इसकी पकड़ की सीमा में आने वाली मछलियां

भी बड़ी होती हैं। इनके अफसर भी बड़े हैं और उनके जाल भी बड़े व्यापक हैं। इस विभाग में घूस लेने-देने की डील इनके घर, दफ्तर से शुरू होकर पांच सितारा होटलों तक पहुंचती है। जितनी बड़ा सौदा, उतना ही बड़ा उस सौदे को निपटाने का स्थान, उसी के अनुसार लंच-डिनर और काकटेल।

लगभग सभी मंत्रियों, ऊंचे पदों पर बैठे हुए अधिकारियों, अपना प्रभुत्व बनाए रखने वाले व्यक्तियों के पास आजकल एक फंड होता है। सांकेतिक भाषा में इस फंड का नाम है एल. एम. बी. फंड। बहुत सारे मारवाड़ी व्यापारियों के पास एक फंड होता है जिसे 'धर्मादा' कहते हैं। ये व्यापारी जो भी व्यापार करते हैं उसमें से जो लाभ होता है उसका एक निश्चित प्रतिशत निकालकर इस फंड में धर्म तथा सामाजिक कार्यों के लिए जमाकर दिया जाता है। एल.एम.बी. (लूटो मेरे भाई) फंड में जो धनराशि जमा होती है उसमें से उन लोगों की सहायता की जाती है जो नेता को नेता बनाने में सहायक होते हैं। ऐसे लोगों की बहुत-सी ज़रूरतें होती हैं। इनकी पूर्ति के लिए वे उस समर्थ व्यक्ति के पास जाते हैं। वह 'एल. एम. बी. फंड से उनकी सहायता करता है। कुछ वर्ष पहले एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ने संसार के 90 देशों की यह जांच-पड़ताल की कि उनमें भ्रष्टाचार कितना है इस सूची में भारत का स्थान 73वां था। अर्थात् कम से कम 17 देश ऐसे हैं जिनमें व्याप्त भ्रष्टाचार भारत से अधिक है। इसमें किसी को संदेह नहीं है कि इस क्षेत्र में इस बीच भारत ने और अधिक प्रगति करके कुछ भ्रष्ट देशों को पछाड़ा होगा और अपना स्थान बेहतर बनाया होगा।

इस देश में भ्रष्टाचार मिटाने के बड़े-बड़े दावे किए गए हैं, किन्तु उन दावों का क्या परिणाम निकला है, हम अच्छी तरह जानते हैं। ऐसा लगता है कि यह रोग हमारी नस-नस में व्याप गया है। यह हमारी रोज़मर्रा की आदत का एक हिस्सा बन गया है। छोटे-छोटे काम भी हम कुछ दे-दिलाकर करवा लेना चाहते हैं। पैसा दो-काम करवाओ आज का मंत्र बन गया है।

मुझे एक घटना याद आती है। वर्षों पहले श्री गुलजारी लाल नंदा इस देश के गृहमंत्री थे। एक बार उन्होंने घोषणा की कि छह महीने में वे इस देश से भ्रष्टाचार समाप्त कर देंगे। लोग अपनी शिकायतें लेकर उनकी कोठी पर आए। वे सबकी बातें सुनेंगे और जिस भ्रष्ट व्यक्ति के खिलाफ कोई शिकायत आएगी, उस पर तुरन्त कार्रवाई करेंगे। उन्होंने लोगों से प्रातः मिलने का समय निश्चित कर दिया।

लोग अपनी शिकायतें लेकर उनकी कोठी पर पहुंचने लगे। धीरे-धीरे भीड़ बढ़ने लगी। कोठी पर तैनात पुलिस शिकायत करने वालों की कतार लगवाने लगी।

एक दिन एक सज्जन वहां पहुंचे। उनसे आयकर विभाग का कोई अधिकारी रिश्वत में बड़ी मोटी रकम मांग रहा था। वह सज्जन नंदा जी से उस अधिकारी की शिकायत करना चाहता था।

कोठी पर पहुंचकर उन्होंने देखा, शिकायतकर्त्ताओं की लंबी कतार लगी हुई है। गृहमंत्री एक-एक करके सभी की शिकायतों को सुन रहे थे। उस सज्जन ने सोचा,

लाइन में लगकर गृहमंत्री तक पहुंचने में तो कई घंटे लग जाएंगे। उन महाशय को अपना काम तुरत-फुरत करवा लेने की आदत थी। वे कभी लाइन में नहीं खड़े हुए थे। यहां भी उन्होंने वही ढंग अपनाया। पंक्ति में आगे खड़े व्यक्ति के पास जाकर वे उसके कान में फुसफुसाहटे—'मुझे ज़रा जल्दी है। तुम पीछे चले जाओ और अपनी जगह मुझे दे दो।' कहते हुए उन्होंने उस व्यक्ति के हाथ में कुछ करेंसी नोट दबा दिए।

भ्रष्टाचार की शिकायत करने के लिए आया हुआ व्यक्ति स्वयं भ्रष्ट था और भ्रष्ट उपाय अपनाकर वह भ्रष्टाचार के विरुद्ध शिकायत करने आया था।

कुछ महीनों से तहलका डॉट काम की चर्चा सुर्खियों में है। इस कांड में जो रहस्योद्घाटन किए गए हैं उनके एक शब्द बार-बार सुनाई दिया है—लालच (ग्रीड) नीचे से लेकर ऊपर तक और ऊपर से लेकर नीचे तक, हर व्यक्ति किसी भी तरह कुछ धन बटोर लेने के लालच से बुरी तरह ग्रस्त है। किसी भी छोटे अथवा बड़े पद पर बैठा हुआ व्यक्ति यह पूछता है कि मुझे क्या देते हो। हर व्यक्ति बिकाऊ दिखता है। खरीदने वाला व्यक्ति हर व्यक्ति की कीमत का अनुमान लगा लेता है। दलाल दोनों की हैसियत जानता है। अपनी दलाली लेकर वह दोनों पार्टियों में डील करवा देता है।

भ्रष्टाचार और घूसखोरी को हमारे समाज ने, ऐसा लगता है, पूरी तरह स्वीकार कर लिया। अपने दैनन्दिन जीवन में वह इसे पूरी तरह स्वीकार कर चुका है। बिजली या पानी का कनेक्शन लेना हो, टेलीफोन लगवाना हो अथवा उसे ठीक कराना हो, आय कर बचाना हो अथवा बिक्रीकर की चोरी करनी हो, अपने मन पर रत्ती भर बोझ डाले बिना वह कुछ रुपए खिला-पिलाकर अपना काम निकाल लेता है।

ऐसे व्यक्तियों को एक बात बहुत सुख देती है। वह बड़े उन्मुक्त ढंग से कहता है—जरा ऊपर की तरफ़ तो देखो। तुम अपनी नजर को सौ-दो सौ अथवा हजार-दो हजार पर क्यों टिकाते हो? उनकी ओर क्यों नहीं देखते जो अपनी सरकार बचाने के लिए सांसदों को लाखों-करोड़ों रुपए देकर खरीदते हैं। उनकी ओर क्यों नहीं देखते जिनके घरों में करोड़ों रुपयों की नकदी उस समय आफत हुई, जब उनके घर पर छाया पड़ गया। उन दर्जनों घोटालों की ओर क्यों नहीं देखते हो जिनके साथ बड़े-बड़े नेताओं के नाम जुड़े हुए हैं और बरसों गुजर जाने के बाद भी उनका कुछ नहीं बिगड़ा है?

राजनीति इस समय देश की सबसे बड़ी नियामक शक्ति है। धन शक्ति इसके चारों ओर घूमती है। जिस संसदीय प्रणाली को हमने अपनी शासन-व्यवस्था के लिए चुना है उसमें चुने हुए एक-एक सांसद और विधायक का महत्व है। संसद में केवल एकमत से सरकार गिर सकती है, कुछ समय पूर्व यह घटित हो चुका है। इस प्रणाली में आकांक्षी व्यक्ति लाखों रुपए लगाकर चुनाव लड़ता है। ये रुपए वह खर्च नहीं करता, इन्वेस्ट करता है। इन्हें व्याज सहित वसूलना और अपनी पूंजी के साथ लाभ जोड़ना उसे जायज लगता है।

दो लाख रुपए देकर पुलिस में नौकरी पाने वाले एक सिपाही से यदि यह आशा की जाए कि वह सारी उम्र बड़ी ईमानदारी से अपने कर्तव्य का निर्वाह करेगा, शायद व्यावहारिकता से दूर जाना होगा।

भ्रष्टाचार और घूसखोरी एक ऐसी खोपड़ी है जिसमें आगे की ओर बाल हैं, परंतु पीछे से वह बिल्कुल गंजी और चिकनी है। छोटे-मोटे भ्रष्ट आचरणों के पीछे दौड़ना इस खोपड़ी को पीछे से पकड़ने के समान है। इसे अगर पकड़ना हो तो आगे से, बालों को पकड़कर काबू में लाना चाहिए। इन बालों की जड़ें कहां हैं, इनकी पहचान करना वहुत आवश्यक है।

(दैनिक जागरण , 22-11-2001)

विधान सभा में चुनाव के बाद पंजाब की सत्ता राजनीति का ऊंट किस करवट बैठेगा

अकाल तख़्त तथा पंजाब स्थित अन्य दो तख़्तों के जत्थेदारों और दो मुख्य ग्रंथियों, जिन्हें सम्मान के साथ 'सिंह साहवान' कहा जाता है, फिर इस बात की अपील की है कि सभी अकाली धड़ों को आपस में मिल जाना चाहिए और पंथक एकता स्थापित करनी चाहिए। अभी तक इस अपील के प्रति किसी भी अकाली धड़े की ओर से से कोई सकारात्मक प्रतिक्रिया नहीं मिली है, किन्तु जैसे-जैसे पंजाब विधान सभा के चुनाव निकट आ रहे हैं, वैसे-वैसे इस दृष्टि से सक्रिया बढ़ेगी यह निश्चित है।

इस समय पंजाब में आने वाले विधान सभा चुनाव की सरगरमी पूरी तरह शुरू हो गई है। गत पांच वर्ष के अकाली दल (बादल) और भारतीय जनता पार्टी की सरकार पंजाब में चल रही है। 1997 में हुए विधान सभा के चुनाव में अकाली-भाजपा गठबंधन को आशातीत सफलता प्राप्त हुई थी। उस समय पंजाब की अकाली राजनीति के तीन दिग्गज-प्रकाश सिंह बादल, गुरचरण सिंह टोहड़ा और सुरजीत सिंह बरनाला एक ही मंच पर थे। आम सिख जनता अकाली नेताओं के मध्य इस प्रकार की एकता को सदा पसंद करती है। पिछले चुनाव में जो परिणाम आए, उसमें इस तथ्य का भी बहुत बड़ा हाथ था। पंजाब की जनता हिन्दू-सिख एकता और इनमें आपसी सहयोग भी देखना चाहती है, इसलिए अकाली-भाजपा के गठजोड़ का भी वह व्यापक समर्थन करती है। पिछले चुनाव के समय एक सकारात्मक पहलू भी था।

पांच वर्ष बाद स्थिति बहुत बदली हुई है। अकाली नेताओं की एकता खंडित हो गई। सुरजीत सिंह बरनाला एक राज्य का राज्यपाल बनकर संतुष्ट हैं। पुराने प्रतिद्वन्द्वी-बादल और टोहरा-बड़ी आक्रामणक मुद्रा में एक-दूसरे के सामने खड़े हैं। गुरचरण सिंह टोहड़ा ने 'सर्वहिन्द अकाली दल' नाम से अपना अलग दल बना लिया

है। कुलदीप सिंह वडाला ने टोहड़ा से पहले ही बादल का साथ छोड़कर अपना अलग अकाली दल (डिमोक्रेटिक) बना लिया था। सिमरनजीत सिंह मान और जसबीर सिंह रोडे के अपने अकाली दल हैं ही। अब इनमें से अधिसंख्या दलों ने मिलकर एक पंथक मोर्चा बना लिया है। अकाली दल का टूटना, नया दल बनना, फिर कुछ दलों का मिलकर एक सांझा मोर्चा बनाना, अकाली राजनीति का रोज़ का ढर्रा है, किन्तु इस बार एक नई बात हुई है। इस सारे देश में संतों-महंतों की भरमार है। राजनीति की चमक-दमक से अब वे भी अछूते नहीं हैं। इसलिए इस वर्ग के कुछ महत्वाकांक्षियों ने राजनीति में भी सक्रिय रुचि और भागीदारी लेनी प्रारम्भ कर दी। वे विधायक और सांसद भी बन रहे हैं और अवसर मिलते ही मंत्री पद भी संभाल लेते हैं।

पंजाब में संतों-महंतों ने मिलकर 'संत समाज' नाम से अपनी एक संस्था बनाई है। गुरु नानक देव की वंश-परम्परा के संत बाबा सर्वजीत सिंह बेदी इसके अध्यक्ष हैं। पंथक मोर्चे के नेताओं ने इस बार इन्हें अपना संयोजक बना लिया है। बाबा बेदी बहुत सरगरमी से इस समय इस मोर्चे की अगुवाई कर रहे हैं। इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि पंथक मोर्चे के साथ इनके जुड़ जाने से मोर्चे की शक्ति भी बढ़ी है और लोकप्रियता भी।

अनुसूचित जातियों की संख्या पंजाब में अन्य किसी भी राज्य की अपेक्षा अधिक है। यहां की जनसंख्या का लगभग 28 प्र. श. भाग अनुसूचित जातियों का है। इसलिए बहुजन समाज पार्टी का इस प्रदेश में प्रभावशाली जनाधार है। काशी राम यह घोषणा बार-बार कर रहे हैं कि पंजाब में इस बार बसपा की सरकार बनेगी, किन्तु इस बात के भी बहुत स्पष्ट संकेत हैं कि आने वाले चुनाव में बहुजन समाज पार्टी पंथक मोर्चे के साथ सीटों के बंटवारे में कोई समझौता करेगी।

पंजाब में तीसरी शक्ति कांग्रेस है। पिछले 55 वर्षों में पंजाब मे कांग्रेस ही अधिक समय सत्ता में रही है। जब कभी भी गैर कांग्रेसी सरकार वहां सत्ता में आई, वह अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर सकी। केन्द्र में बैठी कांग्रेस सरकार किसी न किसी बहाने वहां की विधान सभा भंग करके राष्ट्रपति शासन लगा देती थी। यह पहली बार है कि अकाली-भाजपा सरकार पंजाब में पूरे पांच वर्ष अपनी सरकार चला सकी है।

कैप्टन अमरिन्दर सिंह पंजाब कांग्रेस के अध्यक्ष हैं। वे युवा हैं और राजनीति में उनकी छवि बिल्कुल बेदाग है। नेहरू-इंदिरा परिवार के वे बहुत निकट रहे हैं।

1984 में हुए आपरेशन ब्लू स्टार से क्षुब्ध होकर उन्होंने पार्टी से त्याग पत्र भी दे दिया था और संसद की सदस्यता भी छोड़ दी थी। फिर अकाली दल में शामिल हो गए थे। अकाली टिकट पर ही 1986 के चुनावों में वे पंजाब विधान सभा में आए थे और सुरजीत सिंह बरनाला की अकाली सरकार में मंत्री भी बने थे। फिर प्रकाश सिंह बादल से उनका टकराव शुरू हो गया। उन्होंने अपना अलग अकाली दल भी बनाया। अंत में वे कांग्रेस में वापस आ गए। राजीव गांधी से उनकी निकटता थी ही। सोनिया गांधी की निकटता प्राप्त करने में वे सफल हुए। इसी कारण पंजाब कांग्रेस

की बागडोर भी उनके हाथ में आ गई। बेअंत सिंह ही हत्या के बाद पंजाब के कांग्रेसी नेतृत्व में शून्यता उभर आई थी। इस शून्य को भरने में न राजेन्द्र कौर भट्ठल कामयाब हुई, न तेज़-तर्रार जगजीत सिंह बराड़ सफल हुए। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस शून्य को भरने में कैप्टन अमरिन्दर सिंह बहुत हद तक सफल हुए हैं।

पंजाब में इस समय कांग्रेस की स्थिति बहुत अच्छी है। इस अच्छी स्थिति का कारण यह नहीं है कि कांग्रेस ने यहां कुछ ऐसे काम कर दिए हैं, जिनसे जनता बहुत प्रसन्न हो गई है। अथवा यहां की सिख जनता आपरेशन ब्लू स्टार और नवम्बर 1984 के सिख विरोधी दंगों को भूल गई है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि प्रकाश सिंह बादल की सरकार की साख इस समय इतनी गिरी हुई है कि लोग उसका विकल्प पाने को उत्सुक हो उठे हैं। भ्रष्टाचार और कुनबापरस्ती के जितने आरोप इस समय इस सरकार पर लग रहे हैं, उतने शायद ही किसी पिछली सरकार पर लगे हों।

इस परिदृश्य में तीन चित्र स्पष्ट दिखाई देते हैं—एक अकाली दल (बादल) और भारतीय जनता पार्टी का गठबंधन जो इस समय सत्ता में है और केन्द्र सरकार की अनुकूल दृष्टि भी उसकी ओर है। दूसरा चित्र असंतुष्ट अकाली दलों का संयुक्त पंथक मोर्चा है। इस मोर्चे के आधार अत्यन्त शिथिल हैं। बादल-विरोध इनका सबसे बड़ा मुद्दा है। अकाल तख़्त की दुहाई देना और सिख जनता का भावात्मक शोषण करना इसका सबसे बड़ा हथियार है, जिसे जनता बहुत बार परख चुकी है। और यह भी जानचुकी है कि हथियार बुरी तरह कुंद हो चुका है। यदि काशी राम इस मोर्चे के साथ हो जाते हैं तो दलितों आर पिछड़ी जातियों में इनके समर्थन की कुछ संभावनाएं बढ़ सकती हैं। किन्तु इस तथ्य से भली लोग परिचित हैं कि काशीराम अपनी पूरी कीमत लिए बिना किसी से हाथ नहीं मिलाते हैं। पंथक मोर्चा किस हद तक वह कीमत चुका सकता हैयह एक बहुत बड़ा प्रश्न चिह्न हैं।

पंजाब की वामपंथी पार्टियों की स्थिति इस समय भी उतनी ही रोचक है, जितनी सभी चुनावों के समय होती है। पंजाब के बुद्धिजीवो वर्ग में इनकी पकड़ है। कुछ क्षेत्र भी ऐसे हैं, जहां इन्हें अच्छा-खासा जन समर्थन भी मिलता है। किन्तु यह समर्थन इतना नहीं मिलता कि वे पंजाब विधान सभा में कुछ विधायक भेजने में समर्थ हो सके। इन्हें एक-दो स्थानों पर विजय प्राप्त करके संतोष करना पड़ता है।

आने वाले चुनाव में कांग्रेस से छोटा-मोटा गठजोड़ किए बिना इनके पास कोई विकल्प नहीं हैं। कांग्रेस पार्टी भी इनके लिए कुछ सीटें छोड़नें के लिए सहमत दिखाई देती है। किन्तु कांग्रेस को समर्थन देने और उसका समर्थन लेने के सम्बन्ध में वामपंथी पार्टियों, विशेषरूप से, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट, में गहरे मतभेद उभर आए हैं।

निष्कर्ष यह है कि आगामी चुनाव अकाली-भाजपा गठबंधन आर कांग्रेस के मध्य ही टकराव होगा। राजनीति में आने पक्ष के मतदाताओं को साथ लाना जितना महत्वपूर्ण होता है, विपक्षी मतों को खराब करना, उन्हें काटता, उन्हें प्रभावहीन करना भी कम महत्व पूण नहीं होता। कांग्रेस का लाभ इस बात में है कि एक से अधिक अकाली

दल चुनाव लड़ें जिससे सिख मतदाताओं के वोट विभाजित हो जाएं। अकाली भाजपा गठजोड़ चाहेगा कि दलित वर्ग के अधिक मत पंथक मोर्चे की ओर जाएं जिससे इन मतों को कांग्रेस की ओर जाने से रोका जा सके।

यदि आनेवाले चुनाव में अकाली-भाजपा गठबंधन की पराजय हो जाती है और कांग्रेस फिर से सत्ता में आ जाती है, जिसकी बहुत संभावना है, तो इसे दुर्भाग्य पूर्ण ही माना जाएगा। पिछली बार चुनाव परिणाम देखकर ऐसा लगने लगा था कि पंजाब में पश्चिमी बंगाल का उदाहरण दोहराया जाएगा। वहां माक क नेतृत्व वाला वामपंथी गठजोड़, कांग्रेस को सत्ता से परे करके जो सत्तारुढ़ हुआ कि पिछले तीन दशकों में उसकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। हाल में हुए विधान सभा चुनावों में कांग्रेस ने बहुत ज़ोर लगाया। तृण्णमूल कांग्रेस की ममता बनर्जी ने लोकतांत्रिक गठबंधन और मंत्री पद से त्याग पत्र देकर कांग्रेस से हाथ मिला लिया। फिर भी वे वाममोर्चे की सरकार को अपदस्थ नहीं कर सकीं।

तमिलनाडु में भी कांग्रेस तीन दशक से अधिक समय पहले ही सत्ता से बाहर हो गई थी। वहां की राजनीति में वह पूरी तरह हाशिएपर चली गई। सत्ता की लड़ाई द्रविड़ राजनीति के दो गुटों-डी. एम. के. और ए. डी. एम. के बीच ही सिमट गई। आज आन्ध्र प्रदेश की स्थिति भी उसी राह पर है।

किन्तु पंजाब में ऐसी स्थिति क्यों नहीं बन पाई? अकाली दल (बादल) और भाजपा ने मिल कर पांच वर्ष तक अपनी सरकार तो चला ली है, किन्तु दूसरी बार के लिए उनके पैर पूरी तरह उखड़े हुए क्यों दिखाई दे रहे हैं?

पंजाब की अकाली राजनीति के सम्मुख एक और गंभीर संकट दिखाई दे रहा है। प्रकाश सिंह बादल बौर गुरचरण सिंह टोहड़ा उम्र की उस दहलीज़ पर पहुंच गए हैं।

जहां फरवरी 2002 में होने वाला चुनाव संभवतः उनके सक्रिय जीवन का अंतिम चुनाव सिद्ध हो। इनके बाद जो नेतृत्व-शून्यता पैदा होगी उसका अनुमान लगाया जा सकता है। पश्चिमी बंगाल में जिस गरिमा पूर्ण ढंग से ज्योति बसु द्वारा बुद्ध देव भट्टा चार्य को नेतृत्व हस्तांतरित कर दिया गया और सभी पार्टी सदस्यों ने जिस प्रकार उसे स्वीकार कर लिया वह अपने आप में एक मिसाल है। किन्तु पंजाब में तो ऐसा होता दिखाई नहीं देता। महाराजा रणजीत सिंह ने चालीस वर्ष के अथक परिश्रम से जिस साम्राज्य को खड़ा किया था वह उनकी मृत्यु के बाद 10 वर्ष के अंदर ही पूरी तरह धराशाही हो गया। आज सारा पंजाब रणजीत सिंह के राजतिलक लेने की दूसरी शताब्दी मनाने में मग्न दिखाई देता है। शायद ही कोई विद्वान इस बात का विश्लेषण कर रहा हो कि हर युद्ध में अफगानों को धूल चटा कर खैबर से सतलुज और सिध से तिब्बत तक फैला हुआ वह साम्राज्य केवल दस वर्ष में ही लड़खड़ाकर औंधे मुंह क्यों गिर पड़ा था? रणजीत सिंह ने एक विशाल साम्राज्य तो स्थापित कर दिया था, सुयोग उत्तराधिकारी का निर्माण वह नहीं कर सके थे।

मुझे पता नहीं कि आज पंजाब के राजनेताओं के सम्मुख यह प्रश्न है भी कि नहीं? और तो क्या वे गंभीरता पूर्वक इस पर विचार कर रहे हैं?

हमारे देश में अभी अजतांत्रिक परम्पराएं इतनी विकसित नहीं हुई हैं, जहां उत्तराधिकारी सहज रूप से उभर आता है। यहां, कुछ अपवादों को छोड़कर, उत्तराधिकारी, अनेक इतर कारणों से अरोपित हो जाते हैं।

इस समय पंजाब का सम्पूर्ण राजनीतिक माहौल पूरी तरह गर्माया हुआ है। यह गर्माहट वहां के राजनीतिक ऊंट को किस करवट बैठाएगी, कछ महीने बाद ही इसका पता लगेगा।

(दैनिक जागरण, 29-11-2001)

इस लड़ाई के चरित्र को समझना चाहिए

13 दिसंबर को संसद भवन पर आतंकवादियों द्वारा जितनी तैयारी के साथ आक्रमण किया गया उसे देखते हुए यह आवश्यक हो गया है कि आतंक के इस चरम का पूरी तरह आकलन किया जाए और उसके चरम की सही पहचान की जाए। प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने इस सन्दर्भ में दो महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। एक, आतंकवाद के खिलाफ लड़ाई अब अंतिम चरण में पहुंच गई है, दूसरी बात, अब इससे आरपार की लड़ाई लड़नी होगी।

प्रधानमंत्री के ये दोनों ही निष्कर्ष बिल्कुल सही दिशा की ओर संकेत करते हैं। कोई भी कामयाब लड़ाई उस समय तक नहीं लड़ी जा सकती जब तक शत्रु के गन्तव्यों की सही-सही पहचान न कर ली जाए, उसकी शक्ति का पूरा आकलन न कर लिया जाए, उसके द्वारा लड़ाई में इस्तेमाल किए जाने वाले हथियारें का पता न हो, कौन सी शक्तियां शत्रु का साथ दे रही हैं और सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि इस बात का ठीक ढंग से अनुमान न कर लिया जाए कि शत्रु कितने लम्बे समय तक इस लड़ाई को लड़ने की सामर्थ्य रखता है।

जिस आतंकवाद से आर-पार की लड़ाई की बात आज हम कर रहे हैं, वह पंजाब, असम, नागालैंड में आतंकवाद के विरुद्ध लड़ी गई अथवा लड़ी जा रही लड़ाई जैसी नहीं है। यह श्रीलंका में तमिल आतंकवादियों अथा आयरलैंड की आयरिश रिपब्लिक पार्टी द्वारा चलाए जा रहे अभियान जैसी भी नहीं। इसकी थोड़ी बहुत तुलना पीपुल्स वार ग्रुप की आतंकवादी गतिविधियों से की जा सकती है। इस ग्रुप. के लोग किसी क्षेत्रीय राज्य के निर्माण के लिए संघर्ष नहीं कर रहे हैं। इनके पास एक निर्वाचित विचारधारा है, जिसका एक वैश्विक, आधार है। इसी प्रकार जिन लोगों ने संसद पर बहुत दुस्साहसिक आक्रमण किया वे एक ऐसी विचारधारा से प्रेरित हैं जो किसी एक

देश अथवा क्षेत्रीय समुदाय तक ही सीमित नही है। उसका एक वैश्विक आधार तो है ही उसके पीछे गहरी धार्मिक आस्था है, युद्धों से भरा लम्बा इतिहास है और जो सफलताओं और विजयों से भरा हुआ है। सबसे बड़ी बात यह कि इस बात में जुनून की हद तक गहरा विश्वास है कि अंत में विजय हमारी ही होगी, क्योंकि 'अल्लाह' की रहमत भरी नजर के हम एक मात्र हकदार हैं, अन्य कोई नहीं।

इसलिए (दुर्भाग्य से) आर पार की लड़ाई जिस शत्रु से लड़ी जानी है वह अपने कंधों पर डेढ़ हजार वर्ष के लंबे इतिहास को पूरी तरह लादकर चलता है। इस बोझ से वह इस हद तक लदा हुआ है कि वह वर्तमान को बिल्कुल नहीं देखना चाहता, शायद उसके वर्तमान में आकलन की शक्ति ही नहीं बची हैं। वह अतीत में जीता है। अतीत की उपलब्धियों की जुगाली करते रहना उसकी नियमित बन गई है।

इस्लामी संसार, सम्भवतः इस समय सबसे अधिक दुविधाग्रस्त स्थिति में जी रहा है। इसमें बहुत बड़ा भाग उन लोगों का भी है जो वर्तमान में आंख खोल कर जीना चाहते हैं। वे समझते हैं कि वर्तमान संसार में, 'दारुल इस्लाम' और 'दारुल हरब' जैसी मान्यताएं असंगत हो गई हैं। आधुनिक युग की सर्वस्वीकृत मान्यताएं संसार के किसी भी देश को इस्लामी राज्य और गैर-इस्लामी राज्य में नहीं बांटती। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे संगठन मध्य युग में नहीं बने थे। संसार के राष्ट्र, धार्मिक और राजनीतिक विश्वासों की भिन्नता के बावजूद एक मंच पर एकत्र होकर अपने लिए कुछ सांझी संहिता का निर्माण करके उसके पालन के प्रति वचनबद्ध हो सकते हैं, मध्ययुग में इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। इस वचनबद्धता में मानवीय अधिकार हैं, अल्पसंख्यकों की सुरक्षा है, सभी नागरिकों की समानता है, स्त्री की क्षमताओं की स्वीकृति है और शासन तंत्र में धर्म निरपेक्षता की मान्यता है। संसार के वे सभी देश जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हैं, जिसमें सभी इस्लामी देश भी शामिल हैं, इस वचनबद्धता से बंधे हुए हैं।

किंतु बहुत से इस्लामी राष्ट्र भी वचनबद्धता को या तो पूरी तरह नकराते हैं या इसे अपने देश में लागू करने से कतराते हैं। अफगानिस्तान में पिछले वर्षों के तालिबानी शासन में जो कुछ हुआ वह संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का खुल्लमखुल्ला नकार था।

अन्य, आतंकवादी ओसामाबिन लादेन, उसका संगठन अलकायदा संगठन जैसे मोहम्मद, लश्करे तायबा आदि उन मान्यताओं से कोसों दूर हैं जो संयुक्त राष्ट्र संघ की संपूर्ण परिकल्पना का आधार है। इस्लामी कट्टरपंथी विचारधारा इसे अमेरिका, ब्रिटेन, इसराइल और भारत जैसे देशों के विरुद्ध लड़ाई तक सीमित नहीं करती। वह मानती है कि यह लड़ाई, इस्लाम के जन्म से ही, ईसाइयों, यहूदियों और हिन्दुओं के विरुद्ध सदियों से चली आ रही लड़ाई है यह एक जेहाद है।

यह देश भी जो लड़ाई लड़ रहा है वह थोड़े से आतंकवादियों के विरुद्ध लड़ाई नहीं है। यह मुद्दा नहीं है कि कश्मीर भारत का एक भाग है अथवा कश्मीर के मुस्लिम बहुत होने के कारण उसे पाकिस्तान का एक भाग होना चाहिए। आज यदि कश्मीर

को पूरी तरह पाकिस्तान को दे भी दिया जाए अथवा उसे एक स्वतन्त्र देश घोषित कर दिया जाए तो आतंकवादी संतुष्ट होकर खुश हो जाएंगे और वहां आतंकवादी गतिविधियां समाप्त हो जाएंगी, ऐसा सोचना आतंकवादी चरित्र को समझने में भूल करना होगा। कट्टरपंथी मानता है कि जब तक भारत जैसा 'दारुल हरब' मुल्क पूरी तरह 'दारुल इस्लाम में नहीं बदल जाता तब तक यह लड़ाई चलती रहेगी।

संसार के सभी धर्मों की मान्यताएं अपने समय के संदर्भ में बनी थीं। कोई भी मान्यता, संदिग्ध, शरियत अथवा कोड ऐसा नहीं है जो 'सभी समयों, सभी युगों के लिए अपरि वर्तनीय, असंशोधनीय अथवा शाश्वत् होता हो। सत्य की सतत खोज ही मनुष्य की चिंता का प्रमुख आधार है। इसीलिए संसार के सभी धर्म और विचार या तो अपनी सभी मान्यताओं में समयानुसार संशोधन करते हैं अथवा उनकी पुनर्व्याख्या करते हैं। उदाहरण के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था की हिन्दू मान्यता का पुनर्परीक्षण समय-समय पर होता रहा है। हिन्दू होकर जनमे अनेक महात्मा और चिंतक या तो इसे नकारते रहे हैं अथवा इसकी पुनर्व्याख्या करते रहे हैं। यह व्यवस्था अपरि वर्तनीय है, ऐसा आज कोई नहीं मानता।

इसी प्रकार इस्लामी जेहाद की परिकल्पना है। किसी समय उसका अर्थ गैर-मुसलमानों से इस्लाम की रक्षा करने के लिए निरंतर संघर्ष करना रहा होगा। आज के इस्लामी चिंतक इसे मनुष्य की कमजोरियों, सामाजिक बुराइयों, झूठ, पाखंड और अंधविश्वासों आदि के विरुद्ध किया जाने वाला सतत्, संघर्ष मानते हैं, इसमें मुसलमान अथवा गैर मुसलमान होना महत्वपूर्ण नहीं है।

किंतु जेहाद को जो लोग अभी भी गैर-मुसलमानों के विरुद्ध निरंतर चलाए जाने वाले संघर्ष के रूप में देखते हैं और उसे अपना पवित्र धार्मिक कर्तव्य मानते हैं उनकी मान्यताओं से संसार के सभी भागों में टकराव उत्पन्न होना बहुत स्वाभाविक है। दुर्भाग्य से इस देश को आज ऐसी ही मान्यता से जूझना पड़ रहा है।

हाल में लश्करे-ऐ-तैयबा के एक नेता से जब यह पूछा गया कि एक आतंकवादी संगठन के रूप में यदि पाकिस्तान की सरकार आपके संगठन पर प्रतिबंध लगा दे तो आपकी क्या प्रतिक्रिया होगी? उसका बड़ा स्पष्ट उत्तर था, पाकिस्तान की सरकार हम पर कोई रोक नहीं लगा सकती, क्योंकि हमारा संगठन कोई आतंकवादी संगठन नही है। हम तो 'मुहाहिदीन' हैं और 'जेहाद' कर रहे हैं।

ऐसी विचारधारा यह भी मानती है कि इस्लाम के लिए राष्ट्र अथवा देश की सीमाएं कोई महत्व नहीं रखती हैं। उसकी कल्पना में 'सर्व इस्लामी' (पैन इस्लामिक) अवधारणा बसती है। 1920 में जब तुर्की से 'खिलाफत' खत्म हो रही थी, भारतीय मुसलमानों ने इसे अंग्रेजों द्वारा इस्लाम पर हमला माना था और यहां उसके विरोध में प्रबल आवाज उठाई गई थी, हालांकि वहां से खलीफा की पदवी को समाप्त करने में तुर्की के ही एक मुस्लिम नेता कमाल अताकुर्क ने ही बड़ी भूमिका निभाई थी।

अभी अफगानिस्तान में जो युद्ध हुआ है उसे ओसामा विन लादेन ने संसार भर में फैले इस्लाम के विरुद्ध आक्रमण कहा और सारे संसार के मुसलमानों का आह्वान

किया कि अफगानिस्तान में आकर जेहाद की लड़ाई लड़ें। इस युद्ध में वहां सिर्फ तालिबान ने ही प्रतिरोध नहीं किया, बलिक उनके साथ कंधे से कंधा मिलाकर कश्मीर, पाकिस्तान, अरब, सूडान, चेचेन्या तथा चीन आदि देशों से आए हुए मुजाहिदीनों की यह लड़ाई अफगानिस्तान से नहीं पूरे इस्लाम से है, ने भी भाग लिया, क्योंकि उनकी मान्यता यह थी।

इसलिए जिन आतंकवादियों ने भारतीय संसद पर आक्रमण किया उनका संबंध केवल कश्मीर और पाकिस्तान से ही नही है, न ही उनका लक्ष्य केवल कश्मीर तक सीमित है। वे उस सर्व-इस्लामी अवधारणा से प्रेरित हैं जिसमें संसार के वे सभी देश आ जाते हैं जहां गैर-इस्लामी हुकूमत है और उस हुकूमत से मुसलमानों के स्वार्थ किसी-न-किसी स्तर पर टकराते हैं। इनके मन्तव्य में जेहाद सबसे ऊपर है और इसके लिए वे बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी दे सकते हैं।

यह भी सच है कि इस समय संसार में पाकिस्तान को छोड़कर एक भी ऐसी बड़ी और शक्तिशाली इस्लामी शक्ति नहीं है जो इन जेहादियों और मुजाहिदीनों को अपनी राज्य-शक्ति का सहारा दे सके। अफगानिस्तान में पाकिस्तान सदा तालिबानी शासन का साथ देता रहा, किंतु जब अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश ने तालिबानी शासन के विरुद्ध कदम उठाया और पाकिस्तान को एक सख्त घुड़की दिखाई तो वह भी घुटने टेक कर अमेरिका का साथ देने के लिए राजी हो गया। आज भारत में जो कुछ भी हो रहा है वह पाकिस्तान की सहायता से ही हो रहा है, किंतु इस टकराव में भी वह खुलकर सामने नहीं आ सकता, क्योंकि कि संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अमेरिका जैसे देशों का उस पर दबाव है और पाकिस्तान इस स्थिति में नहीं है कि वह विश्व-समाज की उपेक्षा कर सके।

इसलिए इस जेहादी तबके के पास आज एक ही हथियार बचता है कि वे सामने की लड़ाई न लड़कर, आतंकवादी गतिविधियों का सहारा लेते रहें। इस समय यही उनकी शक्ति है और यही उनका हथियार है।

इस संदर्भ में महत्वपूर्ण बात यह है कि उन शक्तियों की पूरी पहचान की जाए जो इन आतंकी गुटों का साथ दे रही हैं। इस संबंध में पाकिस्तान की खुफिया एजेंसी आई.एस. आई. की कारगुजारीयों को सभी जानते हैं। जिन पांच लोगों ने संसद पर आक्रमण करने की जुर्रत की थी, वे सभी पाकिस्तानी थे। इस काम में संसार के कुछ अन्य इस्लामी देशों से भी इन तत्वों को जन, धन और हथियारों की मदद मिलती है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता।

किंतु इन तत्वों को जो सहायता, सहयोग, समर्थन और आश्रय इस देश के अंदर से प्राप्त हो रहा है, वह सबसे अधिक चिंता की बात है। इस संबंध में अन्य जिन चार व्यक्तियों को दिल्ली पुलिस ने गिरफ्तार किया है, वे भारतीय नागरिक हैं, यहीं उनकी शिक्षा हुई है, इसी देश का अन्न-जल, खाकर उनका पालन-पोषण हुआ है, सिमी जैसी संस्थाएं इसी देश के नागरिक चलाते हैं और इसी देश में उनके वे केंद्र स्थापित हैं जहां से वे इसी देश की प्रभुसत्ता को चुनौती देने का मानसिक शिक्षण प्राप्त करते हैं।

इन सभी के मध्य दिल्ली की जामा मस्जिद के इनाम सैयद अहमद बुखारी की भूमिका सबसे अधिक चिंताजनक और खतरनाक है। प्रत्येक शुक्रवार को जुम्मे की नमाज के लिए सैकड़ों मुसलमान जामा मस्जिद में एकत्र होते हैं। इस अवसर पर उनके सामने वे जो कुछ भी बोलते हैं, वह भारतीय मुसलमान को इस देश, इस देश की नीतियों और इस देश के आमजन से बहुत दूर ले जाकर पूरी तरह अजनबी बना देती है। 14 दिसंबर के जुम्मे के दिन उन्होंने जो भाषण किया। उसमें एक दिन पूर्व संसद पर हुए आक्रमण का तो सिर्फ औपचारिक-सा उल्लेख था, अधिक बात तालिबानों और ओसामा बिन लादेन के संबंध में भी, उन्होंने अफगानिस्तान में तालिबानों की पराजय पर शोक व्यक्त करते हुए कहा कि यह उनकी वक्ती हार है। उनकी कामयाबी के लिए वे दुआ मांगते रहे। ओसाम बिन लादेन ने अमेरिका के साथ ही भारत के विरुद्ध जेहाद की स्पष्ट धमकी दी है। इमाम अहमद बुखारी ने ऐसे व्यक्ति को बिल्कुल पाक-साफ घोषित करते हुए उसके लिए सभी प्रकार की कुर्बानी देने का आह्वान किया। जितना सरोकार उन्होंने सैकड़ों किलोमीटर दूर बैठे ओसामा, तालिबान तथा उनकी कामयाबी के लिए व्यक्त किया उसका सौंवा भाग भी उनके लिए नहीं कहा जिन्होंने संसद पर हुए हमले से देश के नेताओं और सैकड़ों सांसदों की रक्षा में अपने प्राणों की आहुति दी।

इमाम बुखारी उन लोगों में हैं जिनका पूरा प्रयास यह रहता है कि वे यहां के मुसलमानों को इस देश के साथ कभी समरस न होने दें।

आतंकवाद के रूप में जो चेहरा देश के सामने खड़ा है वह कोई देश नहीं है जिससे आमने-सामने युद्ध करके कुछ दिनों में फैसला किया जा सके। यह एक प्रवृत्ति है और वातावरण में दुर्गंध की भांति व्याप्त है। इसकी पहचान कर सकना, इसे इंगित कर सकना, सरल कार्य नहीं है। इसके पीछे प्रबल प्रेरक हेतु हैं। ऐसे हेतुओं से प्रेरित व्यक्तियों से लड़ना किसी देश की सेनाओं से युद्ध होने से कहीं अधिक कठिन होता है। भारत पिछले अनेक दशकों से इसी प्रकार के युद्ध से जूझ रहा है और आने वाले लंबे समय तक उसे इसी प्रकार के युद्ध से जूझते रहना है।

आतंकवादी गतिविधियों का संसार के किसी भाग में कोई सार्थक परिणाम निकला हो ऐसा नहीं दिखाई देता। ऐसी सरगरमियों की सहायता से कोई यह सोचता हो कि कश्मीर भारत से टूटकर अलग हो जाएगा, वह गहरे भ्रम में जीता है किंतु इतना भी निश्चित है कि भारत लंबे समय तक यह लड़ाई प्रतिरक्षात्मक ढंग से नहीं लड़ सकता। अब आर-पार की लड़ाई तभी लड़ी जा सकती है जब इसे दृष्टि से अधिक आक्रामक रवैया अपनाया जाएगा। बिना चेहरे वाला यह शत्रु देश के बाहर भी है और देश के अंदर भी है। यह एक लंबा और थकाऊ संघर्ष है, किन्तु इसके चरित्र को पूरी तरह समझ कर धैर्य, साहस और दृढ़ निश्चय से लड़े बिना कोई विकल्प नहीं है।

(दैनिक जागरण, 27-12-01)

बहुत कुछ बदल दिया गत वर्ष को दो तिथियों ने

कुछ तिथियों और कुछ सन/संवत इतिहास में इस प्रकार अंकित हो जाते हैं कि उनका उल्लेख होते ही वह घटना सामने उजागर हो जाती है जो इस तिथि अथवा सन/संवत से जुड़ी होती है। 30 जनवरी कहते ही गांधी जी की हत्या याद आ जाती है औरा 1857 कहते ही सिपाही विद्रोह का प्रसंग सामने घूमने लगता है। सन् 2001 की दो तिथियां-11 सितंबर और 13 दिसंबर भी कभी न भुलाई जा सकने वाली तिथियां बनकर रहेंगी।

सन् 2001 सारे संसार के लिए बहुत घटना प्रधान वर्ष रहा। नेपाल में राजपरिवार के ही एक सदस्य द्वारा लगभग पूरे परिवार को हत्या, इंडोनेशिया में सत्ता परिवर्तन, श्रीलंका के चुनाव में चंद्रिका कुमारतुंगा की पार्टी की पराजय आदि अनेक घटनाएं घटीं। भारत में वर्ष का प्रारम्भ ही गुजरात में आए भयंकर भूचाल से हुआ। वर्ष भर तहलका कांड और कितने ही घोटालों की चर्चा से माहौल गरमाया रहा। देश में सांप्रदायिक दंगों की अनुगूंज रहीं, किंतु जिस एक बात ने सारे संसार को सोच को बड़ी बुरी तरह झिंझोड़ दिया, वह था, जिसे आज सभी ओर इस्लामी आतंकवाद के नाम से पुकारा जा रहा है। मैं समझता हूं कि संपूर्ण मानवीय इतिहास में इस प्रकार की विश्व-व्यापी प्रकंपित कर देने वाली घटना इससे पहले कभी नही हुई। चंगेजखान, हलाकूखान और तैमूर के आक्रमणों से मध्ययुग में संसार का एक भाग बहुत पीड़ित हुआ था। उनके आक्रमणों में लाखों निरही लोगों की हत्या हुई थी, किंतु वे आक्रांता असीम सैनिक शक्ति के साथ आए थे। उनका मुकाबला किन्ही सरकारों से भी हुआ था। निरही जनता तो गेहूं में घुन की तरह पिस गई थी।

आज की स्थिति बहुत भिन्न है। अमेरिका अथवा भारत पर किसी संगठित और

विशाल सैनिक शक्ति वाले आक्रांता ने आक्रमण नहीं किया। जिन पर आक्रमण हुआ है उनकी गणना आज विश्व की बड़ी शक्तियों में की जाती है। अमेरिका इस समय विश्व की 'सुपर पावर' है। भारत संसार का सबसे बड़ा लोकतांत्रिक देश है। इन देशों पर आक्रमण करने वाले कुछ जुनूनी किस्म के गुट हैं, जिन्होंने अपनी शाखाएं संसार के अनेक देशों मे फैलाई हुई हैं। इनके पास कोई संगठित और सुसज्जित सैनिक शक्ति भी नहीं है। इनके पास इतने बड़े आर्थिक स्रोत भी नहीं हैं जैसे अमेरिका और भारत देशों के पास हैं।

फिर ऐसी कौन सी शक्ति या प्रेरणा है, जिसने इन्हें इस बात के लिए प्रेरित किया कि ये अमेरिका और भारत से सीधे-सीधे जाकर टकरा जाएं और बड़ी प्रगल्भतापूर्ण घोषणाएं करें?

11 सितंबर को जब विश्व व्यापार केंद्र और सैन्य केंद्र (पेंटागन) पर अपहरण किए गए हवाई जहाजों द्वारा कुछ आत्महंता आतंकवादियों ने हमला किया तो सारी दुनिया भौंचक्की रह गई। कुछ वर्ष पूर्व की संसार की दूसरी महाशक्ति सोवियत संघ ने अमेरिका पर आक्रमण किया होता तो न तो किसी को आश्चर्य होता है न कोई उसे अप्रत्याशित समझता। यह तो ऐसा हुआ कि सड़क पर जाते किसी पहलवान के चेहरे पर कोई सींकिया व्यक्ति अचानक आ एक थप्पड़ मार दे और पास की गलियों में भाग जाए। पहलवान और आस-पास खड़े व्यक्ति भौंचक्के रह जाएं।

आक्रमणकारियों की पहचान की गई। ओसामा बिन लादेन की चर्चा पहले भी थी। इस घटना के बाद एकाएक संसार का महा (खल) नायक बन गया। उसका संगठन अलकायदा सारे संसार में इस प्रकार चर्चित हो गया जैसे वह कोई आतंकवादी संगठन नहीं है, संसार की एक समानांतर महाशक्ति है।

संसार भर के इस्लामी देशों और इस्लामी संगठनों पर उस घटना की क्या प्रतिक्रिया हुई? चारों तरफ ऐसे संतोष, उपलब्धि, प्रसन्नता और बड़बोलेपन का प्रगटावा दिखाई देने लगा जैसे बहुत बड़ा कमाल करते हुए इन जेहादियों ने महाशक्ति माने जाने वाले अमेरिका के छक्के छुड़ाते हुए उसे घुटनों पर खड़ा कर दिया है।

इस घटना से सारा संसार व्याकुल था और अमेरिका बहुत बौखला गया था उसने एक लंबी लकीर खींच दी। एक पाला आतंकवाद को समूल नष्ट करने का अमेरिकी पक्ष। दूसरा पाला ओसामा बिन लादेन का, अमेरिका जैसे 'इस्लाम विरोधी' देश को न केवल सबक सिखाने वाला बल्कि उसे समूल नष्ट करने वाला। जिसकी मर्जी हो मित्र बनकर अमेरिकी पाले में आ जाए, जिसकी मर्जी हो शत्रु बनकर दूसरे पाले में चला जाए। तटस्थ रहने की कोई गुंजाइश नहीं। सबसे विचित्र हुई हालत पाकिस्तान की। मन, वचन, कर्म से वह ओसामा के साथ था (आज भी है)। भावनाओं का उमड़ता उत्साह उसकी जनता के एक बड़े भाग को जेहादी और मुजाहिदी के साथ जाने को प्रेरित करता था, किंतु अपनी ख़स्ता आर्थिक हालत, अमेरिका का उस पर बेहिसाब कर्ज़, संयुक्त राष्ट्र संघ सहित सारे संसार के जनमत का उसके सिर पर इतना

बड़ा बोझ था कि उसे फेंककर तालिबानों जैसी भाषा बोलना अथवा उसके जैसा पैंतरा ले लेना उसके लिए आत्म-हत्या जैसा था।

एक अनुभवी सैनिक अधिकारी होने के कारण जनरल परवेज मुशर्रफ को इतनी समझ है कि अमेरिका का विरोध करने अथवा किसी भी रूप में उसके टकराने का क्या परिणाम होगा। चीन सहित संसार का कोई भी बड़ा देश अमेरिका के विरोध में उसकी पीठ पर नहीं खड़ा होगा। 1971 के भारत-पाक युद्ध में पाकिस्तान को चीन से बहुत सी आशाएं थीं, किंतु जब वह भारत से बुरी तरह पिट रहा था, चीन ने दो कदम आगे बढ़कर उसकी कोई सहायता नहीं की थी। फिर वह इस तथ्य को भी कैसे भूला सकता है कि भारत जैसी एक बहुत बड़ी शक्ति उसके बिल्कुल पड़ोस में है। तीस वर्ष पहले इसी शक्ति ने पाकिस्तानी शासकों की मूर्खतापूर्ण गतिविधियों का लाभ उठाकर पाकिस्तान को खंडित कर दिया था। पाकिस्तान को कोई भी शासक इस जोखिम को दुबारा नहीं उठाना चाहेगा।

अपनी जनता के एक बड़े भाग के प्रबल विरोध के बावजूद जनरल मुशर्रफ ने अमेरिकी पाले में जाने का फैसला किया। निश्चय ही यह बहुत समझदारी भरा फैसला था। अफगानिस्तान में तालिबानी शासन का जो हश्र हुआ सभी जानते हैं।

जेहाद की बातें करने वाले, अपने आपको मुजाहिदीन कहने वाले और अपने प्राणों पर खेलने वाले फिदाईन ने क्या कभी यह सोचा है कि किसी भी प्रकार की उपलब्धि के लिए अपनी शक्ति और सामर्थ्य का सही आकलन बहुत आवश्यक है। जिस समय अमेरिका ने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया था, पाकिस्तान के अनेक भागों में मजहबी जुनन से भरे बहुत से लोगों ने व्यापक प्रदर्शन किए थे। सभी बड़े जोर-शोर से कह रहे थे हम अमेरिका का जल्दी ही पाश-पाश कर देंगे, हम दुनिया के नक्शे से अमेरिका का नाम मिटा देंगे—हम वह कर देंगे—हम वह कर देंगे, किंतु हुआ क्या? अपनी शक्ति की गर्वोक्तियां करने वाले तालिबानों के पैर दस दिन में ही उखड़ने लगे। उत्तरी गठजोड़ जैसी एक सामान्य-सी अफगानी शक्ति, अमेरिका की मदद से उन्हें एक के बाद-दूसरे शहर से खदेड़ने लगी। जिन्होंने वहां भगवान बुद्ध की आरक्षित मूर्तियों को, बड़ी बहादुरी समझते हुए तोड़ दी थी, उनकी अपनी मूर्ति अमेरिका की बमबारी में चार दिन भी ठहर नहीं सकी और धराशायी हो गई। सारा बड़बोलापन आखिर किस काम आया?

जिन जुनूनी लोगों ने 11 सितंबर को अमेरिका पर आक्रमण किया था, वही तीन महीने बाद भारत के संसद भवन पर हमला करने के लिए पहुंच गए। क्या सोचकर? क्या यहां का संसद भवन किसी मोहम्मदशाह रंगोले जैसे बादशाह का ताज है कि कोई भी नादिरशाह जब चाहे, आकर उसे पैरों से रौंद देगा और रंगीला बादशाह उसके सामने करबद्ध खड़ा हो जाएगा? भारतीय संसद हमारी लोकतांत्रिक प्रक्रिया को कर्म स्थली है। वह उस चिड़िया की तरह नहीं है, जिसमें किसी दानव के प्राण बसते थे और चिड़िया की गर्दन मरोड़ते ही दानव के प्राण निकल जाते थे। मान लीजिए

जेहादियों की इस जुर्रत से भारतीय संसद को कुछ नुकसान पहुंच जाता, मान लीजिए हमारे कुछ नेताओं और सांसदों को जानें वाली चली जातीं। क्या इससे इस विशाल देश की प्रभुसत्ता नष्ट हो जाती? इसके परिणामस्वरूप दिल्ली के तख्त पर कोई नादिरशाह आकर आसीन हो जाता?

अमेरिका के विश्व व्यापार केंद्र पर जेहादी आक्रमण अमेरिकी अर्थ तंत्र को नष्ट करने के लिए किया गया था, किंतु अमेरिकी अर्थ-तंत्र की शक्ति केवल न्यूयार्क के दो भवनों में ही तो कैद नहीं है। वह वहां की संपूर्ण व्यवस्था का अंग है, जिसके पीछे मज़बूत जड़ों वाली अगणित एजेंसियां काम करती हैं। अमेरिका को ऐसे दस और भवन उतारने में कितनी देर लगेगी।

इसी प्रकार भारतीय संसद हमारी लोकतांत्रिक आकांक्षाओं और अभिलाषाओं की प्रतीक होते हुए भी ऐसा स्थल नहीं है, जिसके क्षतिग्रस्त होते ही हमारा सारा लोकतांत्रिक ढांचा ही नष्ट हो जाएगा।

अमेरिका के भवन नष्ट हो गए किंतु हमारे सुरक्षाकर्मियों की जागरूकता और साहस के कारण हमारा संसद भवन सुरक्षित रहा, किंतु इससे उन उन्मादी शक्तियों के नापाक इरादे संसार भर के सम्मुख उजागर हो गए जो ऐसा कुछ कर गुंजरने पर उतारू हैं, जिससे उनका कोई मन्तव्य हो पूरा नहीं होगा, कुछ क्षेत्रों को शांति अवश्य भंग होगी, कुछ निरीह लोगों की जानें चली जाएंगी और कुछ लोग आतंक की छाया में निरंतर जीने के लिए मजबूर हो जाएंगे।

मजहबी जुनून की इस मानसिकता को उभारने में इस्लामी संसार के कुछ धार्मिक अगुवाओं ने खासी भूमिका निभाई है। मुल्ला उमर ने अफगानिस्तान में जो कुछ किया वह सबके सामने है। आज वह पहाड़ी कंदराओं/गुफाओं में अपनी जान बचाता हुआ भाग रहा है। ओसामा बिन लादेन जैसे उन्मादी ने अपने बुद्धिहीन कारनामों से अफगानिस्तान को बर्बाद तो किया ही, हजारों परिवारों को यातना की भट्टी में झोंक दिया। अपनी जान बचाने के लिए अब वह भागता फिर रहा है। पाकिस्तान में भी ऐसे ही मुल्लाओं और मौलानाओं की भूमिका बहुत उत्तेजक थी, किंतु वहां की राजनीतिक प्रक्रिया ने उसे बहुत हावी नहीं होने दिया। संभवतः यही कारण है कि पाकिस्तान बहुत बड़े आसन्न संकट से अपने आप को बचा सका।

भारत में मुसलमानों का धार्मिक नेतृत्व न समझदारी से काम ले रहा है, न संयम से। दिल्ली जामा मस्जिद के इमाम सैयद अहमद बुखारी ने पिछले तीन महीनों में कुछ-कुछ कहा है और जिस ढंग से अपने जज़्बातों को व्यक्त किया उसने भारतीय मुसलमानों का बहुत अहित किया है। इस देश के मुसलमान इस एक व्यक्ति के कारण बहुत गुमराह हुए हैं। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि कुछ बुद्धिजीवी मुसलमानों ने इस संबंध में बड़ा सकारात्मक रुख़ अपनाते हुए अपने समाज में सही समझ पैदा करने की कोशिश की है, किंतु आम व्यक्ति उस व्यक्ति से अधिक प्रभावित होता है जो मजहब के नाम पर उत्तेजना भरे भाषण देता है। बुद्धिजीवियों की आवाज़ तो सीमित

क्षेत्र में रह जाती है।

आज भारत और पाकिस्तान युद्ध की कगार पर आकर खड़े हो गए हैं। दोनों ओर की सेनाएं एक-दूसरे को घूरती हुई खड़ी हैं। यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि 11 सितंबर और 13 दिसंबर को अमेरिका और भारत की प्रभुसत्ता को चुनौती उन लोगों ने दी है जिन्हें इस्लामी संसार जेहादी और मुजाहिदीन कहकर इज्जत देता है। कश्मीर में ऐस तत्वों को पाकिस्तान 'स्वतंत्रता संग्रामी' कहता है। अमेरिका ने आतंकवाद से वैश्विक स्तर पर लड़ने का निश्चय किया है। भारत भी ऐसी शक्तियों से लड़ने के लिए किसी भी सीमा तक जा सकता है।

क्या इस्लामी संसार को इन सभी स्थितियों और इनसे निकले और निकलने वाले परिणामों के संबंध में पुनर्विचार नहीं करना चाहिए? आज के संसार में मज़हब के नाम पर फैलाया जाने वाला उन्माद किसी भी प्रकार फलदायी नहीं हो सकता। यह भी एक कठोर सच्चाई है कि किसी भी प्रभुसत्ता संपन्न देश पर 11 सितंबर और 13 दिसंबर जैसे आतंकवादी आक्रमण स्वयं उस मन्तव्य के लिए अत्यंत घातक और हानिकारक सिद्ध होते हैं, जिसकी प्राप्ति के लिए वे किए जाते हैं।

(दैनिक जागरण, 30-1-2002)

परिशिष्ट

प्रकाशित कृतियाँ

कहानी संग्रह

1. सुवह के फूल	1959
2. उजाले के उल्लू	1964
3. घिराव	1968
4. कुछ और कितना	1973
5. मेरी प्रिय कहानियां	1973
6. भीड़ से घिरे चेहरे	1977
7. कितने संबंध	1979
8. इक्यावन कहानियां	1980
9. महीप सिंह की चर्चित कहानियां	1984
10. धूप की उगंलियों के निशान	1993
11. सहमे हुए	1998
12. महीप सिंह की समग्र कहानियां (तीन खण्ड)	2000
13. दिल्ली कहां है	2002
14. ऐसा ही है	2002

उपन्यास

1. यह भी नहीं - राजपाल एंड संस दिल्ली, 1976 (प्रथम संस्करण)
   द्वितीय संस्करण हिन्दी पाकेट बुक्स, दिल्ली 1979
   तृतीय संस्करण अभिव्यंजना प्रकाशन, दिल्ली 1983
   चतुर्थ संस्करण नया साहित्य केन्द्र, दिल्ली, 2005

(पंजाबी, गुजराती, मलयालम एवं अंग्रेजी में भी प्रकाशित)

2. अभी शेप है, 2004 (पंजाबी में भी प्रकाशित)

व्यंग्य संग्रह

एक नये भगवान का जन्म	2001
एक गुण्डे का समय बोध	2007

निबंध संग्रह

कुछ सोचा : कुछ समझा 2002

शोध कार्य

- गुरु गोबिन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता
- आदिग्रंथ में संगृहीत संत कवि
- सिख विचारधारा : गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक

जीवनी

- गुरु गोबिन्द सिंह : जीवन और आदर्श
- गुरु तेग बहादुर : जीवन और आदर्श
- गुरु गोबिन्द सिंह (साहित्य अकादमी के लिए)
- स्वामी विवेकानंद

बाल साहित्य

- न इस तरफ न उस तरफ
- गुरु नानक - जीवन प्रसंग
- एक थी संदूकची

सम्पादन

1. सचेतन कहानी : रचना और विचार
2. पंजाबी की प्रतिनिधि कहानियां
3. गुरु नानक और उनका काव्य
4. विचार कविता की भूमिका
5. लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता
6. हिन्दी उपन्यास : समकालोन परिदृश्य
7. साहित्य और दलित चेतना
8. जापान : साहित्य की झलक
9. आधुनिक उर्दू साहित्य
10. विष्णु प्रभाकर : व्यक्तित्व और साहित्य

महीप सिंह के साहित्य पर प्रकाशित पुस्तकें

1. महीप सिंह का कथा-संसार, डॉ. कमलेश सचदेव, अभिव्यंजना, नई दिल्ली
2. कथाकार महीप सिंह, सं. डॉ. गुरचरण सिंह, अभिव्यंजना, नई दिल्ली
3. करक कलेजे माहि, सं. डॉ. कमलेश सचदेव, भारती पुस्तक भंडार, दिल्ली

महीप सिंह के साहित्य पर हुए/हो रहे शोध कार्य

1. महीप सिंह की कहानियों का कथ्य और शिल्प, प्रो. रतन सिंह राजपूत, हिन्दी विभाग, एस. पी. डी. एम. कालेज, शिरपुर जिला-धुलिया, महाराष्ट्र
2. महीप सिंह की कहानी कला, प्रो. हरजी भाई ना. वाघेला, हिन्दी विभाग, सौराष्ट्र यूनिवर्सिटी, राजकोट
3. महीप सिंह का कथा साहित्य : मानव मूल्यों का संदर्भ, सुश्री मनिन्द्र भाटिया, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर
4. सचेतन कहानी आन्दोलन के संदर्भ में महीप सिंह की कहानियों का मूल्यांकन, सुश्री सीमा खान, महर्षि दयानन्द सरस्वती कॉलेज, अजमेर विश्वविद्यालय, अजमेर
5. महीप सिंह का कथा संसार, एम. मनोज कुमार, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति
6. महीप सिंह और उनका कहानी साहित्य, प्रो. श्रीमती अनिता लक्ष्मण वेताल, हिन्दी विभाग, कला वाणिज्य व विज्ञास महाविद्यालय, राहुरी, जिला-अहमदनगर, पुणे विश्वविद्यालय
7. कहानीकार महीप सिंह के कृतित्व का अनुशीलन, सुश्री सुषमा मोरेश्वर डहाटे, नागपुर विश्वविद्यालय
8. महीप सिंह के कथा साहित्य में चित्रित मध्यम वर्ग, रविन्द्र कुमार, जनता वैदिक कालेज, बड़ौत, बागपत, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ
9. कहानीकार महीप सिंह : संवेदना और शिल्प, अजित चुनिलाल चव्हाण, पुणे विश्वविद्यालय, नंदूरबार -424512
10. साठोत्तरी हिन्दी कहानी और कथाकार महीप सिंह, श्रीमती शगुफ्ता खान, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
11. महीप सिंह की कहानियों में युग बोध, कु. सायरा बानो नवलगुंद, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ (कर्नाटक)
12. कहानीकार महीप सिंह : मानवीय संबंधों की सचेतन दृष्टि, अशोक यादव, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक
13. महीप सिंह तथा इनकी कहानियों का विकास, सन्तोष कुमार मिश्र, कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर
14. महीप सिंह की कहानियों में मानवीय संबंध, बलभीम कॉलेज, बीड़-431122
15. महीप सिंह के कथा साहित्य का तथ्यगत और शैलीगत अध्ययन- मीनू शर्मा, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा

पुरस्कार एवं सम्मान

1. भाषा विभाग (पंजाब) द्वारा वर्ष का श्रेष्ठ कथा साहित्य के रूप में 'उजाले के उल्लू' और 'घिराव' कहानी संग्रह पुरस्कृत (1965 एवं 1969)
2. 'उजाले के उल्लू' कहानी संग्रह केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा पुरस्कृत (1966)
3. हिन्दी साहित्य संस्थान, उत्तर प्रदेश द्वारा पुरस्कृत (1971 एवं 1989)
4. भाषा विभाग (पंजाब) द्वारा शिरोमणि साहित्यकार के रूप में सम्मानित (1986)
5. हिन्दी और पंजाबी अकादमियों (दिल्ली) द्वारा श्रेष्ठ कहानी संग्रह ('51 कहानियां' हिन्दी तथा 'सहमे हुए' पंजाबी) के लिए पुरस्कृत (1985 एवं 1989)
6. संत निधान सिंह केसर मेमोरियल सम्मान, कथा साहित्य में योगदान के लिए (1990)
7. साहित्यिक उपलिब्धयों के लिए साखा पुरस्कार (1990)
8. हिन्दी साहित्य में विशेष योगदान के लिए अदीब इंटरनेशनल साहिर सम्मान (लुधियाना) (1990)
9. पंजाबी साहित्य में विशिष्ट योगदान के लिए डॉ. साधू सिंह हमदर्द सम्मान (1992)
10. समन्वय सारस्वत सम्मान (1993)
11. हिन्दी प्रचारिणी समिति, कानपुर द्वारा साहित्य भारती (अलंकरण) से सम्मानित (1994)
12. छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन (लंदन) में हिन्दी भाषा और साहित्य में विशिष्ट योगदान के लिए सम्मान (1999)
13. इंडो कैनेडियन टाइम्स ट्रस्ट, सरी (कनाडा) द्वारा पंजावी पत्रकारिता में विश्टि योगदान के लिए विशेष सम्मान (1999)
14. राष्ट्रीय हिन्दी परिषद, मेरठ द्वारा हिन्दी रत्न उपाधि से सम्मानित (1999)
15. इंस्टीट्यूट ऑफ पंजावी लैंगवेज एण्ड कल्चर (लाहौर) द्वारा 'एवार्ड ऑफ डिस्टिंक्शन' सम्मान (2000)
16. लाहौर की इसी संस्था द्वारा कहानी सम्मान (2000)
17. केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा हिन्दी के विकास तथा प्रसार में उल्लेखनीय सेवाओं के लिए सम्मानित (2000)
18. पत्रकारिता भूषण सम्मान उ. प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ (2001)
19. कुँवर चंद्र प्रकाश सिंह साहित्य शिरोमणि सम्मान (2002)
20. इटावा हिन्दी सेवा निधि द्वारा प्रदत्त जनवाणी सम्मान (2002)
21. हिन्दी अकादमी (दिल्ली) द्वारा 'साहित्यकार सम्मान' (2003)
22. पंजावी अकादमी (दिल्ली) द्वारा 'परम साहित्य सम्मान' (2004)
23. विशिष्ट हिन्दी सेवा सम्मान, राष्ट्रीय हिन्दी परिषद, मेरठ (2006)
24. राष्ट्रीय भाषा गौरव सम्मान, संसदीय हिन्दी परिषद, नई दिल्ली (2006)
25. साहित्यश्र
26. डॉ. अम्बे
27. पं. जुगल

अनिल कुमार

जन्म : 31-10-1965

शिक्षा : हिन्दी साहित्य में एम.ए., पोस्ट एम.ए. अनुवाद सिद्धांत एवं व्यवहार डिप्लोमा, पोस्ट एम.ए. अनुप्रयुक्त (हिन्दी) भाषाविज्ञान डिप्लोमा, पोस्ट एम.ए. अनुप्रयुक्त (हिन्दी) भाषाविज्ञान उच्च डिप्लोमा, बैचलर डिग्री इन जर्नलिज्म एंड मास कम्यूनिकेशन, मास्टर ऑफ मास कम्यूनिकेशन।

कृतियाँ : लालकिले से, प्रेमचन्द सूक्ति कोश, तुलसी सूक्ति कोश, प्रसाद सूक्ति कोश, शरत् सूक्ति कोश, श्रीनरेश मेहता सूक्ति कोश, स्वामी रामतीर्थ सूक्ति कोश, अमृतलाल नागर सूक्ति कोश, रवीन्द्रनाथ सूक्ति कोश, निराला सूक्ति कोश, सुभाषचन्द्र बोस सूक्ति कोश, सुभाष चन्द्र बोस सूक्ति कोश, मुक्तिबोध सूक्ति कोश प्रतिश्रुति : श्रीनरेश मेहता की समग्र कहानियाँ, मेरे साक्षात्कार : श्रीनरेश मेहता, महीप सिंह रचनावली (दस खण्ड) सम्पादित पुस्तकें। तुलसी निर्देशिका, रामचरित मानस की सूक्तियों का अध्ययन, रामचरित मानस में शिक्षा दर्शन में सम्पादन सहयोग। तीसरा प्रभाकर, भारतीय मीडिया : अन्तरंग परिचय, बच्चन : जाने के बाद और छोटे हाथ के रंग, बड़े हाथ के संग में सहयोगी लेखक।

सम्प्रति : उप-सम्पादक, हिन्दुस्तान, 18-20, कस्तूरबा गांधी मार्ग, नई दिल्ली-110001

सम्पर्क : एच-3/72, विकास पुरी, नई दिल्ली-110018

मो० : 9810226748

महीप सिंह

जन्म : 15 अगस्त, 1930 को उत्तर प्रदेश के जिला उन्नाव में

शिक्षा : एम. ए. (हिन्दी), डी. ए. वी. कालेज कानपुर (1954), पी-एच. डी.आगरा, विश्वविद्यालय, आगरा (1963)

अध्यापन : खालसा कालेज, मुम्बई (1955-1963), खालसा कालेज, दिल्ली (1963-1993), एक वर्ष तक कानसाई विश्वविद्यालय, हीराकाता-जापान में विजिटिंग प्रोफेसर (1974-1975)

सम्प्रति : स्वतन्त्र लेखन

कहानी संग्रह : सुबह के फूल, उजाले के उल्लू, घिराव, कुछ और कितना, मेरी प्रिय कहानियां, भीड़ से घिरे चेहरे, कितने संबंध, इक्यावन कहानियां, महीप सिंह की चर्चित कहानियां, धूप की उंगलियों के निशान, सहमे हुए, महीप सिंह की समग्र कहानियां, दिल्ली कहां है, ऐसा ही है।

उपन्यास : यह भी नहीं (पंजाबी, गुजराती, मलयालम, अंग्रेजी में भी प्रकाशित), अभी शेष है

व्यंग्य : एक नये भगवान का जन्म, एक गुण्डे का समय बोध

निबंध : कुछ सोचा : कुछ समझा

शोध : गुरु गोबिन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता, आदिग्रंथ में संगृहीत संत कवि, सिख विचारधारा : गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक

जीवनी : गुरु गोबिन्द सिंह : जीवन और आदर्श, गुरु तेगबहादुर : जीवन और आदर्श, स्वामी विवेकानन्द

बाल साहित्य : न इस तरफ न उस तरफ, गुरु नानक जीवन प्रसंग, एक थी संदूकची।

सम्पादन : सचेतन कहानी : रचना और विचार, पंजाबी की प्रतिनिधि कहानियां, गुरु नानक और उनका काव्य, विचार कविता की भूमिका, लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता, हिन्दी उपन्यास : समकालीन परिदृश्य, साहित्य और दलित चेतना, जापानः साहित्य की झलक, आधुनिक उर्दू साहित्य, विष्णु प्रभाकर - व्यक्तित्व और साहित्य
चार दशकों से 'संचेतना' का सम्पादन।

नमन प्रकाशन

4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली - 110002
फोन : 23254306, 23247003
e-mail-radhapubnitin@yahoo .com

ISBN 81-8129-132-8